



अनसूयणी कथावली
(THE UNTOLD STORY)

५५६

२०६
५५६

अनकही कहानी

(THE UNTOLD STORY)

५५७९

लेखक
लेफ्टी० जनरल बी० एम० कौल ^{२०१}जीवनी

अनुवादक
रामकृष्ण शर्मा 'कैवल' एम० ए०, साहित्य रत्न



विल्को पब्लिशिंग हाउस
३३ रोपवाँक लेन, फोर्ट, बम्बई-१

कॉपीराइट © १९६७

विल्को पब्लिशिंग हाउस

सम्पूर्ण एवं असंक्षिप्त

(Complete & Unabridged)

इस पुस्तक के अथवा इसके किसी भाग के पुनर्प्रकाशन के लक्ष्यवित्तपर मर्यादा है। किसी पत्र-पत्रिका अथवा किसी समाचार-पत्र में प्रकाशित इसकी ममीक्षा में इसके संक्षिप्त रूप उत्पन्न किये जा सकते हैं।

१९६७

१. इस पुस्तक के अथवा इसके किसी भाग के पुनर्प्रकाशन के लक्ष्यवित्तपर मर्यादा है।
२. किसी पत्र-पत्रिका अथवा किसी समाचार-पत्र में प्रकाशित इसकी ममीक्षा में इसके संक्षिप्त रूप उत्पन्न किये जा सकते हैं।

५८७९

समर्पण

यह पुस्तक मैं अपनी पत्नी घनराज किशोरी
एवं अपनी पुत्रियों अनुराधा तथा चित्रलेखा
को समर्पित करता हूँ ।

आभार-स्वीकृति

प्रिमुखा पण्डित का जिन्होंने इस पुस्तक के लिखने के मेरे निदचय की बल प्रदान किया, के० पी० मुनरान एवं पी० के० घु'गलू का जिन्होंने मेरा मूल्यवान भाग-दर्शन किया, मनि बादशाह, देवीदत्त एवं ज्ञानी सद्गुरु का जिन्होंने मुझे समूल्य गृहयोग दिया, आना चन्द्रा का जिन्होंने इस पुस्तक (अंग्रेजी प्रति) के अवतरणों को टाइप किया, चुन्नो एवं कामिनी का जिन्होंने इसकी पाण्डुलिपि की जाँच-पड़ताल की, राजिन्दर पुरी का जिन्होंने स्वयं को इस पुस्तक के लक्ष्यों से एकरूप कर लिया, तथा उन दूसरे मित्रों का जिन्होंने तप्यों की विशुद्धता के सत्यापन में मेरा हाथ बटाया, मैं फिर आभारी हूँ ।

दो शब्द

अनकही कहानी लेपटी० जनरल बी० एम० कौल की पुस्तक
दि अनटोल्ड स्टोरी का हिन्दी अनुवाद है ।

‘अनकही कहानी’ के इतने शीघ्र प्रकाशन में सर्वश्री रामकृष्ण शर्मा
‘केवल’ एवं विद्याप्रकाश धवन का अप्रतिम सहयोग रहा है । बन्धुवर
शर्मा जी ने जिस लगन एवं निष्ठा से जनरल कौल की अंग्रेजी पुस्तक
को केवल तीस दिन में अनूदित किया है तथा बन्धुवर धवन साहब
ने जिस परिश्रम एवं रुचि से इस कम समय में इसे मुद्रित किया है,
उसके लिए आप दोनों का आभार प्रकट कर के मैं ऋणमुक्त नहीं
होना चाहता ।

विल्को पब्लिशिंग हाउस,
बम्बई-१

— जयसुख शाह

प्राक्क

देव सदा कृपालु नहीं होता। अनेक महा-
 उनके गिकार हुए हैं और उनका मजाक उड़ा
 मन्त्र ममभने की भूल नहीं कर रहा है किन्तु
 है, इसलिए मैं भी, उनमें से कुछ की भाँति,
 रहा है ताकि सब को यह मालूम हो सके
 बनावरण में पता है तथा स्वदेश की सेवा
 दिया है।

पिछले कुछ वर्षों में मेरे विरुद्ध कासी
 में मार्क्सवादी दल से भी कहा गया है कि वे
 मन्त्रांकन नहीं हो पाया है। मुझे आशा है
 को निर्णय करने में सुविधा रहेगी कि वि
 प है।

स्वामीन्ता-पूर्व युग में, सेना में दो-
 स्वामीन्ता-संभ्रान का समर्थन करते थे (1)
 या दो उनके विरुद्ध थे या इसके प्रति निर
 श्रेयों को प्रणम रखने के लिए मेरे राष्ट्रव
 मन्त्र नेगारों के प्रति मेरी श्रद्धा का
 मन्त्र स्वयम्भ हो गया तो ब्रिटिश राज के
 किन्तु जहाँ मन्त्र की पूजा करने वाले थे
 श्रेयों के प्रति निष्ठावान् हो गए।
 था। ब्रिटिश युग में अपनी भूमिका का
 मन्त्र का और वे स्वयं को अरक्षित समझते
 श्रेयों के प्रति निष्ठावान् थे, विशेषतः नेहरू ने
 श्रेयों को बड़ी निराशा हुई। इन प
 मन्त्र का कि मैंने स्वयं को इनके साथ
 मन्त्र का (बदकि ये स्वार्थी जीव
 मन्त्रों परमर्ष में रहते थे। इस

प्राक्कथन

दिव सदा कृपालु नहीं होता। अनेक महान् राजनीतिज्ञ, सैनिक तथा सन्त इसके निकार हुए हैं और उनका मजाक उड़ाया गया है। यद्यपि मैं अपने को महान् समझने की भूल नहीं कर रहा हूँ किन्तु मेरे साथ भी कुछ बेसी ही बीती है, इसलिए मैं भी, उनमें से कुछ की भाँति, अपने जीवन को यहाँ दम्बबद्ध कर रहा हूँ ताकि सब को यह मालूम हो सके कि मैं किस पृष्ठभूमि एवं किस वातावरण में पला हूँ तथा स्वदेश की सेवा में मैंने किस भूमिका का निर्वाह किया है।

पिछले कुछ वर्षों में मेरे विरुद्ध काफी कुछ कहा गया है और कुछ मामलों में सार्वजनिक रूप से भी कहा गया है जबकि मैं मौन रहा हूँ, इसलिए संतुलित मूल्यांकन नहीं हो पाया है। मुझे आशा है कि पुस्तक के पढ़ने के बाद पाठक को निर्णय करने में सुविधा रहेगी कि कितने घटनाओं की जिम्मेदारी कितन पर है।

स्वाधीनता-पूर्व युग में, सेना में दो प्रकार के ऑफिसर थे : एक वे जो स्वाधीनता-संग्राम का समर्थन करते थे (जो बहुत कम थे) तथा दूसरे वे जो या तो इसके विरुद्ध थे या इसके प्रति निरपेक्ष थे। दूसरे वर्ग के ऑफिसर घंघेड़ों को प्रशन्न रखने के लिए मेरे राष्ट्रवादी दृष्टिकोण तथा नेहरू एवं अन्य महान् नेताओं के प्रति मेरी श्रद्धा का मजाक उड़ाते थे। १९४७ में, जब भारत स्वतन्त्र हो गया तो ब्रिटिश राज के ये कट्टर समर्थक बड़े घबड़ाये। किन्तु घड़ते सूरज की पूजा करने वाले ये ऑफिसर एक रात में ही भारत के उन नेताओं के प्रति निष्ठावान् हो गए जिनका कुछ दिन पहले मजाक उड़ाया करने थे। ब्रिटिश युग में अपनी भूमिका का स्मरण कर के इनका मन भ्रष्टान्त रहता था और ये स्वयं को भारतीय समझते थे। इसलिए सत्तामौन होने के बाद जब भारतीय नेताओं ने, विशेषतः नेहरू ने, मुझे स्नेह प्रदान किया तो इन ऑफिसरों को बड़ी गिराशा हुई। इन नेताओं के मेरे प्रति अग्रतस्व-प्रदर्शन का कारण यह था कि मैंने स्वयं को इनके साथ सकट काल (ब्रिटिश युग) में एक-रूप कर दिया था (जबकि ये स्वार्थी जीव इनसे दूर-दूर रहे) तथा समय-समय पर मुझसे परामर्श लेते रहते थे। इस स्थिति का निर्माण मैंने नहीं किया था

अपितु यह तो ऐतिहासिक घटनाओं का फल थी। इन ऑफिसरों को मुझे डाह होने लगी और जैसे-जैसे मैंने जीवन में प्रगति की, इन्होंने ईर्ष्यान्वित हो कर अपने मित्रों में (देश एवं विदेश में) मेरे विरुद्ध झूठा प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया, मेरी हर प्रकार की निन्दा करनी प्रारम्भ कर दी। अपने इस लक्ष्य की सिद्धि के लिए इन्होंने अनेक घटनाओं की तदनु रूप व्याख्या की तथा अपने व्यवस्थित एवं सतत प्रयत्नों से इन्होंने अनेक क्षेत्रों में यह विश्वास जमा दिया कि मैं अपने जीवन में प्रगति अपने गुणों एवं अपनी योग्यता के बल पर नहीं अपितु 'राजनीतिक' प्रभाव के कारण कर रहा था।

जब भी मुझे किसी दायित्वपूर्ण पद के लिए चुना गया, चाहे स्वतन्त्रता पूर्व या स्वतन्त्रता-उपरान्त, उस चुनाव के लिए निर्धारित मानदण्डों का सरकार ने पूरी तरह पालन किया। योग्यता अथवा अनुभव की दृष्टि से मेरे साथ कभी कोई पक्षपात नहीं किया गया। महान् व्यक्तियों के साथ तथा महत्त्वपूर्ण घटनाओं में काम करने का अवसर अपने सेवा-काल में मुझे कई बार मिला। इस अवधि के मध्य मुझे अनेक रोचक एवं कष्टसाध्य स्थितियों से गुजरना पड़ा जिससे मुझे कुछ ख्याति मिल गई। जैसा कि स्वाभाविक था, मेरी इस ख्याति ने मेरे प्रतिद्वन्द्वियों की ईर्ष्याग्नि में घी का काम किया और मुझे बदनाम करने का उन्होंने प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया। जब कुछ क्षेत्रों में मेरे नाम पर काफी बौद्ध उद्योगी जा रही थी तो सार्वजनिक रूप से अपने पक्ष में कुछ कहने की यद्यपि सरकार ने मुझे अनुमति नहीं दी किन्तु नेहरू ने कई बार संसद् में तथा कुछ पत्रकार-सम्मेलनों में मेरा बचाव किया। उस पर मेरे आलोचकों ने कहा कि नेहरू मेरे दोषों पर पर्दा डाल रहे थे। मैंने इस अन्याय को काफी समझ तक समझ लिया किन्तु प्रत्येक चीज की एक सीमा होती है, इसलिए मैंने अपने सीमित जीवन के अवधि पूरी होने के पहले ही अवकाश लेने का फैसला कर लिया (यैसा कि इस पुस्तक में मैंने सविस्तार बतलाया है)।

मेरे अवकाश ले लेने पर भी मेरे निन्दक चुप नहीं हुए अपितु मेरे ऊपर बुराया उधरते रहे। तब मैंने नेहरू को दिया जिन्होंने २८ दिसम्बर १९६३ को मुझे निम्नलिखित उत्तर दिया :

मुझसे २८ दिसम्बर का पत्र मुझे आया। इस सम्बन्ध में मुझसे आश्चर्यचकित हो मैंने निम्नलिखित सम्बन्धित और मैं तुम्हारी इस उत्तर में आश्चर्यचकित हो कि उपरोक्त उत्तर अपने पत्र तुम अपने सम्बन्ध में फौजी अथवा राजनीतिक या सार्वजनिक रूप से देना। वह तो तुम जानो ही हो कि मैंने अपने सम्बन्ध तुम पर उत्तर नहीं देना कि दो० के० वृत्त पर उत्तर देना और किसी दोस्त को मुझ पर। वास्तव में, अनेक लोगों की इस तरह की बुराया उधरने को मैंने मेरे सम्बन्ध में ही। मुझ पर आश्चर्य

करने के लिए तुम्हारा और कृष्ण मेनन का उपयोग किया जा रहा है। इस मामले से, जैसे मैं उचित समझूँगा, हम सुलटने का प्रयास करेंगे। जब उपयुक्त अवसर आए तो तुम कुछ तथ्य, जो तुम चरुरी समझे, जनता के सामने रख देना। जहाँ तक मैं समझता हूँ, वर्तमान वातावरण में तुम्हारा कुछ कहना विशेष लाभकारी नहीं होगा।

इहू की सलाह का सम्मान करते हुए, सार्वजनिक रूप से मैंने अब तक कुछ ही कहा है। किन्तु नेहरू की मृत्यु के बाद भी मुझ पर निम्दात्मक प्रहार किये जा रहे हैं, इसलिए मैं समझता हूँ कि अब वह उपयुक्त अवसर आ गया है जब मैं कुछ तथ्यों को जनता के सामने रख दूँ। इस पुस्तक को लिखने में मुझे दोन वर्ष लगे हैं और इसमें मैंने अनेक व्यक्तियों और अनेक मामलों पर बड़े स्पष्ट रूप से विचार किया है। इसमें वर्णित कुछ तथ्य कटु हो सकते हैं किन्तु अब अवश्य बतलाना चाहिए।

इस्ली कंष्ट
जनवरी, १९६७

बी. एम. कोल

चित्र

(पृष्ठ २२० एवं २२१ के बीच में)

- राजपूताना राइफल्स में सैकिण्ड लेफ्टिनेण्ट के पद पर लेखक (१९३५)
वाशिंगटन में भारतीय राजदूत और लेखक (१५ अगस्त १९४७)
सुरक्षा परिपद में कश्मीर समस्या पर चर्चा के समय सर एन० गोपालस्वामी
आयंगर, एम० सी० सीतलवाड तथा लेखक (१९४८)
सुरक्षा-परिपद में कश्मीर समस्या पर चर्चा के समय प्रोमिको, शेख अब्दुल्ला
और लेखक (१९४८)
कोरिया में जनरल मेक्सवेल टेलर और लेखक (१९५३)
रोहतांग दर्रे के निकट परित्राण अभियान पर लेखक (१९५५)
पड़क वायुयान में उड़ान भरने के बाद लेखक (१९५८)
मीने ने बाएँ : एयर मार्शल मुकजी, लेखक और प्रतिरक्षा मन्त्रालय के
मरीन (१९५९)
जनरल कै० एम० निर्मैया तथा लेखक और पृष्ठभूमि में बख्शी गुलाम
मोहम्मद (१९५९)
पंडित मोहन, कृष्ण मेनन और लेखक (१९५९)
नेशन और लेखक की पत्नी (१९५९)
नेशन और लेखक की दो पुत्रियाँ (१९५९)
नेशन और लेखक की माय लेखक (१९५९)
नेशन में लिखी स्थान पर एयर वाफस मार्शल पिण्डो तथा लेखक (१९६०)
नेशन में भारतीय वाफस (पारगोरल) तथा लेखक (१९६१)
नेशन में लेखक की पत्नी, राजदूत सेनट्रेय और उगकी पत्नी तथा लेखक की
पत्नी (१९६२)
नेशन में लेखक की पत्नी और लेखक (१९६२ की छीम अनु)

अनुक्रमणिका

आवक्यपन	
१. आमुग	११
२. संनरग्नर	६१
३. घनेक भूमररर	७८
ॡ. संदररी	१ॡॡ
ॡ. घदुष्ट कऱ रेत	३०३
६. घभी नऱटक घपूरऱ है	ॡ०२
७. उऱसदरर	ॡ२०

मेरा मतवाँ जन्मदिन था। अनेक सामाजिक
 चीं चाना खिलाया गया। इसके बाद मु-
 न्त और तरह-तरह के उपहार मिले। उ-
 मित कि मेरा मन यह चाहते लगा कि वह
 कुछ सप्ताह बाद की घटना है। वह
 इसलिए मैं कुछ जल्दी ही सो गया था।
 मृत गई। दिन निकल चुका था। बिजली
 के और पानी भूमलाधार बरस रहा था।
 कालों में लगे जा रहे थे। मैं अथवा-अ
 यमदिन की अनेक मधुर स्मृतियाँ मेरे
 जो कर्मों में पुनः और बोले कि माँ इस दुर्घ-
 णा में मरने में मुझे कुछ समय लगा अ-
 गया।

मैं केवल पच्चीस वर्ष की थी और ७
 के बीच उनका कोई इलाज नहीं हो
 था। न तो कोई डॉक्टर। हमारे
 घर के चिकित्सक में है। मृत्यु से मेरा यह प्र-
 कृत्य परिवार में जन्मे प्रत्येक बालक
 को जन्मे बरसभी भी नन चुकी थी। म
 को जन्मदा देना जानें लगा, इसलिए
 को जन्मदा दे। ज्योतिषी महोदय ने
 को जन्म दिन, मरदान् वृद्ध के जन्म-दिवस
 को जन्म, और मेरा जन्मदिन बड़ा उज्ज्वल

एक

आमुख

मेरा मातृवंश जन्मदिन था। अनेक सामाजिक-धार्मिक सम्प्रदाय हुए और मरीचो को माना गया था। इतने बाद मुझे मरे-मरे चमकदार कपड़े पहनाये गए और मर-मर के उतार दिये। उस दिन मुझे इतना रनेह और प्यार मिला कि मेरा मन यह चाहने लगा कि यह दिन बहुत जन्मी-जन्मी घाया करें।

कुछ मन्त्राह बाद को पटना है। यह रात बड़ी घंघेरी और इगली थी, इगलियाँ मैं कुछ जन्मी ही सो गया था। अचानक मैं चौक पड़ा और मेरी नोद खुल गई। दिन निकल चुका था। बिजली कड़क रही थी, बादल गड़गड़ा रहे थे और पानी मूसलाधार बरस रहा था। हवा इतनी तेज चल रही थी कि पेड़ धरती से लगे जा रहे थे। मैं अचानक-अचानक-आ विस्तरे में पड़ा था और जन्म-दिन की अनेक मधुर स्मृतियाँ मेरे मानस में सँभ रही थी। अचानक पिता जो कमरे में पुगे और बोले कि माँ इस दुनिया में नहीं रहीं। उनके लपटों का अर्थ समझने में मुझे कुछ समझ लगा और जब समझा तो पृष्ठ-पृष्ठ कर रो पड़ा।

माँ के वन पञ्चीत बर्ष की थी और उनकी मृत्यु हैजे में हुई थी। बीमारी के बीच उनका कोई इलाज नहीं हो पाया था क्योंकि हमारे गाँव में न कोई अस्पताल था और न कोई डॉक्टर। हमारा छोटा-सा गाँव भंग के पास था जो अब पाकिस्तान में है। मृत्यु में मेरा यह प्रथम साक्षात्कार था।

हिन्दू परिवार में जन्मे प्रत्येक बालक की जन्मपत्री बनवाने की परम्परा है, इसलिए मेरी जन्मपत्री भी बन चुकी थी। माँ की मृत्यु होने पर मुझे इस दुर्भाग्य का द्विभार टपकाया जाने लगा, इसलिए दादी ने मेरी जन्मपत्री ज्योतिषी ने पुनः किचरवाई। ज्योतिषी महोदय ने पुरानी बात ही दोहराई कि मेरा जन्म बड़े शुभ दिन, भगवान् बुद्ध के जन्म-दिवस पर, बड़े मंगलमय ग्रहों के योग में हुआ था, और मेरा भविष्य बड़ा उज्ज्वल है।

को अपने घर के पास से गुजरते देखता था। अस्सी वर्षीय फादर गिलफोर्ड ईसाई धर्मप्रचारक थे और उन्होंने अपना सारा जीवन कोड के रोगियों की सेवा में समर्पित कर दिया था। त्याग और तपस्या का कठोर जीवन अपना कर उन्होंने कुष्ठरोग से पीड़ित अनेक मरणासन्न व्यक्तियों को सुख-शान्ति प्रदान की थी। उन्होंने जीवन में इनने त्याग किये थे कि ग्रामपास के इलाके में उनके नाम पर अनेक कहानियाँ प्रचलित हो गई थी।

एक दिन फादर गिलफोर्ड मुझे अपने घर से गग तथा प्रार्थना के महत्त्व एवं प्रतिदिन के जीवन में ईश्वर की असह्य अनुकम्पाओं के लिए उसके प्रति आभार प्रकट करने की आवश्यकता पर उन्होंने मुझे एक रोचक प्रवचन दिया। भोजन के बाद हम दोनों ने प्रार्थना की—एक हिन्दू बालक और एक ईसाई पादरी ने माय-माय ईश्वर के सामने घुटने टेक कर उसकी प्रार्थना की।

यह देखने के लिए कि गिलफोर्ड किम प्रकार कार्य करते हैं, दूसरे दिन मैं उनकी डिस्पेंसरी गया। एक पुराने टूटे-फूटे मकान में उनकी डिस्पेंसरी थी। अपने भारतीय सहयोगी डॉ० दास के साथ बाहर ही खड़े थे गिलफोर्ड। उनकी मुद्रा में करुणा और आँखों में दया की स्पष्ट झलक थी। उनके पास ही रोगियों की एक लम्बी लाइन लगी हुई थी। पटे-पुराने चिथड़े में लिपटे बं रोगी कड़कती सारदी में ठिठुरते हुए खड़े थे। किसी का आवा अंगूठा गायब था, किसी की आधी अँगलियाँ नहीं थी और किसी के पूरे पैरों पर ही पट्टी बंधी हुई थी। चारों ओर सङ्गन्य फैल रही थी। गिलफोर्ड ने कोढ़ियों के सङ्घ में भरे धावों को बड़े ध्यान से देखा, बहुत सहानुभूतिपूर्ण शब्दों में उनके साथ बातचीत की। त्याग और निस्स्वार्थ सेवा का यह बड़ा मर्मस्पर्शी दृश्य था।

इसके बाद मैं डिस्पेंसरी के मुख्य अहाले में गया। यहाँ रोगियों को भर्ती किया जाता था, उन्हें साफ-गुथरे कपड़े और बिस्तर दिये जाते थे तथा उनकी व्यक्तिगत देखभाल की जाती थी। सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार तो शायद जीवन में उन्हें पहली बार मिला था। गिलफोर्ड हर रोज़ सुबह आ जाते थे और धीमी व टूटी आवाजों में उन्हें सम्मिलित प्रार्थना करते हुए देखते थे। इन भाग्यहीनों को अपने रोगमुक्त होने की कितनी अधिक आशा रहती थी जबकि वास्तव में उनके ठीक होने की कितनी कम सम्भावना थी।

जब तक मैं तरल-तारल में रहा, इस कुष्ठाश्रम की तीर्थ-यात्रा मैंने अनेक बार की। दूसरों को काट में देखने का यह मेरा पहला अवसर था और इससे मुझे जीवन की विपमताओं के साथ समझौता करने की प्रेरणा मिली। पीड़ितों की निस्स्वार्थ और मौन सेवा में तत्पर ईसाई धर्म ने यह मेरा प्रथम परिचय था।

मेरी बहन दुनारी बहुत सुन्दर थी। उसका मुँह पर अगाध स्नेह था और मैं उसका बहुत अधिक सम्मान करता था। पारिवारिक जीवन में पिताजी ने

के दुनारी को फेफड़ों की तपेदिक हो गई है और रोग काफी धागे बढ़ चुका है। उनके इलाज में पिताजी ने जमीन-भासमान एक कर दिया। उन्होंने भारत के हमारे तपेदिक-विशेषज्ञों को उसे दिखाया ताकि इस रोग से उसे मुक्ति मिल सके। किन्तु कोई प्रयत्न लाभप्रद न हुआ। रोग की जड़ बहुत गहरी जम चुकी थी और सबसे भयंकर बात यह थी कि दुनारी स्वयं जीवित नहीं रहना चाहती थी। धीरे-धीरे उसका शरीर धुनता गया और पिताजी के हर सम्भव प्रयत्न के बाद भी एक दिन जवाब दे गया। उसकी मौत का दुःख महीनों हमारे ऊपर छाया रहा। नगता है जैसा हम पर उन दिनों किसी कुग्रह की दृष्टि थी।

अमृतसर में, हमारे पड़ोस में रहती थी निम्मी। वह, चौदह वर्ष की किशोरी, आयु में लगभग मेरे ही बराबर थी। हम दोनों एक-दूसरे को काफी पसन्द करते थे। प्रत्येक शनिवार की रात को पिताजी हम दोनों को अपने अध्ययन-कक्ष में बुला लेते थे और इतिहास एवं सामयिक मामलों के विषय में महत्त्वपूर्ण बातें बतलाया करते थे। इसी क्रम में एक बार उन्होंने हमारे सामने अमृतसर के जतिर्यावाला बाग में हुए गन् १९१६ के भयंकर जनसंहार का शब्द-चित्र प्रस्तुत किया। अंग्रेजों की इस दानव-लीला का वर्णन करते हुए पिताजी ने अत्राहम लिंकन के ये शब्द उद्धृत किए थे—'कोई राष्ट्र इतना श्रेष्ठ नहीं है कि वह हमारे राष्ट्र पर शासन कर सके।' साथ ही पिताजी ने यह भी कहा कि कोई देश ऐसा नहीं है जिसे अत्याचार से मुक्त होने का अधिकार न हो। भारत में अंग्रेजी राज्य के आगमन की गाथा सुनाते हुए उन्होंने कहा कि एक ओर तो अंग्रेज गर्व के साथ यह कहते हैं कि 'हम कभी गुलाम नहीं होंगे' तथा दूसरी ओर भारत को गुलाम बनाने में उन्हें तनिक भी हिचक नहीं हुई। अन्त में उन्होंने कहा था कि भारत में अंग्रेजी शासन के इतिहास को कितने ही सुन्दर शब्दों में क्यों न प्रस्तुत किया जाए, यह सत्य अपनी जगह अटल है कि इस बीच अंग्रेजों ने अनेक ऐसे राक्षसी कर्म किए हैं जिनके लिए उन्हें शर्म आनी चाहिए। पिताजी की इन बातों को सुन कर मेरे हृदय में पहली बार देशभक्ति की भावना उभड़ी।

कुछ समय के बाद पिताजी की अमृतसर से बदली हो गई और मैंने ग्राम भरी आँखों में निम्मी से विदा ली।

पिताजी के अपने अनेक सिद्धान्त थे। उनमें कोई तर्क नहीं कर सकता था, उनकी बात का जवाब नहीं दिया जा सकता था; तथा उनमें कोई बहाना नहीं लगाया जा सकता था। थियेटर, सिनेमा और नाच-गाने के आयोजनों में

कर दिया था; और भारत ही नहीं अपितु विश्व के किसी भी क्षेत्र में स्वतन्त्रता पर आंच आए, वे उसकी रक्षा के लिए अपने को होम करने को तत्पर थे। वारसेनोना में फासिस्ट गोलियों एवं चुगकिंग में भयंकर बमबारी के बीच पहुँच कर उन्होंने अपने कथन को मिट्ट कर दिखाया। तब मुझे क्या मालूम था कि मेरे भावी जीवन में उनकी बहुत ही महत्त्वपूर्ण भूमिका होगी।

उन दिनों भारत का राष्ट्रीय आन्दोलन पूरे जोरों पर था और हजारों दूसरे लोगों की तरह मैं भी इस सघर्ष में सक्रिय भाग लेने के लिए ललक रहा था। एक दिन राज नाम की एक लड़की ने, जो कॉलेज में मुझे भली-भाँति जानती थी, अपने यहाँ भोजन के लिए मुझे निमन्त्रित किया। भोजन के बाद जब उसकी माँ प्राराम करने चली गई और कमरे में हम दोनों अकेले रह गए तो उसने मुझमें पूछा कि क्या मैं क्रान्तिकारी आन्दोलन में भाग लेना पसन्द करूँगा। मुझे अपने कानों पर विश्वास नहीं हुआ। क्योंकि जब से मैंने जलियाँवाला बाग का मर्मभेदी वर्णन सुना था, तब से इसी प्रकार के किसी अवसर की मैं बड़ी उत्सुकता से प्रतीक्षा कर रहा था। अतः मैंने तुरन्त अपनी स्वीकृति दे दी। उसने मुझे सलाह दी कि 'हाँ' करने से पहले मैं इस सम्बन्ध में काफी सोच-विचार कर लूँ, क्योंकि कुछ कामों में मुझे भयंकर जोखिम भी उठाना पड़ सकता है। इस चेतावनी पर भी मैंने अपनी पहली बात ही दुहरा दी। इन पर उसने जिम उस्ताह और हर्ष से मुझसे हाथ मिलाया, उससे मैंने अनुमान लगाया कि उसके मन में देश-भक्ति की भावना कितने वेग के साथ तरंगित हो रही होगी।

कुछ दिनों बाद मुझे पहला काम यह सौंपा गया कि मैं एक अग्रज अधिका-री के निवास-स्थान के प्रवेश-द्वार पर, जहाँ पहले पर मन्तरी रहता था, एक राष्ट्रवादी पर्चा चिपकाऊँ। यह कार्य विदेशी सत्ता के प्रति अज्ञान का प्रतीक था। इस माहसपूर्ण कार्य की कल्पना में ही मैं रोमांचित हो उठा। तीन-चार रातों को अलग-अलग समय पर मैंने उस स्थान के अनेक चक्कर लगाए और स्थिति को भली प्रकार समझने का प्रयत्न किया। ध्यान में देखने पर पता लगा कि घाते में गश्त लगाते हुए सन्तरी जब भीतर की ओर धड़ता था तो कुछ मिनटों के लिए वह द्वार में दूर हो जाता था। अपना काम कर के मुरझित लौटने के लिए मुझे इतना समय पर्याप्त था। एक रात मैं चुपचाप द्वार तक रेंग गया और उस दृष्टद्वार को वहाँ ठीक तरीके से चिपका आया। सादकिल पर लौटने समय क्रान्ति के क्षेत्र में अपनी इस प्रथम-सफलता पर मैं आनन्दित हो कर सीटी बजा रहा था।

मुझे दूसरा काम इसके कुछ दिनों बाद मिला। इस बार मुझे पुराने बिले में एक भिखारी को एक पार्सल देना था। जैसी गोपनीयता सामान्यतः इस प्रकार के कामों में बरती जाती है, इस काम में भी बरती गई। यह काम

भागते लगे। एक मोटे सज्जन, जो सदन के मनीषी सदस्य थे, आतंकित हो कर अपनी जान बचाने के लिए एक बँच के नीचे घुस गए, एक दूसरे सज्जन शीघ्रता से घोर भागे। बचल दो नेता, विट्ठल भाई पटेल तथा पण्डित मोतीलाल नेहरू चट्टान की भाँति अचल खड़े रहे। पण्डित मोतीलाल ने अपने दल के सदस्यों में विल्ला कर कहा, 'अरे भाई, भागने क्यों हो। ये तो कोई अपने ही आदमी मालूम होते हैं।'

अनेक लोगों के गाय मुँहे भी सन्देह में रोक लिया गया। भगतसिंह और बी० के० दत्त ने स्वयं को पुलिस के हवाले कर दिया, ताकि विदोष व्यक्तियों पर अत्याचार न हो। जिस समय ये दोनों क्रान्तिकारी पुलिस की हिरामत में विधान-भवन में हवालात की ओर जा रहे थे, इन्होंने 'इन्किलाब जिन्दावाद !'^१ का नारा लगाया और दो मित्रों के समान, दोनों निर्भिकता के साथ भीड़ के पास से गुजर गए। उनको इस प्रकार जाते हुए देख कर मुझे बड़े गौरव का अनुभव हुआ। उनके द्वारा फेंके गए बमों ने सारे भारतवासियों में एक नयी चेतना भर दी थी।

इसके कुछ ही पहले की घटना है। पंजाब के परमश्रेष्ठ नेता लाला लाजपत राय एक राष्ट्रवादी जलूस का नेतृत्व कर रहे थे कि पुलिस ने जलूस पर डण्डे बरसाने शुरू कर दिये। एक पुलिस अधिकारी साण्डर्स द्वारा मारी गई गहरी चोटों के कारण लालाजी की मृत्यु हो गई। इस दुर्घटना से जनता का आक्रोश रोप में बदल गया और क्रान्तिकारी दल के सदस्य भगतसिंह ने पुलिस मुख्यालय के सामने ही साण्डर्स को गोली मार दी। उन्होंने खून का बदला खून में लिया था। इसके बाद भगतसिंह छिप गए थे और सदन में बम फेंकते समय सामने आये थे।

भगतसिंह और बी० के० दत्त पर मुकदमा चला जिसमें भगतसिंह को मृत्यु-दण्ड मिला और बी० के० दत्त को आजीवन कैद। एक दिन जब मैं अंग्रेजी सामान की होनी जलाने के लिए कहीं जा रहा था तो विश्वस्त सूत्र से पता चला कि उन्ही दिन लाहौर जेल में राष्ट्र के आराध्य भगतसिंह को फाँसी दी जाने वाली थी। इस समाचार से भावात्मक उत्तेजन को ले कर मैं एक ऐसे स्थान पर खड़ा हो गया जहाँ से उन दीवारों के दर्शन हो सकने थे जिनके पीछे मृत्यु का सहर्ष आतिथ्य करने के लिए भगतसिंह तत्पर खड़े थे।

उस समय मौन गड़े रह कर मैंने उस अदम्य वीर के प्रति आदर भाव व्यक्त किया और सम्पूर्ण राष्ट्र के साथ मिल कर इस शोक को सहन किया।

२. यह नारा सर्वप्रथम इसी समय लगाया गया था। बाद में तो सब राष्ट्रवादी दलों ने इसे अपने युद्ध-घोष के रूप में अपना लिया।

मेरी लगातार यातनाओं के फलस्वरूप उनका शरीर खोखला हो गया था। पिछले कुछ महीनों से वे बहुत मस्त बीमार थे। उन्होंने बतलाया कि इस इस्टीमेट में इलाज के लिए उन्हें गुलजारीनाल नन्दा ने भर्ती कराया था। भगतसिंह के विषय में बातें करते हुए उन्होंने बतलाया कि एक दिन नाम को पांच बजे के बाद जेल के अधिकारियों ने सूचना दी कि कुछ घण्टों के बाद उन्हें फाँसी लगायी जाएगी। भगतसिंह तथा दो अन्य शान्तिकारी, राजगुरु और मुखदेव, निर्भीक नदमों से फाँसीघर की ओर चले गए तथा देश के लिए हँसते-हँसते उन्होंने अपने प्राणों को उत्सर्ग कर दिया। उन्होंने यह भी बतलाया कि तीनों के शवों की दाह-क्रिया भी सरकार ने स्वयं की थी और उनके अध-जले शवों को मतलुज की सूखी रेती में निर्दयतापूर्वक छोड़ दिया गया था।

महान् शान्तिकारी श्री बटुवेस्वर दत्त को शरीर में दुर्बल और अत्यधिक अस्वस्थ देख कर मेरा हृदय रो पड़ा। शरीर जर्जर हो जाने पर भी उनकी आँखों में अग्नि प्रज्वलित थी और आत्मा अपराजित थी। मैंने उनसे कहा कि सन् १९२६ में जिनके असीम साहस ने मुझे आन्दोलित किया था, आज उसके दर्शन कर के मुझे असीम गौरव का अनुभव हो रहा है। मैंने उनसे पूछा कि उन्होंने बीच का समय किस प्रकार बिताया था। उनसे विदा लेते समय मैंने उनके प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट की और अपने योग्य कोई भेषा पूछी। आँखों में आँसू और वाणी में उदासी भर कर उन्होंने कहा, "मैं किसी से कुछ नहीं चाहता।"^३

ग्राम्य की विहम्बना देखिए कि जिनके निधन पर सभी ने श्रद्धाजलि समर्पित की और जिनकी बीरता के कारण देश को स्वतन्त्रता जतवी आ सकी, उन्हें १९७७ के बाद भी अपनी जीविका के लिए नानवाई की दुकान चलानी पड़ी और यत भेषा प्रारम्भ करनी पड़ी।]

पिताजी दफ़्तर से लौटे तो उनके सिर में भयकर दर्द था। कुछ देर बाद उन पर बेसुधी छाने लगी, उनकी वाणी रुक होने लगी तथा आँसु की ज्योति क्षीण होने लगी। डॉक्टरों ने बतलाया कि उन्हें मस्तिष्क का रक्तस्राव हो गया था। इसका अर्थ यह था कि किसी भी क्षण उनकी मृत्यु हो सकती थी। इस विचार में ही मैं के और मेरे तो हाथ-पाँव फूल गए। अपना अन्त निकट जान कर पिताजी ने हम दोनों को अपने पास बुलाया और धीमे स्वर में

३. जुलाई १९६५ में उनकी मृत्यु हुई और उनका दाह-संस्कार भी किरोज-पुर के निकट उसी स्थान पर किया गया जहाँ उनके साथियों, भगतसिंह, राजगुरु और मुखदेव का वर्षों पहले किया गया था।

ने थी। मैंने और मैंने फैसला किया कि अपने दुदिनो का मुकाबला हम अपने ल पर ही करेंगे और अपने परिश्रम से ही फिर ऊपर उठेंगे। इस चुनौती-पूर्ण स्थिति ने मेरे जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर दिया।

उन दिनों हमें अपना कहने वाला कोई न था। हम मिश्रों के लिए तरसते थे और लोग हमसे कतरा कर निकल जाते थे। लगता था जैसे कि हम समाज में परित्यक्त हों, बहिष्कृत हो। ऐसे भी दिन देखे कि जब हम एक समय खा हर दिन वित्ता देते थे, नये कपड़ों के लिए न जाने कितनी दूसरी आवश्यकताओं को तिलांजलि देनी होती थी। बीमारी के समय दवा जुटाना भी मुश्किल हो जाता था। सुख-सुविधा की चीजें तो अब स्वप्न बन कर रह गई थी। हमें प्रत्येक बार अपमानित होना पडा व सामाजिक अन्याय सहन करने पड़े, लेकिन किसी प्रकार गाड़ी घरेलूते रहे। हमने मुश्किलों के सामने न झुकने का फैसला कर लिया था और इतनी विपदाओं में भी अपने आत्म-सम्मान को संजोये रहे। मैंने ईश्वर की तथा अपने प्रियजनों की सपथ ली कि मैं जीवन की चुनौती को स्वीकार कर एक दिन दुर्दैव से बदला चुकाऊंगा।

मुझे लाहौर के गवर्नमेंट कालेज में प्रवेश मिल गया। वहाँ गैरेट, डिकिन्सन, लैंगहॉर्न तथा अहमद शाह बुलारी जैसे मेधावी प्रोफेसरों से पढ़ने का मौभाग्य प्राप्त हुआ। मैंने मन लगा कर पढ़ना आरम्भ कर दिया तथा कॉलेज के सभी कार्यक्रमों, खेलों, नाटकों व वाद-विवाद आदि में भाग लेने लगा। क्रिकेट मेरा प्रिय खेल था।

भविष्य के लिए मैंने साहसपूर्ण जीवन को चुना। हरीग सरकार आदि मेरे कुछ पुराने सहपाठियों ने वायु-सेना में नाम लिखा लिया था। मैं भी उन्हीं का अनुसरण करना चाहता था। मेरे दो वर्तमान सहपाठी सेना में चुन लिये गए थे, उन्होंने मुझमें भी आवेदन-पत्र भेजने के लिए कहा। इस सम्बन्ध में जब मैं लाहौर के जिना मजिस्ट्रेट से मिला तो उन्होंने कहा कि मेरी राजनीतिक गतिविधियों के कारण मेरा आवेदन-पत्र शायद ही स्वीकृत हो। मैंने भी चोट की कि मैं तो ग्यायसंगत राष्ट्रवादी अनुष्ठान में भाग ले रहा था और इस पवित्र काम में सारा देस ही लगा हुआ था और फिर मैं अपनी सेना में ही भर्ती होना चाहता था, किसी विदेशी सेना में तो नहीं। इसलिए मुझे यह समझ में आता ही नहीं था कि मेरे आवेदन को स्वीकार करने में कौन-सी घटबन हो सकती थी। मेरी इच्छा पूर्ण हुई और मुझे सेना में प्रवेश के लिए होने वाली परीक्षा में बैठने की अनुमति मिल गई। मैं तो इन प्रयोजनों की मद्द्दुष्टि ही मानता हूँ कि मेरी पृष्ठभूमि में परिलिख होने पर भी उन्होंने मौखिक परीक्षा में मुझे बहुत अच्छे धंरक दिए। कुछ महीने बाद मुझे सेंट्रल

बेस्तरे के पास इकट्ठे हो गए। कुछ समय बाद ही उसने इस सप्तार मे नाता षोड़ लिया। कितना भयानक दृश्य था—एक सुन्दर लडकी निरक्षेष्ट और निर्जीव षडी हुई थी; कुछ देर ती में इस कदु सत्य से समझौता न कर पाया कि ग्रव यह कभी बोल नहीं पाएगी। वह बेबल उन्नीस वर्ष की नवयुवती थी। उसकी स्मृति आज तक मेरे मानम को कुरेदती रहती है।

इंग्लैंड जाने के लिए अगले दिन मैं बम्बई को रवाना हो गया। मुझे विदा करने के लिए एक छोटी-भोटी भीड़ इकट्ठी हो गई थी। गाड़ी चलने से कुछ पहले मेरे एक पुराने अध्यापक प्रजनाल, भीड़ को चीरते हुए प्राणे भाए और उन्होंने मेरी मुट्ठी मे एक मुहा-तुड़ा सा कागज रख दिया। देखा तो वह सौ रुपये का एक नोट था, जिस पर पेंसिल से 'शुभ कामनाएँ' लिखा हुआ था। सौ रुपये का यह नोट उस व्यक्ति ने दिया था जिसका अपना गुजाग मुश्किल मे चल पाता था। उनको इस उदारता को देख कर मेरा कण्ठ भर आया।

बम्बई में हमारा जहाज एस० एम० मादुआ जिस दिन इंग्लैंड के लिए रवाना हुआ, मौसम काफी साफ था। मेरे साथ दम कैंडेट और थे तथा हम सभी बीस वर्ष से कम आयु के थे। भारत के विभिन्न क्षेत्रों से आये हुए हम सभी कैंडेट, विदेश जाने के विचार से प्रफुल्लित थे। उसी दिन शाम की घटना है: हम कुछ साथी कॉकटेल-कक्ष मे बंठे हुए थे। खानसामा ने आ कर पूछा कि वह हमारे पीने के लिए क्या लाए। प्रत्येक ने एक पक्के शराबी की तरह ह्विस्की, जिन या कोई अन्य शराब मँगवाई। जब मैंने कोमल पेय लाने को कहा तो साथियों ने हठ को कि मैं भी कोई शराब मँगवाऊँ और मेरे मना करने पर उन्होंने मेरा मजाक उड़ाया। काफी कहा-सुनी हुई किन्तु अपने निश्चय से मैं न डिगा और मैंने निर्णय कर लिया कि मैं शराब को कभी हाथ न लगाऊँगा। वह दिन था और आज का दिन है, मैंने न कभी धूम्रपान किया है और न कभी मदिरा-पान। यह मैं अपनी प्रशंसा के लिए नहीं कहता हूँ, बरन् एक तथ्य सामने रख रहा हूँ।

पोर्ट सईद, जिब्राल्टर और मर्सीलीस होते हुए हम लंदन के टिस्वरी डांस पढ़ेंगे। प्रत्येक मनोहारी दृश्य मेरे कृतूहल मे सबर्द्धन कर रहा था। इंग्लैंड की राजधानी के पास से गुजरते समय रात हो चुकी थी। अस्त्रय राशि प्रकाशों से जगमगाता वह महानगर परियो का देग-सा प्रतीत हों रहा था। लंदन मे सैण्डहस्ट पढ़ने मे बंबल एक घटा लगता है। जब हम सैण्डहस्ट पहुँचे तो वहाँ इममान-जमी पान्ति विराजमान थी। चारों ओर क्या था, कुछ पता नहीं लग रहा था। सबसे पहले हमें एक लन्दनिया क्वार्टरमास्टर सार्जेण्ट के दर्शन हुए। मुश्कराहट से अनभिज्ञ और खिन्न-अन, वह सार्जेण्ट बोलने के

स्वास्थ्य-कामना कर सकता है। वह स्वयं भी मदिरा नहीं छूते थे। यह न कर मैंने मुक्ति की सोस ली।

हम अधिकांश समय पंक्ति में खड़े रहते थे—कभी ड्रिल के लिए, कभी शारीरिक प्रशिक्षण के लिए, कभी घुड़सवारी के लिए और कभी अन्य परेडों के लिए। निरीक्षण करते समय सीनियर अण्डर ऑफिसर अचानक तानाशाही ढंग में 'हेग्रर-कट' चिल्ला उठता था, यद्यपि हमने उमी दिन सुबह बाल ढिबाये होते थे। किन्तु यह तो प्राप्तपुरुष—अनुशासन का मूर्तिमान आदर्श—के मुख से निकला शब्द था और उसका शब्द अन्तिम होता था। उसकी बात का उत्तर देने का अर्थ था गम्भीर परिणामों को भुगतने के लिए तैयार रहना। यह तो सैनिक प्रशिक्षण का अंग था और इसी प्रकार अनुशासन सीखा जाता था। नाई तो पुराना खुरांट था और इन चीजों से उसका रोज ही वास्ता पड़ता था, इसलिए आपके मिर पर वह अपने उस्तरे का ऐसा चमत्कार दिखाता था कि अगले दिन उसके पास जाने की फिर नीवत न आए। किसी समय सीनियर अण्डर ऑफिसर आपके कंधे का अपनी बेंत से स्पर्श करते हुए कह उठता 'पताफ ऑन परेड'। इसका अर्थ था कि आपके कोट पर कोई कण उड़ कर चिपक गया है। इसी प्रकार उसके विभिन्न अनुशासन चलते रहने।

जूनियर होने के नाते हमें यह इजाजत नहीं थी कि हम नंगे मिर, कोट या जैकेट के बटन खोलने या जेब में हाथ डालने बाहर धूम सकें। ऐसे अनेक प्रतिबन्ध हमारे ऊपर लगे हुए थे ताकि हम अपनी स्थिति का ज्ञान रहे।

सीनियर अण्डर ऑफिसर का पद बड़ा लुभावना था। कैंडेटों के ऊपर शासन करने का उसे अधिकार मिला हुआ था और अपने डग अधिकार का वह उपयोग भी करता था। जो कैंडेट ड्रिल, शारीरिक प्रशिक्षण और अध्ययन में योग्य कैंडेट के ऊपर होता था, उसे यह पद मिलता था। वह एक आदर्श था जिसका हमें अनुकरण करना था और उसके प्रत्येक आदेश का हमें तिर भुगत कर पालन करना होता था। अन्तिम तम्र के अन्त में उमी पद के किमी कैंडेट को 'किंगड मैडल' या 'सोर्टे ऑफ ऑनर' से विभूषित किया जाता था और इन्हे पाने की लालसा सभी कैंडेटों को होती थी।

ड्रिल के लिए पंक्ति बनाने समय सबसे लम्बे कैंडेट को दाएँ पर तथा सबसे छोटे कैंडेट को बायें खड़े होना पड़ता था। ड्रिल का वापसभार कम्पनी सार्जेण्ट-मेजर पर था। वह विल्लाता 'कम्पनी एटेन.....दान'। इसके बाद उसके मुख से शब्दों का धारा-प्रवाह नम आरम्भ हो जाता : 'सीधी ओर, नेज चलो ! बायें... सीधे...बायें...सीधे। भगवान् के लिए जाग जाओ, हिनो मत। पीछे मुड़। भगवान् के लिए घाय...', सम्बोधित कैंडेट पर धृष्टाभरी दृष्टि फेंक कर वह आगे कहता, ".....सामने देखो.....मुँह ऊपर रखो..... सीधे मत देखो...बाजू दीर्घ छोड़ दो...सीना फूटा लो...बायें... सीधे..."

इसके समय उनके अनेक गुण प्रकाश में आ गए ।

शास्त्रीय प्रशिक्षण की कक्षा में रस्सियों व सहतीरो के सहारे बढना होता था, घोड़े की सवारी करनी पड़ती थी तथा ऐसे ही अनेक जटिलतापूर्ण अभ्यास कराये जाते थे । यहाँ भी डिल की भाँति, मिल-जुल कर काम करने की भावना विकसित होती थी ।

घुड़सवारी में मुझे सचमुच आनन्द मिलता था क्योंकि सैण्टहस्ट आने में रहते ही मैं इस कला में पारगढ़ हो चुका था । जब प्रशिक्षक 'दुलकी' या 'रकाब छोड़ो' के आदेश देता था तो कुशल घुड़सवारों के लिए तो ये मामूली बातें थीं किन्तु नौमिक्षिये बेचारे लुढ़क जाते थे ।

मैंने गॉल्फ खेलना भी सीखा और जब मैं स्काटलैण्ड में था तो ग्लेनग्लस तथा सेंट एण्ड्रूज में इसका प्रशिक्षण भी लिया किन्तु घर लौटने के बाद मैं इस विनासितापूर्ण खेल को बालू न रख सका ।

प्रत्येक सत्र के समाप्त होने पर नये और पुराने भवनों के कैंडेट पागलों की तरह साइकिल चलाते हुए एक-दूसरे पर आक्रमण करते थे और यह क्रम तब तक चलता रहता था जब तक वे एक कर चूर-चूर न हो जाते । इस हृदय में अनेक दुर्घटनाएँ हाँ जाती थीं, किन्तु इसमें हम में उन्मत्त होकर कार्य करने की क्षमता पनपती थी । कनिज के बरिष्ठ कैंडेटों को भी उठा कर नहर में फेंक दिया जाता था और हो-टुल्लेड के अतिरिक्त इसका और कोई ध्येय नहीं था । जो कैंडेट अपने दल की पराजय का कारण होते थे जैसे घुड़सवारों की परीक्षा में अनुत्तीर्ण होना या कम्पनी के विजेता बनने में बाधक सिद्ध होना, उन्हें भी इस नहर में उछाल दिया जाता था । यह दिन ऊपम करने और रगरेसियाँ मचाने का होता था ।

सैण्टहस्ट के इस सैनिक विद्यालय में एक बात की और मेरा विशेष ध्यान गया : वहाँ किसी भारतीय को न तो कॉरपोरल से ऊपर का अर्थात् सैनिक पद मिलता था और न वह अपने देशवासियों के अतिरिक्त किसी की कमान संभाल सकता था । उस महान् अकादमी में इस प्रकार का भेदभाव बड़ा असंगत लगता था ।

उस सैनिक विद्यालय में अण्डर ऑफिसर के पद की अपनी विशिष्टताएँ थी । वह ऑफिसर और कैंडेट की बीच की कड़ी था, कैंडेटों में उसका काफी सम्मान था तथा उन पर उसका एक छत्र शामन रहता था । जरा-जरा-सी बात पर वह क्वार्टर गार्ड में रखने की धमकी दे देता था ।

अनेक कैंडेटों को मैंने स्ट्रा-हैट (पुश्पाल-निर्मित टोप) पहने हुए देखा । इसका फैशन प्रिंस ऑफ वेल्स (बाद में इयूक ऑफ विण्डसर) ने शुरु किया था । इसलिए, जब एक बार म्प्राहान्त में, मैं लन्दन गया तो वह हैट खरीद लाया । जब एक ब्रिटिश अण्डर ऑफिसर ने मुझे यह हैट पहने हुए देखा तो

'नहीं', मैंने उत्तर दिया ।

'घोह, यह गान्धी, इसकी टाँग बाण्डी,' उगने गाने की तर्ज में मञ्चाक उड़ाया ।

यह मून कर मुझे इतना शोष पदा जितना कि एक ब्रिटिश कैंडेट को ईगा मनोह के प्रति कोई गन्दा मञ्चाक मून कर थड़ता । दसगं पहले कि मैं लड़ा हो पाऊँ, वह दरवाजा धटाक मे बन्द कर यह जा, वह जा घोर ऐगा गामय दृष्ठा जैने मरे के मिर मे मौन ।

यदि किसी भारतीय को क्रिख कैंडेटगिय मिलती थी तो इसने गाय काफी बड़ी धन-गति भी मिलती थी । मॅण्डहस्ट में जिम प्रकार का गयपंपूर्ण जीवन मैं व्यतीत कर रहा था, उगने मुझे यह धागा नहीं थी कि यह गीभाय्य मुझे प्राप्त होगा । किन्तु एक दिन मुझे बार पॉपिस मे एक पत्र द्वारा सूचना मिली कि यह पुरस्कार मुझे मिला है । मेरे लिए यह बहुत बड़े महत्व का गमानार था । इस अनुदान मे मेरा भारतीय ऋण मिनटो मे शुरू जाएगा । मुझे स्वय तो मबान्टने (कैंप्टेन के पद मे नीचे का अण्डर पॉपियर) के बेनन मे यह ऋण चुकाने में बर्षों मग जाने क्योंकि मेरे पास घोर जिम्मेदारियों भी थीं । ब्रिटिश न्याय ने हमें लाम पहुँचाना प्रारम्भ कर दिया था ।

गर्मी की दो महीने की छुट्टियों में, हम भारतीयों के घनिरिकन, सब धपने-धपने धर धने जाने थे । भारतीय लन्दन, पैरिस या अन्य रमणीय स्थानों की घोर निकल जाने थे । पर्वतों का दीकीन होने के कारण मैं स्कॉटलैंड के पर्वतीय प्रदेश के एक छोटे मे सुन्दर गाँव पिटमॅंगरी चला गया । जहाँ तक चित्रोपम सौन्दर्य का सम्बन्ध था, यह स्थान बडा निराना था । किन्तु वहाँ केवल दो धाथी घोर थे—स्कॉटलैंडकाली युद्ध मैकी घोर उनकी पत्नी । वहाँ हम नॅकिन्दारण नामक जनधून्य छात्रावास में ठहरे हुए थे । अगले दिन उनकी दो पुत्रियाँ—मारपेट घोर एना—भी पन्द्रह दिन की छुट्टियों जिताने वहाँ धा गईं । एना बडो चंचल थी, स्फूर्तिमय घोर उत्साह मे परिपूर्ण । उसकी बहन मारपेट बड़ी गम्भीर घोर गालीन थी । वह सुन्दर थी घोर उसकी चाल में गरिमा थी, उसके धरीर के अंग सुकुमार घोर हाम कोमल थे, उसके अनेक दाब्ध धनकहे रह जाने थे । उसके सुनहरे बाल रेशम की तरह चिकने थे । हम दोनों एक साथ खाने, एक साथ धूमने जाते, पास की पहाड़ियों पर एक साथ चढ़ने घोर सँर करने । दूसरे दाब्धों में, हम एक साथ रहने के प्रत्येक धण का सदुपयोग करते । प्रायः हम दोनों नॅकिन्दारण के सुगन्धित एव कमनीय उद्यान मे लेटे हुए एक-दुसरे को अपने संस्मरण सुनाया करते । निस्सन्देह हम दोनों एक-दुसरे को बहुत अधिक चाहने लगे थे किन्तु दाब्धों मे हम दोनों मे मे किमी ने भी अपनी भावनाधों को व्यक्त नहीं किया था । मैंने उस समय तक किमी को इतना अधिक नहीं प्हाहा था घोर भव मुझे अपने धारों घोर के पदाथी के नये रूपों का बोध होने लगा था । अथ आकाश की नीलिमा अधिक गहरी लगती

हरबोलवा रुका—“क्या है ?”

मुदरसन बोना, “तुम्हारे घर चर्लू तुम्हारे साथ ?”

“नहीं। बेकार, मेरी माँ तुमको भी गानो देगो।”

“तू काम करेगा ?”

“बाबू से पूछूँगा ?... मुझे देरी हो रही है, चलता हूँ।”

“ठहरी जरा, यार ! ... मच ! लगता है तुममें बहुत दिनों की जात-पहचान है।”

हरबोलवा हँसा। “... चायद, उमकी हँसी ने मुदरसन को मोह लिया है। उमने पृष्ठा, “तुम कोयले में मजान करते हो ?”

“हाँ।”

“मैं भी कलूँगा।”

हरबोलवा चलने लगा तो मुदरसन ने उमके दोनों हाथों की पकड़-कर हँसते हुए कहा, “वहाँ-मुना माफ करना भाई !”

मुदरसन की धीपों में न जाने क्या देखा कि इटान् हरबोलवा का दिन उमड धाया। वह रुक गया। उमने उदास मुदरसन में पूछा, “क्या हुआ ?”

“माता ! धात्र बहुत मार पड़ेगी।”

“मुझे ?”

“साला, जब तक मूछ नहीं जमेगी, तब तक बानिस नहीं हो गाने घोर जब तक नाबानिस रहोगे, इमो तरह रोज सतम-सुतम ! माता, घर जाने का बी नहीं करता। ... वही भाग चलने का मन करता है।”

बाकरपत्र भगजिद के पास दोनों बहुत देर तक उरान खड़े रहे—नीम की छाया में।

“जब तक बानिस नहीं हो जाँ रोज सतम-सुतम रहना होगा। साला ! ... तुम, एक काम करेगा ? मनीमा में ‘दनदन भावा’ बेंकेगा ?”

“मनीमा में दनदन भावा ?”

मुदरसन ने जलनासा, “मोन-मनीमा” के पास एक दनदन भावा बमनी है। उमने उमके कई दोस्त्र काम करने है। मूब मोर का काम है,

हरबोलवा रत्ना—“क्या है ?”

मुद्गरमन बोला, “तुम्हारे घर चलूँ तुम्हारे साथ ?”

“नहीं। बेकार, मेरी माँ तुमको भी गाली देगी।”

“तू काम करेगा ?”

“बाबू से पूछूँगा ?” मुझे देरी हो रही है, चन्ता हूँ।”

“टहरो जरा, पार !” “सच ! लगता है तुमसे बहुत दिनों की जान-पहचान है।”

हरबोलवा हँसा। “छामद, उसकी हँसी ने मुद्गरमन को माँह बिपा है। उसने पूछा, “तुम कोषमे से पजन कग्ते हो ?”

“हूँ।”

“मैं भी करूँगा।”

हरबोलवा चलने लगा तो मुद्गरमन ने उसके दोनों हावों को पकड़-कर हँसते हुए कहा, “कहा-मुना माक करना भाई !”

मुद्गरमन की छाँयो में न जाने क्या देगा कि दृष्टात् हरबोलवा का दिल उमड़ भाया। वह रुक गया। उसने उदास मुद्गरमन से पूछा, “क्या हुआ ?”

“माता ! धात्र बहुत मार पड़ेगी।”

“मुझे ?”

“माता, जब तक मूछ नहीं जमेगी, सब तरह बानिय नहीं हो सकेने कीर अब तक नाबालिय रहोगे, इन्को तरहूँ रोत्र मजम-तुमम ! माता, पर जाने मा जी नहीं करता।” “वही भाग चलने का मन करता है।”

बाबरमंत्र मन्त्रिद के पास दोनों बहुत देर तक उदास लड़े रहे—तीस को छाया में।

“जब तक बानिय नहीं हो जाके रोत्र मजम-तुमम मूछा होगा। माता !” “मुनो, एह काम करेगा ? मनीमा मे ‘दनदन भात्रा’ बेवेगा ?”

“मनीमा मे दनदन भात्रा ?”

मुद्गरमन ने बतलाना, “मोन-भवीमा’ के पास एक दनदन भात्रा बसती है। उनसे उसके कई दोस्त काम करते हैं। मुह मोत्र का काम है,

“श्री !”

हेरबोलवा बूँ रहो । सुदरसन बोला, “एक बात कहूँ ? वृरा ती नही मानेगा ?... वृरी मौसी छिनाल है ।”

“धन !”

“धन क्या ?... धूने थूँककर देखा तो...”

सुदरसनवा की हँसी पर हेरबोलवा का चेहरा ठीक उफाली की तरह हो गया । माती वह भी बिछावन में प्रभाव करता हो ! और यह बात हीटती वार कारपोरेशन के सामने वाले वंश के पास वे कुछ देर तक सुदरसन की मारुम हो गई ।

कहे रहो ।

हेरबोलवा ने पूछा, “तुम किस बीज की दुकान में काम करते हो ?”
“दफ्तरी की दुकान में !... साला, लोडकी गंध के मारे गुम्हारा दिमग फट जाएगा !... करेगा काम ?”

“कितना मिलता है ?”

“मीट परदे खपे !”

“धन ?”

“ती कामज पर लोडें लगाने का और कितना मिलेगा—एक सौ ? बोली, काम करेगा ?”

मखनियाँ कुम्हा के मुककड़ पर कुछ हो गया है । दोनों ने दुलकी चाल पकड़ी । लेकिन जब वे पहुँचे, खला खत्म हो चुका था । स्कटर रिश्ता; एक्सिडेंट में दो आदमी घायल हुए थे और दोनों अस्पताल जा चुके थे ! दोनों की पखतावा हुआ ।

हेरबोलवा ने जलटकर देखा, सुदरसन एक बोड़ी की दुकान पर रुक गया है । बोड़ी सिलगाकर वहे तेजी से हेरबोलवा के पास आया—“बोड़ी पीएगा ?”

“बोड़ी नहीं पीता !”

हेरबोलवा जब अपने मुँहले की आर आने लगा तो सुदरसन का दिल भवानक वृक गया । उसने हेरबोलवा की पुकारा—“ए ! मुनी !”

हरबोलवा लगा—“क्या है ?”

मुदरसन बीना, “तुम्हारे घर चर्नू तुम्हारे साथ ?”

“नहीं ! बेकार, मेरी माँ तुमको भी गाली देगी ।”

“तू काम करेगा ?”

“बाबू से पूछूँगा ?... मुझे बेरी ही रही है, चलता है ।”

“टहरो जरा, यार !... सच ! लगना है तुमने बहुत दिनों की जान-पहचान है ।”

हरबोलवा हँसा । “शायद, उमकी हँसी ने मुदरसन को मोह लिया है । उसने पूछा, “तुम कोयने से मजन करते हो ?”

“हाँ ।”

“मैं भी करूँगा ।”

हरबोलवा चलने लगा तो मुदरसन ने उसके दोनों हाथों को पकड़-पर हँसते हुए कहा, “बड़ा-मुना माफ करना भाई ।”

मुदरसन की घाँवों में न जाने क्या देगा कि इटानु हरबोलवा का दिल उमड़ गया । वह रुक गया । उसने उदास मुदरसन से पूछा, “क्या हुआ ?”

“साला ! घात्र बहुत मार पड़ेगी ।”

“मुझे ?”

“साला, जब तक मूछ नहीं जमेगी, तब तक बालिग नहीं हो सकने और जब तब नाबालिग रहोगे, इसी तरह रोज सलम-जुलम ! साला, घर जाने का जो नहीं करता ।... बड़ी भाग चलने का मन करना है ।”

बाबरगंज भगजिद के पास दोनों बहुत देर तक उदास खड़े रहे—नीम पौ छाया में ।

“जब तक बालिग नहीं हो जाने रोज सलम-जुलम मटना होगा । साला !... मुझे, एक काम करेगा ? मनीमा में ‘टनटन भाजा’ बेंवेगा ?”

“मनीमा में टनटन भाजा ?”

मुदरसन ने बलताया, “‘नीम-मनीमा’ के पास एक टनटन भाजा कम्पनी है । उसमें उसने कई दोस्त काम करते हैं । मुव मोत्र का काम है,

यार ! मगर जमानतदार ही नहीं मिलता कोई । और, बाप साला काहे चाहेगा कि उसका बेटा टनटन भाजा बेचकर पैसा जमा करे ?”

सुदरसन ने बतलाया, “बीस रुपये महीना! एक दम आजादी का काम फोकट में सलीमा देखो, सो ऊपर से ।”

सुदरसन ने अपने बाप से कहा था । मगर सुदरसन के बाप ने कहा, “टनटन भाजा कम्पनी का मालिक एक सौ रुपया पेशगी देगा ? दफतरी ने दो सौ रुपया एडवांस दिया है ।”

सुदरसन ने हरबोलवा के कंधे पर हाथ रखकर बहुत ध्यार-भरे सुर में पूछा, “बोला ना यार, टनटन भाजा कम्पनी में काम करेगा ?”

“मगर जमानतदार ?”

“उसका इन्तजाम हो जाएगा ।”

“कहाँ ?”

“हमारे मुहल्ले में एक अमजद मिस्तरी है । मगर भारी खचड़ा है ।”

सुदरसन ने थूक फेंकते हुए कहा, “यार, एक बार कोई जमानत हो जाए । एक बार टनटन भाजा कम्पनी की नौकरी मिल जाए, फिर कौन बाप ले जाता है पकड़कर घर और कौन साला मारता है ? ... मगर अमजद मिस्तरी साला भारी खचड़ा है ।”

“खचड़ा है तो जमानत कैसे ... ?”

सुदरसन हँसा—“खचड़ा है इसीलिए तो जमानतदार होगा ।”

बाकरगंज मुहल्ले के पास ही कहीं शादी के ढोल बजने लगे । दोनों ने एक लम्बी साँस ली ।

हरबोलवा ने कहा, “इस साल खूब लगन हैं । तुम्हारे मुहल्ले में कोई शादी नहीं ? हमारी गली में एक ही रात में पाँच ... ।”

सुदरसन हँसा—“मारो यार गंली ! शादी ! जब तक मूँछ-दाढ़ी नहीं उगता साला, नाबालिग ही रहेंगे हम लोग । ... चलो, अमजद मिस्तरी के घर चलें ।”

हरबोलवा को हठात् लगा, सुदरसन ही उसका सब कुछ है । सुदरसन के सिवा इस दुनिया में अपना कोई नहीं । उसका दुख समझने वाल

यह सुदरमन...।

सुदरसन के हावों को हरबोलवा ने पकड़ लिया—“मुझे डर लगता है लेकिन...।”

“काहे का डर ?”

“बाप...।”

“घरे, एक बार कम्पनी में घुसने तो दे, तब देखना है बापों को। .. ए देल, इघर... इसमें तेल लगावेगा आकर तुम्हारा और हमारा बाप-माँ मौसा-मौसी सब । समझे ?”

हरबोलवा ने हँसकर सुदरमन के गले में हाथ डाल दिया—“तो मिला जाएगी नौकरी ।”

“धमजद मिस्नरी को तेल लगाना होगा ।”

“लगाएँगे ! कम्पनी की नौकरी के लिए जो करना होगा करेंगे । अब नौटकर घर नहीं जाना है । 'यूत है घर को ।’”

“पक्का !”

“पक्का !”

• • •



जड़ाऊ मुखड़ा

वटुक वावू ने मन-ही-मन तय कर लिया—अॅपरेशन करवाना ही होगा। और, इसी जाड़े में।

वटुक वावू पिछले एक सप्ताह से मानसिक अशान्ति भोग रहे थे, चुपचाप! जब-जब उनकी इकलौती बेटी बुला सामने आती, वटुक वावू का चेहरा उतर जाता। बुला की ओर आँखें टूँटकर देख नहीं सकते। उनकी ऐसी गम्भीर और उदास मुद्रा को देखकर बुला डर से कुछ नहीं बोलती। बाप के जी के बारे में माँ से भी कुछ पूछने की हिम्मत नहीं होती।

पत्नी ने कई बार पूछा तो कोई खुलासा जवाब नहीं दे सके, वटुक वावू।

कल रात बुला अपनी माँ के साथ मच्छरदानी के अन्दर सो रही थी। वटुक वावू धीरे से उठे। हाथ में छोटा टॉर्च लिया। फिर कुछसोच कर रख दिया। टेबिल-लैम्प का स्विच दबाया। दवे पाँव पलंग के पास गये। और सोयी हुई बुला के चेहरे को गौर से देखने लगे; कुछ देखकर सिंहर पड़े। पत्नी शायद सब कुछ देख रही थी। धीमी आवाज में बोली, “यह क्या?”

वटुक वावू हड़बड़ा कर उठे। इशारे से कुछ कहा और टेबिल-लैम्प

आँफ करके बैठक में गये। इशारा समझकर पत्नी उनके पीछे-पीछे गयी।

बटुक बाबू ने हाथ के इशारे से ही पत्नी को अपने पास बैठने को कहा। पत्नी धीरे से सोने के कमरे का दरवाजा बन्द कर आई। बटुक बाबू ने फुमफुसाकर कहा, "बुला के चंहेरे पर 'मम्मे' पर एब रोयाँ उग प्राया है। तुमने देला है?"

पत्नी ने लम्बी साँस ली। जो हल्का हुआ। बोली, "हा! देला है।...तो क्या हुआ?"

"तो क्या हुआ?" बटुक बाबू को अचरज हुआ। माँ होकर भी इन बातों की ओर ध्यान नहीं देनी। बोले, "मैं आज ही नकुल को चिट्ठी लिख देता हूँ। इसी छुट्टी में पटना चलकर आँपरेसान ..।"

'आपरेसान' का नाम सुनकर पत्नी सिहर पड़ी— "हूँहूँ...!"

"क्या, हूँहूँ?"

"आपरेसान-उपरेसान करके कही और भी चेहरा खराब...।"

"प्लास्टिक-राजरी के जमाने में भी तुम ऐसी बातें करती हो?"

गिड़गिड़े सोलह साल से जब-जब बटुक बाबू ने आँपरेसान करवाने का प्रस्ताव किया, पत्नी ने समर्थन नहीं किया। और राई-भर का 'मस्सा' बढ़ने-बढ़ते धब गोतामिचं के बराबर हो गया है; उसमें एक केश भी उग पाया है।...धब भी कहती हैं कि आँपरेसान नहीं!

बटुक बाबू ने माक सिकोठकर कहा, "जितना भड़ा लगता है यह रोयाँ!...जितली के मूँह की तरफ़।...परम मुन्दर बेहरे पर यह गोतामिचं जैना मस्सा और उसमें...छिः छिः।"

पत्नी को आँपरेसान के बदले अपने बड़े भैया की बात याद आई— "तुम लोग इतनीबान से बैठे हो, क्यों? लड़की बड़ी हो रही है। 'मोते-नाय' (मर्दान् बटुक बाबू) ने कही, 'मुपाय' पर लजर रव्वे।"

पत्नी ने पूछा, "भगवानपुर से फिर कोई चिट्ठी नहीं आई?"

बटुक बाबू नाशज हो गए— "भगवानपुर में क्या चिट्ठी आएगी?... दुनिया में मुन्दर लड़की की कमी है जो तुम्हारी...ऐसी लड़की को वे पसन्द करेंगे, जिनके गाल पर गोतामिचं-जैसा...?"

पत्नी हँस पड़ी। बटुक बाबू चिढ़ गए—“तुम हँसती हो ?”

“तो अभी इतनी रात में रोकर क्या होगा ?”

“मुझे नींद नहीं आएगी।”

पत्नी समझ गई, बात हँसी में टलने वाली नहीं। अतः वह भी गम्भीर हो गई। दोनों बहुत देर तक विचार-विमर्श करते रहे। बात तय हो गई—इसी छुट्टी में यानी पन्द्रह दिन के अन्दर ही चलकर ऑपरेशन करवा दिया जाए !

दूसरे दिन से बटुक बाबू से ज्यादा परीशान उनकी पत्नी दीखने लगीं। वह जब-जब बुला के चेहरे को गौर से देखती बुला अवाक् हो जाती। उसके गाल पर जड़े हुए काले मस्से का रोयाँ थर-थर काँपने लगता। बुला की माँ को लगता, तितली का सूँड बढ़ता आ रहा है...आ रहा है ! वह सिहर उठती।

पटना से बटुक बाबू के छोटे भाई प्रोफेसर नकुल बाबू की चिट्ठी आई और पति-पत्नी ने पटना चलने का प्रोग्राम बना लिया। पास-पड़ोस के लोग जान गए। लेकिन ऑपरेशन करवाने की बात उन्होंने किसी से नहीं बताई।...क्या जरूरत ?

सत्रह साल पहले बुला का जन्म हुआ। उसके बाद फिर कोई संतान नहीं हुई। बटुक बाबू के छोटे भाई प्रोफेसर नकुल ने कई बार अपने भाई और भाभी को समझाकर कहा—“मामूली ऑपरेशन डी० एन० सी० करवा लेने से ही फिर...।”

किन्तु वे कभी तैयार नहीं हुए। हँसकर उड़ा देते—“क्या जरूरत है ?...बुला ही हमारी बेटी, बुला ही बेटा !”

बुला पिछले साल स्थानीय कॉलेज में दाखिल हुई है। विज्ञान पढ़ती है। बटुक बाबू को जीवन में अब तक कभी सिर-दर्द भी नहीं हुआ। मौसमी सर्दी-बुखार के अलावा पत्नी भी बीमार नहीं पड़ी। इसलिए बुला का स्वास्थ्य भी सुन्दर है। मुफस्सिल के कस्बे में जन्मी और पली बुला अपने कॉलेज की ‘कवड्डो-टीम’ की कैप्टन है।

बटुक बाबू इतिहास के शिक्षक हैं। किन्तु स्वभाव से पूरे दर्शनशास्त्र-

विभाग के व्यक्ति हैं। इसलिए कभी-कभी गृहिणी से मनमुटाव भी हो जाता है। ... पाँच साल पहले, इसी तरह बुला को लेकर उन्होंने एक 'भगस्या' पट्टी कर ली थी—अपने दिमाग में। अपनी स्त्री से बार-बार कहते—
 "माँ होकर भी तुम इन बातों को धोर ध्यान नहीं देती ! ... वह डर के मारे मूखकर काँटा हो गई है। सम्झती है कोई रोग हो गया है। ... उसको मिन्नाना होगा ... मेनिटरी-टैबल और स्पंज का इस्तेमाल कैसे ... तुम माँ होकर भी इन बातों पर ... ।"

बटुक बाबू को साहित्य और संगीत में तनिक भी रुचि नहीं। उपन्यास और कहानियों से उनका ही चिह्न है जितना मिनेमा और दिव्येटर से। इसलिए चाहते थे कि उनकी पत्नी और पुत्रों न कभी उपन्यास-कहानी पढ़ें और न मिनेमा-दिव्येटर देखें। किन्तु पत्नी महोने में दो-तीन बार मिनेमा देव आती है। बुला उपन्यास-कहानी पढ़े बिना रह नहीं सकती। बाप से तर्क करने लगी—
 "बाबा ! तुम सभी को एक ही लाठी से हारते हो ... ।" अन्त में मानूष हुआ कि बटुक बाबू उपन्यास-कहानी के विरुद्ध नहीं, 'प्रेम विवाह' यानी 'लव मैरेज' के खिलाफ है ... ।

बुला हँसते-हँसते लोट-पोट हो गई थी।

बुला कभी पटना नहीं गयी। लेकिन काकी और चचेरे भाई-बहनो के मुँह से बहुत बार पटना के मुहल्ले और गडकों के बारे में गुन चुकी है। ... बाँकीपुर स्टेशन पर पहुँचकर उमे लगी—यहाँ वह पहले भी आ चुकी है।

पटना आकर बुला को मानूस हुआ कि सँर-मपाटे के लिए नहीं, उसके 'मस्ते' के प्रोपेरेगन के लिए पटना आना हुआ है। चचेरी बहन मीरा ने बताया।

बुला काकी के ट्रेमिंग-डेविल के आइने में अपने गाल पर जट्टे मस्ते को देखती रहती है। ... सभी उसके चेहरे की ओर देखते हैं। चेहरे को नहीं, मस्ते को। मस्ते में उसे हुए 'लोग' को। उसकी अपनी ही धारों हमें अपने गाल पर केन्द्रित रहने लगीं।

प्रोफेसर नकुल ने प्लास्टिक-सर्जन डाक्टर चोपड़ा से बातें कर ली थी। इसलिए दूसरे ही दिन से सानसिला शुरू हुआ। डाक्टर चोपड़ा आये। मस्से को देखा। उंगली से छूकर देखा। अपने सहायक युवक डॉक्टर को कुछ नोट करवाया और चले गए।

बटुक बाबू और उनकी पत्नी ने डाक्टर चोपड़ा से एक ही साथ पूछा—
“आप कम्पाउण्डर हैं ?...स्टूडेंट ?”

जवाब दिया हँसकर नकुल बाबू की बड़ी बेटी मीरा ने, “कम्पाउण्डर-स्टूडेंट नहीं। डाक्टर उमेश हैं। ‘स्टेट्स’ से आये हैं।”

“किस ‘स्टेट’ से ?” बटुक बाबू ने पूछा। फिर तुरत समझकर बोले, “ओ ! स्टेट्स...माने...अमेरिका से !”

डाक्टर उमेश बोले, “खून की जाँच...।”

“खून की जाँच ?” बटुक बाबू अचरज में पड़े, “छोटे-से मस्से के ऑपरेशन के लिए भी खून की जाँच ?”

पत्नी बोली, “मस्सा कोई रोग तो नहीं।”

डाक्टर ने बताया, “एक ही किस्म की परीक्षा नहीं। आज डब्ल्यू० आर० के लिए खून देना होगा। कल आकर एस० आर० और टोटल-डेफरेंसियल।”

बटुक बाबू ने पूछा, “यह डब्ल्यू० आर० क्या है ?”

“वाशरमैन्स रिएक्शन।”

पत्नी बोली, “इसमें घोबी की क्या बात...?”

डाक्टर ने समझाया, “खून में गरमी-सिफलिस वगैरह के बीजाणु हैं या नहीं...।”

डाक्टर उमेश अपनी बात पूरी नहीं कर सके। बटुक बाबू ने घोर प्रतिवाद के स्वर में कहा, “आप कैसी बात करते हैं ! सिफलिस गरमी ?”

डाक्टर उमेश ने बताया कि बेकार वहस करने को उनके पास समय नहीं। बिना इस ‘जाँच’ के कोई ऑपरेशन नहीं हो सकता।

किन्तु बात सुलभने के बदले उलझती गई। बटुक बाबू को लगा,

अधिकारियों के कोच का भोजन बनना पड़ता था और कभी-कभी कहीं भयंकर परिणाम भोगने पड़ते थे ।

अंग्रेज अधिकारियों के अनुपाल में जैसे-जैसे भारतीय अधिकारियों की संख्या बढ़ती गई, हमारी ट्रेड से बालावरण में जैसे-जैसे सुधार होता गया। किन्तु इस संक्रमणकालीन अवधि में भारतीय अधिकारी सामान्यतः अंग्रेजों के दोष की कठपुतली बन रहे तथा ईर्ष्याविश अर्पण देशवासी अधिकारियों की सुगली खा कर या उनके विरुद्ध कुचक्र रच कर उनका हानि पहुँचाने के प्रयत्न में लगे रहे । इस कारण हम कभी दलबद्ध नहीं हो पाए : उस समय समस्त भारत की यही दशा थी ।

मेरी माँ के साथ लहौर से राजलखौड़ी जा रही था । जैसे ही प्रथम श्रेणी के डिब्बे में घुसने को हुआ तो देखा कि वहाँ भीतर से बन्द था। जब मैंने दरवाजे की खटखटाया तो भीतर से एक अंग्रेज महिला ने पूछा दिखाने हुए मुझे कुछ वमकी दी तथा दरवाजा खोलने से इन्कार कर दिया। इस अपमान से मुझे बहुत कोच चढ़ गया और दरवाजा खुलवाने के लिए भारतीय स्टेशन मास्टर को बुला लाया । वहाँ आते ही गया किन्तु एक संसाहस की आदेश देते हुए भयभीत हो रहा था । मैं भी अपनी बात पर अड गया और काफी कहे-सुनी के कारण वहाँ थोड़े इकट्ठी हो गई—जो अंग्रेजों के विरुद्ध कुछ भी कहे कर इकट्ठी की जा सकती थी—तथा दरवाजा खुलवा लिया गया । संसाहस काफी गर्म हुई किन्तु अन्त में उन्होंने दृष्टियार डाल लिए। उन दिनों यह एक आम बात थी । अंग्रेज हमें अपने साथ यात्रा नहीं करने देते थे क्योंकि हमारा साथ उन्हें आपत्तिजनक एवं बर्हदा प्रतीत होता था ।

हमारा कमांडिंग ऑफिसर लेफ्टिनेंट कर्नल फर्रुखन था, जो एक सनकी स्काटलैण्डवासी था तथा अपनी ही दुनिया में रहता था । वहाँ प्राचीनता की प्रेमी था और कुछ अन्य बातों के साथ-साथ उसकी एक सनक यह भी थी कि आउट ऑफिसर अपनी छिट्टियों का एक हिस्सा राजस्थान में बिना प्रयोग किए प्रवेश के काफी आदमी रेजीमेंट में थे । किसी की छुट्टी को नामंजूर करते हुए वहाँ कहे करता था, 'छुट्टी सुविधा है, अधिकार नहीं है ।' बटालियन में जूनियर सबऑर्न होने के नाते कड़े अधिकार मुझे नहीं दिये गए थे । उदाहरण के लिए, एक ही समय में मुझे सैन्य का तीसरा सदस्य, बटालियन का लेखा अधिकारी तथा खेज अधिकारी नियुक्त कर दिया गया था । फर्रुखन ने मुझे कहे कि उस वर्ष वहाँ की तथा खेतों में वर्षा-सिंचनी वृत्तिपनविद्य देमाही बटालियन की मिलनी चाहिए । साथ ही उसने वेतनवादी भी दी—“यदि ऐसा नहीं हुआ तो मुझे बाजार टोप मिलेगा ।” इसके लिए मुझे अपनी टोपी के साथ कड़े सहने सहन करने पड़ी और अन्त में मैं अपने कमांडिंग ऑफिसर की उनके मनोवाहिन प्रस्कार जीत कर दे दिए ।

तयन की समस्त गतिविधियों में उमराव सिंह^{१०} ने भेरा काफी मार्ग-दर्शन किया।

जब मुझे मालूम हुआ कि माँ के गुर्दे का ऑपरेशन होने वाला था तो मैंने उनके पास पहुँचने की सोची। किन्तु सदा की तरह उस समय भी मेरे पास ते की तंगी थी, इसलिए मैं बड़ी परेशानी में था और मुझे यह नहीं समझा रहा था कि माँ के पास कैसे पहुँचा जाए। रजमक से लाहौर की यात्रा के लिए माँस्को से लन्दन की यात्रा के बराबर थी। यहाँ भी उमराव ने मेरी उहायता की पेट्रोल इत्यादि कर अपनी मोरिस गाड़ी एवं अपना ड्राइवर मेरे इवाले कर दिया तथा यात्रा के लिए कुछ और मुविधाएँ भी जुटा दी।

उत्तर-पश्चिमी सीमान्त पर रजमक में वज्जीरीस्तान के बीचोबीच हमारी ग्रैनिक चौकी थी। महसूद और अफ्रीदी इस भूखण्ड के दो प्रमुख कबीले हैं। रजमक से सात मील दूर एक छोटी-सी चौकी थी 'अलेक्जेंडरिया पिक्केट' जिमकी कमान सँभालने के लिए ऑफिसरों को बारी-बारी से एक-एक महीने के लिए भेजा जाता था। चौकी के कमार्ण्डिंग ऑफिसरों को इन तीस दिनों एकाकी जीवन व्यतीत करना पड़ता था तथा प्रतिधन शत्रु की टोह में रहना पड़ता था। इम अवधि में उसे बहुत कुछ सीखने को मिलता था। उसका जीवन आकाशदीप के ऊपर बँटे हुए व्यक्ति के जीवन के समान था, जिसके चारों ओर भयकर शार्क मछलियों से भरा निस्सीम सागर लहरें मार रहा हो। यहाँ भी उसके चारों ओर वजित प्रदेश और शत्रु कबीले के लोग थे। उसके किसी आदमी में जरा सी भूल हुई कि महसूदों की गोली सनसनाती चली आती थी और महसूदों को गोली चलाने में किसी प्रकार की द्विधा नहीं होती थी। महसूद बड़े अच्छे मित्र थे किन्तु शत्रु भी बड़े दुर्धर्म थे और अपनी जान को हथेली पर लिये घूमते रहते थे। औरत व जमीन के भगड़ों तथा अपनी जाति के मध्य चले धा रहे बगानुगत वैमनस्य के लिए अपनी जान मिनटों में भोक देते थे। अंग्रेजों के तो वे जानी दुश्मन थे क्योंकि इन्होंने उनकी जमीन हड़प ली थी तथा उनके एकान्त को भंग किया था। इसलिए, न वे इनके सौहार्द चाहते थे और न उनके मन में इनके लिए सौहार्द था।

इन पिक्केटों के साथ-साथ हमारे यूनिट पताका-अभियान (फ्लैग-मार्च) में, जिन्हें 'दुकदी' (कॉलम्न) कहते हैं—पटानों की सीमा के भीतर काफी दूर तक मुमज्जित रहते थे। इस

ने सीनियर थे, मुझे रजोमैट

कमरा उपहार में दिया

अवधि में छोटी-छोटी भड़पें हो जाया करती थीं किन्तु वे किसी विशेष महत्त्व की नहीं होती थीं। इन अनेक अभियानों में मैं साथ गया और कई नौ गोलियाँ चलीं। मुझे इन अभियानों से बहुत-कुछ सीखने को मिला।

मैंने पश्तो सीखी और इसकी प्रारम्भिक पुस्तक 'हम-दस' पढ़ी। इस भाषा को सीखने में बड़ा आनन्द आया क्योंकि मेरे उर्दू और फारसी के ज्ञान के कारण, यह मुझे सरलता से आ गई।

वजीरीस्तान में सख्त परिश्रम करना पड़ता था तथा सादा जीवन बिता पड़ता था। भयंकर स्थितियों में अपने धैर्य और दृढ़ता के प्रदर्शन का भी पूरा अवसर मिलता था। कठिन और उलझनपूर्ण परिस्थितियों में बिना किसी मार्ग-दर्शन के थोड़े समय में ही अपने आदमियों को बुद्धिमत्ता से संगठित करना पड़ता था। इसलिए, वहाँ पहुँच कर नवयुवक अधिकारी को काफी अनुभव अनुभव प्राप्त होता था जो उसके भावी जीवन में काम आता था।

अंग्रेजों के लिए रजमक की चौकी दुर्गरक्षक का ही काम नहीं करती थी अपितु उसके साम्राज्य की आक्रमणकारी सेना का अगला भाग थी। यहाँ के कर वे अपने राजा और देश की रक्षा ही नहीं करते थे अपितु अपनी विस्तारशील नीति को भी व्यावहारिक रूप देते रहते थे। घन और कपट के द्वारा वे एक कबीले को दूसरे से भिड़ा कर, उनके विनाश का पड्यन्त्र रचा करते थे। 'फूट डालो और राज्य करो' की नीति को वे प्रतिशोध के साथ व्यवहृत करते थे। जिस प्रकार भारत में अनेक भारतवासी उनके इस पड्यन्त्र में फँस जाते थे, इसी प्रकार वहाँ के कुछ कबीले वाले भी इनके चक्कर में आ जाते थे। किन्तु अधिकांश लोग अपनी स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर लड़ते रहते थे जैसा कि भारतीय भी कर रहे थे। भारत तो स्वतन्त्र हो गया किन्तु पठान आज भी अपने स्वतन्त्रता-संश्राम में लगा हुआ है। उसकी परीक्षा की अवधि काफी लम्बी हो गई है। स्वतन्त्रता थोड़े समय के लिए मना की जा सकती है, सदा के लिए नहीं।

अपनी बटालियन की अधिकांश गतिविधियों में मैं पूरी रुचि लेता था। सूवेदार अमीर अली तथा सूवेदार जवानराम ने मुझे इस बटालियन की विशेष राइफल ड्रिल सिखलाई जो एक साधारण यूनिट की ड्रिल से भिन्न थी। कमान और ड्रिल से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण शब्द थे। उदाहरण के लिए 'वी कम्पनी...अटेंशन' के बदले यहाँ 'आइज फ्रण्ट—वी कम्पनी' कहना होता था और इसी प्रकार अन्य शब्द थे। हथियार कन्वे पर रखने के बदले पीछे रखने पड़ते थे। एक सौ बीस कदम के बदले एक सौ चालीस कदम का मार्च करना पड़ता था। वृद्ध सूवेदार दीनसिंह सचमुच दीन था और कमाण्डिंग ऑफिसर की प्रत्येक बात पर 'ठीक है, हजूर!'—कहता था। एक बार कमाण्डिंग ऑफिसर घोड़े पर चढ़ कर वहाँ पहुँच गया जहाँ दीनसिंह की देख-रेख में

शानेबाजी का अभ्यास हो रहा था। दूटी-फूटी हिन्दुस्तानी में कमाण्डिंग ऑफिसर चीखा, "दीनसिंह...मशीन-गन...छः अंगुल...समभते ? फ..... वश ।" उसका अभिप्राय यह था : "दीनसिंह, अपनी मशीन-गन को छः इंच चा उठा लो, समझ गए न ? चलते रहो ।" दीनसिंह ने बिना एक शब्द भन्के हुए अविलम्ब उत्तर दिया, "ठीक है, हजूर ।" कमाण्डिंग-ऑफिसर के जाने बाद मैंने दीनसिंह से कहा कि मुझे तो कर्नल की बात समझ नहीं पड़ी थी । उसने भी स्वीकार कर लिया कि समझ तो उसे भी नहीं पड़ी थी, किन्तु कमाण्डिंग ऑफिसर से कोई प्रश्न करना ठीक नहीं था, इसलिए उसकी हर बात : जवाब में 'ठीक है, हजूर' कहना अधिक सुरक्षित था । उसने मुझे विश्वास दलाया कि दुबारा कोई नहीं पूछता कि कही गई बात पूरी हुई या नहीं ।

यद्यपि अंग्रेज भारतीयों की संवेदनशीलता से भली-भाँति परिचित थे किन्तु फर भी वे कही-न-कही भूल कर जाते थे । उदाहरण के लिए, रजमक में उन्होंने हमारी रेजीमेंट के एक हिन्दू सन्तरी की ड्यूटी बूचड़खाने पर लगा दी जममे अंग्रेज व मुसलमान सैनिकों के लिए गाएँ भी कटती थी । 'पवित्र' गायों का वध करते समय हिन्दू सन्तरी को पहरे पर तैनात करने से हिन्दुओं में शोध ही ज्वाला भड़क उठी । हिन्दू सन्तरी ने गोवध होते हुए देख कर कई कसाइयों को गोली मार दी । इस घटना से रेजीमेंट में खलबली मच गई । यदि विवेक से काम लिया जाता और बूचड़खाने पर हिन्दू सन्तरी के बदले मुसलमान या अंग्रेज सन्तरी की ड्यूटी लगा दी जाती तो यह बात आगे न बढ़ती । किन्तु हुआ यह कि अपराधी पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चला और उसे फाँसी दे दी गई ।

कैनेथ गार्ड हमारा सेकण्ड-इन-कमाण्ड था । वह 'बूढ़ी औरतो' की तरह भन्की स्वभाव का था और सदा कुछ-न-कुछ बढ़बड़ाता रहता था । मैं में हो या परेड पर, वह किसी-न-किसी के पीछे पड़ा रहता था । घण्टर ऑफिसरोंको यह कह-कह कर डाँटता रहता था कि उच्च अधिकारियों से बात करते समय उन्होंने हाथ जेब में क्यों डाले हुए थे या वे धूम्रपान क्यों कर रहे थे । कई बार उनके सामान्य व्यवहार में भी कोई-न-कोई दोष निकाल कर उनकी भत्सना करता था । कमाण्डिंग ऑफिसर को भी वह एक घ्रांस नहीं भाता था । अपने इन्हीं गुणों के कारण वह उन्नति नहीं कर पाया और अवकाश प्राप्त करते समय भी मेजर ही था । बाद में वायसराय भवन में गृह-नियन्त्रक के पद पर उसकी नियुक्ति हो गई थी ।

एक शाम को जब मैं और मेरा एक साथी मैंस पहुँचे तो मुझे एक बूहन मूभी, अपनी ब्रदालियन के संस्थापक जनरल मर चाल्डे नेपियर के घादम-कद चित्र के सामने घट्टेघन हो कर मैंने हँसी में उन्हें डाँटना शुरू कर दिया । उनकी दाढ़ी लम्बी थी तथा बदन फटे हुए थे । नैंगडहस्ट के सार्जेंट मेजर की तरह मैं

इस महान् पुरुष के चित्र पर गरजा, 'मि० नेपियर ! तुम्हारे बाल बड़े हुए हैं। तुम्हारी हुलिया वीभत्स है और वर्दी फटी हुई है। इस सुस्ती के लिए तुम्हें दो फालतू परेड करनी होंगी। होश में आओ, मि० नेपियर, होश में।' मैं अपने इस मजाक पर काफी खुश था मगर अपने पीछे कौनेथ गार्ड को खड़ा देख कर मेरी जान निकल गई। वह पिछले दरवाजे से घुस आया था और उसने मेरी सारी बकवास सुन ली थी। उसका मुँह क्रोध से तमतमा रहा था, उसने मुझे वमकी दी कि मेरी इस इस धृष्टता के लिए वह मुझे वटालियन से निकलवा कर दम लेगा।

'कुत्ते के बच्चे का साहस देखो ! इतने बड़े आदमी पर चीख रहा है'— वह बोला।

अपनी इस मूर्खता के लिए मुझे जो दण्ड मिला, उसे मैं कभी नहीं भूलूँगा। हमारी रेजीमेंट के दर्जी लीच और वेवर्नी थे। अपनी मैस किट हमें इन्हीं से सिलवानी पड़ती थी क्योंकि रेजीमेंट की अपेक्षाओं को इनके अतिरिक्त और कोई नहीं जानता था। मैं उन्हें अपने लिए एक किट तैयार करने को कहने ही वाला था कि मेरे एक मित्र कृपाल ने बतलाया कि उसने अपनी किट पिटमैन से बनवाई थी। साथ ही उसने यह भी कहा कि पिटमैन भी उतने ही अच्छे कपड़े सीते थे जितने लीच और वेवर्नी। लीच और वेवर्नी दिल्ली में थे और पिटमैन लाहौर में। कृपाल ने सलाह दी कि मैं भी अपनी किट पिटमैन से सिला लूँ। मैंने उसकी मूर्खतापूर्ण सलाह मान ली और अपनी किट पिटमैन से तैयार करा ली। अगली अतिथि-रात्रि को मैंने अपने नये सिले कपड़े बड़े गर्व से पहने और मैस पहुँच गया। अब अपनी इस बदकिस्मती को क्या कहूँ कि मुझे मेजर गार्ड की बगल में बैठने को जगह मिली। उप कमाण्डिंग-ऑफिसर के साथ-साथ वह मैस समिति का अध्यक्ष भी था और हमारे मैस के कपड़ों की देखभाल करना भी उसी की जिम्मेदारी थी। एक सैकिण्ड के लिए उसने मेरे नये कपड़ों को घूरा और फिर वह कर्कश आवाज़ में बोला :

'यह मैस किट तुमने कहाँ से बनवाई है ?'

'पि...पि...पिटमैन से, सर !' मैंने हकला कर जवाब दिया।

'पिटमैन ? कौन है यह शैतान ? कभी नाम नहीं सुना।'

'सर, वह एक श्रेष्ठ दर्जी है.....'

'तुम्हें अच्छी तरह पता है कि हमारी रेजीमेंट के दर्जी लीच और वेवर्नी हैं। इस अनधिकृत दर्जी के पास तुम किसके कहने से गए ?'

'किसी के कहने से नहीं, सर.....'

'तब मैं तुम्हें आदेश देता हूँ कि तुम दूसरा मैस किट लीच और वेवर्नी से तुरन्त तैयार कराओ। फिर दोनों मुझे दिखाना ताकि मैं तुलना कर सकूँ।' 'अच्छा, सर.....' मैं सहमते हुए बोला।

इसके बीज मैंने स्वयं बोये थे और इससे बचने का सब कोई उपाय नहीं था ।

बटानियन में सूबेदार मेजर का पद काफी प्रतिष्ठित पद होता था । युद्धकाल हो या शान्ति-काल, इस पद का महत्त्व दोनों में समान था तथा अधिकारी व सैनिक दोनों वर्गों पर इस पद का दबदबा रहता था । यदि कमाण्डिंग ऑफिसर बटानियन में कुछ परिवर्तन या सुधार करना चाहता था, तो सबसे पहले सूबेदार मेजर की सलाह लेता था कि उसके इस कदम की बटानियन में क्या प्रतिक्रिया होगी । वह कमाण्डिंग ऑफिसर का दायाँ हाथ होता था और इसलिए सब उसका विनिष्ठ रूप में सम्माल करने थे ।

हमारी बटानियन की कमान कुछ समय के लिए सर्वाल्डन के ली के पिता के हाथों में थी और वे कर्नल-इन-चीफ के पद पर सुशोभित थे । रेजीमेंटों में यह पद बहुत स्पर्णीय माना जाता था । केमो बरिष्ठ सर्वाल्डन या और बटानियन में उसका काफी दबदबा था । किन्तु एक बार शिष्टाचार भूल जाने पर उसकी नौकरी जाते-जाते बची । वह सूबेदार मेजर से शिष्टाचार व्यवहार कर बैठा जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था । बटोर गार्ड मुनने के धनम्यस्त सूबेदार मेजर ने इस व्यवहार से स्वयं को बहुत अपमानित अनुभव किया और अपनी पेट्री उतार कर कमाण्डिंग ऑफिसर के सामने फेंक दी कि यदि बटानियन के ऑफिसर उमसे इसी प्रकार धृष्टता से पेश आएंगे तो उसे तुरन्त सेवा-निवृत्त कर दिया जाए । कर्नल ने उसे गमभ्र-बुभा कर शान्त किया तथा केमो की युवा कर काफी डाँटा और उसे नौकरी से निकाल देने की धमकी दी । केमो को अपनी नौकरी बचाने के लिए कमाण्डिंग ऑफिसर एच सूबेदार मेजर, दोनों से अविवेकित क्षमा याचना करनी पड़ी । सूबेदार मेजर के पद की प्रतिष्ठा को इस प्रकार कायम रखा जाता था ।

भारतीय सेना की पराम्पराओं को बनाने में जवान ने अपनी कर्तव्य-निष्ठा एवं घटल स्वामिभक्ति द्वारा काफी योगदान दिया है । वह प्रमन्न चित्त रहता है और अपने चरित्र की सरलता एवं भाजाकारिता के गुणों के कारण अपने अधिकारियों का प्रिय पात्र बन जाता है । वह रेजीमेंट और सेना की लगन से सेवा करता है तथा बदले में कुछ मामूली रियायत चाहता है, जैसे छुट्टियाँ आदि, ताकि वह अपने घरेलू मामलों को जा कर सुलभ कर सके । किन्तु कई बार सैनिक परिस्थितियों इसकी अनुमति नहीं देती । अपने अधिकारियों को अपनी उरुरत का अनुभव कराने के लिए वह अपने भोलेपन में कुछ हास्यास्पद बातें कर बैठता है जैसे अपने घर से इस आशय का एक जाली तार भंगवा लेता है, "घर गिर गया, भँस मर गई, स्थिति चिन्ताजनक है । तुरन्त चले आओ ।"

वह सोचता है कि इतनी सारी मुसीबतों को एक साथ देखने पर अधिका-

रियों का हृदय द्रवित हो उठेगा। किन्तु अधिकारियों को तो ऐसे तार रोज देखने को मिलते हैं, इसलिए वे ज़रूरत की गहराई भाँप कर छुट्टी देने या न देने का निर्णय करते हैं।

मेरी बटालियन की 'सी' कम्पनी की कमान मेजर 'पीट' रीस ने हाथ में थी। छोटे कद के इस अंग्रेज़ का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उसका सैनिक ज्ञान असाधारण था तथा उसकी वक्तृता-शैली बड़ी स्पष्ट एवं संक्षिप्त थी। उससे मेरी मुलाकात नवम्बर १९३४ में हुई। उस समय वह था तो चालीस से कुछ ही कम किन्तु देखने में बहुत कम आयु का लगता था। थकान से तो उसका परिचय ही नहीं था और शारीरिक शक्ति भी उसमें काफी थी। स्वभाव से वह साहसी एवं सहनशील था तथा मदिरा आदि को हाथ नहीं लगाता था। वह अच्छा खिलाड़ी तथा कुशल पर्वतारोही था। वीरता-प्रदर्शन के लिए उसे 'डी० एस० ओ०' तथा 'एम० सी०' पदक मिल चुके थे। शान्ति-काल में विशिष्ट सेवा करने के पुरस्कार-स्वरूप उसे सी० आई० डी० पदक भी मिल चुका था। उसके लिए कुछ भी असम्भव नहीं था। यदि वह कोई वायदा करता था तो उसे हर कीमत पर पूरा करता था। वह सत्यवादी और धर्मभीरु था। उसके फैसले ठोस होते थे और वह लोकप्रिय था। उसकी कर्तव्यनिष्ठा से सम्बन्धित अनेक कहानियाँ चल पड़ी थीं। वह उदार, सहृदय तथा परोपकारी था। वह साहस एवं करुणा का आगार था और साथ ही कट्टर अनुशासन-प्रिय था। वह निष्पक्ष था तथा न्याय करने में कभी नहीं हिचकता था। उसमें पहल करने की शक्ति थी तथा अचल दृढ़ता थी। लालफीताशाही से उसे चिढ़ थी और इसे अपनी सत्ता के आड़े नहीं आने देता था। सब धर्मों और प्रथाओं का समान रूप से आदर करता था। वह मेरा आराध्य व्यक्ति था और मैंने अपने सम्पूर्ण सैनिक जीवन में उसका अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है, उसने बटालियन में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। प्रायः रात को वह मेरे कमरे में चला आता था तथा युद्ध-विद्या, सैनिक इतिहास तथा रेजीमेंट सम्बन्धी अन्य मामलों पर अच्छा लम्बा-चौड़ा भाषण दे जाता था। एक बार वह मुझसे पूछ बैठा कि छुट्टियों को तथा रोज़ शाम को मैं क्या किया करता था। मैंने उसे सहज भाव से बतला दिया कि शाम को खेल खेलने के बाद मैं रेडियो सुना करता था तथा उपन्यास पढ़ा करता था। उसे यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि अपना सैनिक ज्ञान बढ़ाने के लिए मैं कोई प्रयत्न नहीं कर रहा था। उसने मुझे बतलाया कि बीस वर्ष तक अपना सैनिक ज्ञान बढ़ाने के लिए रात-दिन परिश्रम करने के बाद भी वह अपने को अनेक मामलों में अनभिज्ञ पाता है। बीस वर्ष बाद की मेरी दयनीय

स्थिति की कल्पना कर के वह काँप उठा। उसने मुझे चेतावनी दी कि तब मैं अपने रेडियो सुनने तथा उपन्यास पढ़ने के गुण की ही डींग हाँक सकूँगा, और सैनिक ज्ञान से शून्य होऊँगा। उसके इस तर्क ने मुझे इतना प्रभावित किया कि उस दिन से मैंने सैनिक ज्ञान में सम्बन्धित पुस्तकों का गम्भीरतापूर्ण अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। तब मुझे सेना में आए एक वर्ष से कुछ ही अधिक समय बीता था। ब्यूह-कौशल तथा सैनिक इतिहास के अध्ययन के साथ-साथ मैंने जूलियस सीज़र, सिकन्दर महान्, नेपोलियन, कमाल अतातुर्क तथा अरब के लॉरेंस जैसे महान् सैनिक नेताओं की जीवितियों का भी गहराई से अध्ययन किया।

एक बार उमने मेरे सामने प्रस्ताव रखा कि रजमक शिविर की रात में बिना रुके परिश्रम लगाने में, मैं उसके साथ चलूँ। यह उस समय की घटना है जब 'बी' कम्पनी की कमान मेरे हाथ में थी। हम दोनों, अपनी भारी किटो को लटकाये हुए, सागर तल से ७००० फुट की ऊँचाई पर, लगभग पन्द्रह मील बिना रुके चले गए। दस घण्टे की यह यात्रा, हमने अपनी सहनशक्ति की परीक्षा लेने के लिए, की थी। दृष्टान्त स्थिर करने का, उसका यह तरीका था। रीस सच्चा वरिष्ठ अधिकारी था जो अपने अनेक देशवासियों की भाँति साम्राज्य-स्थापना के दृष्टिकोण से नहीं अपितु सेवा-भाव से भारत आया था।

माँ का तार आया कि उनका बड़ा ऑपरेशन होना था तथा उसके लिए दो हज़ार रुपयों की आवश्यकता थी। कुछ रुपया मैंने व्यक्तिगत स्तर पर उधार लिया तथा कुछ अपना सामान..... 'ग्रामोफोन, दरी आदि.....' बेच कर इकट्ठा किया। जब मेरे कमाण्डिंग ऑफिसर को पता चला कि मैंने व्यक्तिगत स्तर पर रुपया कर्ज लिया है तो उन्होंने मुझे स्मरण दिलाया कि ऐसा करना सेना के नियमों के विरुद्ध है। मैंने ससम्मान उत्तर दिया कि मुझे किसी ऐसे नियम के बारे में नहीं मालूम जिसके अनुसार बेटा अपनी माँ की मुसीबत में मदद न कर सके। मेरे अंग्रेज़ कमाण्डिंग ऑफिसर ने शायद इस उत्तर को पसन्द किया क्योंकि उन्होंने रेजीमेंट के फण्ड से मुझे पर्याप्त रुपया उधार दे दिया। इससे मुझे इतनी अधिक सहायता मिली कि मैंने न केवल वह ऋण चुका दिया जो कुछ दिन पहले लिया था बल्कि अपनी माँ की, ऑपरेशन के समय तथा उसके बाद, अच्छी तरह देखभाल भी कर सका।

यद्यपि मैं माँ को नियमित रूप से एक निर्धारित धन-राशि भेजता था किन्तु अपनी लगातार बीमारी के इलाज के लिए तथा अन्य घरेलू खर्चों के लिए माँ को विवश हो कर ऋण लेना पड़ा। कुछ समय बाद ऋणदाताओं ने अपने धन की वापसी के लिए पहले तो माँ पर जोर डाला और फिर मुझ पर दबाव डालना प्रारम्भ कर दिया। यदि मैं माँ की सहायता करता रहूँ, जंता करने का

मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था, तो मुझे अपनी आय बढ़ाने की सोचनी थी और इसका वैध समाधान एक ही था कि मैं अच्छे वेतन के किसी अन्य स्थान पर अपनी बदली करा लूँ। साथ ही, राजपूताना राइफलस से जाने को भी मेरा मन नहीं करता था। इस समय मैं बड़ी असंमजस की स्थिति में था। इस बटालियन में रहने तथा छोड़ने के कारण अपने-अपने स्थानों पर काफी सबब थे। अन्त में, भावना पर तर्क की विजय हुई और मैंने इस बटालियन से बदली कराने का निश्चय कर लिया। खिन्न मन से, मैंने 'सैनिक आदेश' की एक सूचना के उत्तर में फ्रंटियर स्काउट्स, वर्मा मिलिटरी पुलिस तथा आर्मी सर्विस कॉर्प्स में अतिरिक्त रेजीमेंटीय रोजगार के लिए आवेदन-पत्र भेज दिए क्योंकि इनमें भत्ता आदि मिला कर अधिक धन मिलता था। प्रथम दो में तो भारतीय लिये ही नहीं जाते थे, इसलिए मुझे सैनिक सेवा कोर (आर्मी सर्विस कॉर्प्स) में स्थान मिल गया। इस सूचना से जितना सुख मिला, उतना ही दुःख भी हुआ क्योंकि एक और जहाँ वेतन बढ़ने की प्रसन्नता थी, वहीं राजपूताना राइफलस छोड़ने का दुःख भी था। जिस दिन मुझे बटालियन छोड़नी थी, उस दिन मैं कुछ डगमगा गया और नये पद को अस्वीकार करने की सोचने लगा किन्तु जो साथी मेरी पारिवारिक स्थिति से परिचित थे, उन्होंने मुझे ऐसा न करने की सलाह दी। जिस समय मैं में मुझे विदा दी जा रही थी, मैंने अपने मन में दृढ़ निश्चय कर लिया कि जितनी जल्दी सम्भव हो सकेगा, मैं उतनी जल्दी पैदल सेना (इन्फैण्ट्री) में लौट आऊँगा। ये थीं वे परिस्थितियाँ जिनसे विवश होकर मुझे इन्फैण्ट्री छोड़नी पड़ी और जैसे ही परिस्थितियों तथा अधिकारियों ने अनुमति दी, मैं इसमें लौट कर आ गया।^{११}

तीन महीने के पाठ्यक्रम के लिए मैं रावलपिण्डी गया। वहाँ नवम्बर १९३६ में, जब मैं साढ़े चौबीस वर्ष का था, मेरा विवाह हुआ। देश में होने वाले अधिकांश विवाहों के विपरीत मेरे विवाह पर किसी प्रकार का आडम्बर नहीं किया गया। मेरी पत्नी का घरेलू नाम धन्नो पड़ा। वह अद्वितीय सौन्दर्य की स्वामिनी, सरल एवं मधुर स्वभाव वाली तथा धार्मिक प्रवृत्ति की थी। विवाह के एक-दो दिन बाद हमें अपने पाठ्यक्रम के अन्तर्गत सामयिक मामलों पर पैंतालीस मिनट का भाषण देना था। मेरे एक अंग्रेज साथी ने, जिसका विवाह भी अभी हुआ था, आलस्यवश स्वयं अपना भाषण तैयार न कर के यह काम अपनी पत्नी को सौंप दिया। उस बेचारी ने रात-दिन लगा कर यह भाषण तैयार किया और अपने पति को रटवा दिया। किन्तु अगले दिन जब वह कक्षा में बोलने खड़े हुए तो उनकी स्मरणशक्ति बोखा दे गई और बेचारे

११. बटालियन छोड़ने के बाद मैंने इसमें अथवा इन्फैण्ट्री में वापस आने के कई प्रयत्न किए।

पर बहुत बुरी बीती। उसने हकलाने हुए कहा :

"सज्जनों, पिछली रात तो यह भायण, मुझे और मेरी पत्नी दोनों को याद था किन्तु इस समय यह केवल मेरी पत्नी को याद है।"

कक्षा में हँसी का ठहाका छूट पड़ा। किन्तु कर्माण्डिस-ग्रॉफ़िसर इस स्थिति में प्रसन्न नहीं हुआ और उन महोदय को अगली गाड़ी से अपनी यूनिट में वापस जाना पड़ा।

रावलपिण्डी से मैं जबलपुर गया। त्रिगेडियर मोमार्ट वहाँ कर्माण्डिस ग्रॉफ़िसर था। मेजर मैकाय उसका ब्रिगेड मेजर था। त्रिगेडियर सिक्ख रेजिमेंट से था तथा मेजर राजपूताना राइफ़ल्स से। दोनों ही बड़े अच्छे अधिकारी थे और उनके अधीन काम करने में मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। बाद में लोखार्ट तो भारत का सेनाध्यक्ष भी रहा तथा मैकाय मेजर जनरल के पद से सेवानिवृत्त हुआ।

अब मैं पच्चीस वर्ष का था। यह मानव स्वभाव है कि इस आयु में व्यक्ति जीवन की कुछ मुख्य-मुविधाएँ चाहता है जैसे उसके पास एक कार हो, रेडियो हो, फ़िज हो, कभी-कभी वह सिनेमा देख सके, दूसरों को थपने यहाँ आनन्दित कर सके, उधर-उधर घूम सके तथा कभी-कभी शाम को मदिरा-पान कर सके। अन्तिम मुविधा तो मेरे जीवन से निष्कासित थी। पिताजी की मृत्यु को सात वर्ष बीत चुके थे और तब से मैंने इन आकर्षणों की ओर से मुँह फेंका हुआ था क्योंकि मुझे अपना व अपनी माँ का गुजारा करना था। कभी सिनेमा जाता तो उससे पहले कई बार सोचता कि जाऊँ या न जाऊँ। फ़िज, रेडियो, कार आदि तो स्वप्न की वानें थी। किन्तु प्रत्येक चीज की एक सीमा होती है, इसलिए मैंने एक पुरानी कार खरीदने की सोची। एक दिन मैं वाम्बे गैरेज गया और मैंने नौ सौ रुपये में एक पुरानी बुल्डोज़े हार्नेट खरीद ली। यह भी उधार खरीदी थी। यद्यपि मुझे कार चलानी नहीं आती थी किन्तु साहस देखिए कि मैं एक निपुण चालक की भाँति कार में बैठ गया और विक्रेता ने कहा कि वह मुझे कुछ प्रारम्भिक बातें समझा दे। उसके बाद मैंने गाड़ी को इन्जिन को चालू कर के आगे बढ़ाया। विरोध में इन्जिन खलारा, मेरे हाथ काँपे और स्टियरिंग-ह्वील मेरे हाथ से छूट गया। थोड़ी-सी चोट लगी और मैं अपने पर बला मारा। अगले दिन कार की मरम्मत हो गई और मैंने फिर चालक का स्थान संभाल लिया। किसी तरह कार रास्ते पर आ गई। तैरने और झुड़सवारी सीखने की अपनी परम्परा को मैंने यहाँ भी टूटने नहीं दिया और बिना किसी की मदद के कार चलाना सीखा।

सन् १९३८ में मैं जबलपुर में ग्रहमदनगर पहुँच गया। यहाँ मुझे ११ नम्बर की ब्रिगेड में जाट रेजिमेंट के त्रिगेडियर मैकफ़ॉर्न के अधीन काम करने का सुभवसर मिला। बाद में मैं इसका कर्नल कर्माण्डिस भी बना था। हमारे

ब्रिगेड का मुख्यालय ग्रहमदनगर किले में था जहाँ युद्ध के दिनों में राष्ट्रीय नेताओं को कैद में रखा गया था। जब तक मैं यहाँ रहा अबसर निकाल कर उन स्थलों के दर्शन करता रहा जहाँ ३०० वर्ष पहले इतिहास प्रसिद्ध योद्धा शिवाजी ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं और उनमें विजय पाई थी।

सन् १९३६ में सेना का यन्त्रीकरण होना प्रारम्भ हुआ—पशुओं का स्थान मशीनों ने लेना शुरू कर दिया, घोड़ों के स्थान पर टैंक तथा खच्चरों के स्थान पर मोटरें आ गईं। 'आरमर्ड फाइटिंग व्हीकल्स स्कूल' के तत्त्वावधान में यन्त्रीकरण दल के प्रशिक्षक के रूप में मेरी नियुक्ति हो गई। हमारा कमाण्डर ऑफिसर लेफ्टीनेंट कर्नल शेल्टन काफी सख्त आदमी था। वह सूर्योदय से ते कर सूर्यास्त तक यन्त्र की भाँति काम करता था और दोपहर में केवल पन्द्रह मिनट के वास्ते काम छोड़ता था जिस समय वह खाना खाता था। हम भी इस थोड़े से समय में अपनी ठण्डी सैण्डविचें निगल कर फिर काम पर लग जाते थे। कुछ महीने बाद उस कर्नल की मृत्यु हो गई—रात-दिन काम करते और कभी न हँसने के कारण उसे अकाल मृत्यु का वरण करना पड़ा।

मुझे सूचना मिली कि कश्मीर में मेरी बहन सख्त बीमार थी। मैं अविचल श्रीनगर के लिए चल पड़ा जो वहाँ से तेरह सौ मील दूर था। वहाँ पहुँच कर मुझे पता चला कि नन्नी के वारें पैर के अँगूठे में हड्डी की तपेदिक थी। अँगूठा सूज गया था और उसमें असहनीय दर्द था। श्रीनगर में काफी भागा-दौड़ी करने के बाद भी मैंने देखा कि उसका रोग बढ़ता जा रहा था तो मैंने उसे लाहौर ले जाने का फैसला कर लिया। यद्यपि वहाँ के स्थानीय डॉक्टरों ने लाख कहा कि वे उसे वहीं ठीक कर देंगे किन्तु मैंने उनकी एक न सुनी। मुझे मालूम था कि लाहौर में इलाज अच्छा और शीघ्र हो सकेगा, इसलिए मैंने नन्नी को अपनी कार में बिठाया और लाहौर के लिए चल पड़ा। काफी थका देने वाली यात्रा के बाद हम लाहौर पहुँचे जहाँ उसे तुरन्त विशेषज्ञों के हवाले कर दिया गया। डॉक्टरों ने एक स्वर से निर्णय किया कि उसका तुरन्त ऑपरेशन होना चाहिए। काफी चीरफाड़ करने के बाद डॉक्टर पसरीचा ने उसका पैर तो बचा लिया किन्तु अँगूठे का कुछ भाग काट दिया अन्यथा रोग फिर फैल सकता था।

ऑपरेशन के बाद स्वस्थ होने तक नन्नी को अस्पताल में रकना पड़ा। लगभग दस दिन मैं भी उसके पास ही ठहरा। कमरे में दूसरे पलंग के लिए जगह न थी, इसलिए मुझे इतने दिन फर्श पर ही सोना पड़ा। क्योंकि उसका कटा हुआ अँगूठा सन्तोषजनक रूप से वहाँ ठीक नहीं हो पाया, इसलिए अन्य शल्य-चिकित्सक (सर्जन) की खोज में दिल्ली जाना पड़ा। काफी लम्बे इलाज

के बाद उसका अंगूठा टोक हुआ। यद्यपि उसका इलाज कराना मेरी ताकत के बाहर था किन्तु उसे रोगमुक्त कराने का मैंने दृढ़ निश्चय कर लिया था।

बीच-बीच में मुझे चूहलवाजियाँ भी सूझती रहती थीं जिनके दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। सैपटीनेट मोहम्मद मूसा—बाद में पाकिस्तान के प्रथम सेना-ध्यक्ष—६/१३ फ्रण्टियर फोर्स राइफल्स में सर्वाल्टन था। अर्द्ध सैनिक के साथ-साथ वह धार्मिक प्रवृत्ति का भी था। एक अर्द्ध पटान की तरह वह रोज उठ कर पहले नमाज पढ़ता था तथा बाद में कोई और काम करता था। कन्हैयालाल, शौकत और मुझे, तीनों को एक बार शरारत सूझी। हमने अपनी घड़ियाँ पाँच घण्टे घागे कर लीं और आधी रात के समय मूसा को जगा दिया।

उत्तने घोंसों मलते हुए पूछा, 'बया बया है ?'

हमने झूठ बोला, 'मूसा, सुबह के पाँच बज गए। नमाज का वक्त हो गया।'

उत्तने अपनी घड़ी देखी तो अभी आधी रात का समय था। मूसा ने हमारी घोर सन्देहभरी नजरों से देखा। हमने अपनी-अपनी घड़ियाँ उसके घागे कर दीं जो घायल में पाँच-एक मिनट घागे-बोछे थीं किन्तु वैसे सब में पाँच के घायल-घायल का समय था। उमने सोचा कि उसकी घड़ी गलत है और सुबह की नमाज का समय हो चुका है, इसलिए वह उछल कर खड़ा हो गया। हम चुपचाप बरामदे में चले गए। उसने अपनी नमाज पढ़ के चारों घोर देखा तो गुप झेंपरा था जबकि उन समय दिन की रोशनी फैल जानी चाहिए थी। उमने मन में सन्देह का बीज अकुरित हुआ।

'छोकरो, मामला बया है?', यह कहते हुए उसने अपनी पुइसवारी का जूता हमारी घोर फेंका।

हम सब चुप।

'यह तो बताओ कि ठीक वक्त बया है?' उसने पूछा।

'रात के साढ़े बारह', हमने सच्ची बात बतलाई।

कंबेलरी नम्बर ७ का रुनी बिल्मीमोगिया,^{१२} जिसे हम प्यार में बिल्मी कहते थे, घोर में छुट्टी पर हैदराबाद में बिल्मी जा रहे थे। स्टेशन छोड़ते ही उनके साथ कार में घला गया। वहाँ से हम दोनों को गारी पकड़नी पड़ी। हमें स्टेशन पहुँचने में उरा-ओ देर हो गई थी क्योंकि जंगे ही हम पहुँचें, पाइकी घत पड़ी। मैं कारो उलोजित हो उठा किन्तु बिल्मी बिल्कुल घान्त था। जंगे ही पाइकी अपनी हरी रोशनी दिनाता हुआ दिखे में चढ़ने को हुआ, बिल्मी

^{१२} उद्यमे में छटत्रयं एक-दूसरे से काकी घागे-बीछ घटी दो किन्तु एक ही विषय से सम्बन्धित होने के कारण उहाँ एक-साथ दे दी गई है।

ने और मैंने भाग कर उसे पकड़ लिया और बड़े धीमे-से कहा, 'तुम हमें छोड़ कर नहीं जा सकते, विल्ली ने गार्ड को अपने बाजुओं में जकड़ लिया। गार्ड घबड़ा गया और उसने लाल रोशनी कर दी। गार्डी रुक गई। भीड़ इकट्ठा हो गई। कोलाहल मचने लगा। परेशानी तो हुई किन्तु हमने भाग कर गार्ड पकड़ ली। जब हम छुट्टी काट कर लीटे तो त्रिगेड कमाण्डर के सामने हमारी पेशी हुई क्योंकि हमने अनुशासन भंग किया था। त्रिगेडियर पहले तो काफी लाल-पीला हुआ किन्तु बाद में उसने हमें छोड़ दिया और वह खूब हँसा।

दो

संक्रान्ति

३ सितम्बर १९३६ को हम दोनों पति-पत्नी पूना में अंग्रेजी चित्र देख रहे थे कि फिल्म को रोक कर एक गम्भीर घोषणा की गई :

महिलाओं और सज्जनों : हमें सखेद घोषणा करनी पड़ती है कि आज मे घेस्ट ब्रिटेन और जर्मनी में युद्ध छिड़ गया है ।

तो द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ गया था । हान में भगदड़ मच गई और चारों ओर विप्लव का दृश्य उपस्थित हो गया । यह किसी को पता नहीं था कि हो क्या रहा था किन्तु शोर सभी मचा रहे थे । तरह-तरह की अफवाहें उड़ रहीं थी जैसा कि सामान्यतः युद्ध-काल में होता है । मैं अधिनम्ब कर्माण्डग-मॉफ़िसर के पास उपस्थित हुआ और उसने मुझे सिकन्दराबाद जाने का आदेश दिया कि मैं वहाँ जाकर ५ डिवीजन का यन्त्रीकरण करूँ । यद्यपि अभी मैं सीनियर सर्वाल्टन ही था किन्तु वहाँ मुझे इस काम का इंचार्ज बना दिया गया जो सामान्यतः मेजर हुआ करता था । इसने मुझे काफी प्रोत्साहन मिला यद्यपि युद्ध-काल में सामान्यः ऐसा होता था कि सीनियर अधिकारियों के अभाव में जूनियर अधिकारियों को उनके काम का इंचार्ज बना दिया जाता था । इस कार्यभार के बीच मुझे ५ डिवीजन के कमाण्डर मेजर जनरल 'पिगी' होप रिगेडियर 'मो' मेन, अपने प्रथम श्रेणी के स्टॉफ़ मॉफ़िसर कर्नल मैसर्वी तथा ए/एच्यू कर्नल रेजीनॉल्ड सेवरी के घनिष्ठ सम्पर्क में आने का अवसर मिला । जब मैंने अपना कार्य पूरा कर दिया तो मैसर्वी और मेन ने मुझसे पूछा कि वे मेरे लिए क्या कर सकते थे । मैंने उनसे कहा कि यदि सम्भव हो तो वे मुझे मेरी बटालियन में वापस भिजवा दें या ५ डिवीजन के साथ मध्य पूर्व में मच पर जाने का प्रस्ताव कर दें । उन्होंने काफी प्रयत्न किया किन्तु ऐसा मुझ्वालय में बंधन हुआ संनिष्ठ नविव नहीं माना । तब मैंने उन दोनों से कहा कि ६/१३ अक्टूबर को

१. यह मैं मैसर्वी और सेवरी, दोनों ने ही ऊपर उद्धृत शब्द की ।

राइफल्स में मेरी वदली करा दें जिसकी कमान लेफ्टी० कर्नल रसल (पासा) के हाथ में थी किन्तु उच्च अधिकारी उस पर भी सहमत नहीं हुए और पैदल सेना में वापस आने के मेरे ये प्रयत्न भी व्यर्थ गए। किन्तु मैं पराभूत नहीं हुआ, प्रयत्न करता रहा।

५ डिवीजन का यन्त्रीकरण करने के बाद, मार्च १९४० में मैं देवलाली-स्थित मोटर बटालियन के प्रशिक्षण केन्द्र में एड्जुटेंट हो कर चला गया। इस केन्द्र के इंचार्ज लेफ्टी० कर्नल शीहान आयरलैण्डवासी थे तथा बहुत सस्त काम लेने वाले थे। उनके अधीन काम करना तो शिक्षा प्राप्त करना था। बीच में कुछ समय सागर के स्कूल में प्रशिक्षक रहने के बाद सन् १९४२ के शुरु में ही कोयटा के स्टॉफ कालेज में युद्ध पाठ्यक्रम पूरा करने के लिए मुझे नामांकित कर दिया गया। यह एक श्रेष्ठ संस्था थी तथा इसकी कमान एक कुशल अंग्रेज अधिकारी मेजर जनरल 'जेफ' इवान्स, डी० एस० ओ०, के हाथ में थी।

अकबर खान और मैं सैण्डहर्स्ट में भी साथ थे और यहाँ भी। हम दोनों ही अंग्रेजों के व्यक्ति रूप में तो मित्र थे किन्तु भारत में उनके साम्राज्य के विरोधी थे और उसका अन्त देखना चाहते थे। हमारा एक भारतीय सहपाठी अंग्रेजों के प्रति इतना अधिक स्वामीभक्त था जितना कि शायद वे भी अपने राजा के प्रति न हों और उसने हमारे राजनीतिक विचारों के सम्बन्ध में विलोचिस्तान के जासूसी विभाग के अंग्रेज इंचार्ज को सूचना दे दी। संयोग की बात, कि अकबर का एक मित्र उस इंचार्ज के निजी स्टॉफ पर था और उसने आ कर सारी बात हमें बतला दी तथा सूचना देने वाले का नाम भी बतला दिया। अकबर उसी रात अपराधी के पास पहुँचा और अपने दो देशवासियों के साथ विश्वासघात करने के लिए उसे काफी लज्जित किया। उसके बाद वह व्यक्ति कभी हमसे आँख मिला कर बात न कर सका।

फरवरी १९४२ में, एच० एम० एस० प्रिंस ऑफ वेल्स एवं रिपल्स को जापानियों ने डुबो दिया तथा सिंगापुर भी अंग्रेजों के हाथ से निकल गया। इससे भारत में अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को काफी धक्का लगा (जब लोगों ने देखा कि 'साहब' भी एशियावासियों से पराजित हो सकता है)। यद्यपि भारतीय होने के नाते हम जर्मनों और जापानियों को तो युद्ध में हराने के उत्सुक थे किन्तु साथ ही अंग्रेजों को भी भारत से निकाल बाहर करने के लिए समान रूप से उत्सुक थे ताकि भारत स्वाधीन हो सके। इसलिए हमारा विचार यह था कि अंग्रेजों की राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति जितनी अधिक क्षीण हो जाएगी, उतनी ही जल्दी वे भारत छोड़ जाएँगे और अन्त में यही बात ठीक निकली।

२. उन दिनों राष्ट्रवादी होना अंग्रेज-विरोधी होना माना जाता था। कितना विचित्र तर्क था।

जब मलाया और अफ्रीका में भी अंग्रेजों की पराजय के समाचार मिले, तो अकरबर ने चुने हुए पाँच अंग्रेज व भारतीय ऑफिसरों को गोल-मेज वार्ता के लिए आमन्त्रित किया। विषय था—अंग्रेजों को भारत क्यों नहीं छोड़ना चाहिए? दोनों ओर से काफी गर्मागर्म बहस हुई और यह गोष्ठी काफी रात तक चलती रही। अन्त में जब सब लोग उठे तो वे एक-दूसरे के काफी निकट आ चुके थे।^३

कोयटा ने मुझे कराची के जामूती स्कूल में प्रशिक्षक बना कर भेज दिया गया। स्टॉफ कॉलेज तथा जामूती स्कूल, दोनों में वहाँ के कमाण्डिंग ऑफिसरों के सकेत पर मुझ से अपनी सेना के एक विदेशी पक्ष पर निबन्ध लिखने के लिए कहा गया। इन निबन्धों में व्यक्त मेरे विचारों से उच्च सैनिक ऑफिसर सहमत नहीं थे। इसलिए, मुझे दिल्ली-स्थित सेना मुख्यालय में डाँट पिटवायी गई और निबन्ध में मावधान रहने की चेतावनी दी गई। उपर्युक्त निबन्धों में मैंने एक में मैंने अंग्रेजों की प्रचार नीति को दोषपूर्ण सिद्ध किया था, इसलिए दिल्ली-स्थित सेना मुख्यालय की जन-सम्पर्क शाखा में ब्रिगेडियर आइवर जेड्ड के अधीन मुझे नियुक्त कर दिया गया और मुझ से कहा गया कि जिन दोषों की चर्चा मैंने अपने निबन्ध में की है, यहाँ रह कर मैं उनको दूर करने तथा अन्य सुधार करने का प्रयास करूँ।

अंग्रेज गवर्नर सर राजर लुमले की ओर से क्रिनेट खेलने तथा एक उन्नीस वर्षीय क्रान्तिकारी नेत्री वात्सा मथाई में मिलने में बम्बई गया।^४ एक ऐसे मित्र के माध्यम से जो दोनों का मित्र था, मैं उससे मिला। पहली भेंट में उसने मेरी देशभक्ति की भावना पर दोषारोपण किया क्योंकि मैं अंग्रेजों के अधीन सेना में काम कर रहा था। मैंने उसके इस व्यवहार पर आपत्ति उठाई और कहा कि मुझ में भी उतना ही देशप्रेम था जितना उसमें और देशभक्ति पर कोई उसका एकाधिकार नहीं था। इस भड़प के तुरन्त बाद उमने मुझसे अंग्रेज-विरोधी विद्यार्थी-सम्मेलन में भाषण देने को कहा जिसे मैंने तुरन्त स्वीकार कर लिया। उस भाषण में मैंने कहा कि नवयुवकों को सेना में भर्ती होना चाहिए ताकि स्वतन्त्र भारत में उनकी सेवाएँ काम आ सकें। इस भाषण में मैंने अपनी राष्ट्रवादी भावनाओं को सार्वजनिक रूप से बापी दी जो अंग्रेजों की दृष्टि में राजद्रोह के बराबर था। यद्यपि गवर्नर ने क्रिनेट के खिलाड़ी के

३. इस गोष्ठी के होने की सूचना भी हमारे देशवासियों ने अंग्रेज कमाण्डेण्ट तक पहुँचा दी थी।

४. उस समय 'भारत छोड़ो आन्दोलन' अपने पूरे ज़ोरों पर था।

रूप में मेरी प्रशंसा की किन्तु साथ ही यह भी कहा कि मेरे भाषण से उन्हें काफी आघात पहुँचा था। मेरे भाषण का सार उसके स्टाँफ के लोगों ने उन्हें बताया था। वेरसफोर्ड पीयरस ने मेरे अविश्वेक के लिए मुझे काफी डाँटा। वालसा को मेरे इस प्रदर्शन से काफी प्रसन्नता हुई और उसे यह विश्वास हो गया कि मेरे द्वारा उसका कोई अहित नहीं हो सकता। एक दिन काफी रात गए वह मेरे पास आई और मुझे एक गुप्त वायरलेस ट्रांसमीटर की मरम्मत करा देने को कहा। उसने मुझे यह भी बताया कि उसके तथा वेतार स्टेशन, जहाँ से अंग्रेजों के विरुद्ध अनेक अनधिकृत राष्ट्रवादी सन्देश प्रसारित किये जाते थे, के पीछे पुलिस लगी हुई थी। भारतीय सेना के एक मिस्त्री ने एक रात चुपके से आ कर वायरलेस की मरम्मत कर के देश के प्रति अपना कुछ कर्तव्य पूरा किया। वालसा के साथ मिल कर मैंने गुप्त आन्दोलन की कुछ अन्य गति-विधियों में भी सक्रिय भाग लिया।

बम्बई में, एक दिन एक मित्र ने मुझे बताया कि सुविख्यात विद्वेही अच्युत पटवर्द्धन एक रात को टाइम्स ऑफ इण्डिया के संवाददाता फ्रैंक मोरेंट से मिलने वाला था। उस रात मैं निर्दिष्ट मिलन-स्थान पर पहुँच गया और मुझे अच्युत की एक झलक देखने को मिली, जिसके सिर पर अंग्रेज सरकार ने काफी भारी पुरस्कार घोषित कर रखा था। थोड़ी देर बाद पता लगा कि शायद पुलिस वहाँ का घेरा डालने वाली है, इसलिए अच्युत एक कार में बैठ कर किसी गुप्त स्थान की ओर चला गया और हम अपने-अपने निवास स्थानों की ओर चले आए।

दक्षिणी कमान, बंगलौर के जनरल ऑफिसर कमाण्डिंग-इन-चीफ जनरल सर वेरसफोर्ड पीयरस ब्रिटिश सेना के ऑफिसर थे और भारत में नये-नये आए थे, इसलिए उनके मन में भारत या भारतीयों के प्रति किसी प्रकार का कोई पूर्वाग्रह न था। सन् १९४२ के उत्तरार्द्ध में मुझे कार्यकारी लेफ्टी० कर्नल की पदोन्नति दे कर उनके पास जन सम्पर्क शाखा में नियुक्त कर दिया गया। मैंने देखा कि हमारी महत्वाकांक्षाओं के प्रति उन्हें असामान्य रूप से सहानु-

५. इस समय इस पद पर एक ही और भारतीय सुशोभित थे और वह थे करिअप्पा जो मुखसे आयुएव' सेवा में तेरह वर्ष बड़े थे। इसलिए, इस देवी कृपा से मुझे प्रसन्नता ही हुई। करिअप्पा, जो बाद में भारत के प्रथम भारतीय सेनाध्यक्ष बने, कई बातों में अगुआ थे। उन्होंने सदा एक अच्छे भारतीय की भूमिका निभाई है, व्यक्तिगत आचरण का उच्च आदर्श प्रस्तुत किया है किन्तु राजनीति की जटिलताओं को वह शायद ही कभी समझे हों। अपने प्रारम्भिक दिनों में उन्होंने 'करो' एवं 'न करो' की एक सूची बना रखी थी। सेना में भर्ती होने वाले नये भारतीयों के लिए, जब तक उन्हें स्वयं अनुभव न हो जाए, यह सूची काफी लाभप्रद मार्गदर्शिका सिद्ध हुई है। सेना पर उनका अच्छा प्रभाव था।

भूति थी। उनके पूछने पर मैंने कहा कि भारत में ब्रिटिश राज को कभी भी न्यायोचित नहीं ठहराया जा सकता था। यह तो बिल्कुल इस प्रकार था कि हम किसी के घर पर यह कह कर नियन्त्रण कर लें कि वहाँ अव्यवस्था फैली हुई थी। न तो किसी को इस प्रकार का कोई अधिकार था और न इस प्रकार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता ही बनी रह सकती थी। भारतीयों के प्रति अपने दैनिक व्यवहार में भी अंग्रेज भेद-भाव बरतते थे, इसके कई उदाहरण मैंने जनरल के सामने रखे, जैसे मद्रास क्लब की सदस्यता भारतीयों के लिए मना थी। मेरे कथन की सत्यता जांचने के लिए अगले दिन वेरसफोर्ड पीयरस मेरे साथ मद्रास गए और उन्होंने भोजन के लिए मुझे मद्रास क्लब में निमन्त्रित किया। इससे मद्रास में रहने वाले यूरोपवासियों में विक्षोभ की लहर फैल गई और वे मद्रास के गवर्नर सर स्टेनले जैकसन के सामने जा कर रोये। गवर्नर महोदय ने जनरल को समझाने की काफी कोशिश की किन्तु उनके न मानने पर इस घटना की रिपोर्ट वायसराय लार्ड वेबल को भेज दी। भारत में ब्रिटिश प्रशासन की गाड़ी में रोड़ा अटकाने के लिए वायसराय ने जनरल को काफी भला-बुरा कहा। सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए किये गए अपने प्रथम प्रयत्न में ही वेरसफोर्ड पीयरस को मुँह की खाली पड़ी।

एक बार मैं और मेरा एक अंग्रेज साथी, साथ-साथ यात्रा कर रहे थे। जब रास्ते के एक छोटे-से स्टेशन पर गाड़ी रुकी तो हम थोड़ी दूर पर एक ऐसा भिखारी दिखाई दिया जिसके न तन था और न तन पर कपड़ा। इस नर कंकाल की ओर मेरा ध्यान आकर्षित करते हुए मेरे साथी ने कहा, 'यदि हम भारत छोड़ दें और यहाँ का सारा कारबार तुम्हें सौंप दें जैसा कि तुम 'वोगड' चाहते हो, तो यहाँ लोग भूखे मरने शुरू हो जाएंगे और सब जगह ऐसे नर कंकाल नजर आएंगे।' प्रत्युत्तर में मैंने उस भिखारी की ओर सवेत करने हुए व्यग्य कहा, 'हम ब्रिटिश राज के बहुत आभारी हैं जिसने अपने दो सौ वर्षों के शासन के बाद हमें इस स्थिति में ला पटका है।' साथ ही मैंने एक रूसी लेखक एम० वी० मिलीव के अनेक वर्ष पहले लिखे हुए यात्रा-संस्मरण 'वी वैंट टु इण्डिया' से एक अंश उद्धृत कर दिया :

“भूखे लोगों...जिनकी छातियाँ घँसी हुई थी, जिनकी टाँगें छड़ी-सी पतली थी, जिनको एक-एक पसली गिनी जा सकती थी तथा जिन्हें बीमारी ने अंपंग बना दिया था...का वह दयनीय दृश्य आजीवन हमारे मानस पर अंकित रहेगा।”

साथ ही मैंने अपने अंग्रेज मित्र को यह भी स्मरण करा दिया कि स्वतन्त्रता का कोई बदल नहीं है।

वेरसफोर्ड पीयरस इस प्रकार की कहानियाँ सुन कर बड़े दुःखी हुए। वह भारत को स्वतन्त्र देखना चाहते थे। किन्तु अपने सीनियर आफिसरों के कारण मौन थे।

बंगलौर में हम मृणालिनी और विक्रम साराभाई के पढ़ीसी थे। मृणालिनी तो एक कुशल नर्तकी थी तथा विक्रम एक सुविख्यात वैज्ञानिक थे। दोनों ही पक्के राष्ट्रवादी थे। मैंने एक बार सुना कि उन्होंने मीनू मसानी,^६ एक साहसी युवा क्रान्तिकारी, को अपने यहाँ आश्रय दिया था जबकि उनके पीछे पुलिस लगी हुई थी। सम्पूर्ण साराभाई परिवार देश की काफी सेवा कर रहा था।

इसी समय की घटना है कि एक अमरीकी युद्ध संवाददाता टाम ट्रीनर और मैं त्रिवेन्द्रम एवं कन्याकुमारी की यात्रा पर साथ-साथ गए। वहाँ हम तत्कालीन मुख्य मन्त्री, प्रतिभावान् सर सी० पी० रामास्वामी अय्यर, के यहाँ ठहरे। अय्यर साहब 'सी० पी०' के नाम से प्रसिद्ध थे। वह अपनी हाज़िर-जवाबी और अपने व्यंग्योत्तरों के लिए सुप्रसिद्ध थे। जब टाम ने उनसे ट्रावन्कोर की साक्षरता के ऊँचे प्रतिशत का रहस्य जानना चाहा तो उत्तर में उन्होंने तड़ाक से प्रश्न किया :

'क्या आप साक्षरता और शिक्षा शब्दों के अर्थों में अन्तर जानते हैं ?'

'नहीं, सर'; टाम ने असत्य का सहारा लिया।

'मैं आपको एक उदाहरण दे कर समझाता हूँ,' सी० पी० ने कहा, 'मेरी माँ को धर्मग्रन्थ कण्ठस्थ हैं किन्तु वह किसी भाषा का एक शब्द भी न लिख सकती हैं और न पढ़ सकती हैं। मेरी दृष्टि में वह काफी अधिक शिक्षित हैं किन्तु बिल्कुल निरक्षर हैं। अब आप समझे कि मैं क्या कहना चाहता हूँ ?'

'नहीं,' टाम ने निस्संकोच स्वीकार किया।

'मेरे प्यारे दोस्त,' सी० पी० ने आगे कहा, 'भारत में साक्षरता के सम्बन्ध में लार्ड मैकाले ने दूसरे दृष्टिकोण से बल दिया है और मैंने दूसरे से।'

इसके बाद टाम ने सी० पी० से कोई प्रश्न नहीं पूछा।

कुछ महीने बाद युद्ध में संवाददाता टाम, जब अपने पत्र 'लास एंजल्स टाइम्स' के लिए मध्य पूर्व में मित्र देशों की गतिविधियों का विवरण तैयार कर रहा था, मारा गया।^७ मैंने उसको वचन दिया था कि मैं उससे उसके

६. बाद में उन्होंने स्वतन्त्र दल की सदस्यता स्वीकार कर ली।

७. इस प्रसंग में मुझे एक और घटना याद आ गई। सन् १९४५ में मेरा एक अन्य मित्र विंग कमाण्डर 'जुम्बो' मजूमदार—वायुयान-दुर्घटना में वीर गति को प्राप्त हुआ; हमारा विचार था कि उसकी विशिष्ट युद्ध-सेवाओं को देखते हुए अग्रग्रे

नगर लाँस एंजल्स मिलने जाऊँगा। और वह, इस सप्ताह को ही छोड़ कर चला गया।

भेजर जनरल रीस से मेरी दुबारा मुलाकात सन् १९४२ के उत्तरार्द्ध में हुई जब वह मध्य-पूर्व से लौट कर आये थे। उन्होंने मुझे बतलाया कि जब वह अफ्रीका में सोनन के पास इन्फैंट्री के एक डिवीजन की कमान संभाले हुए थे तो उन्हें अपने स्थान की प्रतिस्था स्वयं करने का आदेश मिला। किन्तु पर्याप्त युद्ध-सामग्री के अभाव में वह ऐसा करने में असमर्थ थे और उन्होंने अपनी असमर्थता साफ बतला दी। इस पर उनके कोर कमाण्डर ने असहमति हो कर वहाँ की कमान उनसे छीन ली। यद्यपि बाद की घटनाओं ने रीस के कथन की पुष्टि की। किन्तु यह कोई पहली घटना नहीं थी कि जब एक वीर कमाण्डर को अनिश्चितपूर्वक दण्डित किया गया हो। रीस की पदावनति कर के उन्हें ब्रिगेडियर बना दिया गया तथा युद्ध-क्षेत्र से हटा कर दिल्ली-स्थित मेना मुख्यालय में सैनिक सिव्वादो समिति (आर्मी एस्टेब्लिशमेंट्स कमिटी) का अध्यक्ष बना दिया गया। सन् १९४३ के पूर्वार्द्ध में उन्हें वेरसफोर्ड पीयरस के अधीन काम करने का अवसर मिला और बाद में, जब मद्रास में हो रहे सशस्त्रान्धकार के बीच एक भेजर जनरल की गोली लगने में मृत्यु हो गई, उन्हें १६ डिवीजन की कमान दी गई। जापानियों से भाँडले को पुनर्हस्तगत करते समय १६ डिवीजन के पुरोभाग (अग्रले भाग) में रह कर रीस ने एक साहसी कमाण्डर का आदर्श रूप सामने रखा। अब उनकी वीरता एवं नेतृत्व-शक्ति किमी से छिपी न रही।

रीस के बरमा जाने से कुछ पहले हमारी गोपियाँ फिर दुरु हो गईं। इन गोपियों में, जो काफी देर रात तक चला करती थी, अपने पेशे से सम्बन्धित अनेक मामलों पर चर्चा करते समय रीस ने इस बात पर बल दिया कि हमें सफल कमाण्डरों की जीवनियाँ अवश्य पढ़नी चाहिए। हर रात वह

अधिकारी उसकी मृत्यु की घोषणा के समय उसकी प्रशंसा में कुछ कहेंगे। किन्तु यह देख कर हमें बड़ी निराशा हुई कि इस और किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। मेरी दृष्टि में यह एक बहुत बड़ा अन्याय था, इसलिए मैंने स्वयं उसकी प्रशंसा में कुछ कहने का निर्णय किया, और वह भी आकाशवाणी से। किसी भी सार्वजनिक भाषण के पूर्व उच्च अधिकारियों से अनुमति लेने का विधान था और मुझे ऐसा विश्वास नहीं होता था कि मुझे यह अनुमति मिल जाएगी, इसलिए मैंने बिना अनुमति के ही आकाशवाणी से मजूमदार की प्रशंसा में कुछ शब्द कहने का संकल्प कर लिया। अब मैंने अपना प्रस्ताव आर्ल इण्डिया रेडियो के निदेशक जेड० ए० बुखारी के सामने रखा तो उन्होंने प्रसन्नतापूर्वक स्वीकृति दे दी। जैसाकि हमें पहले ही पता था, मेरा भाषण दिल्ली-स्थित अंग्रेजों के मॉनीटरिंग सेक्शन ने पकड़ लिया जिसमें मैंने किसी नीली आँखों वाले की प्रशंसा न कर के एक भारतीय की गुण-गाथा गाई थी और वह भी बिना अनुमति के, इसलिए बुखारी से और मुझ से स्पष्टीकरण माँगा गया।

मुझे किसी-न-किसी यशस्वी कमाण्डर के पराक्रम की गाथा सुनाते थे और एक रात उन्होंने निरक्षर चंगेज खान की जीवनी भी सुनाई जिसने तीन शक्तिशाली साम्राज्यों को पराजित किया था तथा ५० राष्ट्रों के लिए नियम संहिता का विधान किया था। किन्तु जिस समय उन्होंने लारेंस ऑफ अरेबिया की जीवनी सुनाई तो मैं रोमांचित हो उठा।

रीस ने बतलाया कि लारेंस ने अपना जीवन अपनी इच्छा के अनुरूप बतलिया था तथा अपनी चेतना के प्रति जितना वह व्यक्ति निष्ठावान था, उतना शायद ही कोई रहा हो। कहा जाता है कि युद्ध के उपरान्त जब उसे 'कमाण्डर ऑफ दि वाय' की उपाधि से विभूषित किया जाने वाला था तो उसने इस सम्मान को ठुकरा दिया, क्योंकि इंग्लैण्ड की ओर से उसने जो वचन वीर अरबों को दिये थे, जब इंग्लैण्ड उनको पूरा करने के लिए तैयार नहीं था तो लारेंस भी किसी प्रकार की उपाधि से विभूषित नहीं होना चाहता था। रीस ने लारेंस के विषय में कहा कि वह एक महान् विद्वान् था, उसका जीवन त्याग और उत्कर्ष का जीवन था, वह दृढ़ निश्चयी तथा असीम साहसी था, वह अनेक बार मृत्यु का ग्रास बनते-बनते बचा था तथा उसने वेदना को अपने जीवन में आत्मसात् कर लिया था। अन्त में रीस ने कहा कि लारेंस के इन गुणों के कारण उसका नाम इतिहास में अमर हो गया था।

रीस का विश्वास था कि युद्ध में अन्य तत्त्वों के साथ-साथ भाग्य का भी काफी हाथ होता है। शायद भगवान् भी अधिक शक्तिशाली सेनाओं का ही पक्ष लेता है। उन्होंने बतलाया कि अपने सेनापतियों की पदोन्नति के सम्बन्ध में विचार करते समय नेपोलियन पूछा करता था, 'क्या वह भाग्यशाली है?' रीस के अनुसार युद्ध सम्भावनाओं की संगणना है। उन्होंने कहा कि सामान्यतः जनरलों पर यह आरोप लगाया जाता है कि वे अगले युद्ध की तैयारी न करके अन्तिम युद्ध की तैयारी किया करते हैं। किन्तु यह आरोप राजनीतिज्ञों पर अधिक ठीक बैठता है क्योंकि वे किसी युद्ध की भी तैयारी नहीं करते। उन्होंने कहा कि सैनिक पेशे में वह गौरव का अनुभव करते थे क्योंकि इस पेशे का उद्देश्य है स्वदेश की प्रतिरक्षा में जीना और आवश्यकता पड़े तो अपने प्राण भी न्योछावर कर देना।

सन् १९४३६ में मुझे वरमा के अराकान युद्ध-क्षेत्र में जाने का आदेश मिला।

८. उनका ग्रन्थ 'सेवन पिलरज ऑफ विज्डम' अंग्रेजी भाषा के महान् ग्रन्थों में गिना जाता है।

९. सन् १९४३ में, वरमा जाने से पहले, आगरा-स्थित केन्द्रीय कमान के मुख्या-

मैंने जल्दी-जल्दी धावदयकता का छोटा-मोटा सामान बाँधा और अपनी पत्नी एवं दोनों बच्चियों (घायु—तीन वर्ष और एक वर्ष) से विदा ली। कलकत्ता से चिटागोग की यात्रा एक लघु पोत द्वारा करनी थी। इस पोत पर प्रत्येक प्राणी उत्तेजित था। कुछ तो बाहर से धान्त थे किन्तु कुछ अपनी उत्तेजना को दबा नहीं पा रहे थे। और चहल-कदमी कर रहे थे। हम सब जानते थे कि हम किन्ती तफरीह पर नहीं जा रहे थे। अपवाह थी कि हमारे कई पोतों को जापानी पनडुब्बियों ने डूबा दिया था। इसलिए सागर के तल पर जब भी कोई काला धब्बा दिखलाई देता तो हम सोचते कि शत्रु की पनडुब्बी था पहुँची।

मेरे एक पुराने मित्र लेफ्टी० कर्नल 'ब्रह्म' कपूर भी इस पोत पर थे। एक प्रातः, जब हम दोनों पोत के ऊपरी डेक पर खड़े गम्भीर सागर को देख रहे थे तो त्तरे का बिगुल बज उठा और हम सब अपने-अपने स्थानों पर जा डटे। शत्रु की एक पनडुब्बी हमारा पीछा कर रही थी। हमारे पोत पर तिस्तब्धता छा गई। हमारे रक्षक जलयान कार्य-भ्यस्त हो गए और फिर उस पनडुब्बी के द्वारा दहन गही हुए।

चिटागोग उतर कर मैंने एक मोटर ट्रास्पोट रेजीमेंट की कमान संभाल ली। मेरा एडजुटेंट टामी मियोसैप, फ्रांसीसी कनाडियन था और बड़ा चुस्त, कुशल एवं अच्छा व्यक्ति था। मेरे प्रवीन और भी कई अंग्रेज अधिकारी थे। एक दक्षिण अफ्रीकी मेजर को छोड़ कर कभी किसी ने मुझे कोई कण्ट नहीं दिया। उसने बिना मुझसे बात किये, उच्च अधिकारियों से यपील की कि वह किसी भारतीय की कमान में काम नहीं करेगा। उच्च अधिकारियों ने अनुशासन भंग करने के लिए उसे दण्ड तो दिया नहीं बल्कि उसकी अपील स्वीकार कर के एक अंग्रेज अधिकारी की कमान में उसकी बदली कर दो। भारतीयों के प्रति अंग्रेजों का भेदभावपूर्ण व्यवहार मुद्-क्षेत्र में भी चालू था।

अपने काम के सम्बन्ध में प्रायः मुझे बुधिडोग, मोगडी तथा मुद्-क्षेत्र के दूसरे अगले भागों में जाना पड़ता था। एक दिन, जब मैं जीप से बुधिडोग जा रहा था तो मैंने अपने सिर के ऊपर वायुयान की गूँज सुनी। कुछ प्राण चल कर सड़क पर मुड़ते हुए मैंने देखा कि एक जापानी 'जीरो' लड़ाकू वायु-

लय में, मैं कुछ महीनों का एक पाठ्यक्रम पूरा करने गया तो वहाँ मेरी मुलाकात ब्रिगेडियर विनगेट से हुई जो उस समय शत्रु की सेना में दूर तक मार करने वाली अपनी रहस्यमय टुकड़ी 'विडिट' को तैयार करने में लगे हुए थे। मैंने जब उनसे पूछा कि क्या वह मुझे अपनी कमान में साथ ले चलेंगे तो उन्होंने उत्तर दिया कि उनकी कमान में गोरसाधों के शुल्न के अतिरिक्त और कोई भारतीय शुल्न नहीं था तथा गोरसाधों की कमान भारतीय ऑफिसरों के हाथ में देना मना था। उनके साथ तो बस एक ही भारतीय ऑफिसर जा रहा था और वह था उनका पी० आर० मो० कॅप्टेन काटजू (जो कुछ समय बाद मुद् क्षेत्र में वीर-मति को प्राप्त हुआ)।

यान मेरी ओर सीधा चला आ रहा था। मैंने भटके से जीप रोकी और मैं पास की झाड़ी में कूद गया। वायुयान ने बाज की तरह एक दो बार मुझ पर झपट्टा मारा, उस की बंदूकों गरजीं और यह समझ कर कि मैं समाप्त हो गया था, वह दूसरे शिकार की खोज में चला गया। एक दूसरे अवसर पर, मैं बुधिडोंग के निकट स्थित एच० क्यू० २६ डिवीजन की ओर जा रहा था तो अंग्रेजी तोपखाने द्वारा की जा रही जवाबी गोलावारी में फँस गया और गोलियाँ मेरे चारों ओर सनसना ने लगीं।

कुछ दिनों बाद की घटना है कि मैं उस भू-खण्ड के खुरदरे मैदान से गुजर रहा था। इस मैदान में अभी हुई लड़ाई के ताजे निशान मौजूद थे। अभी सूर्य को अस्त हुए केवल आधा घण्टा बीता था। अचानक मैदान के निकट ही से जापानियों ने धावा बोल दिया। इस भू-खण्ड से भली-भाँति परिचित न होने के कारण गुप अँधेरे में जान बचाना मेरे लिए मुश्किल हो गया।

जब मैं मोंगडो पहुँचा, तो हमारे और जापानियों के बीच डिग-डोंग युद्ध चल रहा था। वहाँ मेरी मुलाकात मेजर (स्वर्गीय जनरल) के० एस० तिमैया से हुई जो उस समय २५ इन्फैण्ट्री डिवीजन के एस० जी० ओ० २ थे।

प्राण नारंग और मैं कॉलेज में समकालीन थे। इस समय वह अराकान में हिल ५५५ के पास स्थित फ्रंटियर फोर्स बटालियन की एक कम्पनी की कमान सँभाले हुए था। एक दिन शाम को हम दोनों में काफी देर तक बातचीत हुई। बीच में युद्ध की चर्चा भी आई और जीवन पर युद्ध का क्या प्रभाव पड़ता है, इस सम्बन्ध में भी बातचीत हुई। वीरता प्रदर्शन के लिए मिलने वाले पदकों के सम्बन्ध में हमने कहा कि वे सदा योग्यता के आचार पर नहीं मिलते। कुछ नीली आँख वालों को तो ये बिना किसी परिश्रम के मिल जाते हैं जबकि दूसरे अधिकारी व्यक्तियों को भी इनके दर्शन नहीं होते। हाँ, कभी-कभार योग्यता भी पुरस्कृत हो जाती है। वार्ता का निष्कर्ष यह निकला कि यह सब संयोग पर निर्भर करता है। बीच में यह बात भी उठी कि जिन लोगों ने युद्ध देखा है और युद्ध में वीरतापूर्ण नेतृत्व के लिए पदक प्राप्त किये हैं, वे तो शायद ही कभी डींग हाँकते हों किन्तु जिन लोगों ने युद्ध के दर्शन कभी नहीं किये और संयोगवश कुछ घंटिया (पदक) इकट्ठी कर ली हैं, वे उनको ऐसे दुनदुनाते रहते हैं जैसे कि उन्होंने सचमुच तोप चलाई हो। भयंकर स्थितियों में पैदा होने वाले भय के मनोविज्ञान पर भी चर्चा हुई और हम दोनों इस बात पर एकमत थे कि मरने से, अंग-भंग होने से तथा पीड़ा से प्रत्येक व्यक्ति घबड़ाता है। कोर की भावना तथा पेशे की परम्पराओं का

१०. जिनका भाई वोस के नेतृत्व में आज़ाद हिन्द फौज की ओर से हमारे विरुद्ध लड़ रहा था।

गौरव, निस्सन्देह, भय की भावना पर विजय प्राप्त करने में सहायक होते हैं। कुछ अपने ऊपर नियंत्रण कर लेते हैं और भय की भावना को व्यक्त नहीं होने देते जबकि कुछ स्वयं पर नियंत्रण नहीं रख पाते और भय का प्रदर्शन कर बैठते हैं। लेकिन जो यह कहते हैं उन्हें भय ने कभी मत्ताया ही नहीं, वे व्यर्थ की बातें करते हैं।

मेरे चलने से पहले उसने मुझे बताया कि कुछ दिनों के बाद पड़ने वाली छुट्टी की वह बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा कर रहा था जिस दिन इस कोनाहन से दूर वह अपनी पत्नी के पास शान्ति से बैठ सकेगा। किन्तु जैसा कि मैंने कहा है :

*Our sincerest laughter
with pain is fraught.*

इस घटना को चौबीस घण्टे भी नहीं बीते थे कि हिन ५५५ के लिए हुए युद्ध में प्राण की मृत्यु हो गई। अब न उसे किसी युद्ध में भाग लेना था और न कोई छुट्टी चाहिए थी। कन्यजडा क्षेत्र में सूबेदार यमौरचन्द ने उसका शव-दाह किया, जिस स्थान की यात्रा कुछ दिनों बाद मैंने भी की थी।

अराकान में मुझे काफी कठिनाइयों तथा अन्य अप्रिय स्थितियों का सामना करना पड़ा जैसा कि सामान्यतः प्रत्येक संप्रामिक क्षेत्र (अपरेगनल एरिया) में होता है।

अराकान से लौट कर कुछ समय के लिए मैं कलकत्ते रका तथा सन् १९४५ के उत्तरार्द्ध में, जनरल सर रेमीनाल्ड सेबरी के अधीन सहायक एडजुटेंट जनरल नियुक्त हो कर सैनिक मुख्यालय, शिमला पहुँच गया। चारों ओर वातावरण में स्वतन्त्रता की गन्ध थी। काफी मम्बी अवधि तक जेल में रह कर नेहरू अभी बाहर निकले थे और मायसराय से बातचीत करने के लिए वह शिमला आने वाले थे। यह समाचार जंगल की आग की भाँति चारों ओर फैल गया। उनके आने पर जब हम पति-पत्नी उनसे मिलने पहुँचे तो वहाँ उनके दर्शनार्थे अपार जन-समूह एकत्र था यद्यपि उन्होंने हमें थोड़ा-सा ही समय दिया क्योंकि मिलने वालों का वहाँ ताँता लगा हुआ था किन्तु मिले बहुत अपनेपन से। जब दूसरे दिन मैं उनसे मिला तो उन्होंने मुझ से बरमा के युद्ध के विषय में अनेक प्रश्न पूछे। उन्हें यह पता था कि मैंने बरमा के युद्ध में सक्रिय भाग लिया था, इसलिए उन्होंने बोस की आजाद हिन्द फौज के सम्बन्ध में भी कुछ जानना चाहा। मैंने उन्हें बताया कि दुर्भाग्यवश मैं उस सेना में था जो अराकान में आजाद हिन्द फौज के विरुद्ध मोर्चे पर थी। भिन्न पताकारें पहराते

हुए, वहाँ भारतीय अपने ही भारतीय भाइयों से लड़े थे। मैंने उन्हें बताया कि इस फौज में अधिकांश भारतीय तो देशभक्ति की भावना से अनुप्राणित हो कर सम्मिलित हुए थे किन्तु कुछ इसके अपवाद भी थे। इस फौज के जवानों को कितने कष्ट भेलने पड़े थे और जापानियों द्वारा पर्याप्त युद्ध-सामग्री न मिलने पर भी वे किस वीरता के साथ मलाया से आसाम तक विजय प्राप्त करते चले आये थे, इसका मैंने सविस्तार वर्णन उनके सामने किया। यद्यपि अन्त में उन्हें ब्रिटिश एवं भारतीय सेनाओं से पराजित होना पड़ा था। किन्तु बोस को दिये वचन के अनुसार वे भारतीय भूमि—कोहिमा—पर पहुँच गए थे। आज़ाद हिन्द फौज के एक भारतीय हविलदार (सारजेण्ट) की मर्मस्पर्शी कथा,—जो मुझे जनरल शाहनवाज़ ने सुनाई थी—मैंने नेहरू को सुनाई। इस हविलदार ने सिगापुर छोड़ने से पहले बोस को वचन दिया था कि एक दिन वह अपनी 'मुक्ति सेना' को ले कर भारतीय भूमि पर पदापण करेगा चाहे इस प्रयत्न में उसे अपने प्राणों की आहुति ही क्यों न देनी पड़े। वरमा से कोहिमा तक वह मार-काट करता चला आया किन्तु दुर्भाग्यवश कोहिमा के उपान्त (सिवाने) पर उसे एक बम का गोला लगा और वह गिर पड़ा। जिस समय मेजर जनरल शाहनवाज़ की नज़र उस पर पड़ी, वह खून में लथपथ पड़ा था।

अपने कमाण्डर को देखते ही वह कराहते हुए बोला, "सर, आप नेताजी सुभाषचन्द्र बोस को बतला देना कि मैंने अपना वचन पूरा कर दिया था।" इतना कह कर उसने अपनी मातृभूमि की मिट्टी को चूमा और शरीर छोड़ दिया। मैंने नेहरू को यह भी बतलाया कि आज़ाद हिन्द फौज का सैनिक अभिवादन था, 'जय हिन्द' तथा आदर्श वाक्य था 'जीना है तो मरना सीखो'।

इस वर्णन को सुनकर नेहरू की आँखें भर उठीं।

सन् १९४६ में, अंग्रेजों ने दिल्ली के ऐतिहासिक लाल किले में आज़ाद हिन्द फौज के तीन अधिकारियों—शाहनवाज़, सहगल और दिल्लीन; एक मुसलमान एक हिन्दू और एक सिक्ख—पर राजद्रोह एवं राजा के विरुद्ध सशस्त्र युद्ध करने का आरोप लगा कर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया।

आज़ाद हिन्द फौज^{१२} की नींव सुविख्यात भारतीय देशभक्त बोस^{१३} ने डाली थी ताकि भारत से अंग्रेजों को जल्दी-से-जल्दी खदेड़ कर देश को

१२. आज़ाद हिन्द फौज युद्ध-बन्धियों को मिला कर बनाई गई थी। इनमें से कुछ पर जापानियों ने काफी अत्याचार किये थे।

१३. कहा जाता है कि युद्ध के तुरन्त बाद एक वायु-दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई थी।

स्वाधीन किया जा सके। यदि किसी में नाम मात्र की भी भारतीयता है तो वह बोल और उनकी देशभक्ति में सन्देह नहीं कर सकता। उन्होंने देशवासियों की भावनाओं को गमना, इसलिए देशवासियों ने उन्हें राष्ट्रीय नेता के पद पर प्रतिष्ठित किया। जब उन्होंने सन् १९४३ में मन्नाया में 'कार्यनिर्वाही भारत सरकार' की स्थापना की तो अधिकांश भारतीयों ने उनकी सफलता की मंगल कामनाएँ कीं। (आजाद हिन्द फौज एक समुक्त परिवार के समान थी जिसमें हिन्दुओं, मुसलमानों और ईसाइयों का एक चौका था। सेना में आज तक यह चमत्कार नहीं हो पाया है।)

बोल और उनके अनुयायियों के अनुसार आजाद हिन्द फौज उन युद्ध-बन्धियों का संगठन था जिन्हें उनके अंग्रेज अधिकारी मलाया में छोड़कर भाग आये थे। उनके अनुसार इन युद्धबन्धियों का संगठित हो कर स्वदेश को अंग्रेजों की दासता से मुक्त कराने का प्रयत्न न तो सेना के अनुशासन का भंग करना था और न अपनी कर्तव्य-भावना से डिगना। भारतीय सेना में अनेक लोग इस विषय से चिन्तित थे। जनरल थिमैया का भाई तथा हमारे अनेक मित्र आजाद हिन्द फौज में थे। उन्होंने अनेक संदेश प्रसारित किए और हम पर आरोप लगाया कि जबकि वे भारतीय तिरंगे के नीचे इकट्ठे होकर भारत की स्वाधीनता के लिए अपने प्राण उत्सर्ग कर रहे थे, हम अंग्रेजों की पताका के नीचे युद्ध कर रहे थे।

बोल प्रथम भारतीय नेता थे जिन्होंने भारतीय सशस्त्र सेना के एक भाग का युद्ध-क्षेत्र में नेतृत्व किया था। जहाँ तक इंग्लैण्ड के राजा के प्रति भारतीयों की स्वामिभक्ति का प्रश्न था, उन्होंने स्पष्ट कहा कि वह कोई ऐसी चीज नहीं थी जिसका अन्त न किया जा सकता हो। यह कह कर उन्होंने भारत में अंग्रेजों के पक्ष में दिये जाने वाले मुख्य तर्कों में से एक का खण्डन कर दिया था। (सन् १९४६ में भारतीय जन्म सेना और वायु सेना में हुए विद्रोह ने अंग्रेजों के लिए चेतावनी का काम किया और वे समझ गए कि भारतीय नाविकों, वायु सैनिकों तथा स्थल सैनिकों के बल पर भारतीयों को और दास बनाये रखना असम्भव था।) बोल ने भी इस बात को स्पष्ट कर दिया था। जापानी कमाण्डरों ने भी उनकी इच्छा एवं उनके विचारों की स्वतन्त्रता को पहचान लिया था एक बार चर्चिल ने कहा था कि मैं सैतान में भी दोस्ती करने को तैयार हूँ यदि इससे मेरे देश की रक्षा हो सकती हो।" बोल ने भी रंगून रेडियो से यही बात प्रसारित की थी।

यदि इंग्लैण्ड जैसा शक्तिशाली साम्राज्य सत्कार के प्रत्येक क्षेत्र से महापता को याचना कर सकता है तो हमारे जैसे दासता की ज़खीरो

थी तो मैंने हिम्मत को सलाह दी कि वह अपने भाषण में राष्ट्रीय पत्र को वकालत करें। थोड़ा-बहुत तर्क करने के बाद वह सहमत हो गए और मुझे कहा कि क्या मैं उनके भाषण का प्रारूप तैयार करके दे दूँगा। यह प्रारूप मैंने बड़ी प्रसन्नता के साथ कर दिया और उन्हें उनके भाषण का कई बार अभ्यास करा दिया। निश्चित तिथि पर उन्होंने साहस बटोर कर वही भाषण दे दिया। इससे अंग्रेजों की आँखें आश्चर्य से फटी-की-फटी रह गईं और भारतीय राजनीतिक नेताओं एवं विधान सभा के अधिकांश भारतीय सदस्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। हिम्मत को कांग्रेसी नेताओं ने हृदय से बधाइयाँ दीं। उन्हें हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया तो उन्होंने एक पत्र लिख कर मुझे मेरी सलाह के लिए धन्यवाद दिया जिसके कारण उन्हें काफी सम्मान प्राप्त हुआ।

सर स्टेफर्ड क्रिप्स, भारत की स्वाधीनता के एक समर्थक दिल्ली आये हुए थे। एक दिन शाम को नेहरू ने मुझे बुला कर पूछा कि क्या मैं उन्हें कुछ ऐसी विशेष बात बता सकता था जिस पर वह क्रिप्स से चर्चा करें। (इसी प्रकार उन्होंने और भी अनेक लोगों से सलाह ली होगी)। मैंने केवल एक सुझाव दिया कि जैसे ही अंग्रेज भारत छोड़ें, उसी समय भारतीय सेना का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए।

सितम्बर १९४६ में जब नेहरू भारत की अन्तरिक सरकार के प्रधान मंत्री बने तो १७ यार्क रोड में रहने लगे। ७ सितम्बर १९४६ को दिये अपने रेडियो-भाषण में उन्होंने भारत को भावी घरेलू एवं विदेश नीति, 'भारत के भूते विसरे सामान्य व्यक्ति' के रहन-सहन के ऊँचे स्तर, साम्प्रदायिक एकरूपता, अस्पृश्यता के विरुद्ध संघर्ष, शक्तिशाली गुटों से तटस्थता, इंग्लैण्ड तथा राष्ट्र-मण्डल से सहकारी सम्बन्ध, अमरीका तथा रूस से मित्रता, अफ्रीकी एवं एशियाई देशों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध, तथा विश्व राष्ट्रमण्डल बनाने का सुदूर लक्ष्य की रूपरेखा स्पष्ट की।

उन दिनों नेहरू अनेक मामलों पर मुझसे अनौपचारिक रूप से परामर्श ले लिया करते थे। जैसे-जैसे वह अपने काम में धिरते गए, ये अवसर घटते गए। स्वतन्त्रता के बाद नेहरू कुछ कम सक्रिय हो गए थे। शायद दायित्व के भार से उनमें यह परिवर्तन आया हो।

मैं कर्नल पिगॉट के अधीन था। वह शुद्ध अन्तःकरण के व्यक्ति थे और सच बात कहने में कभी नहीं डरते थे। इन सद्गुणों ने उनको लाभ के बदले हानि पहुँचाई और वेचारे मेजर जनरल के पद से लुढ़कते-लुढ़कते कर्नल के पद तक आ पहुँचे थे। अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठा रखने वाले और अपने देश एवं अपनी सेना की अथक परिश्रम से सेवा करने वाले व्यक्ति के वह

मूर्तिमान रूप थे। उनसे मैंने अनेक अच्छी बातें सीखी।

प्रो० अमरनाथ भा से मेरा अच्छा परिचय था। एक बार उनकी नज़र मेरे उस लेख पर पड़ गई जिसमें मैंने रूसी सेना के ब्यूह-कौशल तथा जर्मनों के विरुद्ध उसकी सफल युद्ध-मदति पर प्रकाश डाला था। भा ने वह लेख आंचिनलेक को दिखलाया जो उस समय हमारे कमाण्डर-इन्-चीफ थे तथा उनके घनिष्ठ मित्र थे। ग्रॉक (आंचिनलेक का लोकप्रिय नाम) ने मुझे भोजन के लिए निमन्त्रित किया और बड़े मित्र भाव से मुझे बतलाया कि उन्होंने मेरे लेख को काफी पसन्द किया था। बाद में जब उन्होंने वह लेख सैनिक गुप्तधर विभाग के निदेशक को दिखलाया तो उसने उस पर काफी विरोधामक और आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी। यद्यपि मेरे लेख का राजनीति से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था किन्तु नेहरू तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं से मेरा सम्पर्क होने के कारण मेरे प्रत्येक काम को 'राजनीति' मान लिया जाता था। कुछ सप्ताह बाद ग्रॉक ने मुझे जनरल स्टाफ श्राँव में प्रथम श्रेणी की नियुक्ति देनी चाही, किन्तु इससे पहले कि मैं इस नयी नियुक्ति पर पहुँचूँ, उन्होंने मुझे सशस्त्र सेना राष्ट्रीयकरण समिति (ग्राम्ड फोर्सिड नेशनलाइजेशन कमिटी) का सचिव नियुक्त करा दिया। उन्होंने सम्पर्क अधिकारी पद के लिए भी प्रतिरक्षा मन्त्री बलदेव सिंह से मेरे नाम की सिफारिश निम्नलिखित शब्दों में की थी :

नई दिल्ली

४ अक्टूबर, १९४६

(माई डियर) प्रतिरक्षा मन्त्री,

सम्पर्क अधिकारी (सेनाध्यक्ष और प्रतिरक्षा मन्त्री के बीच) के पद के लिए मैं आपको लेफ्टी० कर्नल बी० एम० कौल के नाम का सुझाव देता हूँ जो इस समय जनरल हैडक्वार्टरस में असिस्टेंट एड्युटेंट जनरल का काम कर रहे हैं। इस ऑफिसर ने स्टाफ कॉलेज का पाठ्यक्रम भी पूरा किया हुआ है, यह काफी बुद्धिमान एवं पर्याप्त अनुभवी हैं। मेरे विचार से यह काफी अच्छे ऑफिसर हैं तथा काफी उन्नति करेंगे। इस ऑफिसर को आपके सम्पर्क अधिकारी के रूप में अपने पास देख कर मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुत प्रसन्नता होगी।

भवदीय,

आंचिनलेक

फील्ड मार्शल

मेरा विचार है कि आंचिनलेक भारतीय सेना के मित्र थे किन्तु उन्हें गलत समझा गया है।

थी तो मैंने हिम्मत को सलाह दी कि वह अपने भाषण में राष्ट्रीय पक्ष की वकालत करें। थोड़ा-बहुत तर्क करने के बाद वह सहमत हो गए और मुझे कहा कि क्या मैं उनके भाषण का प्रारूप तैयार कर के दे दूंगा। यह प्रारूप मैंने बड़ी प्रसन्नता के साथ कर दिया और उन्हें उनके भाषण का कई वार अभ्यास करा दिया। निश्चित तिथि पर उन्होंने साहस बटोर कर वही भाषण दे दिया। इससे अंग्रेजों की आंखें आश्चर्य से फटी-की-फटी रह गईं और भारतीय राजनीतिक नेताओं एवं विधान सभा के अधिकांश भारतीय सदस्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। हिम्मत को कांग्रेसी नेताओं ने हृदय से बधाइयाँ दीं। उन्हें हिमाचल प्रदेश का राज्यपाल नियुक्त किया गया तो उन्होंने एक पत्र लिख कर मुझे मेरी सलाह के लिए धन्यवाद दिया जिसके कारण उन्हें काफी सम्मान प्राप्त हुआ।

सर स्टेफर्ड क्रिप्स, भारत की स्वाधीनता के एक समर्थक दिल्ली आये हुए थे। एक दिन शाम को नेहरू ने मुझे बुला कर पूछा कि क्या मैं उन्हें कुछ ऐसी विशेष बात बता सकता था जिस पर वह क्रिप्स से चर्चा करें। (इसी प्रकार उन्होंने और भी अनेक लोगों से सलाह ली होगी)। मैंने केवल एक सुझाव दिया कि जैसे ही अंग्रेज भारत छोड़ें, उसी समय भारतीय सेना का राष्ट्रीयकरण हो जाना चाहिए।

सितम्बर १९४६ में जब नेहरू भारत की अन्तरिक सरकार के प्रधान मंत्री बने तो १७ यार्क रोड में रहने लगे। ७ सितम्बर १९४६ को दिये अपने रेडियो-भाषण में उन्होंने भारत को भावी घरेलू एवं विदेश नीति, 'भारत के भूले विसरे सामान्य व्यक्ति' के रहन-सहन के ऊँचे स्तर, साम्प्रदायिक एकलपता, अप्रसूयता के विरुद्ध संघर्ष, शक्तिशाली गुटों से तटस्थता, इंग्लैण्ड तथा राष्ट्र-मण्डल से सहकारी सम्बन्ध, अमरीका तथा रूस से मित्रता, अफ्रीकी एवं एशियाई देशों से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध, तथा विश्व राष्ट्रमण्डल बनाने का सुदूर लक्ष्य की रूपरेखा स्पष्ट की।

उन दिनों नेहरू अनेक मामलों पर मुझसे अनौपचारिक रूप से परामर्श ले लिया करते थे। जैसे-जैसे वह अपने काम में घिरते गए, ये अवसर घटते गए। स्वतन्त्रता के बाद नेहरू कुछ कम सख्त हो गए थे। शायद दायित्व के भार से उनमें यह परिवर्तन आया हो।

मैं कर्नल पिगांट के अधीन था। वह शुद्ध अन्तःकरण के व्यक्ति थे और सच बात कहने में कभी नहीं डरते थे। इन सद्गुणों ने उनको लाभ के बदले हानि पहुँचाई और बेचारे मेजर जनरल के पद से लुढ़कते-लुढ़कते कर्नल के पद तक आ पहुँचे थे। अपने व्यवसाय के प्रति निष्ठा रखने वाले और अपने देश एवं अपनी सेना की अथक परिश्रम से सेवा करने वाले व्यक्ति के वह

मूर्तिमान रूप थे । उनसे मैंने अनेक अच्छी बातें सीखी ।

प्रो० अमरनाथ भा से मेरा अच्छा परिचय था । एक बार उनकी नज़र मेरे उस लेख पर पड़ गई जिसमें मैंने हसी सेना के ब्यूट-कौशल तथा जर्मनों के विरुद्ध उसकी सफल युद्ध-मदति पर प्रकाश डाला था । भा ने वह लेख ऑचिनलेक को दिखलाया जो उस समय हमारे कमाण्डर-इन-चीफ थे तथा उनके घनिष्ठ मित्र थे । ग्रॉक (ऑचिनलेक का लोकप्रिय नाम) ने मुझे भोजन के लिए निमन्त्रित किया और बड़े मित्र भाव से मुझे बतलाया कि उन्होंने मेरे लेख को काफी पसन्द किया था । बाद में जब उन्होंने वह लेख सैनिक गुप्तचर विभाग के निदेशक को दिखलाया तो उसने उस पर काफी विरोधात्मक और आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी । यद्यपि मेरे लेख का राजनीति से दूर का भी सम्बन्ध नहीं था किन्तु नेहरू तथा अन्य राष्ट्रीय नेताओं से मेरा सम्पर्क होने के कारण मेरे प्रत्येक काम को 'राजनीति' मान लिया जाता था । कुछ सप्ताह बाद ग्रॉक ने मुझे जनरल स्टाफ ब्रांच में प्रथम श्रेणी की नियुक्ति देनी चाही, किन्तु इससे पहले कि मैं इस नयी नियुक्ति पर पहुँचूँ, उन्होंने मुझे सशस्त्र सेना राष्ट्रीयकरण समिति (आर्म्ड फोर्सिस नेशनलाइजेशन कमिटी) का सचिव नियुक्त करा दिया । उन्होंने सम्पर्क अधिकारी पद के लिए भी प्रतिरक्षा मन्त्री बलदेव सिंह से मेरे नाम की सिफारिश निम्नलिखित शब्दों में की थी :

नई दिल्ली

४ अक्टूबर, १९४६

(माई डियर) प्रतिरक्षा मन्त्री,

सम्पर्क अधिकारी (सेनाध्यक्ष और प्रतिरक्षा मन्त्री के बीच) के पद के लिए मैं आपको लेफ्टी० कर्नल बी० एम० कौल के नाम का सुझाव देता हूँ जो इस समय जनरल हैडक्वार्टरस में असिस्टेंट एडजुटेंट जनरल का काम कर रहे हैं । इस ऑफिसर ने स्टाफ कॉलेज का पाठ्यक्रम भी पूरा किया हुआ है, यह काफी बुद्धिमान एवं पर्याप्त अनुभवी है । मेरे विचार से यह काफी अच्छे ऑफिसर हैं तथा काफी उन्नति करेंगे । इस ऑफिसर को आपके सम्पर्क अधिकारी के रूप में अपने पास देख कर मुझे व्यक्तिगत रूप से बहुत प्रसन्नता होगी ।

भवदीय,

ऑचिनलेक

फील्ड मार्शल

मेरा विचार है कि ऑचिनलेक भारतीय सेना के मित्र थे किन्तु उन्हें गलत समझा गया है ।

तीन

अनेक भूमिकाएँ

दिसम्बर १९४६ में मैंने सशस्त्र सेना राष्ट्रीयकरण समिति के अध्यक्ष सर गोपालस्वामी आयंगर का सचिव पद सँभाल लिया। मेजर जनरल के० एस० तिमैया तथा प्रतिरक्षा मामलों के विशेषज्ञ कुंजरु, इस समिति के सदस्य थे। जून १९४८ तक अपनी सेना के तीनों पक्षों में अंग्रेज अधिकारियों को हटा कर उनके स्थान पर भारतीय अधिकारियों को नियुक्त करना हमारा काम था।

इतना महत्त्वपूर्ण पद मैंने पहली बार सँभाला था और मैं इस विचार से रोमांचित हो उठता था कि निकट भविष्य में हमारी सेना पूर्णतः हमारे नियन्त्रण में होगी। अभी मैंने अपना काम प्रारम्भ भी नहीं किया था कि एक दिन नेहरू ने मुझे बुला भेजा और पूछा कि मेरे विचार से सशस्त्र सेना का राष्ट्रीयकरण कब तक सम्भव था। मैंने अपने पुराने उत्तर को ही दोहराया कि यद्यपि सैनिक दृष्टि से हमें अभी पूरा अनुभव नहीं था किन्तु राजनीतिक दृष्टि से यह राष्ट्रीयकरण तुरन्त होना चाहिए था ताकि हमारी सेना भी विदेशी दासता से तुरन्त मुक्त हो सके। यद्यपि कुछ महीने पहले नेहरू मेरे इस विचार से पूर्णतः सहमत थे कि भारत की स्वाधीनता के साथ-साथ अपनी सशस्त्र सेना का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए किन्तु इस समय कुछ बदले हुए से नजर आए। शायद इस अवधि में अनेक लोगों ने उनके मन में यह बात भर दी थी कि अभी हमारा सैनिक अनुभव परिपक्व और पर्याप्त नहीं था तथा इसलिए हमारी सेना की वागडोर अभी कुछ वर्ष और अंग्रेजों के हाथों में रहनी चाहिए। मैंने इस बात पर बल दिया कि एक स्वाधीन देश की सशस्त्र सेना पर विदेशी नियंत्रण किसी भी रूप में वांछनीय नहीं था।

अनेक अंग्रेज अधिकारियों ने हमारी समिति के सामने वयान दिया कि आगामी अनेक वर्षों तक भारतीय इस योग्य नहीं हो पाएँगे कि अपनी सेना की कमान स्वयं सँभाल सकें। कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि सैनिक परिचालन तथा आसूचना (मिलिटरी ऑपरेशन्स एण्ड इंटेलिजैन्स) जैसे महत्त्वपूर्ण पदों को सँभालने की क्षमता तथा कुशलता भारतीयों में कभी नहीं आ पाएगी क्योंकि उनकी पृष्ठभूमि ही इसके अनुकूल नहीं थी। जब हम लोगों ने पूछा

कि वह पृष्ठभूमि क्या है तो वे कोई संगत उत्तर न दे सके। जब कुंजरु ने काफी जोर डाला तो उन्होंने अपना खोखला तर्क वापस ले लिया। इस प्रकार को निराधार एवं सारहीन बातें, वे हमारी स्वतन्त्रता की धारा में गतिरोध उत्पन्न करने तथा अपने हासोन्मुख साम्राज्य की रक्षा करने की दृष्टि से कर रहे थे।

समिति के सामने ध्यान देने वाले अधिकांश भारतीय काँप रहे थे क्योंकि उनको इस बात का पूरा विश्वास नहीं होता था कि अंग्रेज भारत छोड़ कर सीधे चले जाएँगे। उन्होंने^१ अंग्रेजों के स्वर में स्वर मिला कर कहा कि अभी अंग्रेजों को कुछ वर्षों और रहना चाहिए। उन्होंने अपनी स्थिति को सुरक्षित रखने के लिए यह मध्य मार्ग अपनाया था। हाँ, इन भारतीयों में मेजर (प्रब लेफ्टी० जनरल) जे० एस० विल्लन तथा ले० कर्नल (बाद में पाकिस्तान सेना में मेजर जनरल) अकबर खान जैसे अंग्रेजों भी थे जिनका कि सेवा-रिकार्ड भी उत्तम था। इन्होंने काफी जोरदार शब्दों में कहा कि सेना का राष्ट्रीयकरण तुरन्त सम्भव था। समिति के सामने व्यक्त इनके विचार भी दृढ़, तर्कसंगत तथा देशभक्ति से पूर्ण थे।

अंग्रेज गोरखों की कमान भारतीयों के हाथ में नहीं देते थे। ऑचिनलेक ने समिति को बताया कि ऐसा नेपाल के राजा एवं गोरखा सैनिकों की इच्छा पर किया जाता था क्योंकि उनका यह धारणा था कि गोरखों की कमान केवल अंग्रेज अधिकारियों के हाथ में होनी चाहिए। मेरी दृष्टि में यह भारतीयों पर बहुत बड़ा खटन था और नेपाल की यह प्रवृत्ति (यदि सच थी) हमारी प्रतिष्ठा के लिए अपमानजनक थी। मैंने नेहरू को सलाह दी कि वह इस सम्बन्ध में नेपाल के राजा से बात करें। नेहरू भी यह सुन कर काफी क्षुब्ध हुए और उन्होंने तत्कालीन परराष्ट्र सचिव सर गिरजाशंकर वाजपेयी को इस विषय पर ध्यान करने के लिए अखिलम्ब काठमाण्डू भेजा। दो-तीन दिन बाद वाजपेयी लौट आए और उन्होंने बतलाया कि नेपाल के राजा ने इस असत्य का खण्डन किया था तथा उन्होंने असन्दिग्ध भाषा में कहा था कि यदि गोरखों की कमान भारतीयों के हाथ में हो तो उन्हें बहुत प्रसन्नता होगी। ऑचिनलेक को गलत सूचना मिली थी और उन्होंने उसे ठीक मान लिया था।

गोपालस्वामी आशंकर, कुंजरु, तिमैया और मूसा समिति के शक्ति-स्तम्भ थे। मूसा^२ को मैंने अपना सहयोगी बनाने की इच्छा प्रकट की थी और वह स्वीकार कर ली गई थी।

भारतीय सशस्त्र सेना का नियन्त्रण धीरे-धीरे अंग्रेजों के हाथ से निकल कर भारतीयों के हाथ में आ गया और भारतीय स्थल, जल और वायु सेना के

१. उनकी सखी लिखित है और आज भी उपलब्ध है।

२. दृष्टव्यः पृष्ठ ५९।

... प्रत्येक-प्रत्येक भारतीय समाज-संस्था-संस्था विरुद्ध हो गए।

भारत के समाजवादी चरण में नारायण पटेल ने जो महत्वपूर्ण भूमिका की थी, उसके लिए मैंने उनको सारी श्रेष्ठता दी थी। बाद में उनका अन्तर्-विषयगत भाव यह निकल आया कि जो महत्वपूर्ण मामलों में मुझसे विचार-विमर्श किया। १९४७ के आरम्भ की घटना है कि उनोंने भारत-राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मुझसे कहा कि कश्मीर के मुस्लिमों का भारत के प्रति अविश्वास बढ़ा अत्यन्त था। नाथ हो मुझे सुभाव भी दिया कि यहाँके नेता महाराजा से व्यक्तिगत परिवर्तन कश्मीर के मामलों में भी मेरी राय थी, इसलिए मैं महाराजा से लेते उन्हें नाराज हूँ कि यह भारत के साथ विश्वासघात करे और अन्तिम निश्चय कर लें कि उन्हें दिन प्रोद मिलना था। फलस्वरूप मैंने हीने वातनीय ही हिन्दु उनसे सोरे सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिल पया। घटनाएँ कुछ बेसी से बढ़ी प्रौर कश्मीर भारत का प्रविभाज्य अंग बन घन घटना के कुछ दिनों बाद में बीमार पड़ गया प्रौर सरदार पटेल मुझे प्राये। उस समय में लेफ्टी० कर्नल था।

सरदार पटेल प्रौर नेहरू अनेक मामलों में एकमत नहीं हो पाते थे। यथार्थवादी थे जबकि नेहरू प्रादर्शवादी। दोनों के ही अनुयायियों संख्या कम नहीं थी प्रौर दोनों की ही भूमिका काफी निर्णायक थी। भारत के दोनों ही एक समान प्रावश्यकता थी। नाजुक मामलों को सुलझाने के सिद्धांत थे। भारत की विशाल संख्यक रियासतों को एक साथ संगठित भारत के निर्माण करने का श्रेय उनकी यथार्थवादी और निश्चय प्रवृत्ति को ही है। इस राजनीतिक चमत्कार को दिखलाने में उन्हें तीन प्रमुख सिविल सेवकों—बी० पी० मेनन, विश्वनाथन और बी० शंकर—सहयोग मिला जिस प्रकार अंग्रेजी राज्य से भारत को सत्ता-स्वातन्त्र्य एच० एम० पटेल तथा एच० बी० आर० आयोगर ने योग दिया था।

सितम्बर १९४८ में हैदराबाद पर 'पुलिस एक्शन' लेते समय बी० पटेल ने अपनी इसी निश्चयात्मक यथार्थवादी प्रवृत्ति का परिचय दिया जो जनरल बुखार की चेतावनी के फलस्वरूप जो नेहरू को इस 'एक्शन' में हो रही थी, उसकी कोई परवाह नहीं की थी। पटेल तो पाकिस्तान में भी कठोर नीति का ही पालन करना चाहते थे जबकि नेहरू नरम नीति में थे। हमारे अनेक नेता जहाँ पटेल का सम्मान करते थे वहाँ उनसे ईर्ष्या थी, जबकि नेहरू का वे केवल सम्मान करते थे।

२३ मार्च १९४७ को दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। प्रथम, एशियाई सम्मेलन (एशियन रिलेशन्स कॉन्फ्रेंस), जो एशियाई क्रांति का प्रतीक

सम्मेलन था, मे भाग ले कर नेहरू ने राजनीति के अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया तथा द्वितीय, रीअर एडमिरल दि वाइकाउण्ट माउण्ट-वेटन^३ ने बेवल का स्थान ग्रहण किया। उनका सेना-परिचायन का पुराना रिकार्ड इतना अच्छा था कि द्वितीय विश्व युद्ध में दक्षिण पूर्व एशिया कमान का उन्हें सर्वोच्च कमाण्डर नियुक्त किया गया। राजनीतिक क्षेत्र में भी उनका काफी प्रभाव था क्योंकि चर्चिल से उनका घनिष्ठ परिचय था तथा इंग्लैंड के राजा के वह सम्बन्धो थे। पचास वर्ष से कम आयु के माउण्टवेटन को एटली ने २१ फरवरी १९४७ को भारत का अन्तिम वायसराय नियुक्त किया था ताकि वह अपनी देखरेख में ३० जून १९४८ तक भारत-पाकिस्तान महाद्वीप को सत्ता हस्तान्तरित कर सकें। कुछ अंग्रेज इसको 'खिमकने की तैयारी' (ड्रापैरेशन स्कटल) भी कहते हैं।

माउण्टवेटन ने अपने इस जटिल दायित्व को काफी बुद्धिमत्ता, कुशलता, उत्साह एवं सुन्दर तरीके से पूरा किया। उनकी कार्य-पद्धति^४ मौलिक और पदुतापूर्ण थी। प्रत्येक एक घण्टे की वार्ता के बाद वह पन्द्रह मिनट उसके सम्बन्ध में नोट्स लिखवाते थे ताकि भविष्य में जब भी आवश्यकता पड़े, उस वार्ता के सम्बन्ध में अधिकारी विवरण प्राप्त हो सके। इसके बाद वह अगले सेंटकर्टा से बात करते थे। अपने काम को समय के भीतर निपटाने के लिए उन्होंने दिल्ली-स्थित अपने अनेक कार्यालयों की दीवारों पर कलेंडर लटकवा दिये थे जिन पर मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा था 'सत्ता हस्तान्तरण के शेष दिन' ताकि प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्ति को तथा उनको 'प्रयाण दिवस' का स्मरण रहे। इस प्रकार उन्होंने अनेक चेतावनीपूर्ण परिस्थितियों के सामने रहते हुए भी अपना कर्तव्य समय के भीतर पूरा कर दिया।

३. बर्मा में मैंने उनके अधीन काम किया था।

४. जब दिसम्बर १९४७ में, मैं सर गोपालस्वामी आयरर का परामर्शदाता नियुक्त हुआ जो सुरक्षा परिषद् में उठने वाले कश्मीर के मामले पर भारतीय प्रतिनिधि के रूप में बोलने जा रहे थे, तो माउण्टवेटन ने नेहरू को सलाह दी कि अमरीका जाने से पहले मैं उनके प्रचाराध्यक्ष अलान कैम्पबेल जॉनसन को मिल लूँ। ५ जनवरी १९४८ को मैं कैम्पबेल से मिला। हमने कश्मीर समस्या पर काफी बात-चीत की और यह निष्कर्ष निकाला कि इस समस्या को हल करने में संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहिए। मुझे सलाह मिली की वहाँ पहुँच कर मैं ऐसा प्रचार करूँ जिससे राष्ट्र संघ में नये-नये पहुँचने वाले गोपालस्वामी आयरर को प्रसिद्धि प्राप्त हो और शेख अब्दुल्ला को अपयश। साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि योग्य प्रेस सूचना अधिकारी बी० एल० शर्मा हमारे साथ हमारे जन सम्पर्क अधिकारी के रूप में जाएँ। वहाँ से लौट कर मैं नेहरू से मिला और मैंने उन्हें सारी वार्ता बतलाई।

माउण्टबेटन भारतीयों में काफी लोकप्रिय हो गए थे। १९४७ में प्रसन्न स्वतन्त्रता दिवस के अवसर पर लोगों ने 'पण्डित माउण्टबेटन की जय' के नारे लगा कर उनका अभिवादन किया था।

कुछ ऐसे भी अवसर आये जब नेहरू के भारतीय राजनीतिक साथी उन्हें कुछ सलाह देते और माउण्टबेटन उसके विपरीत सलाह देते। इस पर कांफेस संघर्ष रहता और कई बार झड़प भी हो जाती। माउण्टबेटन नेहरू का मस्तिष्क बन चुके थे और अनेक मामलों में उनके विचारों को बदल देते थे। इससे नये भारतीय प्रशासन में कुछ सुविधाएँ भी हुईं तथा कुछ असुविधाएँ भी खड़ी हो गईं।

माउण्टबेटन की नेहरू से पहली मुलाकात १९४५-४६ में हुई और प्रथम परिचय में ही दोनों एक-दूसरे से काफी प्रभावित हुए। माउण्टबेटन का बड़ा आकर्षक व्यक्तित्व था। उन्होंने बहुत शीघ्र अपने को भारतीय वातावरण के अनुकूल ढाल लिया। इधर नेहरू के स्वभाव में भी अंग्रेजियत थी, इसलिए दोनों की काफी गहरी छानने लगी। दोनों के परिवारों में घनिष्ठ मित्रता होने का कारण यह था कि दोनों ही सुन्दर, अभिजात्य तथा बुद्धि-वैभव सम्पन्न थे। लेडी माउण्टबेटन और नेहरू इसलिए निकट थे क्योंकि उन्होंने नेहरू के एकाकी जीवन की रिक्तता को भर दिया था।

माउण्टबेटन परिवार को विदा करते समय नेहरू ने उनकी काफी भावभीनी प्रशंसा की थी। माउण्टबेटन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था :

श्रीमन्, भारत आते समय आपकी काफी प्रतिष्ठा थी किन्तु भारत में अनेक लोग अपनी प्रतिष्ठा गँवा गए। आपने यहाँ काफी कठिनाईपूर्ण एवं संकट की स्थिति में काम किया लेकिन आपकी प्रतिष्ठा उसी प्रकार सुरक्षित है। यह एक प्रशंसनीय चमत्कार है.....।

५. वाद के वर्षों में यह मित्रता अटूट रही और परस्पर मिलते-जुलते रहने से जीवित रही। जब भी नेहरू या उनकी पुत्री इंग्लैण्ड गए अथवा माउण्टबेटन पूर्व की ओर आए तो उन्होंने एक दूसरे की संगत में कुछ समय बिताने का ध्यान रखा। एक बार जब लेडी माउण्टबेटन नेहरू के यहाँ ठहरी हुई थीं तो मुझे भी भोजन के लिए आमन्त्रित किया गया। भोजन के मध्य किसी गम्भीर विषय पर बातचीत नहीं की गई। इस समय नेहरू असामान्य रूप से उपशान्त थे और उन्होंने मुझसे हँसी की वे घटनाएँ सुनाने को कहीं जो मैं उन्हें पहले सुना चुका था। मैंने कुछ चुटकुले सुनाये तथा चैम्बर्स डिक्शनरी में दी हुई White Cap (सफेद टोपी) की परिभाषा—स्वगठित सतर्कता समिति का सदस्य जो समाज के नैतिक मूल्यों के शुद्धीकरण के वहाने उन लोगों के साथ हिंसक व्यवहार करते हैं जो उनका नापसन्द हैं—सुनाई।

लेडी माउण्टबेटन को सम्बोधित करते हुए नेहरू ने कहा :

देवताओं ने या किसी भ्रमसरा ने आपको सौन्दर्य, बुद्धि, शोभा, आकर्षण तथा सजीवता जैसे महान् उपहार दिये हैं और इन गुणों से ममलकृत महिला कही भी जाए, वह एक महान् महिला है। किन्तु आपको तो उन्होंने और भी अद्वितीय उपहार दिये हैं जैसे मानव सस्पर्श, मानवता-प्रेम तथा दुःखी एवं पीड़ितों की सेवा करने की इच्छा। इन गुणों के आश्चर्य-जनक मिश्रण की परिणति है आपका उज्ज्वल व्यक्तित्व और चिकित्मक का स्पर्श। जहाँ भी आप पहुँची हैं, वहाँ तानि फैल गई है..... क्या फिर भी इसमें आश्चर्य है यदि भारतवासी आपसे प्रेम करें, आपको अपने में से ही एक समझें तथा आपके जाने पर दुःखी हों? माउण्टबेटन परिवार और हम लोग जिस बन्धन में बँध गए हैं, वह झूट है और आशा है कि हम समय-समय पर आपसे मिलते रहेंगे.....।

माउण्टबेटन परिवार ने इंग्लैण्ड और भारत की भली प्रकार सेवा की।

अपने मूल भ्रम इन्फैंट्री में, जिसमें मैंने अपना सैनिक जीवन प्रारम्भ किया था, बदली कराने की बार-बार प्रार्थना करने पर, सन् १९४६ में मुझे एक बटालियन की कमान संभालने के लिए चुना गया। किन्तु इसी समय मुझे राष्ट्रीयकरण समिति का सचिव चुन लिया गया तथा कुछ समय बाद वाशिंगटन में सैनिक सहायरी (मिलिटरी अताचे) बना दिया गया। इस समय मुझे सेना मुख्यालय में जनरल सर आयर स्मिथ, चीफ ऑफ जनरल स्टाफ, ने बुलाया और मुझसे पूछा कि मैं एक इन्फैंट्री बटालियन की कमान संभालना पसन्द करूँगा या सैनिक सहायरी बन कर वाशिंगटन जाना पसन्द करूँगा। मैंने अमन्दिग्ध शब्दों में अपनी इच्छा प्रकट की कि मैं तो इन्फैंट्री बटालियन की कमान संभालना पसन्द करूँगा। किन्तु इसके बाद अनेक तर्कों पर बर्षा हुई और मुझे सूचना दी गई कि राष्ट्रीयकरण समिति में अपना नाम पूरा कर के मुझे वाशिंगटन जाना होगा। इस प्रकार वरिष्ठ अधिकारियों के आदेश पर मुझे इन्फैंट्री बटालियन की कमान संभालने से वंचित रहना पड़ा।

जून १९४७ में भारत छोड़ने से पहले मैं नेहरू से बिदा लेने गया तो मेरे कमरेका जाने पर उन्होंने हर्ष व्यक्त किया। उन्होंने कहा कि स्वतन्त्रता-युद्ध के बीच कमरेका द्वारा दर्शाए गए निरव्यवहार का उन्हें स्मरण था और इसलिए उनकी यह इच्छा थी कि स्वतन्त्र भारत कमरेका के साथ सम्बन्ध बनाये रखे। एक स्वहस्ताक्षर-पत्राचार (जो आज भी मेरे पास है) पर उन्होंने कुछ शब्द लिख कर मेरे प्रति धूम्रकामनाएँ प्रकट कीं।

अपनी पत्नी और दोनों लड़कियों के साथ जुलाई १९४७ में एस० एस० कुइन् मेरी से मैं न्यूयार्क पहुँचा और वहाँ की 'स्वाधीनता की प्रतिमा', गगन-चुम्बी भवन तथा तेज़ दौड़ती कारों को देख कर स्तब्ध रह गया। वहाँ से हम वाशिंगटन पहुँचे।

जिस समय मैं वहाँ जमने में लगा हुआ था, उस समय भारत में काफी पहचानपूर्ण घटनाएँ घट रही थीं। इससे पहले कि वहाँ किसी प्रकार की अव्यवस्था फैले, अंग्रेज़ वहाँ से बच कर निकल जाने की जल्दी में थे। नेहरू के सामने अनेक उलझनपूर्ण समस्याएँ मुँह बाये खड़ी थीं। उन्होंने अनिच्छा से मुस्लिम लीग को इस बात पर सहमति दे दी थी कि पाकिस्तान एक पृथक् प्रभुराज्य बन सकता था वशतँ कि वह भारत के उन भागों को अपने में सम्मिलित करने का प्रयत्न न करे जो उसमें नहीं मिलना चाहते थे। वे लोग जो जाति, संस्कृति और भाषा की दृष्टि से एक थे, अब दो पताकाओं के नीचे अलग-अलग खड़े थे। इस निर्णय के फलस्वरूप होने वाले धार्मिक उपद्रवों और साम्प्रदायिक प्रचार के कारण पंजाब, बंगाल और सिन्ध के असंख्य लोग बेघरवार हो गए थे। इस प्रवास के कारण साम्प्रदायिक घृणा और उत्तेजना फैल गई जिसके परिणामस्वरूप व्याप्त मानव-व्यथा और वेदना को शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। इन झगड़ों और हत्याओं के सम्बन्ध में सबसे दुःखद बात यह थी कि इस समय सब जगह आंतरिक अशान्ति फैली हुई थी। स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों के अपने आदर्शों तथा गाँधी की शिक्षा को बिल्कुल भुला दिया। इस समय मानव जीवन और धन की कितनी हानि हुई, यह अनुमान लगाना असम्भव है। लोगों में चारों ओर उन्माद छाया हुआ था और जगह-जगह शव बिखरे पड़े थे। इसके लगभग एक वर्ष बाद नेहरू ने कहा था, '(विभाजन के लिए) हमने यह सोच कर हाँ की थी कि इस प्रकार शान्ति और सद्भावना बनी रहेगी, यद्यपि हमें इसकी कीमत काफी चुकानी पड़ी।'।

अन्ततः, बहुप्रतीक्षित स्वतन्त्रता दिवस १५ अगस्त १९४७ को आया और अंग्रेज़ी जैक के बदले भारतीय तिरंगे को फहराया गया। इस प्रकार १५० वर्ष पुराने अंग्रेज़ी राज का अंत हुआ और भारत को गोरों के बन्धन से मुक्ति मिली। देश के नाम संदेश प्रसारित करते हुए इस दिन नेहरू ने भावोद्वेलित हो कर कहा :

निश्चित दिन आ गया है—भाग्य द्वारा निश्चित दिन। काफी लम्बी निद्रा और संघर्ष के बाद आज भारत उठा है—जागरूक, सजीव, स्वतन्त्र और स्वाधीन। अतीत हमसे अभी भी चिपटा हुआ है और अपने किये गए वायदों को पूरा करने से पहले काफी कुछ करना है। फिर भी यह

प्रतीत और वर्तमान के बीच की अन्तररेखा है और यहाँ से घाने नया इतिहास लिखा जाएगा। जैसा हम करेंगे, दूसरे बैसा इतिहास लिखेंगे...

इस दिन हम सबसे पहले इस स्वाधीनता के शिल्पी राष्ट्रपिता का अभिवादन करते हैं जो भारत की प्राचीन आत्मा के मूर्त रूप है, जिन्होंने स्वाधीनता के दीप को निरन्तर प्रकाशमान रख कर हमारे चारों ओर फैले अंधकार को नष्ट किया...

नई दिल्ली में संविधान सभा में बोलते हुए उन्होंने कहा :

अनेक वर्ष पहले हमने अदृष्ट के दर्शन कर लिए थे। हमने वचन दिया था, सौगन्ध ली थी। अब वह समय आ गया है जब हमें अपने दिए वचन को वेबल पूरा ही नहीं करना है अपितु ठोस तरीके से पूरा करना है। आधी रात के समय, जब सारी दुनिया सोई होगी, भारत स्वाधीनता और जीवन प्राप्त करेगा। यह वह क्षण है—जो आता तो है किन्तु बहुत कम—जब हम पुराने को छोड़ कर नये में प्रवेश करते हैं—जब एक युग समाप्त होता है और लम्बी अवधि से सतप्त देश की आत्मा मुखर हो उठती है—इतिहास के आदि काल में ही भारत अपनी अनन्त खोज में निकल पड़ा था और उसके बाद शताब्दियों की शताब्दियाँ इसके सघर्षों, सफलताओं की गाथा से भरी हुई हैं।

(उसी दिन वाणिज्य-स्थित अपने दूतावास पर तिरंगा फहराने और उसका अभिवादन करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ। जिस क्षण अपने राष्ट्र-गीत को धुन बजी, मुझमें असीम आनन्द और गौरव की तरंगें भँकृत हो उठी। मैंने आशा की कि अब भारत का शताब्दियों पुराना आनन्द उसकी जड़ता समाप्त हो जाएँगे तथा स्वाधीन होने के बाद एक नये साहसी भारत का उदय होगा.....)

इतिहास में पहली बार सम्पूर्ण देश, हिमालय^६ से कन्या कुमारी तक—में लोकतान्त्रिक, धर्मनिरपेक्ष तथा संघीय संविधान पर आधारित शासन प्रारम्भ हुआ जिसमें आचारभूत मानव अधिकारों को इस प्रकार सुरक्षित रखा गया :

६. कुमारसम्भव में कालिदास ने हिमालय का वर्णन इस प्रकार किया है— भारत के उत्तर में है हिमालय, पर्वताधिराज, ईश्वर की भाँति आराध्य, जो पूर्व और पश्चिम में सागर तक फैला हुआ है और जो इस देश का मापदण्ड है।

- (अ) अपने विचार^१ अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता और इसमें समकालीन सरकार की आलोचना भी सम्मिलित है;
- (आ) न्यायालय शासन के नियन्त्रण से मुक्त होंगे, उनका किसी राजनीतिक दल से सम्बन्ध नहीं होगा, गरीब एवं अमीर तथा निजी व्यक्ति एवं सरकारी अधिकारी के अन्तर को भूल कर सबके साथ समान न्याय करेंगे;
- (इ) सामान्य किसान या मजदूर को भी यह अधिकार होगा कि वह परिश्रम कर के अपना जीवनयापन कर सके और कोई उसका शोषण न करे।

पक्षी आकाश में गाते हुए प्रतीत होते थे। सूर्य का प्रकाश अद्वितीय था। हमारी आँखों में एक चमक थी। हमने एक-दूसरे का अभिवादन किया। मन में आशा की किरण फूटी कि अब हम विश्व के स्वतन्त्र देशों के सामने सिर उठा कर चल सकेंगे। हमारे सब स्वप्न साकार हो उठेंगे। दूब और दही की नदियाँ बह उठेंगी। हमारे समस्त कष्ट मिट जाएँगे। लगता था जैसे हमारा पुनर्जन्म हुआ हो। अपने स्वामी हम स्वयं थे। अब हम जो चाहेंगे, वह कह सकेंगे और कर सकेंगे। शताब्दियों के बाद अब स्वतन्त्रता की साँस ले सकेंगे; अपना काम हम स्वयं करेंगे; भूख, शिक्षा एवं परिवार-नियोजन की समस्याओं को चुटकी बजाते सुलभा देंगे; अपनी नीति स्वयं निर्धारित करेंगे, किसी गुट के साथ नहीं मिलेंगे तथा विश्व के मामलों पर अपना स्वतन्त्र मत देंगे। अपने नैतिक आचरण के मान स्वयं निर्धारित करेंगे। तनिक कल्पना कीजिए कि ये सब काम अब हम स्वयं कर सकेंगे।

वे अंग्रेज, जिनके एक वायसराय लार्ड कर्जन ने निम्नलिखित डींग हाँकी थी, अन्ततः भारत से चले गए थे :

यह इंग्लैण्ड के लिए श्रेष्ठ, भारत के लिए श्रेष्ठतर तथा सम्पूर्ण प्रगतिशील सभ्य देशों के लिए श्रेष्ठतम होगा यदि यह बात प्रारम्भ में हाँकी से समझ ली जाए कि अपने अधिकृत भारतीय प्रदेशों को मुक्त करने की हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है और यह भी इतना ही असम्भव है कि हमारे वंशज इस प्रकार की किसी बात पर विचार करने को तैयार होंगे।

वन्धनमुक्त एवं स्वतन्त्र होने के बाद हम आधारशिला किस पर रखेंगे—

७. बुद्धरो विल्सन ने कहा था—'अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता सबसे बड़ी सुरक्षा है क्योंकि यदि कोई व्यक्ति मूर्ख है तो उसकी मूर्खता को प्रकाश में लाने का सबसे अच्छा उपाय यह है कि उसे बोलने के लिए प्रोत्साहित करो।'।

बालू पर या चट्टान पर, स्वप्न पर या यथार्थ पर ? क्या हम संगठित एवं अनुशासित होंगे ? अपने चरित्र-निर्माण के लिए हम कौन-से कदम उठाएँगे ? क्या हम अपने उपदेशों को व्यावहारिक रूप प्रदान करेंगे या केवल उपदेश देंगे ? क्या कठोर यथार्थ की अपेक्षा कल्पना के क्षेत्र में विचरण करेंगे ? क्या हम अपने तक ही सीमित रहेंगे या अन्य देशों के मामलों में भी टांग अड़ाएँगे ? क्या हम जनता के साथ व्यवहार करते हुए 'मैं तुमसे श्रेष्ठ हूँ' की नीति अपनाएँगे ? क्या हम सिद्धान्तवादियों (जिनसे देश भरा पड़ा है) को प्रोत्साहन देंगे या व्यावहारिक नीतियों को अपनाएँगे ? क्या हम अपनी समस्याओं को मुलभाने के लिए ठोस कदम उठाएँगे या उनकी ओर से आखे बन्द किए रहेंगे ? क्या हम अपना मूल्यांकन निष्पक्ष दृष्टि से करेंगे या नयी-नयी मिस्री सत्ता के दम्भ में डूबे रहेंगे ? ये वे प्रश्न थे जिनका उत्तर प्रथम स्वतन्त्रता दिवस को मैंने स्वयं से माँगा था ।

यह कितना बड़ा चमत्कार था कि स्वाधीनता मिलने के बाद हम भारतीयों के मन में उन अग्रजों के प्रति, जिन्होंने पाणिकर के अनुसार एक बार गीता को अर्बुद घोषित करने की सोची थी तथा और न मानूम हम पर कितने अत्याचार दिये थे, किसी प्रकार का विक्षोभ नहीं था । यह गांधी और नेहरू^६ की उदारहृदयता और सदाशयता का परिणाम था । इसमें कुछ हाथ अग्रजों (कुछ सीमा तक यूरोपवासियों) का भी था जिन्होंने भारत के नवजागरण के लिए पिछले १५० वर्षों में बहुत कुछ किया था । हमारी प्राचीन सस्कृति के पुनरुद्धार में उन्होंने बहुत महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की थी । भारत की प्राचीन विद्या में रचि लेना उन्होंने बहुत पहले शुरू कर दिया था । सन् १७८४ में, सर विलियम जोन्स ने 'एशियेटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की स्थापना की । (इन्होंने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल का अनुवाद भी किया था ।) सन् १७८५ में, विल्किन्स ने श्रीमद्भगवद्गीता का अनुवाद किया । सन् १८३७ में, प्रिंसेप ने ब्राह्मी लिपि का अर्थ स्पष्ट किया और इसके बाद ही अशोकयुगीन शिलालेखों का अध्ययन सम्भव हो सका । इन स्तम्भों में से दो को फीरोज़शाह तुगलक दिल्ली ले आया था किन्तु उनका अर्थ इससे पहले कभी स्पष्ट नहीं हो पाया था । (मोहनजोदड़ो लिपि आज भी समझ नहीं आ पाई है ।)

पुरातत्त्व क्षेत्र में जनरल कनिंघम और सर जॉन मार्शल के नाम लेने ही काफी हैं । ध्यान रखने की बात यह है कि लार्ड कर्जन (जो अपने कुछ विचारों और कामों के लिए काफी यदनाम है) ने भारत में पुरातत्त्व शोध को जीवन प्रदान किया था । उसके बाद तत्कालीन भारत सरकार के तत्वावधान में यह

६. नेहरू ने ३,२६२ दिन अंग्रेज़ी राज की जेलों में बिताये थे ।

काम डॉ० वोगेल, डॉ० ब्लाख, सर आर्रेल स्टीन^६, सर जॉन मार्शल^{१०}, (दयाराम साहनी और मजूमदार) जैसे सुयोग्य कर्तव्यनिष्ठ विद्वानों के अकथ परिश्रम ने हमारी सभ्यता की प्राचीनता और निरन्तरता को स्थापित किया। उन्होंने हमें उद्योग तथा सिंचाई व संचार के साधन और निष्पक्ष न्याय विभाग भेंट किए। उन्होंने हमें एकाकी राजनीतिक राजनिष्ठा रखने वाली आधुनिक सेना दी और सुसंगठित सिविल प्रशासन दिया जिसे हमने और विस्तृत कर लिया है। सब से महत्त्वपूर्ण देन उनकी यह है कि उन्होंने हमें दलबद्ध हो कर अनुशासन के साथ काम करना सिखलाया।

यदि भारत में क्रूर और कठोर अंग्रेज प्रशासक आए तो उदारहृदय और कर्तव्यनिष्ठ अंग्रेज भी आए जिन्होंने जीवन के विविध क्षेत्रों में हमारी अमूल्य सेवा की। यदि अंग्रेजों ने भारत को तलवार से जीता तो १९४७ में कलम से छोड़ भी दिया।

वर्षों पहले चर्चिल ने कहा था, 'यदि हम अतीत के भगड़ों को वर्तमान में ले कर बैठ जाएँ तो भविष्य के विगड़ जाने की आशंका है।' इसलिए जब हमने इंग्लैण्ड के राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निर्णय किया तो अधिकांश भारतीयों के साथ मुझे भी प्रसन्नता हुई। नेहरू (जिनको अतीत में अंग्रेजों ने तेरह वार जेल में ठूँसा था) के लिए यह बराबर वालों का साभा था जो परस्पर तनाव को कम कर के शान्ति के प्रसार में सहायता कर सकता था। वह अंग्रेजी सत्ता के प्रति राजनिष्ठा रखने के पक्ष में नहीं थे, इसलिए उन्होंने इसका भी सन् १९५० में एक संगत समाधान निकाल लिया अर्थात् राष्ट्रमण्डल में रहते हुए भी भारत को गणतन्त्र घोषित कर दिया।

यह मेरा दुर्भाग्य था कि जब देश में इतनी महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हो रही थीं तो मैं विदेश में बैठा हुआ था। धीरे-धीरे मैंने अपना काम समझना शुरू किया और वाशिंगटन के अन्तर्राष्ट्रीय समाज में मैंने जान-पहचान बढ़ानी प्रारम्भ की। मैंने अपने निवास की समुचित व्यवस्था कर ली और अपने बच्चों को एक अच्छे स्कूल^{११} में भर्ती करा दिया।

९. इस साहसी विद्वान ने विलोचिस्तान, ईरान तथा चीनो-तुर्किस्तान में भी काम किया था। कल्हण के प्रसिद्ध ग्रन्थ राजतरंगिणी में दिये अनेक स्थानों को उन्होंने पहचाना था।

१०. हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में।

११. मैंने अपनी दोनों लड़कियों को मैरिट स्कूल, एक फ्रांसीसी संस्था, में भर्ती करा दिया जिसमें अधिकांश बालक राजनयिक समाज के थे। प्रथम सत्र के बाद, जब मैं अपनी बड़ी लड़की अनुराधा की प्रगति के सम्बन्ध में अपनी उत्सुकता मिटाने स्कूल की प्रधानाध्यापिका के पास गया तो मुझे यह जान कर सुखद आश्चर्य हुआ कि उसे एक साथ दो कक्षा आगे चढ़ा दिया गया था।

कुछ दिन मैंने बैस्ट प्वाइंट स्थित घमरीकी सैनिक अकादमी में भी बिताए। वहाँ मैंने इस महान् सस्या की संरचना और परम्पराओं का अध्ययन किया। उस समय इसके कमांडेंट, जनरल मैक्सवेल टेलर थे जो बाद के वर्षों में काफी महत्वपूर्ण सैनिक और राजनयिक व्यक्तित्व सिद्ध हुए। यह अकादमी का सौभाग्य था कि उसे इस महान् सैनिक का अनुप्रेरणापूर्ण नेतृत्व मिला। सैनिक प्रशिक्षण और सैनिक विषयों के क्षेत्रों में मैंने जो कुछ वहाँ देखा, मैं उसमें बहुत अधिक प्रभावित हुआ।

फोर्ट बेनिंग (जॉर्जिया) के इन्फैण्ट्री स्कूल ने सैनिक व्यायाम-क्रम चालू कर रखा था जिसमें भाग लेने के लिए मैं भी वहाँ गया। इस इन्फैण्ट्री स्कूल की कमान मेजर जनरल माइक मो'नील के हाथ में थी। एक दिन एक अन्य विदेशी सैनिक सहचारी ने, जिनको भी इस व्यायाम-क्रम में भाग लेने के लिए आमन्त्रित किया गया था, स्कूल में एक भाषण दिया और घमरीकियों की काफी निन्दा की। इस पर मेरा उनसे काफी बाद-विवाद हो गया, इसलिए नहीं कि मैं घमरीका का कोई विशेष मित्र था अपितु इसलिए कि मैं इस बात को सिद्धान्ततः अनुचित मानता था कि कोई प्रतिधि अपने मेजबान की निन्दा करे। जब मो'नील को यह घटना मालूम हुई तो उसने मुस्करा कर (शायद वह पहली बार मुस्कराये थे) मेरे प्रति आभार प्रकट किया।

उस देश की एक विशेषता यह है कि घ्रासत घमरीकी काफी विनोदप्रिय होता है। उदाहरण के लिए, जब मैंने एक टैंकरी को रोक कर उससे डाइवर को विदेश विभाग चलने के लिए कहा तो उसने साश्चर्य पूछा, 'विदेश विभाग?'

मैंने उत्तर दिया, 'हाँ'।

'देखो मित्र, इस देश में कोई विदेश विभाग नहीं है। वह लदन में है जहाँ हमारी विदेश नीति निर्धारित की जाती है,' उसने ध्यंम्यात्मक रूप से उत्तर दिया।

एक बार की घटना है कि हम वाशिंगटन में न्यूयार्क जा रहे थे। घमरीकी स्कूल में पढ़ने के कारण अब तक मेरी दोनों लड़कियों ने याँकी (घमरीकी) उच्चारण सीखा लिया था। हम डाइनिंग कार में भोजन कर रहे थे कि मेरी छोटी लड़की चित्रा, जो उस समय चार वर्ष की थी, की दृष्टि एक घमरीकी दम्पति पर पड़ी जो सलाद खा रहे थे। चित्रा को सलाद बिल्कुल अच्छा नहीं लगता था, इसलिए उसने बड़े भोलेपन से उनसे कहा, "भाप यह घास क्यों खा रहे हैं?" बाद में वे दोनों पति-पत्नी हमारे घनिष्ठ मित्र बन गए।

श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित (नेहरू की बहन) ने घनेक भवसरो पर भारत का विदेशों में प्रतिनिधित्व किया है और बड़ी बुद्धिमत्ता से एव व्यवहार-कुशलता से अपने देश की स्थिति को प्रस्तुत किया है। उस वर्ष वह संयुक्त राष्ट्र संघ में भारतीय अधिवेशन की अध्यक्ष थी। उस समय टी० एन० कौल

उनके निजी सचिव थे। वह बड़ी गरिमा के साथ मञ्च पर पहुँची और भारत तथा अन्य अल्पविकसित देशों के पक्ष में बड़ी पटुता के साथ बोलों जिस पर सारे सदन में बहुत देर तक प्रशंसात्मक करतल-ध्वनि हुई। जिस प्रकार इस महिला ने, विश्व के चुने हुए बुद्धिमान लोगों से भरे हुए उस सदन को, अपने भाषण-कौशल तथा सवल तर्कों द्वारा अपने पक्ष में कर लिया, उसे देख कर मेरा मन गर्व से भर उठा। इसलिए, थोड़े दिन बाद घटी एक घटना से मुझे बड़ा विस्मय हुआ। एक प्रातःकाल उन्होंने मुझे वाशिंगटन में टेलीफोन किया और उस रात अपने यहाँ न्यूयार्क में भोजन करने के लिए हम दोनों पति-पत्नी को आमन्त्रित किया। उस रात उनके यहाँ भोजन करने अमरीका के अनेक प्रसिद्ध व्यक्ति आ रहे थे। इसलिए मैं और मेरी पत्नी वाशिंगटन से न्यूयार्क की लम्बी यात्रा कर के वहाँ निश्चित समय पर पहुँच गए। जिस समय हम टी० एन० कौल के कमरे में प्रतीक्षा कर रहे थे तो श्रीमती पंडित ने सन्देश भिजवाया कि हम दोनों कहीं और भोजन कर लें क्योंकि आखिरी मिनट पर उनको किसी अन्य दम्पति को भोजन के लिए आमन्त्रित करना पड़ गया था और उनकी भोजन की मेज़ पर कोई स्थान खाली नहीं था। मैंने जवाब में उन्हें कहलवाया कि इसको मैं अपना अपमान समझता था और हमने वाशिंगटन से न्यूयार्क की लम्बी यात्रा इसलिए नहीं की थी कि हम किसी अन्य स्थान पर भोजन करते फिरें। किन्तु कुछ मिनट बाद क्या देखता हूँ कि श्रीमती पंडित सीढ़ियों से नीचे चली आ रही हैं। उस समय वह काफी प्रफुल्ल चित्त थीं और उन्होंने हमारा हृदय से स्वागत किया। उस समय के उन के व्यवहार से इस बात का कोई संकेत नहीं मिलता था कि थोड़ी देर पहले उन्होंने कोई अप्रिय सन्देश भिजवाया होगा। हाँ, भोजन के लिए अपना निमन्त्रण उन्होंने दोहरा दिया। उनकी इस व्यवहार-कुशलता पर हम आश्चर्यचकित रह गए। टी० एन० कौल इस घटना के साक्षी हैं। श्रीमती पंडित काफी अनुभवी राजनयज्ञ (डिप्लोमेट) हैं।

जब मुझे वाशिंगटन में पता लगा कि पठान कवीलों ने पाकिस्तान से प्रेरणा पा कर २१ अक्टूबर १९४७ को कश्मीर पर आक्रमण कर दिया था तो मैंने ऐसा अनुभव किया कि उस समय मुझे विदेश में न हो कर कश्मीर में होना चाहिए था। इसलिए मैंने भारत के उच्चाधिकारियों से इस संबंध में निवेदन किया। कुछ समय बाद मुझे नेहरू के कहने पर उत्तर भेजा गया कि मैं तुरन्त भारत लौट आऊँ। जैसे ही मैं दिल्ली पहुँचा, नेहरू ने मुझे सूचना दी कि अगले दिन वह पुँछ जा रहे थे क्योंकि वहाँ की दुर्ग-सेना (गेरीसन) खतरे में थी और उन्होंने मुझे भी साथ चलने के लिए कहा। उस समय कश्मीर-युद्ध जोरों पर था और पुँछ में घमासान लड़ाई हो रही थी।

अगले दिन सुबह प्रधान मन्त्री का दल, जिसमें पर गोपालस्वामी आर्यंगर, शेख अब्दुल्ला, अंग्रेज परामर्शदाता जनरल रसल, जनरल करिअपा तथा एच० वी० थार० आर्यंगर थे, वायुयान से रवाना हुए। जम्मू उतरने पर हमारी मुलाकात लेफ्टी० जनरल कलवन्त सिंह से हुई जिन्होंने वहाँ की संश्रामिक स्थिति में हमें परिचित कराया। वार्ता के बीच इस सम्भावना पर काफी विचार किया गया कि क्या डोमल का पुल उड़ाया जा सकता था जिससे आक्रमणकारियों का पीछे से कोई सम्पर्क न रहे। इस काम के लिए मैंने स्वयं को आगे कर दिया। इस बाद-विवाद को नेहरू काफी ध्यान से सुन रहे थे। काफी विचार-विमर्श के बाद यह निर्णय हुआ कि इस मामले को वही छोड़ दिया जाए।

जब हम पुँछ पहुँचे तो नेहरू को सैनिक अधिकारियों ने बतलाया कि उस समय उस दुर्ग-सेना की रक्षा करना सम्भव नहीं था, इसलिए उसको छोड़ देने में ही कल्याण था। इतना सुनते ही नेहरू लाल-पीले हो गए और उन सैनिक अधिकारियों को स्मरण कराया कि भारत ने वहाँ के रहने वालों को यह वचन दिया था कि यदि वे अपने स्थान पर डटे रहे तो भारत हर कीमत पर उनकी रक्षा करेगा। अब जबकि उन्होंने भारत का विद्वान्त किया था और वे पुँछ से एक कदम भी इधर-उधर नहीं हुए तो यह भारत का कर्तव्य था कि वह अपना वचन पूरा करे। इसलिए उन्होंने असादिग्ध शब्दों में सेना को आदेश दिया कि वह हर कीमत पर पुँछ को रक्षा करे। आदेशों के प्रति नेहरू का यह आग्रह बड़ा ही प्रेरणादायक था।

कुछ दिनों बाद मैं जालंधर गया और वहाँ से मैंने लेफ्टी० कर्नल मूसा को, जो उस समय पाकिस्तानी सेना में थे और लाहौर में मौजूद थे, टेलीफोन किया। मैंने उन्हें सूचना दी कि मैं उनसे मिलना चाहता था और इसलिए वह ऐसा प्रबंध कर दें कि मैं भारत-पाक सीमा को पार कर उनके पास पहुँच जाऊँ। उन्होंने मुझे वाद दिलाया कि अब हम दोनों दो भिन्न नैनाओं में थे जो उन समय परस्पर युद्ध कर रही थी और इसलिए मुझे सीमा पार करने का कोई प्रयत्न नहीं करना चाहिए। किन्तु मैंने उनकी सलाह पर कोई ध्यान नहीं दिया और मैं घटारी नामक चौकी पर पहुँच गया। पाकिस्तानी रक्षक ने मुझ से वह परमिट दित्तवाने को कहा जिनके बग़र मैं उनकी सीमा में प्रवेश कर रहा था। अभी मैं परमिट न होने का कोई विश्वसनीय कारण सोच ही रहा था कि वहाँ का इन्चार्ज जूनियर कमीशण्ड ऑफ़िसर वहाँ था गया और मुझे देख कर उसके चेहरे पर पूर्व परिचित मुस्कान फिरक उठी। हम दोनों ने कुछ वर्ष पहले एक साथ काम किया था और इसलिए वह मेरे प्रति मित्र-भाव दर्शा रहा था। रातद हमारी सीमा पर उस दिन कोई आधिकारिक देख-भाल नहीं थी, इसलिए उतने मुझे बिना किसी कष्ट-सूनी के सीमा के उस पार जाने दिया। मैंने उसे यह बतना दिया था कि मैं लेफ्टी० कर्नल मूसा से मिलने जा

रहा था और यह वह जानता था कि मूसा और मैं अच्छे मित्र थे। शायद इसलिए उसने मेरी बात का तुरन्त विश्वास कर लिया होगा। उन दिनों भारतीयों और पाकिस्तानियों की वर्दी एक ही थी, इसलिए जब मैं पूरे आत्म-विश्वास के साथ लाहौर के सेना मुख्यालय में घुसा तो बेचारे पाकिस्तानी संतरी ने स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि मैं भारतीय सेना से संबन्धित था। पाकिस्तानी ऑफिसरों जैसी वर्दी पहने हुए और उसी प्रकार के बैज लगाये हुए देख कर उस संतरी ने मुझे पाकिस्तानी ऑफिसर समझा और बड़ी फुरती से मुझे सेल्यूट दिया। अब इसके पहले कि मैं कोई पूछताछ करूँ, मैं क्या देखता हूँ कि मैं मूसा के कमरे में खड़ा हुआ हूँ। उन दिनों उस क्षेत्र की कमान मेजर जनरल मोहम्मद इफ्तखार खान के हाथ में थी और वह बरावर के कमरे में बैठा हुआ था। मुझे देख कर मूसा बड़े असमंजस में पड़ गया। यह ठीक था कि वह मेरा घनिष्ठ मित्र था किंतु अब वह पाकिस्तानी सेना में था और इस समय दोनों सेनाओं में घमासान लड़ाई हो रही थी। यद्यपि उसने मुझे आने से काफ़ी मना किया था किंतु अब क्या किया जाए जबकि मैं सशरीर उसके सामने खड़ा हुआ था। उसने मुझसे बड़ी दृढ़ता से कहा कि विना अधिकार के पाकिस्तान में मेरा कोई काम नहीं था और मुझे तुरन्त भारत लौट जाना चाहिए था। वह चाहता तो मुझे गिरफ्तार कर सकता था। इसके बदले में उसने मुझे एक जीप में विठाया और कुछ रक्षकों की देखभाल में फिरोज़पुर^{१२} के लिए रवाना कर दिया ताकि मैं जल्दी से जल्दी भारतीय सीमा में पहुँच जाऊँ। उससे तर्क करना बेकार था, इसलिए मैं चला आया। यह मेरा सौभाग्य था कि मैं विलकुल सुरक्षित अपनी सीमा में लौट आया।

एक सप्ताह बाद बलदेव सिंह ने मुझ से कहा कि मैं पंजाब की सीमा पर दस हज़ार अनियमित गुरिल्ले (छापामार) तैनात कर दूँ। यह उस समय बहुत ज़रूरी था। विना किसी विलम्ब के मैं इस काम में जुट गया और इस काम में आज़ाद हिंद फ़ौज के सुविख्यात जनरल मोहन सिंह ने मेरी बहुत सहायता की। किंतु उच्चाधिकारी इस सेना को शस्त्र देने में हिचकिचा रहे थे। दूसरी ओर मेरी दृष्टि में निःशस्त्र सेना का कोई लाभ नहीं था। मैं इस बात पर आगे चर्चा चलाने ही वाला था कि मुझे दिल्ली से नेहरू का बुलावा आ गया। उन्होंने मुझे कहा कि मैं दो दिन के भीतर-भीतर तैयार हो कर सर गोपालस्वामी आर्यंगर का सैनिक परामर्शदाता बन कर उनके साथ सुरक्षा परिपद् चला जाऊँ। गोपालस्वामी आर्यंगर सुरक्षा परिपद् में कश्मीर के मामले पर भारतीय प्रतिनिधि मंडल के अध्यक्ष नियुक्त हुए थे। नेहरू ने कहा

१२. उन दिनों त्रिगेडियर के० उमराव सिंह फिरोज़पुर में एक त्रिगेड की कमान संभाले हुए थे।

कि जहाँ मैं कश्मीर में युद्ध करके देश की सेवा कर सकता था, वहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ में अपने प्रतिनिधि मण्डल को कश्मीर के मामले पर परामर्श दे कर प्रथम सेवा कर सकता था। इसलिए जनवरी १९४८ में, मैं अनिच्छा से अमरीका के लिए रवाना हो गया।

मेरे वाशिंगटन रवाना होने से कुछ पहले (उस समय तक कश्मीर की लड़ाई को चलते हुए तीन महीने बीत चुके थे) नेहरू ने मुझे और एयर वाइस मार्शल एस० मुकजी को एक शाम अपने घर बुलाया। उन्होंने मुकजी से हुई अपनी वार्ता का सार बतलाते हुए मुझे कहा कि मैं अमरीका जा कर मध्यम 'माइकेल वमवार वायुयान' खरीदने की सम्भावना का पता करूँ। यह बात मुझे आज तक समझ नहीं आई कि यह काम वाशिंगटन में अपने राजदूत आसिफ अली को न सौंप कर मुझे क्यों सौंपा गया!

अमरीका पहुँचने पर सरकारी रूप से किसी प्रकार की पूछताछ करने के पहले मैं इस सम्बन्ध में लुड जॉनसन^{१३} को मिला। उन्होंने मेरा हृदय से स्वागत किया और अपनी जान-बूझान के बल पर कुछ ऐसे बमबारों की वित्री का प्रबन्ध करा दिया। किन्तु न मात्रूम किस प्रकार यह समाचार विदेश विभाग तक पहुँच गया और साथ ही इंग्लैंड में भी इसकी सूचना हो गई। फलतः अमरीका के प्रतिनिधि वॉरिन ऑस्टिन और सुरक्षा परिषद् में इंग्लैंड के प्रतिनिधि मंडल के सैनिक परामर्शदाता लाड इस्मे^{१४} ने इस सम्बन्ध में मुझ से बात की। लाड इस्मे ने मुझसे कहा कि भारत और इंग्लैंड के परस्पर सम्बन्धों को देखते हुए यह अच्छा रहता यदि भारत इंग्लैंड से सैनिक सहायता माँगता। दूसरी ओर वॉरिन ऑस्टिन ने मुझसे पूछा कि यह क्या कारण था कि मैंने या हमारे राजदूत ने ये बमवार वायुयान खरीदने के लिए वहाँ के विदेश विभाग के माध्यम से बातचीत नहीं की। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि सरकारी स्तर पर काम करने में देर हो जाने की आशंका थी जबकि हमें इनकी बहुत जल्दी आवश्यकता थी इसलिए मैंने यह मार्ग पकड़ा। ऑस्टिन ने मुझे सखेद सूचना दी कि अमरीकी सरकार इस व्यावसायिक लेनदेन पर प्रतिबन्ध लगा देगी। अनपिबृत्त रूप से मैंने लुड जॉनसन को भी फँसा दिया था क्योंकि अमरीका के लिए तो भारत

१३. १९४२ में वह राष्ट्रपति रूजवेल्ट के विशेष सन्देशवाहक बन कर भारत आए थे और तब उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम में लगे हुए भारत का पक्ष लिया था। अमरीका में उनका काफी प्रभाव था और बाद में वह प्रतिरक्षा सचिव हो गए थे।

१४. इस्मे १९४७-४८ में दिल्ली में लार्ड माउण्टबेटन के चीफ ऑफ स्टाफ थे।

और पाकिस्तान के बीच कोई भेद था नहीं। मैंने तर्क दिया कि जब हमारे देश में और पाकिस्तान में युद्ध हो रहा था तो अपने देश की रक्षा करने के लिए हम सब प्रकार के उपाय काम में लाने के लिए स्वतन्त्र थे। मैंने उन्हें यह भी बतलाया कि यह बड़े दुःख की बात थी कि सामान्य से शिष्टाचार के पूरे न होने के कारण हमारा काम रोक दिया गया। किन्तु इतना कहने पर भी वॉरेन ऑस्टिन के व्यवहार में कोई अन्तर नहीं आया था और हमें कोई वायु-यान नहीं मिला।

आयंगर के उद्घाटन-भाषण के लिए सामग्री तैयार करने में, मैं तथा विदेश सेवा के 'बव्वू' हकसर रात भर लगे रहे जबकि आयंगर ने भाषण देते समय आँकड़े आदि तो छोड़ दिये और एक विद्वत्तापूर्ण भाषण भाड़ दिया जिसका उस निर्दय अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर कोई प्रभाव न पड़ा। दूसरी ओर पाकिस्तानी प्रतिनिधि मंडल के नेता सर ज़फ़रुल्ला खान ने प्रत्युत्तर में आँकड़े पेश किये और इसका काफी प्रभाव पड़ा। जब हमने आयंगर से कहा कि वह ज़फ़रुल्ला के भाषण में कही गई गलत बातों का खण्डन करें तो उन्होंने जवाब दिया कि वह बदले में किसी प्रकार की कीचड़ उछालने के लिए तैयार नहीं थे और भारत की प्रतिष्ठा^{१५} के अनुरूप ज़फ़रुल्ला के खोखले तथ्यों का कोई जवाब नहीं देंगे।

ग्रोमिको, जो उस समय सुरक्षा परिषद् में रूस के प्रमुख प्रवक्ता थे, से मिलने की मैंने प्रार्थना की। उन्होंने मुझे^{१६} अपने यहाँ भोजन पर निमन्त्रित किया। जब उनसे यह पूछा गया कि क्या वह रूस की ओर से कश्मीर के मामले में हमारा समर्थन करेंगे तो उन्होंने रहस्यमय ढंग से उत्तर दिया कि जब अंग्रेज़ जैसे चतुर लोग दो सौ वर्ष तक भारत में रहने के बाद भी भारत की समस्याओं को ठीक से न समझ पाये तब उनका देश जिसे अभी कुछ दिन पहले ही भारत से परिचय प्राप्त करने का अवसर मिला था, किस प्रकार कश्मीर जैसे मामले पर कोई ठोस कदम उठा सकता था। काफी लम्बी बातचीत के बाद, जिसमें ग्रोमिको सामान्यतः बहुत सावधान रहे, उन्होंने कहा कि रूसी प्रतिनिधि मंडल न तो इसका समर्थन करेगा और न विरोध बल्कि जिस दिन सुरक्षा परिषद् में कश्मीर के मामले पर मतदान होगा, वह अनुपस्थित हो जाएगा। (वास्तव में रूस और अमरीका, दोनों ही कश्मीर के

१५. एक बार और ऐसा ही हुआ जब १९६५ में पाकिस्तान के तत्कालीन विदेश मन्त्री भुट्टो ने सुरक्षा परिषद् में हमें गालियाँ दीं तो हमने सिर्फ 'वाक आउट' कर के ही सन्तोष कर लिया और उससे कोई प्रभावशाली बदला नहीं लिया।

१६. शेख अब्दुल्ला, जो उस समय तक प्रतिनिधि मण्डल के एक सदस्य के रूप में वहाँ पहुँच गए थे और उस समय हमारे कटूतर समर्थक थे, भी अपनी इच्छा से ग्रोमिको के यहाँ भोजन पर मेरे साथ गए थे।

सम्बन्ध में कोई निश्चित धारणा स्थिर नहीं कर पाए थे ।) ।

मेरा अनुमान है कि कश्मीर के मामले पर सुरक्षा परिषद् में कई बार बोलने का प्रयत्न किया किन्तु पाकिस्तान में उन्हें इसकी अनुमति नहीं दी । 'मेरे कश्मीर' पर किसी प्रकार का बन्दन लगाना उनको कहीं सहन हो सकता था, इसलिए निराश हो कर वह प्रवक्ता करने का उपयुक्त अवसर खोजने लगे । फरवरी में, अन्तुना ने बिना किसी तैयारी के कश्मीर के मामले को बड़े सजीव और संबोधनीय ढंग से प्रस्तुत कर के हम सबको आश्चर्यचकित कर दिया । पाकिस्तान को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा :

आप हमारी स्वाधीनता के संघिनयन कब से हो गए ? मुझे स्मरण है कि जून १९४६ में जब मैंने 'कश्मीर छोड़ो' का नारा बुलन्द किया था तो पाकिस्तान के महान् नेता मोहम्मद अली जिन्ना ने मेरे इस आन्दोलन का विरोध करते हुए कहा था कि यह आन्दोलन तो कुछ भगोड़ों का आन्दोलन था और इसलिए उनका इससे कोई सम्बन्ध नहीं था..... ।

नेहरू के संबन्ध में अन्तुना ने कहा कि उन्हें इस बात का गर्व था कि नेहरू जैसा महान् व्यक्ति उन्हें अपना मित्र कह कर पुकारता था । उन्होंने आगे कहा कि आखिर तो वह भी कश्मीरी थे और गून पानी से गाढ़ा होता है ।

यह मामला लटका रहा । दोनों ओर से अनेक वक्तव्य दिये गए किन्तु इस भगड़े का कोई निर्णय नहीं हुआ । लगभग चार महीने तक सुरक्षा परिषद् में रहने के बाद एक बात हमें स्पष्ट रूप से समझ आई कि वहाँ राजनीति का चक्कर बहुत प्रतिभता से फँता हुआ था और निष्पक्ष बात कोई भी नहीं कहता था । संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर बड़ा स्वस्थ और प्रगतिशील था किन्तु इसका पालन नहीं हो पा रहा था । इसका फल यह निकला कि कश्मीर के आक्रान्ता को पीछे हटने के लिए किसी ने नहीं कहा ।

तीस जनवरी १९४८ को मैं न्यूयार्क के होटल के अपने कमरे में आराम से सो रहा था कि वहाँ के एक सहायक ने टेलीफोन द्वारा मुझे सूचना दी कि दिल्ली में महात्मा गांधी की हत्या कर दी गई थी । इस समाचार से मैं चौंक पड़ा, मैं ही नहीं सारी दुनिया चौंक पड़ी थी । इस शान्ति-दूत को, जो ईसा मसीह के बाद सबसे महान् व्यक्ति था, और हमारे देश को स्वाधीन कराने वाला था, हमारा राष्ट्रपिता था, उसी के देशवासियों में से एक ने गोली मार दी थी । जब यह स्तम्भित कर देने वाला समाचार अस्वस्थ आशंकर को मिला तो वह लगभग मूर्छित हो गए ।

सुरक्षा परिषद् ने भी दो मिनट का मौन धारण कर के गांधी के प्रति

सम्मान प्रकट किया। उनकी दृष्टि में गांधी के भी वही आदर्श थे जो संयुक्त राष्ट्र संघ के थे। इतने सारे देशों के प्रतिनिधियों का गांधी की मृत्यु के प्रभाव में वीनों की तरह श्रद्धा से झुके होना अपने में एक अभूतपूर्व दृश्य था।

भारत में सार्वजनीन शोक मनाया गया, गांधी के प्रति भावभरी श्रद्धा-ज्जलियाँ अर्पित की गईं। अवरुद्ध वाणी और अश्रुभरी आँखों से नेहरू ने कहा:

दोस्तो और साथियो ! हमारी जिन्दगी से रोशनी निकल गई है और चारों ओर अँधेरा छा गया है। मुझे यह समझ नहीं आता कि आपको क्या बताऊँ और कैसे बताऊँ.....हमारा प्यारा नेता अब नहीं रहा.....।

इसके बाद मैंने भारत लौटने के लिए हाथ-पैर मारने शुरू कर दिए। आखिरकार आयरंगर ने अपनी स्वीकृति दे दी और मैं एस० एस० कुइन एलिजाबेथ पर सवार हो कर भारत के लिए चल पड़ा। किन्तु रास्ते में नेहरू के प्रमुख निजी सचिव एच० वी० आर० आयरंगर का केवल (समुद्री तार) मिला कि प्रधान मन्त्री की इच्छा थी कि मैं थोड़े दिन और अमरीका में अपने प्रतिनिधि मण्डल के साथ ठहरूँ। अब मेरे सामने कोई चारा न था, इसलिए जलयान से उतर कर मैं लेकर सबसेस (जहाँ मैं ठहरा हुआ था) वापस चला गया। दिल्ली लौटने के लिए मैंने अपने प्रयत्न जारी रखे और एक दिन मुझे लौटने की अनुमति मिल गई। कश्मीर पहुँचने के लिए मैं दिल्ली रवाना हो गया।

यहाँ मैं थोड़ी-सी कश्मीर की चर्चा कर दूँ और कुछ उन घटनाओं को जो इस बीच यहाँ घटी थीं। कश्मीर ८५ हजार वर्गमील के क्षेत्र में फैला हुआ है तथा इसकी जनसंख्या ४० लाख से ऊपर है जिसमें तीन-चौथाई मुसलमान हैं और एक-चौथाई हिन्दू। इसमें दो नगर हैं, ४० लाख कस्बे हैं और ६००० गाँव हैं। खनिज पदार्थों की दृष्टि से यह प्रदेश काफी धनी है और यहाँ के लोगों का प्रमुख व्यवसाय खेतीवारी है।

अंग्रेजों के भारत से जाने से पहले, ५६५ भारतीय रियासतों पर उनका आधिपत्य था। अब इन रियासतों को भारत या पाकिस्तान में से किसी एक में मिलना था। अब तक तो इनकी सुरक्षा और प्रतिरक्षा की जिम्मेदारी भारत पर थी किन्तु नए संविधान के अनुसार जो रियासतें भारत में मिलेंगी, वे भारत का अविभाज्य अंग बन जाएँगी और जो पाकिस्तान में मिलेंगी, वे उसका अविभाज्य अंग बन जाएँगी। जम्मू तथा कश्मीर की रियासत ने अपना निर्णय करने में देर दी और १२ अगस्त १९४७ को भारत और पाक के बीच हुए समझौते के

अनुसार इस प्रदेश की स्थिति को 'जैसी है वैसी ही' स्वीकार कर लिया गया। पाकिस्तान ने इस ममझौते का उल्लंघन किया और कश्मीर को भूखो मारने के लिए वहाँ तेल, चीनी, मिट्टी का तेल, नमक और खाद्यान्न भेजना बन्द कर दिया। पाकिस्तान इस प्रकार दबाव डाल कर कश्मीर को अपने में मिलाना चाहता था। किन्तु जब उसकी यह धाल व्यर्थ गई तो उसने दूसरा रास्ता अपनाया। पाकिस्तान ने अपनी मेना के नियमित सैनिकों को छुट्टी दी तथा उत्तर पश्चिम सीमान्त के कबीले वालों को भडका कर तथा उन्हें आधुनिक सस्त्रों से सन्नद्ध कर 'मंकी धरीफ' के पीर और पाकिस्तानी सेना के अधिकारियों के नेतृत्व में कश्मीर^{१०} पर आक्रमण करने के लिए भेजा। इस मिली-जुली मेना की कमान ब्रिगेडियर अकबर खान ने जनरल 'तारीख' के उपनाम से संभाली थी। २१ अक्टूबर को प्रातःकाल वे लोग मुडफराबाद में घुस आये और उन्होंने अविवेकपूर्ण ढंग से हत्या और लूटमार शुरू कर दी। रियामत के सैनिक इस आक्रामक आक्रमण को न संभाल सके और समाप्त कर दिये गए। आक्रमणकारी २३ तारीख को चिनारी पहुँच गए और २४ तारीख को उड़ी, २७ तारीख तक तो वे रामपुर और वारामूला^{११} में थे। उन्होंने वहाँ के गिरजाघर को तोड़-फोड़ दिया, मेट जोसफ कान्वेण्ट की ननो (भिक्षुणियों) के साथ बलात्कार किया और बाद में उनकी हत्या कर दी। कर्नल डाइवस अपनी पत्नी तथा छोटे बच्चों के साथ वहाँ छुट्टी पर गये हुए थे, उन सबकी हत्या कर दी गई। वारामूला से वे लोग गुलमर्ग तथा धीनगर की ओर बड़े और रास्ते में लूटमार, हत्या, बलात्कार आदि घृणित और नृशंस कर्म करते चले गए। इन दुर्घटनाओं से कश्मीर के लोगों में, जिनमें मैं भी एक था, पाकिस्तान के प्रति घृणा की भावना जाग्रत हो गई। शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कश्मीर नेशनल काँग्रेस ने महाराजा हरि सिंह को समभा-युभा कर भारत में सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए तैयार किया। फलतः, २७ अक्टूबर १९४७ को महाराजा हरि सिंह ने भारत से प्रार्थना की कि वह कश्मीर को अपने में मिला ले तथा आक्रमणकारियों को पीछे धकेलने के लिए अपनी सेना भेजे। भारत के गवर्नर जनरल ने उनकी यह अपील स्वीकार कर ली जिसके फलस्वरूप कश्मीर

१०. आक्रमणकारी कबालियों को पाकिस्तान ने संवय सहायता दी, इस बात को प्रमाणित करने के लिए पर्याप्त प्रमाण मौजूद हैं। १९४८ में तो पाकिस्तान ने भी स्वीकार कर लिया था कि उस समय की लड़ाई में इसके सेना-गुल्म कश्मीर में मौजूद थे। जिस समय मई १९४८ में उड़ी युद्ध में पाकिस्तान की फ्रण्टियर फोर्स यूनिट का एक नियमित सैनिक पकड़ा गया, मैं स्वयं वहाँ था।

१८. जहाँ नवयुवक मोहम्मद मकबूल डोरवानी का स्मारक (नेमोरियल) बना हुआ है, जो अनेक स्थानीय नागरिकों के साथ आक्रमणकारियों की बर्बरता का शिकार बना था।

भारत का अविभाज्य अंग बन गया, यह उसका संवैधानिक राज्य बन गया। हाँ, कश्मीर को यह भी कहा गया कि जब वहाँ कानून की मर्यादा स्थापित हो जाएगी और उसकी पवित्र भूमि में आक्रमणकारी^{१६} को हटा दिया जाएगा तो वहाँ के लोगों को अपनी इच्छा व्यक्त करने का अवसर दिया जाएगा। इसके बाद भारत ने अविनम्व अपनी सेना वायुमार्ग से वहाँ भेजी और श्रीनगर में बढ़ते हुए आक्रमणकारियों के नर-संहार को रोका। वारामूला ८ नवम्बर को पुनर्हस्तगत किया गया और उड़ी ११ नवम्बर को।

प्रायः पाकिस्तान यह तर्क देता है कि क्योंकि कश्मीर के लोग पाकिस्तान के साथ मिलना चाहते थे, इसलिए उन्होंने अपने राजा के निर्णय के विरोध में विद्रोह किया। यदि ऐसा ही था तो जो थोड़े से भारतीय दस्ते अक्टूबर १९४८ में श्रीनगर में उतरे, वे वहाँ नहीं उतर सकते थे और पीछे से अपना सम्पर्क नहीं बनाए रख सकते थे। साथ ही पाकिस्तानी आक्रमणकारियों का खुले दिल से स्वागत होना चाहिए था जबकि कश्मीर के लोगों ने अपनी नागरिक सेना (militia) तैयार कर के पाकिस्तान का विरोध किया। भारत ने पाकिस्तान से बार-बार अपील की कि वह उन आक्रमणकारियों को किसी प्रकार की सहायता न दे किन्तु इस प्रार्थना पर कोई ध्यान न दिया गया। यदि भारत इन आक्रमणकारियों के मूल अड्डों पर, जो पाकिस्तान में थे, आक्रमण करता तो पाकिस्तान से लड़ाई छिड़ जाती (जैसा कि १९६५ में हुआ)। कुछ समय बाद भारत ने पाकिस्तान को दृढ़ शब्दों में कह दिया कि यदि वह आक्रमणकारियों को सहायता देना बन्द नहीं करेगा और उन्हें अपनी सीमा का उपयोग करने से नहीं रोकेगा तो भारत को इस प्रकार का कदम उठाने पर विवश होना पड़ेगा जो कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुरूप था क्योंकि अपने हितों की रक्षा करने के लिए कोई भी उचित कदम उठाना उसका एक अधिकार था। पाकिस्तान ने इसका भी कोई जवाब नहीं दिया। तब भारत ने सुरक्षा परिपद् के पास औपचारिक रूप से शिकायत की।

(पाकिस्तान ने बड़े जोरदार शब्दों में यह कहा कि इसने उस आक्रमण में किसी प्रकार का भाग नहीं लिया था। सुरक्षा परिपद् ने एक सीधा-सादा प्रस्ताव पारित कर दिया कि दोनों पक्ष जिस प्रकार चाहें, स्थिति को सामान्य बनाने के लिए उस प्रकार के कदम उठा सकते हैं। इसने एक कमीशन (आयोग) भी भारत और पाकिस्तान भेजा जो यहाँ जुलाई १९४८ में पहुँचा। कमीशन को पाकिस्तान से यह सुन कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उसकी नियमित सेना जम्मू और कश्मीर में मई से युद्ध कर रही थी। जबकि सचार्ई यह है कि यह सेना बहुत दिन पहले लड़ाई में उतर आई थी। बाद

में भारत और पाकिस्तान में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि सर ऑवन डिवसन ने कहा :

२० अक्टूबर १९४७ को उपद्रवकारियों द्वारा जम्मू और कश्मीर की सीमा का उल्लंघन करना अन्तर्राष्ट्रीय नियम के विरुद्ध था और बाद में पाकिस्तानी सेना की नियमित टुकड़ियों का जम्मू और कश्मीर में प्रवेश करना भी अन्तर्राष्ट्रीय नियम का उल्लंघन था ।

भारत का कहना यह है कि जम्मू और कश्मीर में पाकिस्तान^{१०} आक्रान्ता है और इसे वहाँ से हटा जाना चाहिए । दूसरे सारे तर्क असंगत हैं ।)

अप्रैल १९४८ में अमरीका में लौट कर जब मैं मेना मुख्यालय में सैनिक सचिव मेजर जनरल पी० एन० थापर के पास पहुँचा तो उन्होंने मुझे सूचना दी कि जम्मू और कश्मीर की लड़ाई में व्यस्त एक इन्फैंट्री बटालियन की कमान मुझे सँभालनी थी । इसके दो-तीन दिन के बाद थापर ने मुझे बताया कि जम्मू और कश्मीर की सरकार ने मेरा नाम ले कर कहा था कि मैं उनकी नागरिक सेना (मिलिशा) का नेतृत्व सँभाल लूँ और इसके लिए प्रधान मंत्री तथा प्रतिरक्षा मंत्री ने अपनी सहमति दे दी थी । थापर ने यह भी बतलाया कि इस कमान में अनेक अनियमित इन्फैंट्री मिलिशा (नागरिक सेना) बटालियनों थीं और ये सब मिल कर एक नियमित इन्फैंट्री बटालियन कमान के बराबर मानी जाएंगी । आखिरी मिनट तक मैंने यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार मैं इस चक्कर से बच जाऊँ और मुझे नियमित बटालियन की कमान मिल जाए । इसके लिए मैं नेहरू से मिलने उनके घर पहुँचा और उनको यह सभ-भाया कि एक पंजेवर सैनिक के लिए इन्फैंट्री बटालियन को कमान करना कितना अनिवार्य होता है । दिन भर के थके-मोड़े नेहरू ने मुझे तेजी से उत्तर दिया कि चाहे मेरे मत में कितनी भी सैनिक बातें हों किन्तु वह इस बात से सतुष्ट थे कि मेरा कश्मीर जा कर इस नागरिक सेना की कमान को सँभालना देश के हित में था । मेरी ओर से दिये गए तर्क किसी काम न आए और वही दृष्टा जो होना था ।^{११}

२०. वह देश जिसके प्रथम और अत्यन्त चुनाव स्वतन्त्रता के १७ वर्ष बाद बड़ी सन्देहपूर्ण परिस्थितियों में हो पाए हैं ।

२१. उद्ग वर्ष में यह दूसरा अवसर था जब राष्ट्रीय हित को महत्त्व दे कर मुझे इन्फैंट्री बटालियन की कमान सँभालने से वंचित रखा गया ।

२५ अप्रैल को मैं दिल्ली में कश्मीर के लिए चल पड़ा। मेजर जनरल तिमैया भी उसी वायुयान में मेरे साथ थे। वह जम्मू और कश्मीर में हमारी सेना की कमान संभालने जा रहे थे। दो दिन बाद मैं तिमैया के साथ पुँछ पहुँचा। इस दुर्ग मेना तक वायुयान की यात्रा बड़ी संकटपूर्ण है, वायुयान को पहले तो एक घाटी के ऊपर से बड़ा चक्करदार मोड़ लेना पड़ता है और फिर एक कुटिल रास्ते पर उतरना होता है। वहाँ पास ही शत्रु की चौकियाँ भी हैं जिनसे वायुयान पर मार भी की जा सकती है। वास्तव में यह यात्रा तो राम भरोसे की जाती है।

तिमैया को पता लगा कि बड़ी संख्या में विरोधी पुँछ के निकट ही जिला (कवायली परिपद्) का अधिवेशन बुलाने वाले थे। उन्होंने यह महत्त्वपूर्ण सूचना दिल्ली सेना और वायुसेना के मुख्यालयों को पहुँचाई और उन्हें सलाह दी कि इन कवायलियों पर हवाई आक्रमण कर दिया जाए। जनरल बुशर और जनरल ग्रेसी, क्रमशः भारत और पाकिस्तान के सेनाध्यक्ष, ने एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित किया और भगवान् जाने, क्या-क्या बातें करते रहे। अखिर मैं बुशर^{२१} ने हमारी सरकार को चेतावनी दी कि यदि पठानों पर हवाई आक्रमण किया गया तो पाकिस्तान हमारी इस प्रतिहिंसात्मक कार्रवाई को युद्ध की घोषणा समझेगा। (जैसे कि हम ताश खेल रहे थे!) इस प्रकार ये पठान सुरक्षित बच गए ताकि अपनी इच्छानुसार हमसे युद्ध कर सकें। विचित्र बात यह है कि अपने जनरलों, करिअप्पा या तिमैया, के बदले विदेशी जनरल का परामर्श लेना श्रेयस्कर समझा। (इस विषय पर चर्चा करते हुए एक बार मैंने नेहरू को सलाह दी कि हमें पाकिस्तान के अड्डों को नष्ट कर देना चाहिए। नेहरू ने उत्तर दिया कि वह इस देश के विरुद्ध संग्रामिक कार्रवाइयों को बढ़ाना नहीं चाहते क्योंकि उनके परामर्शदाताओं ने उन्हें विश्वास दिलाया था कि कुछ महीनों बाद पाकिस्तान की आर्थिक स्थिति डावाँडोल हो जाएगी, क्योंकि उसकी चरमराती अर्थव्यवस्था युद्ध का भारी व्यय सहन नहीं कर पाएगी। मुझे अच्छी तरह स्मरण है कि मैंने नेहरू को समझाया था कि बड़े शक्ति गुटों में से कोई एक पाकिस्तान की आर्थिक सहायता के लिए आगे बढ़े आएगा। किसी भी देश को, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, आर्थिक कठिनाइयों के कारण मिटने नहीं दिया जाता क्योंकि कोई-न-कोई बड़ी शक्ति अपने हित-साधन के लिए उसकी आर्थिक सहायता कर देती है। बाद की

२२. इस मामले में तिमैया ने नेहरू पर काफी जोर डाला किन्तु उसका कोई फल न निकला। बुशर के तर्कों के खोखलेपन की ओर ध्यान न देकर नेहरू ने उन्हें स्वीकार कर लिया और तिमैया के तर्कों की व्यावहारिकता को समझने का प्रयत्न नहीं किया।

घटनाएँ इस बात का प्रमाण हैं कि अर्थाभाव में पाकिस्तान मिटा नहीं अपितु अधिक शक्तिशाली हो गया।)

हम उठी जा रहे थे और मैं तिमैया की जीप चला रहा था। हवा में टंढक थी और चारों ओर घनानाश की सुगन्ध फैल रही थी। जब हम माहुरा पहुँचे तो वहाँ के स्थानीय कमाण्डर ने हमें आगे बढ़ने में रोका और बतलाया कि शत्रु दूसरी ओर में सड़क काट रहा है। यहाँ भीनिबर कमाण्डर के लिए यह जरूरी था कि वह व्यक्तिगत सुरक्षा की दृष्टि में बस्तरबन्द कार (लोहे की रक्षात्मक चादरो वाली कार) में यात्रा करे। किन्तु तिमैया का विचार था कि कमाण्डर को दोन प्रकार घूमना-फिरना चाहिए कि वह अपने आदमियों को दिखलाई देता रहे। इसलिए, हमने अपनी यात्रा जीप में ही चालू रखी। जब हम एक मोड़ पर पहुँचे तो एक दक्षिण भारतीय सैनिक भागता हुआ आया और उसने हमारा रास्ता रोक लिया। वह नंगे सिर था, हाँफ रहा था, घबड़ाया हुआ था और निरुत्त ही तैनात मद्रास बटालियन में सम्बन्धित था। उसने सूचना दी कि उसका कमाण्डिंग ऑफिसर लेफ्टी० कर्नल मेनन कुछ देर पहले शत्रुओं के हाथ से मारा गया। उसने विवरण देते हुए बतलाया कि उस दिन सरेरे एक 'बाकरवाल' (सानाबदोस, यायावर) जो वास्तव में शत्रु पक्ष की ओर था किन्तु ऊपर से हमारा मित्र बना हुआ था, ने आ कर सूचना दी कि रात-ही-रात में पाकिस्तानी हमारे सैनिक मुख्यालय तक घुस आए थे और उन्होंने निकट ही पड़ाव डाला हुआ था। साथ ही उसने यह भी कहा कि यदि कर्नल चाहे तो वह उसके साथ चल कर वह जगह दिखा सकता था। वह वीर और जिज्ञासु कर्नल तुरन्त तैयार हो गया। उसने सोचा कि वह चुपके से पहुँच कर अपने शत्रु को घर दबोचेंगा। वे मुख्यालय से कुछ ही गज आगे बढ़े होंगे कि वह बाकरवाल स्वयं तो एक विद्यालयखण्ड के पीछे छिप गया और उसने मेनन को आगे बढ़ने का संकेत कर दिया। मेनन बिना किसी प्रकार का मन्देह किये आगे बढ़ता गया और शत्रु के जाल में फँस गया तथा अपने आदमियों समेत उड़ा दिया गया। केवल वह सैनिक ही यह गाथा कहने के लिए बचा था। तिमैया और मैं, यह कथन गाथा सुनते ही, जीप से कूद पड़े और घटना-स्थल की ओर भाग दूटे। शायद यह कोई अक्लमन्दी का काम नहीं था क्योंकि मेनन की भाँति हमें भी शत्रु उड़ा सकता था किन्तु युद्ध में हर काम तो अक्लमन्दी का नहीं होता। तिमैया उस स्थान के दर्शन करना चाहता था जहाँ उसके एक अधीनस्थ ऑफिसर ने अपने प्राण उत्सर्ग कर के आदर्श स्थापित किया था।

जब मैं पहली बार श्रीनगर पहुँचा तो अन्दुल्ला ने नागरिक सेना को -

कर के मेरा उनसे परिचय कराया। अब्दुल्ला ने मुझे बतलाया कि पाकिस्तान के आक्रमण करने पर यह सेना कितनी जल्दी में इकट्ठी की गई थी और उन्होंने कितनी वीरता के काम किये थे। उसने जैज़ की कथा भी सुनाई जिसने टिथवाल के निकट देश के लिए अपने प्राण बलिदान कर दिये थे। मैंने अनुभव किया कि इस सैन्य दल को अनुशासन, युद्ध-कला और निशानेबाजी में सुधारना पड़ेगा। इसलिए मैंने इसका सैनिक स्तर ऊँचा उठाने के लिए अबिलम्ब कदम उठाए। (यह तो मानना पड़ेगा कि कश्मीर के नेताओं ने बहुत कम समय में इतना विशाल [नागरिक] सैन्य दल इकट्ठा कर के प्रशंसा का काम किया था।)

सैनिक हाई कमान ने शत्रु पर दुहरी मार करने की सोची—एक, उड़ी की ओर से तथा दूसरी, हँडवारा की ओर से। दोनों सेनाओं को सफलता प्राप्त कर के डोमल-मुजफ्फराबाद के पास मिलना था। इस संग्राम के लिए मुझे नागरिक सैन्य दल की दो बटालियनों देनी थीं। समय की कमी को देखते हुए मैंने जल्दी-जल्दी दो बटालियनों तैयार कीं। यद्यपि कुछ शारीरिक रूप से निर्बल थे, कुछ ठीक से शस्त्र चलाना नहीं जानते थे तथा कुछ युद्ध-कौशल से अपरिचित थे किन्तु आगे तो उन्हें जाना ही था, इसलिए उन्हें उड़ी में १६१ ब्रिगेड तथा हँडवारा में १६३ ब्रिगेड के हवाले कर दिया गया।

तमैया और मैं १६३ ब्रिगेड के नागी पिकेट^{२३} पर पहुँचे जिसकी कमान ब्रिगेडियर (अब लेफ्टी० जनरल) हरबख्शसिंह के हाथ में थी। यह पिकेट एक पहाड़ी पर था जो आधी हमारे अधिकार में थी तथा आधी शत्रु के अधिकार में। पहाड़ी पर चढ़ कर हम वहाँ पहुँचे।

हँडवारा में संग्राम १६ मई से हुआ। एक दिन पहले नाज़िर, जो पहले वन अधिकारी था किन्तु अब सेना में था, वेश बदल कर शत्रु के अगले मोर्चे की टोह लेने गया। अपनी जान खतरे में डाल कर उसने वहाँ शत्रु के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण आसूचना (इण्टेलीजेंस) इकट्ठी की और अगले दिन लौट आया। तब हरबख्श अपना ब्रिगेड ले कर शत्रु पर दूट पड़ा और उसे टिथवाल तक खदेड़ता ले गया। १६ और १७ तारीख को मैं हरबख्श के साथ था क्योंकि मेरी एक नागरिक सेना बटालियन इस ब्रिगेड के साथ थी। यदि हमारे पास गणना विषयक सूचनाएँ पूरी होतीं तो हरबख्श और सफलता प्राप्त करता।

१८ मई को मैं उड़ी पहुँचा। १६१ ब्रिगेड का काम था कि इस्लामाबाद के उस भाग पर अधिकार कर के, जो उस समय शत्रु के अधिकार में था, डोमल की ओर बढ़े। आसूचना मिली की शत्रु रात के समय इस्लामाबाद के उस

२३. नागी, जिसके नाम पर इस पिकेट का नाम पड़ा था, एक जूनियर कमीशण्ड ऑफिसर था और कुछ देर पहले तक यहाँ दृढ़तापूर्वक अड़ा रहा था

भाग को छोड़ कर नीचे बलान में उतर जाता था। इसलिए तय किया गया कि रात के समय घबानक पावा बोल कर वहाँ अधिकार कर लिया जाए और यह काम 'सिकण्ड डोगराज' को सौंपा गया।

घात्रमण में एक दिन पहले जब मैं उड़ी^{१४} पहुँचा, तो देखा कि हमारे धादमी शत्रु की गोलाबारी के गिकार हुए थे तथा उसमें काफी हानि हुई थी। जब ब्रिगेड कमाण्डर और मैं 'फोर्ट' नामक क्षेत्र में शत्रु की चौकियों की टोह लगाने का प्रयत्न कर रहे थे तो हमारी नाकों में कारतूस का धुंधा धुम रहा था। 'डी डे' (घात्रमण करने का दिन) को डोगरा चुपचाप उड़ी के पुल के पास इकट्ठे हो गए और ताँस रोक कर अपनी घड़ियाँ देखते रहे। उस समय वहाँ स्मशान की सी नीरवता थी और वातावरण में उत्तेजना की गंध। 'एच आवर' (घात्रमण करने का समय), जो रात के दस बजे का था, होते ही वे अपने छिपे स्थानों में निकले और पंजों के बल विशाल इस्लामाबाद की ओर बढ़ने लगे। योजना यह थी कि भोर में पहले पहाड़ी के ऊपर पहुँच जाया जाए और शत्रु को घनजाने में धर दबाया जाए। किन्तु हमारे धादमियों को ऊपर पहुँचने में थोड़ा ज्यादा समय लग गया और इस बीच शत्रु को घात्रमण की गंध मिल गई तथा उसने हमारा स्वागत करने के लिए अपना मोर्चा संभाल लिया। जब डोगरों को सड़ाई करनी पड़ गई तो ब्रिगेड कमाण्डर ने स्थिति संभालने के लिए ६/६ राजपूताना राइफल्स को भेजा। यदि इस्लामाबाद की पहाड़ी को अधिकृत करने में हमें देर न लगती और सारा काम हमारी योजना के अनुसार हो जाता तो शत्रु भाग निकलता और हम कभी के जेमल पहुँच गए होते। किन्तु अब उन्हें हमारी टोह मिल गई, उसने हमारी भावी योजना का अनुमान लगा लिया और फलतः हमें निराशा हाथ लगी।

पहली रात, राजपूताना राइफल्स के स्थिति संभालने से पहले, ब्रिगेड कमाण्डर और मैं, सारी रात ठण्ड में सिकुड़ते हुए अगले मोर्चे पर बैठे रहे थे और यह सोचते रहे थे कि २ डोगरा कितनी प्रगति कर गई होगी। कमाण्डिंग ऑफिसर तो अपने धादमियों से मीलों दूर बैठा हुआ था और इसलिए डोगरों की प्रगति के सम्बन्ध में किसी प्रकार की सूचना देना उसके वश की बात नहीं थी। उमी रात हमने हाजी पीर दर्रे पर बहुत-सी रोशनियाँ देखी और उससे हमें काफी उलभन हुई। क्या शत्रु हमारे बाजू से या पीछे से हमारे पाम पहुँच गया था या वह कहीं और जा रहा था? बाद में पता चला कि हमारा ध्यान बटाने के लिए यह शत्रु की एक चाल थी।

अगले तीन दिन मैं डिग-डोंग युद्ध में फँसा रहा। प्रमुख सड़क के उस

२४. यहाँ भी मेरी एक मिलिश बटालियन थी। मैं एक मोर्चे से दूसरे मोर्चे पर जा कर यह देखता फिर रहा था कि मेरी बटालियन कैसे काम कर रही थी।

पार शत्रु ने अपनी स्थिति काफी मजबूत कर ली थी। लेफ्टी० कर्नल (मैजर जनरल) 'स्पैरो' राजिन्द्र सिंह और मैं उस स्थान पर खड़े हुए थे। पर थोड़ी देर पहले शत्रु का प्रकोप हुआ था कि तिमैया के मुख्यालय से गोलाखानों के लेफ्टी० कर्नल ओवररोय आए और उन्होंने ब्रिगेड कमाण्डर के कमरे में पूछा क्योंकि वह उसके लिए एक महत्वपूर्ण सन्देश लाये थे। हमने उन्हें बतलाया कि ब्रिगेडियर वहाँ से थोड़ी दूर पर एक भोंपड़ी के पास थे परन्तु क्योंकि उस समय शत्रु की मशीन-गनें आग उगल रही थीं, इसलिए हमने उन्हें सलाह दी कि थोड़ी देर प्रतीक्षा करना अच्छा था और फिर हम सब साथ ही चलेंगे। ओवररोय ने इस सलाह पर हमारा मजाक उड़ाया और आगे बढ़ गए। वीरता के नशे में राजिन्द्रसिंह और मैं भी उनके पीछे हो लिये। सड़क पर हम कुछ गज चल पाये होंगे कि मशीन-गन की गोलियाँ सनसनाती हुई हमारे पास से निकल गईं। हम तुरन्त जमीन पर लेट गए ताकि गोलियाँ ऊपर से गुजर जाएँ। ओवररोय ने अब स्वीकार किया कि हमारी चेतनावनी में कुछ सत्य था।

७ सिक्ख को आदेश दिया गया कि वह २१ मई की रात को आठ बजे सड़क की बायीं ओर से आगे बढ़े और एक विशेष ऊँचाई पर पहुँच कर अपना अधिकार कर ले। शत्रु ने उन पर काफी गोलियाँ बरसाईं और वे कोई ज्यादा आगे न बढ़ सके। सड़क पर भी हमारा काफी सख्त प्रतिरोध हुआ। हमारी दाहिनी ओर की कुमायुनी सेना लेफ्टी० कर्नल (अब लेफ्टी० जनरल) खन्ना के नेतृत्व में सही सलामत आगे बढ़ गई किन्तु उसे इसलिए रोक देना पड़ा कि कहीं व्यूह-संगणना विगड़ जाने से उन पर कोई आँच न आ जाए। थोड़ी देर के व्यर्थ लड़ाई के बाद सारा ब्रिगेड ही शिथिल पड़ गया और हम कुल मिलाकर उड़ी-डोमल रोड पर ५८वें मील के पत्थर के पास पहुँच पाए।

तिमैया ने डोमल पहुँचने का वीरतापूर्ण प्रयास किया। वह स्वयं भी शत्रु नेता थे और उनके कुछ अधीनस्थ ऑफिसर भी बहादुरी से लड़े किन्तु फिर भी वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने में असफल रहे।

अगस्त में लेह के मेरीसन कमाण्डर लेफ्टी० कर्नल पृथी चन्द से एक अधिकृत विधुद्वय-सा सांकेतिक सन्देश मिला कि यद्यपि उन्हें आखरी दम तक लड़ने का आदेश मिला था किन्तु उनके पास पर्याप्त साधन नहीं थे। संदेश में उन्हें यह भी कहा कि जब तक उन्हें पर्याप्त हथियार, राशन, कपड़े आदि नहीं मिलें तब तक लेह की चौकी को सँभाले रखना उनके द्यूते के बाहर की बात थी। क्योंकि शत्रु का जोर प्रति क्षण बढ़ता जा रहा था। तिमैया को अपने अधीनस्थ ऑफिसरों के साथ सहानुभूति थी और उस समय विशेष रूप से

कोई मुसीबत में फँसा हो। उनको यह सन्देश मिला ही था कि किमी अन्य देशों से मैं उनके पास पहुँच गया। जब उन्होंने यह सन्देश पढ़ कर मुझे सुनाया तो मैंने सुभाषा कि मैं स्वयं जा कर लेह की स्थिति का अवलोकन करूँ और उन्हें रिपोर्ट दूँ। उन्होंने मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अगले दिन मैं लेह के लिए चल पड़ा। लद्दाख पहुँचने का वायु मार्ग जोशी ला से था और जोशी ला अभी भी शत्रु के हाथ में था। जब हमारा डकौता उस दर्रे के ऊपर से उड़ रहा था तो शत्रु की मशीन-गनों हम पर गरजों और हमारे वायुयान का एक पल लौड़ दिया किन्तु चालक (पाइलट) ने कुशलता से वायुयान को नीचे उतार लिया।

लेह ११,५०० फुट की ऊँचाई पर था और उसमें चारों ओर १६,००० फुट की ऊँचाई तक पिकेट (रक्षक सैन्यदल) पड़े हुए थे। उन दिनों जब हमारे वायुयान लेह में उतरते थे तो अपना इजिन इस भय से बन्द नहीं करते थे कि कहीं वह ठण्डा न पड़ जाए और फिर चालू न हो। वे अधिक-से-अधिक पन्द्रह मिनट वहाँ रुकते थे और श्रीनगर वापस चले आते थे।

लद्दाख की राजधानी पहुँच कर मैं लेपटी० कनेल पृथी चन्द ने मिली जिन्होंने लेह का ऊपरी भाग भदियों के दुरू में ही अपने अधिकार में कर लिया था। वह एक वीर और हँसमुख सैनिक थे। यहाँ हमारे लगभग ४०० सैनिक थे जबकि शत्रु के १३०० थे। २/४ गोरखा की दो कम्पनियाँ थी तथा रियासत के कुछ सिपाही थे जो पहले पाकिस्तान और कारगिल में थे किन्तु बाद में बचे-बुचे यहाँ एकट्ठे हो गए थे। इस दुर्ग सेना (गेरीसन) के पास युद्ध-सामग्री, खाद्यान्न तथा वस्त्रों का नितान्त अभाव था, पानी गर्म करना और भोजन पकाना यहाँ सचमुच एक समस्या थी। सैनिक अपने परिवारों के विषय में चिन्तित थे क्योंकि उन्हें महीनों से कोई पत्र नहीं मिला था तथा ठीक इलाज न हो पाने के कारण उनके धाव विषाक्त हो गए थे। किन्तु वे वीर एन प्रतिकूल परिस्थितियों में मैदान में डटे हुए थे और उनका साहस देखने योग्य था।

यहाँ मैं मेजर हरिवन्द से भी मिला जो २/८ गोरखा कम्पनी की कमान संभाले हुए थे। वह एक निर्भीक सैनिक थे जिनकी वीरता की अनेक गाथाएँ प्रचलित थीं। हमारी दुर्ग सेना के पास में थोड़े-से रास्त्र थे तथा थोड़ी-सी राह जबकि शत्रु ३७ इंच वाली तोप को भी यहाँ घसीट लाया था और उसे मोर्चे पर लगा दिया था। हरिवन्द ने मुझे आश्वासन दिया कि उस तोप को तो वह बेकार कर देगा और उमने अपना बचन पूरा कर के दिया। एक रात को वह अपना गुदम ले कर मोर्चे शत्रु पर दृष्ट पड़ा और तोप को बेकार कर दिया तथा तोपचियों को जान में डार दिया। उसके इन वीरतापूर्ण कार्यों तथा अन्य कार्यों के लिए मैंने तिरंगा से सिफारिश की कि

उसे महावीर चक्र प्रदान किया जाए। तिमैया ने यह सिफारिश उच्च अधिकारियों के पास भेजी और हरिचन्द्र को यह पदक मिला।

सूवेदार भीमचन्द्र थारु में था जो लेह से भी वारह मील आगे था। मैं उसमें वहाँ मिलने गया। वह वहाँ ग्रामीणों में देवता के समान पूजा जाता था क्योंकि उसने उन्हें शत्रु के कत्ले-ग्राम से बचाया था। एक दिन उसे खबर मिली कि उसके दो छोटे-छोटे बच्चों को और उसे छोड़ कर उसकी पत्नी इस संसार से विदा हो गई। इस समाचार को पा कर वह काफी परेशान हुआ और उसने कुछ दिन की छुट्टी माँगी। छुट्टी तो तुरन्त मंजूर हो गई किन्तु गाँव वालों ने अपने प्राण-रक्षक को चारों ओर से घेर लिया और उससे प्रार्थना की कि वह उन्हें छोड़ कर न जाए क्योंकि शत्रु दूसरे नर-संहार का कुचक्र खर रहा था और जिससे उसके अतिरिक्त उन्हें कोई नहीं बचा सकता था। वह विचारा बड़ी द्विविधा में फँस गया कि वह अपने मातृविहीन बच्चों के प्राण पहुँचे या इन निरीह गाँव वालों की रक्षा में डटा रहे। काफी सोच-विचार के बाद उसने थारु रुकने का निर्णय किया और अपनी चौकी पर जम गया। बाद की लड़ाई में उसने अपने आश्रितों के विश्वास की रक्षा की। उसके इन वीरतापूर्ण कार्यों के लिए मैंने सिफारिश की कि उसे वीर चक्र प्रदान किया जाए और उच्च अधिकारियों ने मेरी सिफारिश मान कर भीमचन्द्र को वीर चक्र से विभूषित किया।

इस घिरी हुई दुर्ग सेना की विपन्न स्थिति का निरीक्षण कर के मैं हैडक्वार्टर्स १९ डिवीजन लौट आया और सारी स्थिति से मेजर जनरल तिमैया को अवगत कराया।

कुछ खानाबदोश रामवन के निकट के सुम्बल गाँव की दो युवा डोगरा लड़कियों—सीता और सुखनु—को उड़ा ले गए। जब उनके पिता ने वनिहाल में स्थित राजपूत बटॉलियन के कमाण्डिंग ऑफिसर लेफ्टी० कर्नल रनवीर सिंह से सहायता माँगी तो उस वीर राजपूत ने उन लड़कियों को खोज कर लाने के लिए सैनिकों का एक दल तुरन्त खानाबदोशों से मुठभेड़ हो गई और लड़कियों को छुड़ाने के बदले वे स्वयं बन्दी हो गए। इस पर दिल्ली से आदेश दिया गया कि इस मामले की पूरी छानबीन की जाए और सम्बन्धित जाँच समिति का मुझे अध्यक्ष नियुक्त किया गया। अब्दुल्ला ने कई बार इस समिति को अपना सहयोग नहीं दिया। कुछ गवाहों के मिलने में भी काफी असुविधा रही। अब्दुल्ला ने इस मामले को राजनीतिक रूप देना चाहा। उन्होंने पदत्याग करने की धमकी दी और नेहरू से कहा कि जब तक भारतीय सेना के कुछ लोगों के

विरुद्ध सख्त कार्रवाई नहीं की जाएगी तो (कश्मीर की जनता में इसकी काफी गम्भीर प्रतिक्रिया होने की आशंका थी)। उन सैनिकों के विरुद्ध लगाये गए आरोप कभी प्रमाणित नहीं हो पाए तथा यह धमकी अब्दुल्ला की प्रिय धमकी थी जो वह समय-समय पर देते रहते थे। किन्तु भारत सरकार ने अपनी जाँच चालू रखी।

आरोप यह लगाया गया कि उन दोनों लड़कियों को गाँव से भगा कर 'पीर पचल' पर्वत-श्रेणी में इधर-उधर पैदल ले जाया गया और कई खानाबदोशों से उनका विवाह किया गया। मुझे सूचना मिली कि एक सम्भूनाथ नाम के आदमी को भी अब्दुल्ला ने श्रीनगर में कैद कर रखा था। उन दिनों अब्दुल्ला ने एक नया तरीका अपनाया था कि जो लोग उन्हें पसन्द नहीं थे, उन पर राष्ट्रीय सेवक संघ^{१५} के कार्यकर्ता होने का आरोप लगा कर वह उन्हें कैद कर लेते थे। किसी प्रकार हम सम्भूनाथ को गवाह के रूप में प्राप्त कर पाए और तब उसकी हृदय-विदारक कहानी सुनने को मिली। उसने बताया कि वह बेरीनाग नेशनल कान्फ़ेस का अध्यक्ष था और क्योंकि उसने लड़कियों की खोज में भारतीय सैनिकों के मार्गदर्शक के रूप में काम किया था, इसलिए उसे राष्ट्रीय सेवक संघ का कार्यकर्ता बता कर जेल में डाल दिया गया था। उसने कहा था कि उसे हथकड़ियाँ पहना कर पैदल घुमाया गया था। सम्भूनाथ ने कहा कि अधिकारियों ने उसकी काफी पिटाई की थी ताकि वह अपने ऊपर लगाए गए भूटे आरोपों को स्वीकार कर ले। अपने कपड़ों की पुष्टि में अपने शरीर पर अनेक चोटों के निशान दिखाए। मुझे लगा कि जैसे मैं मध्य युग की कहानी सुन रहा था। यह मामला मैंने अनौपचारिक रूप से सरदार पटेल को बताया। जब सम्भूनाथ को छोड़ा गया तो उसे भय था कि अब्दुल्ला उसका जीवन ले कर छोड़ेगा। तब मैंने उसे दिल्ली के निकट एक फैक्टरी में नौकरी दिलावाई और एक सैनिक लारी में छिपा कर दिल्ली भिजवा दिया। इस मामले के सम्बन्ध में मैंने एक कड़ी रिपोर्ट लिख कर सरकार के पास भेजी। पता लगा कि अब्दुल्ला ने जनरल बुधर से सहायता करने को कहा। बुधर ने मेरी रिपोर्ट की अवहेलना कर के उल्टे राजपूत बर्तावों के सैनिकों पर आरोप लगा दिये। खैर, बाद में इन लोगों को प्रमाण के अभाव में छोड़ दिया गया। अब्दुल्ला को सन्तुष्ट करने के लिए बुधर ने लेफ्टी० कर्नल रनवीर सिंह और थ्रिगेडियर (बाद में लेफ्टी० जनरल) विजयसिंह के प्रति भी प्रति-धोखात्मक व्यवहार अपनाया था।

२५. मुस्लिम लीग का प्रतिरूप (काउन्टरपार्ट)।

भारत के कमाण्डर-इन-चीफ के पद पर जनरल बुशर की नियुक्ति का भारतीय सेना में कोई स्वागत नहीं हुआ था । लोखार्ट और रसल जैसे सुविख्यात अंग्रेज अधिकारी शायद इसलिए नियुक्त नहीं किये गए क्योंकि वे स्पष्ट वक्ता और स्वतन्त्र विचारों के थे । दूसरी ओर बुशर का सैनिक रिकार्ड भी साधारण सा था और उन्हें कमान करने का भी कोई विशेष अनुभव नहीं था ।

एक मन्त्रणा में भाग लेने के लिए मैं कश्मीर से दिल्ली आया था और नेहरू के साथ नाश्ता कर रहा था । सामान्य वातचीत के बाद मैंने क्षमा याचना करते हुए एक नाजुक मामले पर बात छोड़ दी कि जिस समय भारत और पाक में युद्ध छिड़ा हुआ था, उसमें भारत के कमाण्डर-इन-चीफ के पद पर काम करते हुए राँय बुशर का पाकिस्तान के कमाण्डर-इन-चीफ ग्रेसी को समय-समय पर टेलीफोन करना, संग्रामिक सूचनाओं का परस्पर आदान-प्रदान करना तथा अनेक महत्त्वपूर्ण संग्रामिक मामलों पर वातचीत करना कहाँ तक संगत था ? यह कसा युद्ध था जिसमें दोनों विरोधी कमाण्डर-इन-चीफों में काफी घनिष्ठ मित्रता थी ? मैंने यह भी पूछा कि पुँछ क्षेत्र में इसके लड़ाकू पठानों पर वायु-आक्रमण के लिए मना करने में बुशर का क्या हित था जबकि वे ही पठान वाद में हमारे लिए मुसीबत का कारण बनने वाले थे ? चाहे ऐसा न करने का कोई भी कारण रहा हो किन्तु क्या युद्ध में शत्रु को छोड़ देना बुद्धिमत्ता का काम था और वह भी यह जानते हुए कि कुछ दिन बाद वह हमें मारने का आयोजन कर रहा था । अन्त में मैंने कहा कि बुशर की न तो भारतीय सेना में ही कोई प्रतिष्ठा थी और न ही ब्रिटिश वार ऑफिस में ही उनकी कोई पूछ थी । तब उनका जीवन में लक्ष्य क्या था । मैंने यह भी कह दिया कि मैंने सुना था कि वह कुछ सैनिक सामग्री प्राप्त करने के लिए इंग्लैंड जाने वाले थे किन्तु मुझे पहले ही यह मालूम था कि वहाँ से वह खाली हाथ लौटेंगे क्योंकि इंग्लैंड में उनका किसी पर इतना प्रभाव नहीं था कि वह इतना महत्त्वपूर्ण काम सम्पन्न करा लाएँ ।

बुशर के प्रति मेरे ये निन्दा-वाक्य नेहरू को बहुत बुरे लगे और उन्होंने इस विषय पर बात करने से मुझे निरुत्साहित किया । जब भी उनको कोई विषय अप्रिय लगता था तो वह इसी प्रकार का रुख अपनाते थे । वाद में मुझे सूचना मिली कि यद्यपि बुशर भारतीय सेना के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्राप्त करने गए तो थे इंग्लैंड किन्तु लौटे वहाँ से खाली हाथ ही । जब मैंने नेहरू से पूछा कि बुशर इंग्लैंड में क्या कर के आए तो उन्होंने स्वीकार किया कि वह कोई काम नहीं कर के आए । कुछ महीने बाद जब बुशर चले गए और करिअप्पा भारतीय सेना के कमाण्डर-इन-चीफ बने तो भारतीय सेना ने इस परिवर्तन का हृदय से स्वागत किया ।

जब मैंने देखा कि मेरी कमान की नागरिक सेना (मिलिश) में अद्दुल्ला

टांग झडाते थे तो मेरी उनसे काफी कहा-सुनी हुई। पदोन्नति एवं अनुशासन से सम्बन्धित मामलों में अनुचित दबाव डाला जाता था। किन्तु मैं किसी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करता था, इसलिए अब्दुल्ला की दृष्टि में अमान्य व्यक्ति (पर्सन नान प्रेटा) बन गया था। एक बार की बात है कि मैं ईद के दिन किसी संग्रामिक मोर्चे पर गया हुआ था। इसमें कुछ दिन पहले मेरी ही नागरिक सेना के एक सैनिक को भयानक अपराध के आरोप में गिरफ्तार किया गया था और उस पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चलाया जाने वाला था। अब्दुल्ला ने अपने कर्मचारियों के माध्यम से मेरे अधीनस्थ ऑफिसरों को आदेश दिया कि उस पवित्र दिन के उपलक्ष में उस आदमी को सार्वजनिक क्षमा प्रदान की जाए। बाद में पता चला कि उस अभियुक्त को भयकर दण्ड देने के बदले पुलिस में नियुक्ति मिल गई। मैंने काफी शोर मचाया किन्तु मेरी किसी ने न सुनी। सैनिक क्षेत्र में भी राजनीति का साम्राज्य था।

कुछ दिन बाद की घटना है कि एक सैनिक ने, जिसे किसी अपराध के फलस्वरूप दण्ड दिया गया था, भूल हड़ताल शुरू कर दी अर्थात् सेना में राजनीतिक हथकण्डों ने प्रवेश कर दिया। इस प्रकार की प्रवृत्ति सेना के लिए घातक है, इसलिए मैंने इस सैनिक के साथ सख्ती में पेश आने का निर्णय किया। अपने सुयोग्य स्टाफ ऑफिसर लेफ्टी० कर्नल जी० एस० पुरी को मैंने आदेश दिया कि यदि यह आदमी अपना अनशन समाप्त भी कर दे, तब भी उसे एक-दो दिन भोजन न दिया जाए और उसे पानी पर ही जीवित रखा जाए। इस प्रकार का सबक उसे भावी जीवन में लाभप्रद सिद्ध होगा। इसी बीच उसे कमर पर वजन रख कर खेल के मैदान में दौड़ाया गया। उसने बीमारी का वहाना लगाया लेकिन मैंने उसकी एक न सुनी। जब यह राजनीतिक सैनिक अपने रास्ते पर आ गया तो मुझे अब्दुल्ला के एक प्रवक्ता ने इसके साथ नर्मी से पेश आने को कहा। मैंने उसे उत्तर दिया कि इस प्रकार का कठोर व्यवहार तो इसलिए किया गया था ताकि सेना में अनुशासन-हीनता न फैलने पाए और इस प्रकार के मामलों में किसी प्रकार की दया नहीं दिखलानी चाहिए। यह सामान्य बात है कि जब भी कोई सौजन्य की अपेक्षा सिद्धान्त को अधिक महत्त्व देता है तो लोग उसे गलत समझते हैं।

गर्मियों की बात है, एक दिन अब्दुल्ला ने मुझे बुना कर कहा कि किस्तवर में साम्प्रदायिक तनाव फैला हुआ था, इसलिए मैं 'जे एण्ड के' यूनिट के कुछ सैनिक (एक विशिष्ट सम्प्रदाय के) ले कर वहाँ जाऊँ और वहाँ के स्थानीय निर्वासियों का विश्वास प्राप्त करूँ। मैंने उन्हें बतनाया कि भारतीय सेना में सैनिक दस्तों का नामांकन सम्प्रदाय के आधार पर नहीं होता, इसलिए जो भी दस्ता मुलभ होगा, उसे ले कर मैं किस्तवर पहुँच जाऊँगा। अब्दुल्ला ने इसकी शिकायत उच्च अधिकारियों से की—जैसे कि मैंने कोई अपराध किया

था—ग्रीरं मुझे तरङ्ग-तरङ्ग के स्पष्टीकरण मांगे गए। किन्तु जब उन्हें वास्तविक स्थिति का बोध हुआ कि एक साधारण-सी बात को साम्प्रदायिक पुर्ण दिया जा रहा था तो उन्होंने मेरे मामलों में हस्तक्षेप करना बन्द कर दिया।

मुझे पता चला कि अदालत खान को जो पहले जे एण्ड के सेना में लेफ्टीनैण्ट कर्नल था किन्तु विभाजन के बाद पाकिस्तान जा बसा था, अब्दुल्ला ने पाकिस्तान से वापस बुला कर किश्तवर का प्रशासक (एडमिनिस्ट्रेटर) बना दिया था। नेहरू के घर में श्रीमती कृष्णा मेहता नामक एक महिला काम करती थीं जिनके पिता किश्तवर में रहते थे, उन्होंने किश्तवर का जो चित्र मेरे सामने प्रस्तुत किया, वह अब्दुल्ला की कहानी से भिन्न था।

मैंने बटोट से १/२ पंजाब पैराट्रुपरस के लगभग एक सौ सैनिक साथ लिये और ढाई दिन तक मूसलाधार वर्षा में ६५ मील का सफर तय कर के किश्तवर पहुँच गया। लेफ्टीनैण्ट कर्नल (अब ब्रिगेडियर) 'किम' यादव उस समय वहाँ नागरिक सेना की एक बटॉलियन की कमान सँभाले हुए थे। वह एक असाधारण योग्यता के ऑफिसर थे और १९४६-४७ में लार्ड लुई माउण्ट-बेटन के परिसहायक (ए डी सी) भी रह चुके थे। किश्तवर में काफी असंतोष फैला हुआ था और उसका कारण कोई साम्प्रदायिक तनाव न हो कर अदालत खान के कारनामे थे।

वहाँ मैंने कुछ आवश्यक एवं लाभप्रद कदम उठाए जिनसे जनता के विश्वास की पुनर्प्राप्ति हो गई। इसके बाद मैं पीर पंचल होता हुआ श्रीनगर लौट आया। कश्मीर की राजधानी वापस पहुँचने में मुझे तीन-चार दिन लग गए किन्तु इस बीच अदालत खान की रिपोर्ट अब्दुल्ला के पास पहले पहुँच गई जिसमें उसने मेरी किश्तवर यात्रा का विरोध करते हुए आरोप लगाया कि मैंने वहाँ बहुत कठोर व्यवहार किया था। अपने कुप्रशासन की पोल खुल जाने पर उसने अपनी जान बचाने के लिए यह कदम उठाया था। जब अब्दुल्ला ने यह आरोप मुझे बताया तो मैंने उत्तर दिया कि ये सब निराधार बातें थीं और मैंने ऐसा कुछ नहीं किया था जिसे अनुचित कहा जा सकता था। उन्होंने नमक-मिर्च मिला कर यह रिपोर्ट नेहरू के पास भेज दी और अपनी घमकी भी दोहरा दी कि यदि इस प्रकार की घटनाएँ होती रहीं तो भारत को कश्मीर का राजनीतिक समर्थन न मिल सकेगा। साथ ही यह भी लिख दिया कि इस मामले से असन्तुष्ट हो कर उनके कुछ मन्त्री त्यागपत्र देने को तैयार बैठे थे। इस पर नेहरू का क्रोधित होना स्वाभाविक ही था। उन्होंने मुझे तुरन्त दिल्ली बुलाया और बिना मेरी बात सुने वह मुझ पर उबल पड़े, "किश्तवर में आपने जो कुछ किया है, अब्दुल्ला ने उसका सार मुझे लिख भेजा है। मुझे कुछ समझ ही नहीं आता। आप अपने आपको समझते क्या हैं? यदि आप इसी प्रकार चले तो एक दिन कश्मीर हमारे हाथ से निकल जाएगा।"

मैंने कहा, "सर, क्या आप तथ्यों से परिचित हैं?"

उन्होंने मुझे मे लात-पीते पड़ कर कहा, "मेरे लिए इतना ही जानना बहुत है कि तुम अब्दुल्ला से भगड़ पड़े हो। हम उससे साथ भगड़ा नहीं कर सकते। उ विचार था कि और लोगों की अपेक्षा तुम यह बात अच्छी तरह समझते हो।"

मैं चुप रहा। जब तथ्यों का जानना जरूरी नहीं था और राजनीति ही व कुछ थी तो मेरे पास कहने को बचा ही क्या था।

"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं?" नेहरू ने कहा।

मैंने विक्षुब्ध स्वर में उत्तर दिया, "सर, यदि आप तथ्यों को नहीं जानना चाहते और बिना मेरी बात सुने ही आपने निर्णय कर लिया है कि किश्तवर। मैंने जो कुछ किया, वह गलत था तो मेरा कुछ कहना ही व्यर्थ है।"

पहले तो नेहरू कुछ कहने वाले थे किन्तु फिर तैरा में आ कर कमरे से बाहर निकल गए।

अगले दिन सुबह नेहरू ने मुझे फिर बुलाया। इस समय उन्होंने मुस्करा कर मेरा स्वागत किया और किश्तवर में मैंने जो कुछ देखा था, उन्हें बताने के लिए कहा। इस समय वह कल से एकदम बदले हुए थे। शायद किसी ने इस बीच कुछ कहा हो। मैंने उन्हें स्मरण दिलाया कि मेरे अमरीका में लौटने पर जम्मू तथा कश्मीर सरकार की प्रार्थना पर उन्होंने मुझे राष्ट्र-हित को दृष्टि में रख कर कश्मीर भेजा था। किश्तवर में अब्दुल्ला के कहने से गया था और जो कुछ मैंने वहाँ देखा, उससे मेरे रोगटे टड़े हो गए थे। उग दूरस्थ जिले में कुमशासन का साम्राज्य था, हमारी सैनिक राइफले अनधिकृत रूप से वहाँ के स्थानीय लोगों के पास थीं जो उनका दुरुपयोग कर रहे थे, युवा लड़कियों को अनपेक्षित भगा ले जाया जाता था और अप्रिय व्यक्तियों से उनका विवाह कर दिया जाता था। और न मालूम कितने अपराध वहाँ हो रहे थे। इस प्रकार के अनेक मामले मैं अपनी रिपोर्ट में उच्चाधिकारियों के सामने रखने जा रहा था और यदि परिस्थिति को देखते हुए उपयुक्त कदम न उठाया गया तो वह दिन दूर नहीं था जब अब्दुल्ला "हमें ही माँखें दिखानी शुरू कर देंगे।"

एक अवसर पर मैंने नेहरू के सामने उन अनेक असंगत एवं अनुचित कार्र-बादियों का विवरण प्रस्तुत किया जो अब्दुल्ला के शासन में हो रही थीं। मेरी सारी बातें नेहरू ने शान्तिपूर्वक सुनीं। ईर्ष्यावाद उन्होंने मुझे कश्मीर की जटिल राजनीति और उसके अनेक उलझनपूर्ण पक्षों को समझाया तथा कहा

२६. मैंने नेहरू को स्मरण दिलाया कि १९३७ तक तो अब्दुल्ला कश्मीर के कुछ साम्प्रदायिक दलों के नेता थे और जब १९३८ में प्रथम कांग्रेस मन्त्रिमण्डल बने तो उन्होंने भविष्य को समझ कर रातों-रात राष्ट्रवादी का परिवेश धारण कर लिया था।

कि उस समय अब्दुल्ला ने मित्र-भाव बनाये रखना बहुत अनिवार्य था। उस समय अग्रिम घटनाओं के विषय में जान कर उन्हें बहुत दुःख हुआ किन्तु उस समय किसी प्रकार का कदम उठाने में वह असमर्थ थे। फिर उन्होंने मुझे बुलाने का उद्देश्य बतलाते हुए कहा कि अब्दुल्ला ने मुझे कश्मीर से हटाने की माँग की थी क्योंकि मैं उनके काम में अड़चन डाल रहा था। नेहरू ने कहा कि यद्यपि मैं निर्दोष था किन्तु वह अब्दुल्ला की प्रार्थना को नहीं टुलना सकते थे क्योंकि वह कश्मीर के प्रधान मन्त्री थे और मैं उनसे भगड़ पड़ा था। उन्होंने आगे कहा कि अब्दुल्ला को हटाने के बदले मुझे (एक व्यक्ति को) हटाना^{१७} सरल था। साथ ही नेहरू ने मुझे बतलाया कि यदि एक सरकार के प्रमुख और एक सामान्य व्यक्ति में संघर्ष हो जाए तो सामान्य व्यक्ति को पीछे हटना पड़ता है। इसलिए मुझे कश्मीर से हटा कर कहीं और भेजा जाएगा लेकिन प्रयत्न यह किया जाएगा कि मैं कश्मीर के आसपास ही रहूँ। तब उन्होंने अपने निर्णय की सूचना आर्मी चीफ को भेज दी और उसकी नक़द मुझे। मैंने कश्मीर^{१८} अक्टूबर १९४८ में छोड़ा। मैंने वहाँ बहुत कुछ सीखा था—युद्ध के विषय में भी और राजनीति के विषय में भी।

कश्मीर से लौटने पर, अक्टूबर १९४८ में, मुझे जालंधर स्थित ११ इन्फैंट्री ब्रिगेड की कमान सौंपी गई। अपने इस मूल अंग (पेरेंट आर्म) से मैं कांसी दिन अलग रहा था। यद्यपि बीच की अवधि में रहा तो मैं सैनिक सेवा और (आर्मी सर्विस कोर्स) में था किन्तु अनुभव मैंने युद्ध-क्षेत्र में रह कर कमान सँभालने का तथा अन्य क्षेत्रों का भी प्राप्त किया था। उदाहरण के लिए, कोयटा स्टॉफ कॉलेज का पाठ्यक्रम कर लिया था, कराची के इंटीलीजेन्स स्कूल में प्रशिक्षक रहा था, सेना मुख्यालय में जन सम्पर्क का काम किया था तथा स्टॉफ का काम भी किया था, सशस्त्र सेना राष्ट्रीयकरण समिति का सचिव रहा था, वाशिगटन में सैनिक सचिव (मिलिटरी अटैचे) रहा था, सुरक्षा परिषद में अपने प्रतिनिधि मण्डल का सैनिक परामर्शदाता रहा था, (बर्मा संग्राम में) मोटर ट्रांसपोर्ट बटालियन का कमान किया था तथा जम्मू एवं कश्मीर के संग्राम में मिलिशिया (इन्फैंट्री) की अनेक बटालियनों की कमान सँभाली थी।

२७. किन्तु अब्दुल्ला को पाँच वष वाद राष्ट्र-विरोधी काय करने पर दण्ड दस्त्य कर दिया गया था।

२८. जम्मू तथा कश्मीर में १९४८ में जो कुछ घटा, उसके लिए अब अब्दुल्ला जिम्मेदार थे, न कि वरन्शी गुलाम मोहम्मद। धीरे-धीरे दोनों में फूट बढ़ती गई। अनेक मामलों में वरन्शी को परिस्थितिवश अब्दुल्ला के सामने चुप रहना पड़ता था जैसे ऐसे मामले बहुत कम थे जिन पर दोनों सहमत रहे हों।

मेरे अधीन लगभग ४००० आदमी थे जिनमें २ मराठा, १ डोगरा, २ इटाल तथा अन्य आदमी थे। मेरा काम था फिरोजपुर-पठानकोट के बीच में भारत-पाक सीमा के एक भाग की प्रतिरक्षा करना। यह मेरे लिए बड़ी रसन्नता और गौरव का विषय था क्योंकि धब मेरी कार पर पताका फहराती थी और एक स्टार होता था।

सबसे पहले मैंने अपने व्यूह-कौशल को सुधारा और अपने सप्लाय कार्य को समझा। इसके लिए मैंने भारत-पाक सीमा के अनेक दौरे किये और इस भू-खण्ड का गहराई में अध्ययन किया। साथ ही मैंने अपने कमाण्डिंग ऑफिसरों से भी यही करवाया। मैं इस बात को समझता था कि मेरे सैनिक दस्तों को व्यूह-कौशल के साथ शरीर से स्वस्थ और कुशल निरानेवाज होना चाहिए। इसलिए मैंने उनमें जालंधर से व्यास तक और फिर व्यास से जालंधर तक, ५६ मील का प्रगतिशील हट मार्च करवाया और रास्ते में बहुत कम समय के लिए रुकने दिया। इसका मैंने विशेष ध्यान रखा कि मैं तथा मेरे ऑफिसर भी उनके साथ मार्च करें। तब मैंने अपने ब्रिगेड को निरानेवाजी और अन्य प्रशिक्षण में लगा दिया। उन्हें अनेक सप्लायक अभ्यास कराए, रात्रि में सप्लायक दृष्टि से आगे बढ़ना और गश्त लगाने का अभ्यास कराया तथा युद्ध-सम्बन्धी अनेक अभ्यासों एवं ड्रिलों पर जोर दिया। कम राशन में गुजारा करने, प्रतिकूल मौसम में काम करने तथा अनेक शारीरिक कष्ट सहने का मैंने अपने दस्तों को प्रशिक्षण दिया। साथ ही अप्रत्याशित स्थिति^{१६} का मुकाबला करने के लिए उन्हें तैयार किया।

कुछ महीने बाद मेजर जनरल सन्त सिंह ने, जिनके हाथ में चार इन्फैण्ट्री रिजीमन्ट की कमान थी और मैं भी जिनके अधीन था, मुझे कहा कि मैं अपने ब्रिगेड में नदी पार करने का तथा हथगोलों से सुरंग बनाने का प्रदर्शन कराऊँ। यह सब कुछ चल ही रहा था कि ३१ दिसम्बर १९४८ को जम्मू तथा कश्मीर में युद्ध-विराम की घोषणा हो गई। शायद यह सोच कर हमने युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया था कि हमने विश्व में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। प्रतिष्ठा तो बढ़ी नहीं, हाँ सिर-दर्द जरूर बढ़ गया।

देश के विभाजन के समय हमें जन और धन की काफी हानि हुई थी, असह्य लोग मारे गए व असह्य बेघरवार हो गए। मेना के अधिकारियों को तो हमने रहने के लिए क्वार्टर आदि दे दिए थे किन्तु जबानी के लिए ऐसा कोई प्रबन्ध

२९. अनुशासन, समारोह सम्बन्धी ड्रिल, प्रबन्ध, सुविधाओं और खेलों की ओर भी मैंने विशेष ध्यान दिया।

नहीं कर पाये थे और वे बेचारे अपने परिवार से दूर एकाकी जीवन व्यतीत कर रहे थे। ऑफिसरों और जवानों के बीच इस असमानता से मैं काफी चिन्तित था। एक शाम को मैं अपनी पत्नी और दोनों लड़कियों के साथ घूम रहा था कि एक जवान ने मुझे अभिवादन किया। मैंने एक कर उसमें कुछ बातचीत की तथा उसके परिवार की कुशलता पूछी। उसने बतलाया कि उसकी पत्नी और उसका बच्चा बहुत दूर गाँव में रहते थे और पिछले सात वर्षों में वह कभी छोटी-मोटी छुट्टी पर ही वहाँ जा पाया था। द्वितीय विश्व युद्ध छिड़ने पर १९४० में वह मोर्चे पर पहुँच गया था और वहाँ से १९४३ में लौटा था।

उसकी दयनीय स्थिति देख कर मेरा मन रो उठा। एक तो मैं या जो अपने परिवार के साथ आराम से रह रहा था और एक वह जवान था जो अपने बाल-बच्चों से दूर संग्रामिक मोर्चे पर वर्षों से अकेला पड़ा हुआ था। एक रात को जब मैं लेटे हुए एन रेण्ड की पुस्तक 'फ़ाउण्डेशनहैंड' पढ़ रहा था तो उसमें वर्णित एक वास्तुशिल्पी (आर्चिटेक्ट) का संघर्ष पढ़ कर सोच में डूब गया कि क्या मैं एक छोटी-सी कॉलोनी नहीं बना सकता था जिसमें मेरे जवान सपरिवार रह सकें। यद्यपि मुझे भवन-निर्माण का कोई ज्ञान नहीं था किन्तु मैंने अपने खाली समय में इस दिशा में सोचना शुरू कर दिया। जब हिसान-किताब लगा कर देखा तो अपेक्षित साधनों की विशाल मात्रा को देख कर मेरी आँखें फटी-की-फटी रह गईं। मैं सोचने लगा कि बिना धन, बिना ज़मीन, बिना किसी अन्य साधन के मैं अपने विचार को व्यावहारिक रूप किस प्रकार दे सकूँगा? इस चिन्ता में मैं सारी रात सो न सका।

अगले दिन सुबह मैंने अपने सब कमाण्डिंग ऑफिसरों को इकट्ठा किया और उनके सामने अपना विचार रखा। इससे तो वे भी सहमत थे कि इस दिशा में कुछ-न-कुछ करना चाहिए, इसलिए हमने फ़ैसला किया कि अपने मुख्यालय के निकट जो सरकारी ज़मीन बेकार पड़ी हुई थी, उस पर तुरन्त अधिकार कर लिया जाए। इसके बाद हमने सीमेंट, ईंट, कोयला, रेत, लकड़ी, शीशा आदि का प्रबन्ध किया। अपने कमाण्डिंग ऑफिसरों में से कुछ का एक दल बना दिया और उनको इस निर्माण की देखभाल का काम सौंप दिया। उनके अर्पण परिश्रम और अनन्य सहयोग के बिना यह पवित्र अनुष्ठान कभी सम्पन्न नहीं हो सकता था।

मेरे ब्रिगेड के जो ऑफिसर और जवान द्वितीय विश्व युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुए थे, उनके सम्मान में इस नव-निर्मित कॉलोनी के प्रवेश-द्वार पर मैंने ये शब्द लिखवा दिए :

TO THE MEMORY OF THOSE WHO DIED SO
THAT OTHERS MAY LIVE

(उनकी स्मृति में जिन्होंने अपना जीवन इसलिए बलिदान किया कि दूसरे जीवित रह सकें) ।

अफसर के दीन-ए-इगाही के आधार पर मैंने इस कॉलोनी में सब धर्मों—हिन्दू, इस्लाम, सिख तथा ईसाई—के लिए एक मिश्रित प्रार्थना-भवन बनवाया तथा अपने ब्रिगेड के सब सम्प्रदाय वालों ने कहा कि वे एक-दूसरे के धार्मिक उत्सवों में समान रचि में भाग लें । इस प्रकार वे सब लोग एक-दूसरे के काफी निकट आ गए । इन अवसरों पर सब धर्मों के पंडित एक साथ मिल कर प्रार्थना किया करते थे जैसे कि सब के धर्म एकरूप हों और उनमें किसी प्रकार का कोई संघर्ष न हो । इसके दोषोबीच मैंने सब धर्मों की एकता के प्रतीक के रूप में अशोक स्तम्भ खड़ा करवा दिया जो दिल्ली के एक विशेषज्ञ ने मुझे बना कर दिया था ।

इस परियोजना का नाम मैंने 'जवानावाद' रखा जिसका अर्थ है साधारण सैनिक का घर । मैं किसी को प्रसन्न करने के लिए इसका नाम किसी सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ या उच्च सैनिक कमाण्डर के नाम पर रखने के लिए तैयार नहीं था, जैसा कि सामान्यतः हमारे देश की प्रथा है । इस कॉलोनी की मडकों के नाम भी मैंने इस ब्रिगेड के उन जवानों और कमाण्डरों के नाम पर रखे जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध में अपना जीवन उत्सर्ग कर दिया था । विश्व स्वास्थ्य संगठन से परामर्श कर के मैंने यहाँ एक कामचलाऊ अस्पताल भी खुलवा दिया ताकि कॉलोनी के बासी अपने परिवारों की निःशुल्क चिकित्सा करा सकें । जीवन की अन्य सुविधाएँ जुटाने का भी मैंने भरसक प्रयत्न किया जैसे स्विमिंग पूल तथा घोषण एयर थियेटर । मेरा लक्ष्य केवल एक था कि बिना किसी प्रकार का व्यय किये उन्हें जीवन की कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो जायँ ।

इस परियोजना को व्यावहारिक रूप देने में मेरे पान काफी बिल इकट्ठे हो गए जिनके भुगतान का प्रबन्ध भी करना था । इसके लिए मैंने अत्येक सम्भव मार्ग अपनाया जैसे नाटक लिखना और उन्हें मंच पर प्रस्तुत करना आदि । काफी परिश्रम करने के बाद सब बिलों का भुगतान हो पाया और यह कॉलोनी अपने में समर्थ कॉलोनी बन सकी ।

अपना सैनिक दायित्व पूरा करने के साथ-साथ इन परियोजना को पूरा किया गया । यदि कभी हमारी दिनचर्या में इस कॉलोनी-निर्माण योजना में बिम्ब पड़ा तो मैंने प्रतिस्विक्रम ममत्त लगा कर अपना कर्तव्य पूरा किया । पाँच महीने तक आधी-राती में हमने निरन्तर अपना काम चालू रखा और बीच में एकरू मिलन भी व्यर्थ न जाने दिया ।

इस अवधि में जिन लोगों का मैंने साथ दिया, उन्हें सबका मैंने ध्यान प्रकट किया । मुझे स्मरण है कि इस परियोजना को प्रारम्भ करने में पूर्व जब मैंने परेड के समय ४००० के जन-उन्मूह में पूछा कि उनके परिवारों के लिए

किये जाने वाले इस अनुष्ठान में क्या मैं उनके पूरे सहयोग की आशा कर सकता था तो उन्होंने अपनी राइफलें सिर से ऊँची उठा कर एक स्वर में उत्तर दिया, 'हाँ'। उनके इस आश्वासन से मुझे बहुत प्रोत्साहन मिला और पाँच महीने के मिले-जुले प्रयत्नों के बाद मैंने यह कॉलोनी उन्हें अर्पित कर दी।

जवानावाद, यद्यपि अविभाजित: कच्चा बना हुआ था, ११ इन्फैंट्री ब्रिगेड के जवानों एवं कमाण्डरों के साहस, दृढ़ निश्चय, दलबद्ध हो कर काम करने की भावना तथा कर्तव्यनिष्ठा का साकार रूप था। इसमें सब जातियों एवं संघर्षों के पुरुष, नारियाँ तथा बच्चे रहने वाले थे। इनका जीवन-स्तर अन्य भारतीयों के जीवन-स्तर के समान होगा। छोटे पैमाने पर मैंने अपने भावी भारत का निर्माण करने का प्रयत्न किया था।

जब नेहरू को जवानावाद के विषय में पता चला तो वह सब घर्षों के एक प्रार्थना भवन के विषय में सुन कर बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे भोजन के लिए निमन्त्रित किया और दूसरी बातों के साथ-साथ यह भी बतलाया कि हमारे लिए भारत के मुसलमानों के अतिरिक्त रूस, चीन, मध्य पूर्व, अफगानिस्तान, इण्डोनेशिया तथा पाकिस्तान के मुसलमानों का भी विश्वास प्राप्त करना बहुत अनिवार्य था।

जालन्धर स्थित पाकिस्तान का डिपुटी हाई कमिश्नर मेजर जनरल रहमान मेरा पुराना मित्र था। जब दोनों देशों में तनाव बढ़ने लगा तो उसका अपने परिवार की सुरक्षा के विषय में चिन्तित हो उठना स्वाभाविक ही था। उन्होंने मुझसे पूछा कि क्या युद्ध छिड़ने की स्थिति में मैं उनके परिवार के सुरक्षित पाकिस्तान पहुँचने का प्रबन्ध कर दूँगा। मैंने ऐसा करने का वचन दे दिया।

देश के विभाजन के समय अनेक स्त्रियाँ अपने परिवार से विछुड़ गईं और सीमा पर परेशान होती रहीं। जितनी वे अपने घर पहुँचने के लिए व्याकुल थीं, उतने ही दोनों देश (भारत और पाक) भी उन्हें उनके घर पहुँचाने के लिए प्रयत्नशील थे। किन्तु इस दिशा में प्रगति इतनी धीमी थी कि वे महिलाएँ बहुत अधिक घबड़ाने लगीं और उन्होंने रोना-धोना शुरू कर दिया।

एक दिन एक मेरे अधीनस्थ ऑफिसर मेरे पास आये और कहने लगे कि उनकी युवा पत्नी पाकिस्तान में छूट गई है तथा क्या मैं उसे भारत लाने में उनकी सहायता कर सकता था। जब सारे सरकारी तरीके असफल हो गए तो मैंने अब्दुल रहमान से कहा कि क्या वह गैर-सरकारी रूप से इस मामले में मेरी सहायता करेंगे। उन्होंने आश्वासन दिलाया कि जो कुछ भी सम्भव हो सकेगा वह करेंगे किन्तु इस काम में कुछ समय लग जाएगा। मेजर जनरल अब्दुल खान, डी०-एस०-ओ०, जो सैण्डहर्स्ट में मेरा सहपाठी था और इस समय पाकि

स्तानी सेना में चीफ ऑफ जनरल स्टॉफ था, के नाम एक पत्र लिख कर मैंने अब्दुल रहमान को दे दिया ताकि उनको मेरी सहायता करने में मरलता रहे। उस पत्र में मैंने उनमें निवेदन किया था कि वह अब्दुल रहमान की यथासम्भव सहायता करें।

अब्दुल रहमान मेरा पत्र ले कर लाहौर गए किन्तु अकबर खान में नहीं मिल पाये क्योंकि उन्हें उससे पहले ही दिन विप्लव द्वारा पाकिस्तान की राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करने का निष्फल प्रयत्न करने के आरोप में गिरफ्तार कर लिया गया था। अब्दुल रहमान अविलम्ब जालधर लौट आए और मुझे अकबर खान की स्थिति से परिचित कराते हुए कहा कि वह पत्र उन्होंने नष्ट कर दिया था। इन परिस्थितियों में मैं अब्दुल रहमान पर भी इस काम के लिए अधिक दबाव न डाल सका।^{३०}

इस घटना के कुछ पहले एक विद्वस्त व्यक्ति ने मुझे बतलाया था कि काफी सोचने-विचारने के बाद मेजर जनरल अकबर खान ने यह निष्कर्ष निकाला था कि पाकिस्तान की बढ़ती हुई समस्याओं को हल करने का एक ही रास्ता था और वह था सैनिक तानाशाही का होना। जनरल 'तारीख' के छप नाम से कश्मीर युद्ध में पाकिस्तानी सेना का वीरतापूर्वक नेतृत्व करने के कारण वह सार्वजनिक नेता बन गया था और काफी लोकप्रिय था। इसलिए उसने राज्य-विप्लव करने की सोची। उसके काम करने का ढंग इस प्रकार था :

सेना के ऑफिसरों से अनौपचारिक बातचीत करते हुए वह उनके सामने पाकिस्तान की विपम परिस्थितियों का सजीव चित्र प्रस्तुत करता था। जब उनमें से कुछ उसका पक्ष लेते और उसे ऐसा लगता कि वे उसके गुट में मिल सकेंगे तो वह इन ऑफिसरों को अपने घर के एक 'पवित्र' कक्ष में ले जाता और वहाँ इनका नाम अपनी सूची में लिखता। उक्त कक्ष का वातावरण

३०. कुछ मामलों में मैं अपने आदमियों या उनके परिवारों की सहायता करने में असफल रहा हूँ किन्तु कुछ में मुझे सफलता भी मिली है। उदाहरण के लिए खानस नायक प्यारसिंह के दाँत में सरत दर्द रहता था। डॉक्टरों ने उस दाँत को निकालने का निर्णय किया और ऐसा करते समय इतना खून निकल गया कि उसकी मृत्यु हो गई। मुझे इस सारे मामले का पता तब चला जब उसकी विधवा मेरे पास रोती हुई पहुँची। उसने बताया कि उसका या उसके (स्वर्गीय) पति का कोई सम्बन्धी नहीं था क्योंकि वे सभी विभाजन में हुए नर-संहार की भेंट हो गए थे। ऐसा कोई नहीं था कि जिसके पास वह इस मुसीबत की घड़ी में पहुँच जाए। थोड़ी मेहनत तो पड़ी किन्तु अपने मित्रों की उदारता के फलस्वरूप मैंने दस हजार से अधिक की राशि उसे इकट्ठी कर दी। इसमें से एक छोटा-सा घर उसे बनवा दिया और शेष धन उसके नाम से सेविंग्स एकाउंट में जमा दिया। उसके लिए नौकरी का भी प्रबन्ध कर दिया। क्योंकि अभी उसकी आयु केवल तीस वर्ष की थी, इसलिए मैंने उसके पुनर्विवाह का भी प्रबन्ध करना चाहा किन्तु वह न मानी।

किये जाने वाले इस अनुष्ठान में क्या मैं उभा
था तो उन्होंने अपनी राइफलें सिर से ऊँ
'हाँ'। उनके इस आश्वासन से मुझे वा
मिले-जुले प्रयत्नों के बाद मैंने यह कौ

जवानावाद, यद्यपि अधिकांशतः

के जवानों एवं कमाण्डरों के सह

भावना तथा कर्तव्यनिष्ठा का

धर्मों के पुरुष, नारियाँ तथा

भारतीयों के जीवन-स्तर के

भारत का निर्माण करने व

जब नेहरू को जवा

प्रार्थना भवन के विषय

निमन्त्रित किया और

लिए भारत के मुस

इण्डोनेशिया तथा

अनिवार्य था।

जालन्धर

पुराना

की स

पूछा

पतं

७००

उनकी सहा

मैंने अब्दुल रहमान

सहायता करेंगे। उन्होंने आर

वह करेंगे किन्तु इस काम में कुछ स

ज्ञान, डी०-एल०-प्रो०, जो सैण्डहस्ट

प्रतिरक्षा के अनुकूल थी। चारों ओर फँसी पहाड़ी के युद्ध के अनुकूल भाग इसके अधिकार में थे।

यह घाँफ़िरर उन दुर्गमना में सैनिक घोर सैनिक पधो वा अघ्यश था। इनका व्यवहार किसी के प्रति उदार नहीं था। जब उमरु सैनिक दस्ते नाट्यों में लड़े हुए सन् की गोमियों की बोछार गह रहे थे तो वह बिलाग में दूबा हुआ था। जिन मकान में यह घाँफ़िरर टिका हुआ था, उनके पहले मानिक ने इसमें काफी नकद रुपया एवं जवाहरात गाड़े हुए थे किन्तु अचानक युद्ध छिड़ जाने के कारण वह उनको अपने साथ नहीं ले जा सका। जब इस घाँफ़िरर को इसका पता चला तो इसने उन सम्पत्ति की रक्षा करने के बदले इस मकान में अनुचित रवि लेनी शुरू कर दी। जाने वाले महत्वपूर्ण व्यक्तियों के स्वागत में वह भोज का प्रबन्ध करता और उन्हें भर पेट दाराब पिनाता। इन सब बातों के प्रतिरिक्त उसने कुछ अन्य अनियमितताएँ भी बरती थीं।

ईव ने इन घाँफ़िरर को, प्रतिकूल परिस्थितियों में, सुयोग्य व्यक्तियों की, जिन पर अनेक का जीवन एवं सुख-चैन निर्भर था, की कमान संभालने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया था किन्तु यह उससे लाग न उठा सका। बाद में उसी अनेक अनियमितताओं में से एक के लिए उम पर सैनिक न्यायालय में मुकदमा चला और उसे पदच्युत (वर्खास्त) कर दिया गया।

कश्मीर समस्या के कारण भारत और पाक के सम्बन्ध बिगड़ते चले गए। छोटी-छोटी घटनाएँ भी पहाड़ का रूप धारण करने लगीं। यद्यपि अचिकांश देश अपने घरेलू भगड़ों को नमुकत राष्ट्र सभ के सामने रखना पसन्द नहीं करते किन्तु भारत ने इसी मार्ग को अपनाया और कश्मीर समस्या को इस अन्तर्राष्ट्रीय सस्था को सौंप दिया। किन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर मुख्य विषय 'पाकिस्तान माफ़ान्ता है' को तो भुला दिया गया और भारत एवं पाकिस्तान को समान मान कर, कश्मीर के भगड़े को हल करने के नाम पर अनेक बहसें छिड़ गईं। इन सब बातों में हमारे पारस्परिक सम्बन्ध और कट्टे हो गए।

सन् १९५१ में पाकिस्तान ने हमारी पंजाब-सीमा पर अपनी सशस्त्र सेना इकट्ठी कर ली और बैसे ही उत्तंजक कदम उठाने शुरू कर दिए जैसे कि इसने कश्मीर में उठाए थे। उनका उद्देश्य या तो लड़ाई करना या भय का संचार करना प्रतीत होता था। यदि इस समय पाकिस्तान पहल कर देता तो उसे प्रारम्भिक सफलता मिलती और उसकी सेना अमृतसर या उसके पास पहुँच जाती। और यदि हम पहल करते तो यह हमारे लिए स्वर्ण अवसर सिद्ध होता जो अब शायद दुबारा न मिले। किन्तु हमारा दृष्टिकोण सदा प्रति-

बड़ा प्रेरणादायक और गम्भीर था, उगकी एक दीवार पर पाकिस्तान के राष्ट्र-पिता जिन्ना का विशाल चित्र टंगा हुआ था तथा उसके नीचे कुरान खी हुई थी। उन ऑफिसरों को जिन्ना के चित्र की छाया में कुरान को चूम कर निष्ठा (साथ देने) की सीगन्ध खानी पड़ती थी। तब उन्हें अपने रक्त से सदस्य-रजिस्टर पर अपने हस्ताक्षर करने पड़ने थे। इसके बाद वे उस संगठन के पूरे सदस्य बन जाते थे तथा बाहर जाते समय उन्हें लाल गुलाब का फूल दिया जाता था। यह सारा कर्मकाण्ड बड़ा उत्तेजनामय था। किन्तु लोकतंत्र की शक्ति बड़ी निकली और जिस दिन वह महत्त्वाकांशी तानाशाह समस्त पाकिस्तानी मन्त्रि-मण्डल को गिरपतार करना चाहता था, उससे कई दिन पहले उसे स्वयं गिरपतार होना पड़ गया।

एक वरिष्ठ सैनिक ऑफिसर के विरुद्ध लगाये गए आरोपों की जाँच-पड़ताल करने के लिए एक जाँच-अदालत नियुक्त की गई और मुझे उसका एक सदस्य नियुक्त किया गया। उस ऑफिसर पर यह आरोप लगाया गया था कि कश्मीर संग्राम के समय उसने जो रिपोर्टें अपने उच्च अधिकारियों को भेजी थीं, वे सत्य से दूर थीं तथा उनमें स्थिति का काफी बढ़ा-चढ़ा कर वर्णन किया गया था, जैसे कि उसकी दुर्ग सेना (गेरीसन) पर शत्रु चढ़ आया था और उसे काफी भयंकर लड़ाई करनी पड़ रही थी। एक रिपोर्ट^{३१} में उसने कहा था कि उसने शत्रु को काफी नुकसान पहुँचाया था किन्तु उसके पास पर्याप्त सेना नहीं थी। क्योंकि उसकी प्रतिरक्षा सुसंगठित नहीं थी और इसलिए उसे और सैनिक सहायता पहुँचाई जाए जबकि वास्तविकता यह थी कि उसके पास शत्रु की अपेक्षा अधिक सेना थी जैसा कि उसने स्वयं भी पहले भेजी एक रिपोर्ट में स्वीकार किया था। उसने अपनी वीरता को बढ़ा-चढ़ा कर गाया था तथा अपने अधीनस्थ लोगों की वीरता को कम करके दिखाया था।

यह दुर्ग सेना शत्रु के अनेक घातक आक्रमणों से इसलिए बची रही थी क्योंकि एक तो इसमें बड़े दुर्धर्ष वीर ऑफिसर थे तथा दूसरे इसकी स्थिति

३१. मुझे यह बतलाते हुए संकोच हो रहा है कि ऐसे असंख्य उदाहरण हैं जबकि कश्मीर संग्राम के बीच ऑफिसरों ने अपने उच्च अधिकारियों को भेजी रिपोर्टों में बढ़ा-चढ़ा कर तथ्यों को लिखा था। स्वयं श्रेय लेने के लिए छोटी-मोटी चीजों को बड़ा रूप दे दिया जाता था। कई बार अपने कमाण्डरों से आदेश मिलने पर उन्होंने उसका पालन नहीं किया और अपनी असफलता के कई झूठे-सच्चे बहाने गढ़ दिए। कई कमाण्डरों को मैंने राजनीतिज्ञों के इशारों पर नाचते हुए देखा जिससे सेना का काफी अहित हुआ।

प्रतिरक्षा के अनुकूल थी। चारों ओर फैली पहाड़ी के युद्ध के अनुकूल भाग उसके अधिकार में थे।

यह आँफिसर उन दुर्गमना में सैनिक और नैर्गमनिक पक्षों का अध्ययन था। इसका व्यवहार किसी के प्रति उदार नहीं था। जब उसके सैनिक दस्तों घाटों में लेटे हुए शत्रु की गोलियों की बोछार सह रहे थे तो वह विनाश में देखा देता था। जिस मकान में यह आँफिसर टिका हुआ था, उसके पहले भालिक ने इसमें काफी नकद खपाया एवं जवाहरात गाड़े हुए थे किन्तु अचानक युद्ध छिड़ जाने के कारण वह उनको अपने साथ नहीं ले जा सका। जब इस आँफिसर को इसका पता चला तो इसने उस सम्पत्ति की रक्षा करने के बदले इस मकान में अनुचित सखि लेनी शुरू कर दी। धाने वाले महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों के स्वागत में वह भोज का प्रबन्ध करता और उन्हें भर पेट कराव पिलाता। उन सब बातों के अतिरिक्त उसने कुछ अन्य अनियमितताएँ भी बरती थीं।

दैन ने इस आँफिसर को, प्रतिकूल परिस्थितियों में, सुयोग्य व्यक्तियों की, जिन पर अनेक का जीवन एवं सुख-चैन निर्भर था, की कमान सौंपने का स्वर्ण अवसर प्रदान किया था किन्तु यह उसने लाभ न उठा सका। बाद में उसकी अनेक अनियमितताओं में से एक के लिए उस पर सैनिक न्यायानन्द में मुकदमा चला और उसे पदच्युत (बर्तास्त) कर दिया गया।

कश्मीर नमस्त्रा के कारण भारत और पाक के सम्बन्ध बिगड़ने लगे गए। छोटी-छोटी घटनाएँ भी पहाड़ का रूप धारण करने लगीं। यद्यपि अफिरान देश अपने परेन्सु भगइों की संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने खना पसन्द नहीं करते किन्तु भारत ने इसी मार्ग को अपनाया और कश्मीर समस्या को इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंप दिया। किन्तु इस अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर मुख्य बिषय 'पाकिस्तान भागना है' को लो भूला दिया गया और भारत एवं पाकिस्तान को समान मान कर, कश्मीर के भगइों को हल करने के नाम पर अनेक बहसों छिड़ गईं। इन सब बातों में हमारे पारस्परिक सम्बन्ध और शत्रु हो गए।

सन् १९५१ में पाकिस्तान ने हमारी पञ्जाब-सीमा पर अपनी समस्त सेना एकट्ठी कर ली और बने ही उत्तेजक कदम उठाने शुरू कर दिए जैसे कि इसने कश्मीर में उठाए थे। उनका उद्देश्य या लो नशाई करना या भय का खपार करना प्रतीत होता था। यदि इस समय पाकिस्तान पहल कर देता तो उसे प्रारम्भिक उपलब्धि मिलती और उसकी सेना समुद्रतट या उत्तरे घाट-पात पहुँच जाती। और यदि हम पहल करते तो यह हमारे लिए स्वर्ण अवसर मिले होता जो सब समय दुबारा न मिले। किन्तु हमारा दृष्टिकोण गया प्रति-

रक्षात्मक रहा और इसलिए फ़िरोज़पुर से पठानकोट तक फैली हमारी सेना अपनी प्रतिरक्षा में ही व्यस्त रही और उसने अपनी सीमा से आगे एक कदम भी नहीं बढ़ाया। यदि इस अवसर पर हम आगे बढ़ जाते (जिसके लिए काफी उत्तेजनात्मक कारण मौजूद थे) तो लाहौर को अपने अधिकार में कर लेना हमारे लिए एक साधारण बात थी और लाहौर रेल एवं सड़क परिवहन का केन्द्र था तथा राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टियों से काफी महत्वपूर्ण था। भारत-पाक की अटारी-वागाह नामक सीमान्त चौकियों से लाहौर और अमृतसर एक समान दूरी पर थे, लाहौर उत्तर में सोलह मील दूर था तथा अमृतसर दक्षिण में सोलह मील दूर। लड़ाई छिड़ने की दशा में दोनों सेनाओं को अपना-अपना प्रथम लक्ष्य (गन्तव्य) मालूम था। मेरा त्रिगेड अपने संग्रामिक दायित्व को निभाने के लिए पूरी तरह प्रशिक्षित और तैयार था।

हमारी सीमा के उत्तर में, वागाह और लाहौर के बीच में, इछोगिल नाम की नहर थी। यदि परिस्थिति ऐसी आ जाती कि हमें लाहौर की ओर बढ़ना पड़ता तो इस नहर को पार करना अनिवार्य था। इसलिए मैंने इस वाधा का पूर्ण अध्ययन करने का निश्चय किया ताकि समय पर कोई अप्रत्याशित समस्या न खड़ी हो जाए। इस नहर के विविध विवरण उपलब्ध थे, इसलिए मैं इस नहर के निकट स्थित रानियाँ गाँव (हमारी सीमा में) पहुँचा और वहाँ के निवासियों से इसकी जानकारी प्राप्त की। इस क्षेत्र से परिचित एजेण्टों को मैंने इस नहर की चौड़ाई, गहराई, धारा की गति, ढलान आदि की ठीक जानकारी प्राप्त करने के लिए भेजा। साथ ही उन्हें यह भी कह दिया कि वे यह भी पता कर आएँ कि नहर का ढलान कंकरीट का बना हुआ था या किसी और चीज़ का तथा इसमें दोनों ओर और कौन-कौन सी बाधाएँ थीं। एक विदेशी पत्रिका में इस नहर का विवरण दिया था, उस पत्रिका को प्राप्त किया और उसका अध्ययन किया। इस प्रकार समस्त उपलब्ध सूचना के आधार पर ये तथ्य प्रकाश में आए कि इछोगिल नहर ११० से १२० फुट तक चौड़ी थी, लगभग १५ फुट गहरी थी, ढलानें खड़ी थीं और कंकरीट की बनी हुई थीं तथा इसमें घुसने और निकलने के चुने-चुने स्थानों के नीचे सुरंगें बिछी कार मॉडल तैयार कराया और उसके अनुरूप एक सचमुच की नहर अपने क्षेत्र के निकट खुदवाई तथा उसमें पास की नहर से पानी छुड़वाया। इछोगिल नहर की इस प्रतिकृति (नकल, रिपलिका) को तैयार करने में मुझे तथा मेरे आदमियों को काफी दिन तक अथक परिश्रम करना पड़ा। उसके बाद आज तक किसी ने ऐसा प्रयास नहीं किया है। यह परिश्रम इसलिए किया गया था ताकि सब सम्बन्धित व्यक्ति इस नहर की समस्याओं से परिचित हो जाएँ और इसको लांघने का अभ्यास कर सकें। काम करने के बदले यथार्थ में

निर्हसित करना कुछ धीरे महसूस रखता है। हमने अपनी युद्ध मामूली, शस्त्र आदि ले कर रसको पार करने का कई बार अभ्यास किया। इसमें हमें यह विश्वास हो गया कि अचानक पड़ने पर हम मिनटों में इन बाधा को पार करके अपने लक्ष्य की ओर बढ़ सकेंगे। यह आज से पन्द्रह वर्ष पहले की घटना है।

प्रशिक्षण के समय, रेत मॉडल अभ्यास (सैंड मॉडल एक्सरसाइज) में मुझे पाकिस्तान का कमाण्डर-इन-चीफ नियुक्त किया गया तथा पाकिस्तान के दृष्टिकोण में सैन्यात्मक स्थिति की आलोचना करने के लिए कहा गया। इन युद्ध-विषयक खेलों में भाग लेने में मुझे बड़ा आनन्द आता था जिनमें मुझे सशस्त्र पक्ष की भूमिका अदा करनी पड़ती थी।

सन् १९५२ में भारत एवं पाक के बीच तनाव कम हो गया। मेना की टुकड़ियाँ सीमा से हटा ली गईं और चारों ओर शान्ति छा गई। मेरे ब्रिगेड को कनौली, स्वास्थ्यप्रद पहाड़ी स्थान, भेज दिया गया और मुझे मेना मुख्यालय में बुला लिया गया।

११ इन्फैंट्री ब्रिगेड^{२१} की कमान मेरे पास साँझू तीन वर्ष रही। मैंने अत्यंत परिश्रम कर के इसे अनुशासित, संगठित एवं सैन्यात्मक दृष्टि से सुप्रशिक्षित बना दिया था तथा प्रत्येक व्यक्ति में देशभक्ति की भावना कूट-कूट कर भर दी थी।

सेना मुख्यालय में मैंने, 'डॉइरेक्टर ऑफ ऑर्गनाइजेशन' का पद संभाला। कुछ महीने बाद, मेजर जनरल चौधरी के छुट्टी जाने पर जब मैं उनकी जगह एडजुटेंट जनरल के पद पर काम कर रहा था तो एक दिन श्रीमती चीफ जनरल करिअप्पा ने मुझे बताया कि दिल्ली के एक साप्ताहिक पत्र ने इण्डियन नेशनल कांग्रेस के सम्बन्ध में व्यक्त उनके विचारों को तोड़-मरोड़ कर प्रकाशित किया था, इसलिए उन्होंने एक पत्र द्वारा उस साप्ताहिक को कहा था कि वह उनके भाषण को ठीक-ठीक छापे। किन्तु अब उन्हें उस पत्र के लिखने का दुख हो रहा था क्योंकि सरकार चाहती थी कि वह (करिअप्पा) उन साप्ताहिक पर मुकदमा चलाएँ। अब उन्होंने असली समस्या मेरे सामने रखी कि क्या किसी प्रकार उस साप्ताहिक से उनका पत्र वापस लिया जा

३२. इस अवधि के बीच जब सेना मुख्यालय ने पैराशूट ब्रिगेड के लिए स्वयंसेवक माँगे तो मैंने अपना नाम भेज दिया किन्तु बाद में कोई उत्तर नहीं मिला। बाद में तत्कालीन चीफ ऑफ जनरल स्टाफ मेजर जनरल एस० पी० पी० थोर्ट ने सेना मुख्यालय में 'डॉइरेक्टर ऑफ मिलिटरी इन्टेलिजेंस' का पद मुझे लिखित रूप में दिया किन्तु मैंने सधन्यवाद मना कर दिया क्योंकि मैं अधिक-से-अधिक अवधि तक सक्रिय ब्रिगेड में रहना चाहता था।

सकता था ताकि वह सरकार की इच्छानुसार मुकदमा चला सकें। मैंने इस समस्या को हल करने की सोची। मैंने पण्डित देवीदत्त और कैप्टेन बेरियर को अपने साथ लिया और मैं उस साप्ताहिक के कार्यालय में पहुँच गया। सम्पादक तो कहीं गये हुए थे और उनकी कुर्सी पर बैठे हुए सज्जन ने वह पत्र बिना किसी हीलहुज्जत के हमें लौटा दिया। मेना मुख्यालय लौट कर मैंने वह पत्र करिअपा को दे दिया। इसी वाद उस साप्ताहिक के सम्पादक पर मुकदमा चलाया गया और कई पेशियों के वाद क्षमा माँगने पर उस सम्पादक को मुक्ति मिली।

ब्रिगेडियर आर० वी० चोपड़ा कुशक रोड पर मेरे पड़ोसी थे। सन् १९११ में वह सख्त बीमार पड़ गए। जब मैं सैनिक अस्पताल में उन्हें देखने गया तो मैंने उनकी पत्नी को रोते हुए पाया। क्योंकि डॉक्टरों ने उनके पति को पूना के निकट आँव भेजने का निर्णय किया था जहाँ उनके फेफड़े के एक विपाक्त भाग को काटा जाना था। उनकी सांघातिक स्थिति हवाई-यात्रा के भटकों को सहन करने में असमर्थ थी, इसलिए उनको दिल्ली से बम्बई और बम्बई से पूना ले जाने का निश्चय किया गया। किन्तु इसमें एक अड़चन यह थी कि जिस समय दिल्ली से डाकगाड़ी बम्बई पहुँचती थी, उसके कुछ मिनट पहले पूना वाली डाकगाड़ी वहाँ से चल पड़ती थी और इसका अर्थ यह था कि अगली गाड़ी के जाने तक वहाँ प्रतीक्षा करना जबकि चोपड़ा की चिन्ताजनक स्थिति को देखते हुए एक-एक मिनट मूल्यवान था। श्रीमती चोपड़ा को घबड़ाये हुए देख कर इस समस्या का समाधान खोजने का दायित्व मैंने अपने ऊपर ले लिया। नियमतः तो इसका कोई समाधान नहीं था क्योंकि रेल अधिकारी तो डाकगाड़ी को बम्बई पहले पहुँच जाने की अनुमति दे नहीं सकते थे। इसलिए मैंने ब्रिगेडियर चोपड़ा को गाड़ी में सवार करा दिया और स्वयं इंजिन ड्राइवर के पास पहुँचा। उसे मैंने यह करुण स्थिति समझाई और सहायता करने को कहा तथा ह्विस्की की बोटल के रूप में अपने धन्यवाद अग्रिम दे दिए। मैंने उसे सलाह दी कि क्योंकि इगतपुरी से बम्बई तक गाड़ी कहीं सकती नहीं थी, इसलिए वहाँ वह गाड़ी इतनी तेज ले जाए कि बम्बई नियत समय से आधा घण्टा पहले पहुँच जाए। इस असामान्य प्रार्थना को समझने में उसे कुछ देर लगी किन्तु समझते ही उसने हाँ कर ली। वह अपने वचन का पक्का निकला और बम्बई तीस मिनट पहले पहुँच गया। वहाँ स्थानीय एरिया कमाण्डर मेजर जनरल दौलतसिंह को कह कर मैंने चोपड़ा को पूना वाली गाड़ी में चढ़वा दिया। चोपड़ा सकुशल यात्रा कर के आँव समय पर पहुँच गए और वहाँ सुविख्यात वक्ष शल्य-चिकित्सक (चैस्ट सर्जन) कर्नल चक^{३३} ने उसका सफल ऑपरेशन कर दिया।

३३. सन् १९६२ में चक ने मेरे दामाद का भी बड़ी दक्षता से ऑपरेशन था।

यभी मैं (कार्यवाही) एड्जुटेंट जनरल के रूप में काम कर रहा था कि मुझे प्रतिरक्षा मन्त्रालय से सन्देश मिला कि वह एक विशिष्ट ऑफिसर का सेना के एक भ्रंग में दूसरे भ्रंग में बदली^{३४} करना चाहता था। क्योंकि सम्बन्धित ऑफिसर के सेवा रिकार्ड में कुछ बातें ऐसी थीं जो सन्तोषजनक नहीं थीं, इसलिए मैंने उत्तर दे दिया कि ऐसा करना सम्भव नहीं था। अगले दिन भार्मी चीफ राजिन्द्रसिंह जी ने मुझे बुला कर कहा कि उन्हें भी प्रतिरक्षा मन्त्रालय से वही सन्देश मिला था और क्या मैं इस सम्बन्ध में कुछ कर सकता था। जब मैंने अपनी असमर्थता का कारण बतलाया तो उन्होंने वैसा करने के लिए मुझ पर दबाव नहीं डाला। अपनी छुट्टी बिता कर जब चौधरी लौटे तो उन्हें भी प्रतिरक्षा मन्त्रालय का वही सन्देश मिला। उन्होंने मुझे बुला कर पूछा कि क्या मैं इस सम्बन्ध में कुछ कर सकता था। सैनिक क्षेत्रों में चौधरी को मैंने कई बार कहते सुना था कि उन्होंने सरकार की ऐसी कोई सिफारिश कभी नहीं मानी थी जो सैनिक सेवा के अनुकूल न हो। उनको उन्हीं का सिद्धान्त स्मरण कराते हुए मैंने कहा कि इस विषय में मैं भी किसी दबाव को स्वीकार नहीं कर सकता। इस पर उन्होंने साधिकार कहा कि वह एड्जुटेंट जनरल थे और मुझे उनके निर्देशों का पालन करना चाहिए था। इस पर मैंने काफी जोरदार शब्दों में उत्तर दिया कि मैं भी एक जिम्मेदार पद पर था और केवल उनकी 'मास्टर्स वॉयस' नहीं था, इसलिए मैं सेना के हित के विरुद्ध कोई काम करने को तैयार नहीं था। चौधरी ने इस मामले को आगे नहीं बढ़ाया।

कुछ दिनों बाद की घटना है जब चौधरी चीफ ऑफ जनरल स्टाफ थे। भार्मी चीफ को समझा-बुझा कर उन्होंने सरकार के सामने प्रस्ताव रखा कि अपने दो बक्तरबन्द ब्रिगेडों में से हमें एक रखना चाहिए (हमारे पास कुल मिला कर दो ही बक्तरबन्द ब्रिगेड थे)। इससे कुछ बचत होने की सम्भावना थी और उन दिनों सरकार भी हर चीज में बचत करने पर तुली थी और ऐसे प्रस्तावों से प्रसन्न होती थी। उनके अपने मन में चाहे जितने सबल तर्क रहे हों किन्तु ग्रामिंडे कौन्स के अपने सहयोगियों को वह इस प्रस्ताव की संगतता कभी नहीं समझा पाए। चौधरी का कहना था कि सेना के हित में यह प्रस्ताव रखा गया था किन्तु उन ऑफिसरों को यह तर्क कभी समझ नहीं आया अपितु उनका कहना तो यह था कि इस प्रकार हमारी सेना की प्रहारक शक्ति कम होती थी। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि चौधरी को ग्रामिंडे कौन्स में विस्तार करने का प्रस्ताव रखना चाहिए था क्योंकि यह सेना का

३४. सेना के एक भ्रंग से दूसरे भ्रंग में किसी की बदली करने के लिए एड्जुटेंट जनरल के कार्यालय से पूछना होता है।

महत्त्वपूर्ण अंग था। (ग्रीर सचमुच १९६५ में हुए भारत-पाक युद्ध के समय उसका महत्त्व स्पष्ट हो गया।)

उम समय प्रतिरक्षा ग्रीर वित्त मन्त्रालयों ने सैनिक राशन कम कर दिया क्योंकि मूल राशन में कलोरी अधिक थी। सेना ने इस कदम का विरोध किया। सैनिक हाई कमाण्ड को यह बात माननी ही नहीं चाहिए थी। (कुछ वर्ष बाद राशन फिर पहले जितना करना पड़ा।)

स्टेट्समैन के तत्कालीन कर्मचारी प्रेम भाटिया ने १९५३ में मुझे बताया कि चौधरी स्टेट्समैन के सैनिक संवाददाता थे। जब मैंने चौधरी से पूछा तो वह सकते की सी हालत में हो गए और पूछने लगे कि मुझे किसने बताया था। जब मैंने प्रेम भाटिया का नाम बताया तो बोले, "भाटिया को तुरंत नहीं बताना चाहिए था।"

ऊपर दिए उदाहरणों से स्पष्ट है कि १९५२-५४ में भी कुछ जनरल राजनीतियों तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों को प्रसन्न करने में लगे हुए थे और इसके लिये ऐसे-ऐसे काम भी करते थे जो सेना की परम्पराओं और उसके व्यावसायिक शिष्टाचार के अनुरूप नहीं थे।

आसिफ अली से मेरा पुराना परिचय था और जब वह वाशिंगटन में हमारे राजदूत थे तो मैंने उनके साथ काम भी किया था। उनके और मेरे इस सम्बन्ध को देखते हुए उनकी शवयात्रा (दिल्ली में) के प्रवन्ध^{३५} में नेहरू ने मेरा नाम भी रख दिया। राजधानी में उमड़े विशाल जन-समूह पर नियन्त्रण रखने के लिए मैंने अनेक उपाय बरते और उनमें एक यह था कि एक विशिष्ट दिशा से आने वाली समस्त गाड़ियों को एक स्थान पर रोक दिया गया। इस प्रक्रम में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ की कार भी रोक दी गई। मेरा आदेश यह था कि इस नियम का उल्लंघन किसी के लिए भी नहीं होना चाहिए। इस-लिए काफी कहने-सुनने के बाद भी उनकी कार को आगे नहीं बढ़ने दिया गया। इस पर वह काफी गर्म हुए और कार से उतर कर भीड़ को चीरते हुए मेरे पास पहुँचे तथा कहने लगे कि क्योंकि वह एक बहुत जरूरी काम से जा रहे थे, इसलिए उनकी कार को तुरन्त निकल जाने दिया जाए। मैंने उन्हें समझाया कि उस समय आसिफ अली की शवयात्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई काम नहीं था और यदि उनकी कार को रास्ता दिया गया तो वहाँ अराजकता का दृश्य उपस्थित हो जाएगा। भारत में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो जीवन में दो प्रकार की अनुशासन-संहिताएँ चाहते हैं—एक दूसरों के लिए तथा एक

३५. वैसे तो यह प्रवन्ध दिल्ली के मुख्यायुक्त (चीफ कमिश्नर) के हाथ में था।

अपने लिए। वे सोचते हैं कि प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के कारण वे अनुशासन के बन्धन से मुक्त हो चुके हैं। बाद में जब नेहरू को इस घटना का पता चला तो उन्होंने टिप्पणी की कि ये लोग देश में फैली अव्यवस्था के प्रतिबिम्ब हैं और यह भी सम्भव नहीं है कि हम इन्हीं देश से बाहर निकाल दें तथा बदने में अच्छे आदमी मँगवा लें, इसलिए हमें अपनी योग्यता से इनको संभाले रहना है।

१९५३ की घटना है कि पाकिस्तान के प्रधान मंत्री मोहम्मद अली हमारे निमन्त्रण पर सपत्नी दिल्ली पधार रहे थे। नेहरूने इसकी घोषणा सार्वजनिक रूप में करते हुए आशा प्रकट की कि अतिथियों का स्वागत करने के लिए हवाई अड्डे पर काफी लोग पहुँच जाएँगे। इन अवसरों पर प्रबन्ध तो काफी किया जाता था किन्तु दर्शकों की अनुशासनहीनता के पलस्वरूप वह व्यर्थ सिद्ध होता था। इस बार नेहरू ने सोचा कि वह प्रबन्ध बिल्कूल नहीं बिगड़ने देंगे और जनता को अनुशासन का पालन करना सिखाएँगे। मुझे बुला कर उन्होंने कहा कि इस बार पालम पर मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ कि अतिथियों को किसी प्रकार की परेशानी न हो। इस सम्बन्ध में मैंने नेहरू के सामने दो बातें रखी कि एक तो सब गिण्टजन (बी० आई० पी०) मोहम्मद अली के वायुयान के आने में दस मिनट पहले पालम पहुँच जाएँ और दूसरे, इन नियमों को किसी के लिए न तोड़ा जाए। नेहरू ने मेरी दोनों बातें मान ली। इसलिए प्रबन्ध में लगे अपने आदमियों को मैंने आदेश दिया कि पाक प्रधान मंत्री के यान के उतरने के दस मिनट पहले तक जो आ जाए सो ठीक है किन्तु उसके बाद किसी को न आने दिया जाए। कारण बड़ा सीधा-सादा है कि यदि एक व्यक्ति को भी घुसने दिया जाए तो फिर भीड़ को संभालना कठिन हो जाता है। मुझे पता था कि मन्त्र-मण्डल के दो वरिष्ठ सदस्य ऐसे अवसरों पर नदा देर से आया करते थे। मैंने सोचा कि देर में तो वे इस बार भी आएँगे और यदि उन्हें आने के लिए स्थान दिया जाए तो फिर भीड़ नहीं संभल सकेगी और सब क्रिये-कराये पर पानी फिर जाएगा। इसलिए मैंने अपने आदमियों को विशेष रूप से समझा दिया कि नियम का उल्लंघन किसी भी स्थिति में न किया जाए। दुआ भी ऐसा ही कि वे दो महोदय तब पहुँचे जब मोहम्मद अली का वायुयान उतर रहा था। नियमतः उन्हें बाहर रोक दिया गया। ऐसा करने में उन गिण्टजनों के प्रति किसी प्रकार का अनादर-भाव ध्यवत करना हमारा पक्ष नहीं था अपितु हम तो स्थिति को काबू में रखने के लिए यह सब कर रहे थे। किन्तु जब नेहरू को पता चला तो उन्होंने आदेश दिया कि उन्हें (मंत्रियों को) तुरन्त आने दिया जाए। किन्तु जैसे ही उन महानुभावों को आने दिया गया, भीड़ की लहर उमड़ी और हमारे घेरे को तोड़ती हुई भीतर घुस गई। अब वहाँ अनियन्त्रण और अव्यवस्था का माम्राज्य था और प्रबन्धकों के प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने पर भी शान्ति कोलाहल में परिणत हो गई।

भेजा ताकि वह उन्हें समझा-बुझा कर सीधे रास्ते पर ला सकें। उस दिन ईश थी और श्रीनगर में अब्दुल्ला ने सार्वजनिक भाषण दिया जिसमें उन्होंने भारत के विरुद्ध बड़ी विद्रोहजनक और शत्रुतापूर्ण बातें कहीं। इस भाषण से मौलाना आजाद को विश्वास हो गया कि अब्दुल्ला किसी तर्कसंगत बात को सुनने के लिए नैयार नहीं थे और वह दिल्ली लौट आए।

जुलाई के मध्य में डी० पी० घर दिल्ली आए और उन्होंने कश्मीर में फैले अस्थान्तिपूर्ण राजनीतिक वातावरण से प्रधान मन्त्री को परिचित कराया। नेहरू ने अपने मन्त्रि-मण्डल के प्रभावशाली व्यक्ति रफी अहमद किदवई को फोन किया और उन्हें डी० पी० घर से तुरन्त बात करने के लिए कहा। अगले दिन सुबह किदवई और घर की बातचीत हुई और उस वार्ता के अन्त में किदवई ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ लिखीं :

(क) कश्मीर एक महत्त्वपूर्ण सीमान्त राज्य है और उसकी वागडोर किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक विशिष्ट गुट के हाथ में नहीं छोड़नी चाहिए क्योंकि जो कुछ वहाँ घटेगा, उसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर पड़ेगा;

(ख) शेख अब्दुल्ला को हटाने का समय आ गया है।

किदवई ने घर से पूछा कि यदि किदवई अब्दुल्ला से मिलने के लिए लिखें तो अब्दुल्ला की प्रतिक्रिया क्या होगी। डी० पी० घर ने उत्तर दिया कि वह अब्दुल्ला की प्रतिक्रिया के विषय में तो कुछ नहीं कह सकते किन्तु इतनी सलाह अवश्य देंगे कि किदवई अब्दुल्ला को दिल्ली न बुला कर स्वयं कश्मीर जाएं। किदवई ने यह सलाह मान ली और इस आशय का एक पत्र अब्दुल्ला को लिख दिया जिसके उत्तर में अब्दुल्ला ने लिखा कि इस प्रकार की मुलाकात का कोई लाभ नहीं निकलेगा। साथ ही उन्होंने किदवई को यह सलाह दी कि इस मामले में वह बीच में न पड़ें अन्यथा उनकी प्रतिष्ठा पर धब्बा लग जाएगा। किदवई ने फोन करके अब्दुल्ला को कहा कि वह उनकी प्रतिष्ठा की चिन्ता न करें तथा परस्पर मिल कर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करें। किन्तु अब्दुल्ला ने स्पष्ट कह दिया कि वह मुलाकात करने के लिए तैयार नहीं थे। अब्दुल्ला के इस धृष्टतापूर्ण उत्तर पर किदवई को बहुत क्षोभ हुआ। २५ जुलाई के आसपास डी० पी० घर उनको दिल्ली में फिर मिले और कश्मीर के विविध नेताओं के आपसी तनाव तथा राज्य की असन्तोषजनक स्थिति से उन्हें अवगत कराया। बाद में घर, नेहरू और किदवई ने एक साथ मिल कर इस समस्या पर विचार किया। नेहरू द्वारा पूछे जाने पर कि इस समस्या का सम्भावित समाधान क्या था, किदवई तो चुप रहे किन्तु घर ने उत्तर दिया कि इस समय सख्त कदम

उठाने की जरूरत थी। तब नेहरू ने अन्दुल्ला का वह पत्र दियेलाया जो उन्हें उसी दिन मिला था। इस पत्र में अन्दुल्ला ने निम्नलिखित बातें कही थीं :

- (अ) भारत कश्मीर की स्वायत्त सत्ता को नष्ट कर रहा था और इससे कश्मीरियों में काफी असंतोष फैला हुआ था;
- (आ) उस समय वह बहुत व्यस्त थे तथा कश्मीर समस्या पर नेहरू से बातचीत करने के लिए दिल्ली आना उनके लिए सम्भव नहीं था (नेहरू ने उन्हें दिल्ली आने के लिए लिखा था),
- (इ) यद्यपि वह नेहरू का काफी सम्मान करते थे किंतु जीवन में कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं जब व्यक्तिगत सम्बन्धों की तुलना में राष्ट्रीय हित को महत्त्व देना पड़ता है।

जब इस पत्र को पढ़ कर डी० पी० धर चुप रहे तो नेहरूने यह पत्र किदवई को पढ़ने के लिए दिया और उनमें अपना विचार व्यक्त करने को कहा। किदवई ने नेहरू से कहा कि उन्हें अन्दुल्ला की मलाइ के अनुसार काम करना चाहिए अर्थात् राष्ट्र-हित के सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। (जिस का अर्थ यह था कि नेहरू अन्दुल्ला के साथ सस्ती में पेश आएँ।)

नेहरू के यहाँ में आने के बाद घर और किदवई ने फिर बातचीत की और निर्णय किया कि यदि आवश्यकता पड़े तो कश्मीर में सस्ती बरती जाए। जब घर ने किदवई का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि इन मामलों में नेहरू नरमी से काम लेना चाहते थे तो किदवईने आश्वासन दिलाया कि प्रधान-मन्त्री को वह समझा-बुझा लेंगे।

डी० पी० धर ने पहले किदवई से और बाद में नेहरू से प्रार्थना की कि कश्मीर की स्थिति को नियन्त्रण में लाने के लिए उनकी तथा उनके साथियों की सहायता के लिए मुझे कश्मीर भेज दिया जाए। नेहरू तो धर और किदवई के मन्तव्य से पहले ही आशंकित थे और जब उन्होंने मेरा नाम सुना तो उनके मन में यह भय पैदा हुआ कि हम तीनों मिल कर कही ऐसे मनमाने और एक-तरफा काम न कर बैठें जो उनको पसन्द न आएँ। इसलिए मेरा नाम सुन कर पहले तो वह हिचकिचाए किन्तु जब ज्यादा कटा-सुना गया तो मुझे गैर-सरकारी रूप में कश्मीर भेजने के लिए उन्होंने हाँ कर ली। इतना प्रवन्ध करने के बाद डी० पी० धर कश्मीर चले गए और वहाँ की स्थिति से किदवई को बराबर अवगत कराने रहे।

जुलाई १९५३ के अंतिम सप्ताह की बात है कि एक दिन, सारा दिन लगातार काम करते रहने के कारण मैं बहुत अधिक थक गया था और जल्दी घर जाने की सोच रहा था कि फोन पर संदेश मिला कि प्रधान मन्त्री

महत्त्वपूर्ण प्रंग था। (और जनमुन १९६५ में हुए भारत-पाक युद्ध के समय उमदा महत्त्व स्पष्ट हो गया।)

उस समय प्रतिस्था और विला मन्त्रालयों ने सैनिक राशन कम कर दिया क्योंकि मूल राशन में कमीरी प्रतिक थी। सेना ने इस कदम का विरोध किया। सैनिक हाई कमाण्ड को यह बात माननी ही नहीं चाहिए थी। (कुछ वर्ष बाद राशन फिर पहले जितना करना पड़ा।)

स्टेड्गमैन के तत्कालीन कर्मचारी प्रेम भाटिया ने १९५३ में मुझे बताया कि चौधरी स्टेड्गमैन के सैनिक संवाददाता थे। जब मैंने चौधरी से पूछा तो वह गकने की सी क्षमता में हो गए और पूछने लगे कि मुझे किसने बताया था। जब मैंने प्रेम भाटिया का नाम बताया तो बोले, "भाटिया को तुम्हें नहीं बताना चाहिए था।"

ऊपर दिए उदाहरणों से स्पष्ट है कि १९५२-५४ में भी कुछ जनरल राजनीतियों तथा अन्य प्रभावशाली व्यक्तियों को प्रसन्न करने में लगे हुए थे और इसके लिये ऐसे-ऐसे काम भी करते थे जो सेना की परम्पराओं और उसके व्यावसायिक शिष्टाचार के अनुरूप नहीं थे।

आसिफ अली से मेरा पुराना परिचय था और जब वह वाशिंगटन में हमारे राजदूत थे तो मैंने उनके साथ काम भी किया था। उनके और मेरे इस सम्बन्ध को देखते हुए उनकी शवयात्रा (दिल्ली में) के प्रबन्ध^{३५} में नेहरू ने मेरा नाम भी रख दिया। राजधानी में उमड़े विशाल जन-समूह पर नियन्त्रण रखने के लिए मैंने अनेक उपाय बरते और उनमें एक यह था कि एक विशिष्ट दिशा से आने वाली समस्त गाड़ियों को एक स्थान पर रोक दिया गया। इस प्रकर्म में एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञ की कार भी रोक दी गई। मेरा आदेश यह था कि इस नियम का उल्लंघन किसी के लिए भी नहीं होना चाहिए, इसके लिए काफी कहने-सुनने के बाद भी उनकी कार को आगे नहीं बढ़ने दिया गया। इस पर वह काफी गर्म हुए और कार से उतर कर भीड़ को चीरते हुए मेरे पास पहुँचे तथा कहने लगे कि क्योंकि वह एक बहुत जरूरी काम से जा रहे थे, इसलिए उनकी कार को तुरन्त निकल जाने दिया जाए। मैंने उन्हें समझाया कि उस समय आसिफ अली की शवयात्रा से अधिक महत्त्वपूर्ण और कोई काम नहीं था और यदि उनकी कार को रास्ता दिया गया तो वहाँ अराजकता का दृश्य उपस्थित हो जाएगा। भारत में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो जीवन में दो प्रकार की अनुशासन-संहिताएँ चाहते हैं—एक दूसरों के लिए तथा एक

३५. वैसे तो यह प्रबन्ध दिल्ली के मुख्यायुक्त (चीफ कमिश्नर) के हाथ में था।

अपने लिए। वे सोचते हैं कि प्रतिष्ठित व्यक्ति होने के कारण वे अनुशासन के बन्धन में मुक्त हो चुके हैं। बाद में जब नेहरू को इस घटना का पता चला तो उन्होंने टिप्पणी की कि ये लोग देश में फैली अव्यवस्था के प्रतिबिम्ब हैं और यह भी सम्भव नहीं है कि हम इन्हें देश में बाहर निकाल दें तथा बदले में अच्छे आदमी मँगवा लें, इसलिए हमें अपनी योग्यता से इनको संभाले रहना है।

१९५३ की घटना है कि पाकिस्तान के प्रधान मंत्री मोहम्मद अली हमारे निमन्त्रण पर सपत्नी दिल्ली पधार रहे थे। नेहरू ने इसकी घोषणा सार्वजनिक रूप से करते हुए आशा प्रकट की कि अतिथियों का स्वागत करने के लिए हवाई अड्डे पर काफी लोग पहुँच जाएँगे। इन अवसरों पर प्रबन्ध तो काफी किया जाता था किन्तु दर्शकों की अनुशासनहीनता के फलस्वरूप वह ध्येय सिद्ध होता था। इस बार नेहरू ने सोचा कि वह प्रबन्ध यत्कृत नहीं विगड़ने देंगे और जनता को अनुशासन का पालन करना सिखाएँगे। मुझे बुला कर उन्होंने कहा कि इस बार पालम पर मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ कि अतिथियों को किसी प्रकार की परेशानी न हो। इस सम्बन्ध में मैंने नेहरू के सामने दो बातें रखी कि एक तो सब शिष्टजन (बी० आई० पी०) मोहम्मद अली के वायुयान के आने में दस मिनट पहले पालम पहुँच जाएँ और दूसरे, इन नियमों को किसी के लिए न तोड़ा जाए। नेहरू ने मेरी दोनों बातें मान ली। इसलिए प्रबन्ध में लगे अपने आदमियों को मैंने आदेश दिया कि एक प्रधान मंत्री के आने के उतरने के दस मिनट पहले तक जो आ जाए सो ठीक है किन्तु उसके बाद किसी को न आने दिया जाए। कारण बड़ा सीधा-सादा है कि यदि एक व्यक्ति को भी धुसने दिया जाए तो फिर भीड़ को संभालना कठिन हो जाता है। मुझे पता था कि मन्त्रिमण्डल के दो वरिष्ठ सदस्य ऐसे अवसरों पर सदा देर से आया करते थे। मैंने सोचा कि देर से तो वे इस बार भी आएँगे और यदि उन्हें आने के लिए स्थान दिया जाए तो फिर भीड़ नहीं संभल सकेगी और सब किये-कराये पर पानी फिर जाएगा। इसलिए मैंने अपने आदमियों को विशेष रूप से समझा दिया कि नियम का उल्लंघन किसी भी स्थिति में न किया जाए। हुआ भी ऐसा ही कि वे दो महोदय तब पहुँचे जब मोहम्मद अली का वायुयान उतर रहा था। नियमतः उन्हें बाहर रोक दिया गया। ऐसा करने में उन मिष्टजनों के प्रति किसी प्रकार का अनादर-भाव व्यक्त करना हमारा पक्ष नहीं था अपितु हम तो स्थिति को काबू में रखने के लिए यह सब कर रहे थे। किन्तु जब नेहरू को पता चला तो उन्होंने आदेश दिया कि उन्हें (मंत्रियों को) तुरन्त आने दिया जाए। किन्तु जैसे ही उन महानुभावों को आने दिया गया, भीड़ की लहर उमड़ी और हमारे घेरे का तोड़ती हुई नीतर घुम गई। अब वहाँ अनियन्त्रण और अव्यवस्था का साम्राज्य था और प्रबन्धको के प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने पर भी शान्ति कोलाहल में परिणत हो गई।

इस सम्बन्ध में एक रोचक बात यह है कि हमारे यहाँ भीड़ को कई बार यही पता नहीं होता कि वह क्यों इकट्ठी हुई है। जिस समय मोहम्मद अली वायुयान में उतरे तो उनके स्वागत में कुछ तो चिल्लाये 'मोहम्मद अली जिन्दावाद' और कुछ चिल्लाये 'लियाकत अली जिन्दावाद।' कितनी बड़ी विडम्बना थी कि मोहम्मद अली के पूर्वाधिकारी लियाकत अली की कुछ दिन पहले हत्या कर दी गई थी और यहाँ लोग उनके 'जिन्दावाद' होने के नारे लगा रहे थे।

(१९६० में जब न्दुश्चेव पंचारे तो उनका भी अन्य सम्मानित अतिथियों के समान ही स्वागत-सत्कार किया गया। सचार्ई यह है कि जब भी किसी देश का राष्ट्रपति या प्रधान मन्त्री भारत आता है तो हम लोग पालम से कनाॅ-प्लेस^{३६} तक, सड़क के दोनों ओर लाइन लगा कर, उनका स्वागत करते हैं। अतिथि अपनी इस लोकप्रियता को देख कर गद्गद हो उठता है। बेचारे को यह नहीं मालूम कि भीड़ तो हमारे यहाँ ज़रा-ज़रा सी बात पर इकट्ठी हो जाती है। १९६१ में जब श्रीमती जैकलीन कॅनेडी भारत आई तो पालम पहुँचे हुए एक ग्रामीण से मैंने उत्सुकतावश पूछा कि वह किसका स्वागत करने आया था। उसने बड़े भोलेपन से उत्तर दिया कि कोई विदेशी रानी भारत आने वाली थीं। इसी प्रकार चाऊ-एन-लाई, आइज़नहावर तथा रानी एलिज़ाबेथ का स्वागत करने के लिए अपार जन-समूह उमड़ पड़ा था। हमारे देश में जीवन इतना शिथिल है कि इस प्रकार का अवसर भी अन्य तमाशों की तरह एक तमाशा है जिसमें थोड़ी-बहुत देर के लिए मन-बहलाव हो जाता है।)

मुझे एक अन्य जमघट में जाने का अवसर मिला जहाँ एक राजनीतिज्ञ का भाषण सुनने के लिए हजारों की संख्या में ग्रामीण एकत्र थे। उनका विचार था कि नयी राष्ट्रीय सरकार की ओर से वह नेता महोदय उन्हें कुछ नयी बातें बताएँगे कि उनकी सरकार जन-जीवन में सुधार करने के लिए कौन-कौन से कदम उठाने जा रही थी। किन्तु उनका भाषण वही घिसा-पिटा पुराना भाषण था जो जनता अनेक बार सुन चुकी थी कि प्रत्येक भारतीय को अपनी सरकार से सहयोग करना चाहिए। भाषण समाप्त होने पर परम्परा के अनुसार तालियाँ बजीं। इसके बाद भीड़ में से एक श्वेतकेशी वृद्ध लड़खड़ाते हुए खड़े हुए और उन्होंने कहा कि अपनी भारत सरकार के लिए वह प्रत्येक सहयोग देने को तैयार थे तथा वह तो ईश्वर से यह प्रार्थना करते थे कि देश की सेवा में उनका हाथ कटने पर भी उनकी तलवार चलती रहे। उन्होंने इस बात पर हर्ष प्रकट किया कि सरकार नागरिकों का सहयोग चाहती है किन्तु साथ ही यह भी कहा कि नागरिक भी अपनी सरकार से कुछ अपेक्षा रखते हैं। नेताजी से उन्होंने प्रश्न किया कि क्या सरकार का नागरिकों के प्रति कोई

कतल्य नहीं है ? क्या उसे उनके भोजन, वस्त्र और निवास का प्रबन्ध नहीं करना चाहिए ? गांधी में न स्कूल थे, न अस्पताल थे तथा न सड़कें थीं । ये तो उनकी भूतभूत आवश्यकताएँ थीं जिनका उनके जीवन में नितान्त अभाव था । अन्त में उन्होंने नेताजी को तलाह दी कि यह जा कर अपनी मर्का को यह रह दें कि तब तक सरकार इन चीजों का प्रबन्ध नहीं करेगी, जनता उसका साथ नहीं देगी । इतना कह कर यह वृद्ध भोड़ में ग्यो गए ।

अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को बुला कर उनके दुःख-गुण को बानें पूछना और दयापत्रित उनकी सहायता करना मैंने अपना नियम बना लिया था । एक बार एक कर्क ने मुझे अपनी दयनीय स्थिति बतलाई कि उमें बहुत थोड़ा बेतन मिलता था जिनमें उससे बान-बच्चों का ठीक में गुडारा भी नहीं हो जाता था । उसकी पत्नी बहुत बीमार थी किन्तु न वह उसको डॉक्टर को दिया पाया था और न उमें कोई दवाई दिना पाया था । उसकी दो लड़कियाँ स्कूल में पढ़ती थीं किन्तु उनकी पीस न पहुँचने के कारण उनका नाम कट गया था तथा अब वे पर बटी हुई थीं । इस करुण गाथा को सुन कर मेरा हृदय रो उठा और मैंने उनकी अविश्व सहायता की । एक अपने परिचित बरिष्ठ सैनिक चिकित्सक को इस बात के लिए तैयार किया कि वह जा कर उन रण स्त्री की चिकित्सा करें और अपनी डिस्पेंसरी में सरकारी औषधियाँ उमें दें । उन सज्जन डॉक्टर ने ऐसा ही किया और वह स्त्री कुछ समय बाद स्वस्थ हो गई । यह मैं मानता हूँ कि मैंने एक-दो नियमों का उल्लंघन किया है किन्तु किसी अनुचित काम के लिए नहीं । फिर मैंने 'जैस्टेटनरम' नामक फर्म में उस कर्क को दोनों लड़कियों के प्रतिदान का प्रबन्ध कराया और प्रशिक्षण पूरा होने पर उन्हें नोकरियाँ दिलवा दीं । उस परिवार में एक बार फिर गुडहाली छा गई और जीवन सुखमय हो गया ।

सन् १९५३ में दोष अन्दुल्ला ने अपने निजी बक्तव्यों में एक नयी बात कहनी शुरू कर दी जिसका भाव यह था कि कश्मीर-समस्या को इस प्रकार हल किया जाए कि जिसमें भारत, पाक और कश्मीर, तीनों सन्तुष्ट हो जाएँ । अब उन्होंने पाकिस्तान का नाम भी लेना शुरू कर दिया था जैसा पहले कभी नहीं किया था । दूसरे शब्दों में, उनके कहने का अभिप्राय यह था कि कश्मीर को स्वतन्त्र तत्ता दे दी जाए । माय ही अन्दुल्ला ने भारत के विरुद्ध अनेक मनगढन्त शिकायतें लगानी शुरू कर दी और उनका व्यवहार बड़ा उद्धत हो गया । अन्दुल्ला के इन बक्तव्यों में नेहरू बड़े परेशान हुए और उन्होंने अपनी परेशानी अन्दुल्ला को लिखी । उत्तर में अन्दुल्ला ने अपने बक्तव्यों में जो कुछ कहा था, उसे दोहरा दिया । तब नेहरूने मौलाना आजाद को श्रीनगर

भेजा ताकि वह उन्हें समझा-बुझा कर सीधे रास्ते पर ला सकें। उस दिन ईश थी और श्रीनगर में अब्दुल्ला ने सार्वजनिक भाषण दिया जिसमें उन्होंने भारत के विन्द्व बड़ी विद्रोहजनक और सन्तुतापूर्ण वार्ते कहीं। इस भाषण से मौलाना आजाद को विश्वास हो गया कि अब्दुल्ला किसी तर्कसंगत बात को सुनने के लिए तैयार नहीं थे और वह दिल्ली लौट आए।

जुलाई के मध्य में डी० पी० घर दिल्ली आए और उन्होंने कश्मीर में फैले अशांतिपूर्ण राजनीतिक वातावरण से प्रवान मन्त्री को परिचित कराया। नेहरू ने अपने मन्त्रि-मण्डल के प्रभावशाली व्यक्ति रफी अहमद किदवई को फोन किया और उन्हें डी० पी० घर से तुरन्त बात करने के लिए कहा। अगले दिन सुबह किदवई और घर की बातचीत हुई और उस वार्ता के अन्त में किदवई ने निम्नलिखित टिप्पणियाँ लिखीं :

(क) कश्मीर एक महत्त्वपूर्ण सीमान्त राज्य है और उसकी वागडोर किसी एक व्यक्ति या कुछ व्यक्तियों के एक विशिष्ट गुट के हाथ में नहीं छोड़नी चाहिए क्योंकि जो कुछ वहाँ घटेगा, उसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत पर पड़ेगा;

(ख) शेख अब्दुल्ला को हटाने का समय आ गया है।

किदवई ने घर से पूछा कि यदि किदवई अब्दुल्ला से मिलने के लिए लिखें तो अब्दुल्ला की प्रतिक्रिया क्या होगी। डी० पी० घर ने उत्तर दिया कि वह अब्दुल्ला की प्रतिक्रिया के विषय में तो कुछ नहीं कह सकते किन्तु इतनी सलाह अवश्य देंगे कि किदवई अब्दुल्ला को दिल्ली न बुला कर स्वयं कश्मीर जाएँ। किदवई ने यह सलाह मान ली और इस आशय का एक पत्र अब्दुल्ला को लिख दिया जिसके उत्तर में अब्दुल्ला ने लिखा कि इस प्रकार की मुलाकात का कोई लाभ नहीं निकलेगा। साथ ही उन्होंने किदवई को यह सलाह दी कि इस मामले में वह बीच में न पड़ें अन्यथा उनकी प्रतिष्ठा पर धक्का लग जाएगा। किदवई ने फोन करके अब्दुल्ला को कहा कि वह उनकी प्रतिष्ठा की चिन्ता न करें तथा परस्पर मिल कर इस समस्या को हल करने का प्रयत्न करें। किन्तु अब्दुल्ला ने स्पष्ट कह दिया कि वह मुलाकात करने के लिए तैयार नहीं थे। अब्दुल्ला के इस धृष्टतापूर्ण उत्तर पर किदवई को बहुत क्षोभ हुआ। २५ जुलाई के आतपात डी० पी० घर उनको दिल्ली में फिर मिले और कश्मीर के विविध नेताओं के प्रापसी तनाव तथा राज्य की असन्तोषजनक स्थिति से उन्हें अवगत कराया। अगले दिन, नेहरू और किदवई ने एक साथ मिल कर इस समस्या पर विचार किया। नेहरू द्वारा पूछे जाने पर कि इस समस्या का सम्भावित समाधान क्या है, किदवई तो चुप रहे किन्तु घर ने उत्तर दिया कि इस समय सक्त करन

उटाने की जरूरत थी। तब नेहरू ने अब्दुल्ला का वह पत्र दिग्लयाया जो उन्हें उसी दिन मिला था। इस पत्र में अब्दुल्ला ने निम्नलिखित बातें कही थी :

- (अ) भारत कश्मीर की स्वायत्त मत्ता को नष्ट कर रहा था और इससे कश्मीरियों में काफी असंतोष फैला हुआ था;
- (आ) उस समय वह बहुत ध्यस्त थे तथा कश्मीर समस्या पर नेहरू से बातचीत करने के लिए दिल्ली आना उनके लिए सम्भव नहीं था (नेहरू ने उन्हें दिल्ली आने के लिए लिखा था),
- (इ) यद्यपि वह नेहरू का काफी सम्मान करते थे किंतु जीवन में कुछ ऐसे अवसर भी आते हैं जब व्यक्तिगत सम्बन्धों की तुलना में राष्ट्रीय हित को महत्त्व देना पड़ता है।

जब इस पत्र को पढ़ कर डी० पी० धर चुप रहे तो नेहरूने यह पत्र किदवर्ड को पढ़ने के लिए दिया और उनमें अपना विचार व्यक्त करने को कहा। किदवर्ड ने नेहरू से कहा कि उन्हें अब्दुल्ला की सलाह के अनुसार काम करना चाहिए अर्थात् राष्ट्र-हित के सामने व्यक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। (जिस का अर्थ यह था कि नेहरू अब्दुल्ला के साथ सस्ती में पेश आएँ।)

नेहरू के यहाँ में आने के बाद धर और किदवर्ड ने फिर बातचीत की और निर्णय किया कि यदि घावश्यकता पड़े तो कश्मीर में सस्ती बरती जाए। जब धर ने किदवर्ड का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि इन मामलों में नेहरू नरमो से काम लेना चाहते थे तो किदवर्ड ने आश्वासन दिलाया कि प्रधान-मन्त्री को वह समझा-बुझा लेंगे।

डी० पी० धर ने पहले किदवर्ड से और बाद में नेहरू में प्रार्थना की कि कश्मीर की स्थिति को नियन्त्रण में लाने के लिए उनकी तथा उनके साथियों की सहायता के लिए मुझे कश्मीर भेज दिया जाए। नेहरू तो धर और किदवर्ड के मन्तव्य से पहले ही आशंकित थे और जब उन्होंने मेरा नाम सुना तो उनके मन में यह भय पैदा हुआ कि हम तीनों मिल कर कही ऐसे मनमाने और एक-तरफा काम न कर बैठें जो उनको पसन्द न आएँ। इसलिए मेरा नाम सुन कर पहले तो वह हिवकिचाए किन्तु जब ज्यादा कहा-सुना गया तो मुझे गैर-सरकारी रूप में कश्मीर भेजने के लिए उन्होंने हाँ कर ली। इतना प्रबन्ध करने के बाद डी० पी० धर कश्मीर चले गए और वहाँ की स्थिति में किदवर्ड को बराबर अवगत कराते रहे।

जुलाई १९५३ के अंतिम सप्ताह की बात है कि एक दिन, सात दिन लगातार काम करते रहने के कारण मैं बहुत अधिक थक गया था और जल्दी घर जाने की सोच रहा था कि पोन पर संदेश मिला कि प्रधान मन्त्री

मुझे मे तुरन्त मिलना चाहते थे। जब मैं उनसे विदेश मंत्रालय के कार्यालय में मिला तो उन्होंने कहा कि वह जो कुछ कहने जा रहे थे, वह व्यक्तिगत रूप में कह रहे थे और वह सरकारी रिकार्ड में नहीं होगा। फिर उन्होंने पूछा कि क्या मुझे कश्मीर की तत्कालीन स्थिति पता थी। मैंने उत्तर दिया कि जो कुछ मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ा था, उसके आधार पर कह सकता था कि वहाँ की स्थिति काफी उलझनपूर्ण थी। उन्होंने इससे सहमत होते हुए कहा कि उस समय सबसे बड़ी समस्या थी कश्मीर^{३७} को आन्तरिक रूप से शक्तिशाली और सुस्थिर बनाने की क्योंकि ऐसा हो जाने के बाद किसी भी प्रकार का बाहरी प्रभाव कश्मीर में भारत की स्थिति को कमजोर नहीं कर पाएगा।

तब नेहरू ने कश्मीर की अशान्तिपूर्ण स्थिति का विवरण देते हुए बतलाया कि युवराज, शेख अब्दुल्ला तथा बख्शी गुलाम मोहम्मद में आपस में काफी फूट पड़ी हुई थी। शेख अब्दुल्ला का भारत के प्रति रुख अचानक शत्रुतापूर्ण हो गया था। इस प्रकार की उद्धतता शेख ने पहले कभी नहीं दिखाई थी। इस समय अब्दुल्ला नये-नये प्रश्न उठा रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा कि कुल मिला कर कश्मीर से बहुत अशान्तिपूर्ण समाचार मिल रहे थे। यद्यपि उनकी सामान्य सिविल ऐजेंसियाँ तो उन्हें प्रत्येक सूचना भेजती ही रहेंगी किन्तु उनकी इच्छा यह थी कि मैं कुछ दिन की छुट्टियाँ ले कर कश्मीर जाऊँ और वहाँ की घटनाओं से उन्हें सूचित करता रहूँ। उन्होंने आगे कहा कि ऐसे संकट-काल में मेरा कश्मीर में मौजूद होना काफी अच्छा रहेगा।

मैंने आर्मी चीफ से दस दिन की छुट्टी ली और मैं श्रीनगर पहुँच गया। मेरे पहुँचने की सूचना नेहरू ने सम्बन्धित व्यक्तियों को पहले ही फोन पर दे दी थी। मैं कश्मीर गैर-सरकारी रूप में गया था। वहाँ मैं मेजर जनरल हीरालाल अटल के पास श्रीनगर में ठहरा। पहुँचते ही मैं शेख से मिलने गया। बातचीत के मध्य उन्होंने भारत के विरुद्ध अनेक शिकायतें बतलाईं और कहा कि कश्मीर का भाग्य कश्मीरियों के हाथ में छोड़ देना चाहिए जो न भारत के साथ मिलना चाहते थे और न पाक के, अपितु स्वतन्त्र रहना चाहते थे। मैंने उनसे कहा कि यदि कश्मीर को स्वायत्त सत्ता दे दी गई तो भारत के शेष चार करोड़ मुसलमानों का क्या होगा? इस पर उन्होंने कहा कि भारत से उनको

३७. कुछ दिन पहले नेहरू ने कहा था, "कश्मीर के सम्बन्ध में हमने अपना रुख बिल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि हम वहाँ से हटने वाले नहीं हैं—इस सम्बन्ध में यह बात हरेक को साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हम किसी प्रकार के दबाव में आने वाले नहीं हैं।" और इसके कुछ दिन बाद मेनन ने कहा था, "यदि कश्मीर के सम्बन्ध में हमारा रुख किसी को समझ नहीं आया है तो इसके लिए हमारे संचार-यन्त्र (ट्रांसमिशन एपरेट्स) को दोष देना व्यर्थ है क्योंकि दोष उन लोगों के आदान-यन्त्र (रिसीविंग सैट) में है।"

कुछ सेना-सेना नहीं पा। साथ ही उन्हें
धान्यरिक्त मामलों में हस्तक्षेप करने से भा
घनाने पड़ेगे। अन्त में उन्होंने यह कहा
कि उन्हें 'घरे कमर' बेकार के लिए न

प्रब मुझे इसमें कोई संदेह नहीं
तैयार) अन्दुल्ला से बाध कर रहा था।
शिव नेता से किन्तु प्रशासन में बहुत प्रवि
अन्यायपूर्ण काम करने तथा भाई-भतीज
जनता के सामने उनका दूसरा ही रूप उभ
कोपी रूप जनता के सामने था और जनत
प्रब तो लोग नेहरू से भी अप्रसन्न होना न
कि नेहरू अन्दुल्ला का समर्थन कर के निर्दो
क्यों कर रहे थे। अन्दुल्ला के व्यक्तिगत
विस्मय मनेरु चिकायों जनता के पास थी।

जनता के कष्टों एवं उनकी दरिद्रता के
की कोई इच्छा थी और न उन्होंने इस घोर
ध्यान इस दिशा से हटाने के लिए उन्होंने
घोर कमर के भारत में मिलने को 'सत
जबकि इस विचार के शिली वही थे।
सरकार प्रदान की थी और १९४७ में गोमा
था, उद्योग जन-शक्ति ने अन्दुल्ला को कदम
बनाया था। लोगों ने अन्दुल्ला से यह धा
करके घोर प्रपत्ते दिये हुए वचनों को पूरा
नाते यह सब उनकी जिम्मेदारी थी तथा
उनके हाथ में थे। किन्तु घटनाओं ने इसक
अन्दुल्ला अपने दायित्व को पूरा करने में अ
धार्मिक स्थिति को और बिगाड़ कर रख दि
के अन्वयन में यह पूर्णरूपेण असफल ही नहीं
छाया में और फले-फूले। भूमि-मुधार की दि
पाए तथा कृषकों की स्थिति और दयनीय।
साधारण के अधिक और सांस्कृतिक जीवन क
था। लोग प्रब भी उतने ही निरक्षर थे, अज्ञा
स्वच्छता मिलने से पहले। सगता या जैसे
कनी ही नहीं थी। इतनी अययशपूर्ण घोर का

वेतारती दी कि यदि कमर के
नहीं रंगना तो उन्हें दूगरे गस्ते
भारत को यह नहीं भूतना चाहिए
कहा जाता था।

शु कि मैं मुदोगत (गुज के लिए
क समय या जब अन्दुल्ला जनता के
हस्तक्षेप करने, प्रविशकपूर्ण एव
साद हो प्रथम देने के कारण प्रब
प्राया था। प्रब उनका क्रम घोर
को उनमें कोई विश्वास नहीं था।
हो गए थे घोर जानना चाहने से
कसभीयों के जीवन से रिक्तवाड़
खहार तथा पशुपालपूर्ण कामों के
निवारण करने की न तो अन्दुल्ला
कोई ध्यान दिया था। जनता का
अनीतिक उलभनें मड़ी कर दी थी
'गनाक' कहना शुरू कर दिया था
जन-शक्ति ने देश को स्वायत्त
पार के प्राक्रमण को विफल किया
र की सरकार का प्रधान मन्त्री
गा की थी कि वह प्रदेश में मुधार
होगे। सरकार का प्रमुख होने के
लिको पूरा करने के सब साधन
उल्टा ही चित्र प्रस्तुत किया।
किये रहे थे तथा उन्होंने लोगों की
था। पूगाचोरी घोर अष्टाचार
हुए अपितु ये दोनों उनकी छत्र-
शा में वह कोई कदम नहीं उठा
गई थी। न ही उन्होंने जन-
मुधारने का कोई प्रयास किया
के अन्धकार में थे जितने कि
लिके लिए कोई स्वायत्त सरकार
तमायुक्त पृष्ठभूमि ही क्या कम

मुझे से तुरन्त मिलना चाहते थे। जब मैं उनसे विदेश मंत्रालय के कार्यालय में मिला तो उन्होंने कहा कि वह जो कुछ कहने जा रहे थे, यह व्यक्तिगत रूप से कह रहे थे और वह सरकारी रिकार्ड में नहीं होगा। फिर उन्होंने पूछा कि क्या मुझे कश्मीर की तत्कालीन स्थिति पता थी। मैंने उत्तर दिया कि जो कुछ मैंने समाचार-पत्रों में पढ़ा था, उसके आधार पर कह सकता था कि वहाँ की स्थिति काफी उलझनपूर्ण थी। उन्होंने इससे सहमत होते हुए कहा कि उस समय सबसे बड़ी समस्या थी कश्मीर³⁹ को आन्तरिक रूप से शक्तिशाली और सुस्थिर बनाने की क्योंकि ऐसा हो जाने के बाद किसी भी प्रकार का बाहरी प्रभाव कश्मीर में भारत की स्थिति को कमजोर नहीं कर पाएगा।

तब नेहरू ने कश्मीर की अशान्तिपूर्ण स्थिति का विवरण देते हुए बतलाया कि युवराज, शेख अब्दुल्ला तथा बरूही गुलाम मोहम्मद में आपस में काफी झूट पड़ी हुई थी। शेख अब्दुल्ला का भारत के प्रति रुख अचानक शत्रुतापूर्ण हो गया था। इस प्रकार की उद्वतता शेख ने पहले कभी नहीं दिखाई थी। इस समय अब्दुल्ला नये-नये प्रश्न उठा रहे थे। अन्त में उन्होंने कहा कि कुल मिला कर कश्मीर से बहुत अशान्तिपूर्ण समाचार मिल रहे थे। यद्यपि उनकी सामान्य सिविल ऐंजिनियर्स तो उन्हें प्रत्येक सूचना भेजती ही रहेंगी किन्तु उनकी इच्छा यह थी कि मैं कुछ दिन की छुट्टियाँ ले कर कश्मीर जाऊँ और वहाँ की घटनाओं से उन्हें सूचित करता रहूँ। उन्होंने आगे कहा कि ऐसे संकट-काल में मेरा कश्मीर में मौजूद होना काफी अच्छा रहेगा।

मैंने आर्मी चीफ से दस दिन की छुट्टी ली और मैं श्रीनगर पहुँच गया। मेरे पहुँचने की सूचना नेहरू ने सम्बन्धित व्यक्तियों को पहले ही फोन पर दे दी थी। मैं कश्मीर गैर-सरकारी रूप में गया था। वहाँ मैं मेजर जनरल हीरालाल अटल के पास श्रीनगर में ठहरा। पहुँचते ही मैं शेख से मिलने गया। वातचीत के मध्य उन्होंने भारत के विरुद्ध अनेक शिकायतें बतलाई और कहा कि कश्मीर का भाग्य कश्मीरियों के हाथ में छोड़ देना चाहिए जो न भारत के साथ मिलना चाहते थे और न पाक के, अपितु स्वतन्त्र रहना चाहते थे। मैंने उनसे कहा कि यदि कश्मीर को स्वायत्त सत्ता दे दी गई तो भारत के शेष चार करोड़ मुसलमानों का क्या होगा? इस पर उन्होंने कहा कि भारत से उनको

39. कुछ दिन पहले नेहरू ने कहा था, "कश्मीर के सम्बन्ध में हमने अपना रुख विल्कुल स्पष्ट कर दिया है कि हम वहाँ से हटने वाले नहीं हैं—इस सम्बन्ध में यह बात हरके को साफ-साफ समझ लेनी चाहिए कि हम किसी प्रकार के दबाव में आने वाले नहीं हैं।" और इसके कुछ दिन बाद मेनन ने कहा था, "यदि कश्मीर के सम्बन्ध में हमारा रुख किसी को समझ नहीं आया है तो इसके लिए हमारे संचार-यन्त्र (ट्रांसमिशन एपरेटस) को दोप देना व्यर्थ है क्योंकि दोप उन लोगों के आदान-यन्त्र (रिसीविंग सैट) में है।"

बुद्ध नेता-नेता नहीं था। नाथ ही उन्होंने धेतावनी दी कि यदि कश्मीर के प्राकृतिक माननों में हस्तक्षेप करने में भारत नहीं होगा तो उन्हें दूरारे रास्ते घटाने पड़ेंगे। पन्ना में उन्होंने यह कहा कि भारत को यह नहीं भूतना चाहिए कि उन्हें 'धेरे कश्मीर' बेकार के लिए नहीं कहा जाता था।

प्रथम मुझे शक्य कोई गन्देश नहीं रहा कि मैं गुडोगत (गुड के लिए बेकार) प्रवृत्तता में बाध कर रहा था। एक समय था जब प्रवृत्तता जनता के द्विज नेता के सिन्धु प्रशासन में बहुत अधिक हस्तक्षेप करने, प्रविशकपूर्ण एवं प्रशासनपूर्ण काम करने तथा भारी-भतीजावाद को प्रथम देने के कारण प्रथम जनता के सामने उनका दूसरा ही रूप उभर आया था। प्रथम उनका कर घोर शोषी रूप जनता के सामने था और जनता को उनमें कोई विश्वास नहीं था। प्रथम तो लोग नेहरू में भी प्रथम होना शुरू हो गए थे और जानना चाहते थे कि नेहरू प्रवृत्तता का समर्थन कर के निर्दोष कश्मीरियों के जीवन से सिन्धुवाड क्यों कर रहे थे। प्रवृत्तता के व्यक्तिगत व्यवहार तथा प्रशासनपूर्ण कामों के विरुद्ध प्रतिक प्रतिकारों जनता के पास थीं।

जनता के कष्टों एवं उनकी दरिद्रता के निवारण करने की न तो प्रवृत्तता को कोई इच्छा थी और न उन्होंने इस घोर कोई ध्यान दिया था। जनता का ध्यान इस दिशा में हटाने के लिए उन्होंने राजनीतिक उन्नतों लड़ी कर दी थी और कश्मीर के भारत में मिलने को 'गतस्ताक' कहना शुरू कर दिया था जबकि इस विचार के माली नहीं थे। जिन्हा जन-शक्ति ने देश को स्वायत्त सरकार प्रदान की थी और १९५७ में गीमा-भार के प्राप्तण को विफल किया था, उन्ही जन-शक्ति ने प्रवृत्तता को कश्मीर की सरकार का प्रधान मन्त्री बनाया था। लोगों ने प्रवृत्तता में यह धाना की थी कि वह प्रदेश में गुधार करेंगे और अपने दिव्य हुए बचनों को पूरा करेंगे। सरकार का प्रभुता होने के नाते यह सब उनकी जिम्मेदारी थी तथा इसको पूरा करने के सब साधन उनके हाथ में थे। किन्तु घटनाओं ने इसका उल्टा ही चित्र प्रस्तुत किया। प्रवृत्तता अपने दायित्व को पूरा करने में प्रयत्न रहे थे तथा उन्होंने लोगों की आर्थिक स्थिति को और बिगाड़ कर रख दिया था। घूमसोरी और भ्रष्टाचार के उन्मूलन में यह पूर्णरूपेण असफल ही नहीं हुए अपितु ये दोनों उनकी छत्र-छाया में और फले-फूले। भूमि-गुधार की दिशा में वह कोई कदम नहीं उठा पाए तथा कृषकों की स्थिति और दयनीय हो गई थी। न ही उन्होंने जन-साधारण के आर्थिक और सांस्कृतिक जीवन को गुधारने का कोई प्रयास किया था। लोग प्रथम भी उतने ही निरक्षर थे, प्रज्ञान के अन्धकार में थे जितने कि स्वतन्त्रता मिलने में पहले। तमता था जैसे उनके लिए कोई स्वायत्त सरकार बनी ही नहीं थी। इतनी प्रयत्नपूर्ण और कालिमायुक्त पृष्ठभूमि ही क्या कम

थी कि ग्राम अब्दुल्ला अपने राजनीतिक पेशे^{३८} से भी पीछे हट रहे थे।

इस प्रकार का कुप्रबन्ध सहन नहीं किया जा सकता था। इसलिए, इस प्रकार की परिस्थितियों में उनकी पदच्युत कर देना कोई अस्वाभाविक नहीं था। लोकतन्त्रीकरण की दिशा में इस प्रकार का कदम अपरिहार्य था। जब किसी लोकतन्त्र सरकार का कोई अंग गल जाए और सड़ान्व देने लगे, तो उसको काट देना ही जन-स्वास्थ्य के हित में है। कश्मीर में यही कुछ हो रहा था। प्रदेश के लोगों को सन्तोषजनक जीवन भेंट करने में अपनी असमर्थता, लोगों का शोषण करने वाली सामन्ती प्रथा को समाप्त करने में अपनी अयोग्यता तथा निरक्षरता एवं दरिद्रता के अभिशाप को मिटाने में अपनी अक्षमता के लिए अब्दुल्ला की खूब आलोचना हो रही थी। उनका सर्वप्रथम लक्ष्य होना चाहिए था कि वह सामान्य व्यक्ति के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाते किन्तु वह इसमें भी पूर्णरूपेण असफल रहे।

भारतीय जनता में भी इस बात पर आक्रोश प्रकट किया जा रहा था कि कश्मीर को अन्य प्रदेशों की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ क्यों दी जा रही थीं। जनता पूछ रही थी कि उसकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने की अनुमति अब्दुल्ला को क्यों दी गई तथा इतना अधिक कुप्रशासन फैलाने तथा केन्द्रीय सरकार की अवज्ञा करने के बाद भी अब्दुल्ला को डील क्यों दी जा रही थी?

बख्शी, डी० पी० धर तथा प्रबुद्ध युवा शासक युवराज कर्णसिंह से मैंने कई बार काफी देर तक बातचीत की। उन सबका निष्कर्ष यही निकला कि अब्दुल्ला दिन-प्रति-दिन असह्य होते जा रहे थे। कुछ ऐसा भी अनुमान लगा जैसे कि उनके मन में कुछ और हो। अगले तीन दिन उनकी गतिविधियाँ काफी रहस्यमयी रहीं किन्तु हमने भी उन पर तेज़ निगाह रखी। डी० पी० धर और बख्शी ने मुझे बतलाया कि उन्हें एक नयी बात सुनाई पड़ी थी कि शेख गुलमर्ग—श्रीनगर से सड़क द्वारा एक घण्टे का रास्ता तथा भारत-पाक सीमा से सात मील इधर—जा रहे थे जहाँ अपने सीमा-पार के कुछ मित्रों से बातचीत करेंगे तथा लौट कर घर और बख्शी पर कुछ भूटे आरोप लगा कर उन्हें कैद कर लेंगे। और फिर मन्त्रिमण्डल में अपना स्थान सुरक्षित करने के लिए अपने कुछ पिछलग्गुओं को घर और बख्शी का स्थान दे देंगे। इसके बाद वह पत्रकार सम्मेलन में कश्मीर को स्वाधीन राज्य घोषित कर के भारत से (पाकिस्तान से क्यों नहीं?) कहेंगे कि वह अपनी सेना वापस बुला ले। इस प्रकार कश्मीर-समस्या उनके हिसाब से सुलभ जाएगी।

युवराज, बख्शी, घर तथा मैं सारी रात इस गम्भीर एवं विस्फोटक स्थिति

३८. सबसे बड़ी बात यह थी कि जम्मू और कश्मीर प्रदेश में कानून की मर्यादा भंग हो चुकी थी तथा वहाँ अराजकता और नशंसता का साम्राज्य था।

पर विचार करने रहे। धन में हमने निर्णय किया कि अब्दुला के विरुद्ध सलत कदम उठाने का समय आ पहुँचा था। यदि एक बार अब्दुला ने कश्मीर को स्वाधीन राज्य घोषित कर दिया तो इसकी क्या गारण्टी थी कि सीमा-पार से कोई विदेशी सत्ता न आ घमसे। १९४७^{३६} में भी यही हुआ था और इसके लिए काफी 'अच्छे' कारण दिये गए थे जैसे कि विदेशी सीमा का उल्लंघन करना कभी न्यायसंगत ठहराया जा सकता हो।

इतना विश्लेषण करने के बाद भी हमने यह अच्छा समझा कि इस समस्या स्थिति में नेहरू को अवगत करा दिया जाए। क्योंकि इतने नाजुक मामले के सम्बन्ध में फोन पर चर्चा करना उचित नहीं था, इसलिए यह निर्णय हुआ कि मैं तुरन्त दिल्ली चला जाऊँ।

अंधेरा फैलने लगा था और बनिहाल दर्रे पर काफी तूफानी मौसम था। हवाई-यात्रा के लिए न यह कोई उचित समय था और न कोई अनुकूल मौसम। प्लाइट लेफटी० गामा ने मुझे इस मायावी मौसम के सम्बन्ध में चेतावनी दी किन्तु मेरे हठ करने पर वह तैयार हो गए। २ अगस्त १९५३ को साय-काल ६ बजे हम चल पड़े। बनिहाल दर्रे के ऊपर हमें गरजने वाल, तूफानी^० मौसम और मूसलाधार वर्षा का सामना करना पड़ा किन्तु हम किसी प्रकार उस रात दिल्ली पहुँच गए। इसका श्रेय गामा के कुशलतापूर्ण और माहमपूर्ण वायुयान-चालन को है।

हवाई अड्डे से मैं सीधा नेहरू के निवास-स्थान पर पहुँचा और उन्हें सारी स्थिति बतलाई। मैंने उनसे स्पष्ट कहा कि अपनी इस चाल से अब्दुला भारत (और पाकिस्तान?) दोनों से सौदेबाजी करना चाहते थे क्योंकि उनका विचार था कि दोनों देशों का सत्ता-सन्तुलन उनके हाथ में था और इस समय वह जो चाहे सो कर सकते थे। मेरी बात सुनने पर नेहरू ने कहा कि चाहे युवराज, बस्गी और घर ने कुछ भी सोचा हो, किन्तु अब्दुला को किसी भी परिस्थिति में गिरफ्तार नहीं करना था क्योंकि अपने इस कदम की न्यायोचितता हम विश्व के सामने सतोपजनक रूप से कभी नहीं रख पाएँगे। मैंने नेहरू को बहुत समझाया कि अब्दुला का स्वतन्त्र रहना भारत के लिए बहुत खतरनाक सिद्ध हो सकता था, बस्गी, घर तथा अन्य मन्त्रियों को भूँडे आरोपों में गिरफ्तार किया जा सकता था तथा और भी अत्याचार दाये जा सकते थे किन्तु

३९. जैसा कि १९६५ में हुआ।

४०. प्रतिकूल मौसम होने के कारण, वायुयान का मुख्य नियन्त्रण अस्थायी रूप से सराव हो गया किन्तु गामा अपनी अन्तश्चेतना, साहस और वायुयान-चालन के ज्ञान के बल पर बढ़ते गए। मैंने उन्हें पुरस्कार दिये जाने की सिफारिश की थी किन्तु उन्हें पुरस्कार मिला नहीं।

थी कि अब अब्दुल्ला अपने राजनीतिक पक्ष^{३८} से भी पीछे हट रहे थे।

इस प्रकार का कुप्रबन्ध सहन नहीं किया जा सकता था। इसलिए, इस प्रकार की परिस्थितियों में उनको पदच्युत कर देना कोई अस्वाभाविक नहीं था। लोकतन्त्रीकरण की दिशा में इस प्रकार का कदम अपरिहार्य था। जब किमी लोकतन्त्र सरकार का कोई अंग गल जाए और सड़ान्ध देने लगे, तो उसको काट देना ही जन-स्वास्थ्य के हित में है। कश्मीर में यही कुछ हो रहा था। प्रदेश के लोगों को सन्तोषजनक जीवन भेंट करने में अपनी असमर्थता, लोगों का शोषण करने वाली सामन्ती प्रथा को समाप्त करने में अपनी अयोग्यता तथा निरक्षरता एवं दरिद्रता के अभिशाप को मिटाने में अपनी अक्षमता के लिए अब्दुल्ला की खूब आलोचना हो रही थी। उनका सर्वप्रथम लक्ष्य होना चाहिए था कि वह सामान्य व्यक्ति के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाते किन्तु वह इसमें भी पूर्णरूपेण असफल रहे।

भारतीय जनता में भी इस बात पर आक्रोश प्रकट किया जा रहा था कि कश्मीर को अन्य प्रदेशों की अपेक्षा विशेष सुविधाएँ क्यों दी जा रही थीं। जनता पूछ रही थी कि उसकी भावनाओं के साथ खिलवाड़ करने की अनुमति अब्दुल्ला को क्यों दी गई तथा इतना अधिक कुप्रशासन फैलाने तथा केन्द्रीय सरकार की अवज्ञा करने के बाद भी अब्दुल्ला को डील क्यों दी जा रही थी?

बख्शी, डी० पी० धर तथा प्रबुद्ध युवा शासक युवराज कर्णसिंह से मैंने कई बार काफी देर तक बातचीत की। उन सबका निष्कर्ष यही निकला कि अब्दुल्ला दिन-प्रति-दिन असह्य होते जा रहे थे। कुछ ऐसा भी अनुमान लगा जैसे कि उनके मन में कुछ और हो। अगले तीन दिन उनकी गतिविधियाँ काफी रहस्यमयी रहीं किन्तु हमने भी उन पर तेज़ निगाह रखी। डी० पी० धर और बख्शी ने मुझे बतलाया कि उन्हें एक नयी बात सुनाई पड़ी थी कि शेख गुलमर्ग—श्रीनगर से सड़क द्वारा एक घण्टे का रास्ता तथा भारत-पाक सीमा से सात मील इधर—जा रहे थे जहाँ अपने सीमा-पार के कुछ मित्रों से बातचीत करेंगे तथा लौट कर घर और बख्शी पर कुछ भूटे आरोप लगा कर उन्हें कैद कर लेंगे। और फिर मन्त्रिमण्डल में अपना स्थान सुरक्षित करने के लिए अपने कुछ पिछलभुओं को घर और बख्शी का स्थान दे देंगे। इसके बाद वह पत्रकार सम्मेलन में कश्मीर को स्वाधीन राज्य घोषित कर के भारत से (पाकिस्तान से क्यों नहीं?) कहेंगे कि वह अपनी सेना वापस बुला ले। इस प्रकार कश्मीर-समस्या उनके हिसाब से सुलभ जाएगी।

युवराज, बख्शी, धर तथा मैं सारी रात इस गम्भीर एवं विस्फोटक स्थिति

३८. सबसे बड़ी बात यह थी कि जम्मू और कश्मीर प्रदेश में कानून की मर्यादा भंग हो चुकी थी तथा वहाँ अराजकता और नशांसला का साम्राज्य था।

पर विचार करते रहे। घना में हमने निर्णय किया कि अखण्डता के विच्छेद नहीं करने उद्योग का समय था पहुँचा था। यदि एक बार अखण्डता ने कश्मीर को स्वाधीन राज्य घोषित कर दिया तो इसी क्या गारण्टी थी कि सीमा-पार से कोई विदेशी सत्ता न आ पड़े। १९४७^{२६} में भी यही हुआ था और उसके लिए काफी 'अच्छे' कारण दिये गए थे जैसे कि विदेशी सीमा का उल्लंघन करना कभी न्यायसंगत टहनाया जा सकता हो।

इतना विद्वेषण करने के बाद भी हमने यह अच्छा समझा कि इस समझ-स्विति से नेहरू को प्रवृत्त करा दिया जाए। क्योंकि इतने नाजुक मामलों के सम्बन्ध में पंजाब पर बाँटें करना उचित नहीं था, इसलिए यह निर्णय हुआ कि मैं तुलना दिल्ली चला जाऊँ।

धनेरा फैलने लगा था और बनिहाल दर्रे पर काफी तूफानी मौसम था। हवाई-यात्रा के लिए न यह कोई उचित समय था और न कोई अनुकूल मौसम। फ्लाइट लेफ्टी० गामा ने मुझे इस मायावी मौसम के सम्बन्ध में चेतावनी दी किन्तु मेरे हठ करने पर वह तैयार हो गए। २ अगस्त १९५३ को गांधी-कान ६ बजे हम चल पड़े। बनिहाल दर्रे के ऊपर हमें गरजते बादल, तूफानी^{५०} मौसम और मूसलाधार वर्षा का सामना करना पड़ा किन्तु हम किसी प्रकार उस रात दिल्ली पहुँच गए। इसका श्रेय गामा के कुशलतापूर्ण और माहमपूर्ण वायुयान-चालन को है।

हवाई अड्डे से मैं सीधा नेहरू के निवास-स्थान पर पहुँचा और उन्हें सारी स्थिति बतलाई। मैंने उनसे स्पष्ट कहा कि अपनी इस चाल से अखण्डता भारत (और पाकिस्तान?) दोनों में सीदेबाजी करना चाहते थे क्योंकि उनका विचार था कि दोनों देशों का सत्ता-सन्तुलन उनके हाथ में था और इस समय वह जो चाहे सो कर सकते थे। मेरी बात सुनने पर नेहरू ने कहा कि चाहे युवराज, बल्ही और घर ने कुछ भी सोचा हो, किन्तु अब्दुल्ला को किसी भी परिस्थिति में गिरफ्तार नहीं करना था क्योंकि अपने इस कदम की न्यायोचितता हम विश्व के सामने संतोषजनक रूप में कभी नहीं रख पाएँगे। मैंने नेहरू को बहुत समझाया कि अब्दुल्ला का स्वतन्त्र रहना भारत के लिए बहुत खतरनाक मित्र हो सकता था, बल्ही, घर तथा अन्य मन्त्रियों को भूँटे आरोपों में गिरफ्तार किया जा सकता था तथा और भी अत्याचार डाले जा सकते थे किन्तु

३९. जैसा कि १९६५ में हुआ।

४०. प्रतिफल मौसम होने के कारण, वायुयान का मुख्य नियन्त्रण अस्थायी रूप से सहाय हो गया किन्तु गामा अपनी अन्तश्चेतना, साहस और वायुयान-चालन के ज्ञान के बल पर बढ़ते गए। मैंने उन्हें पुरस्कार दिये जाने की सिफारिश की थी किन्तु उन्हें पुरस्कार मिला नहीं।

नेहरू अपनी बात पर अड़े रहे। मैंने उन्हें वचन दिया कि मैं उनकी बात कभी पहुँच कर सब से कह दूँगा।

अगले दिन मैं श्रीनगर लौट गया। जब मैंने नेहरू के विचार उनके सामने व्यक्त किये तो उन पर अनेक प्रतिक्रियाएँ हुईं। हम सब असमंजस में पड़ गए। यदि हम नेहरू को पहले बता देते कि हम अब्दुल्ला को गिरफ्तार करने जा रहे थे तो वह हमें यह कदम न उठाने देते किन्तु स्वतन्त्र अब्दुल्ला कश्मीर के लोकतन्त्र के लिए खतरा बने हुए थे और हमारे राष्ट्रीय हितों के विरोधी थे। उनको गिरफ्तार करना नेहरू की इच्छा के विरुद्ध था किन्तु स्थिति इसके लिए विवश कर रही थी। काफी वाद-विवाद के बाद यह फैसला किया गया कि अब्दुल्ला को रोकने का समय आ गया था और यदि वह अपनी योजना को पूरा करना चाहें तो उन्हें गिरफ्तार कर लेना चाहिए था और इसके लिए नेहरू से पूछने की कोई आवश्यकता नहीं थी (यद्यपि युवराज का मत यह था कि इस कदम के उठाने से पहले नेहरू की अनुमति अनिवार्य थी)।

गुलमर्ग जाने से कुछ पहले अब्दुल्ला युवराज से मिलने गए क्योंकि कुछ समय से वह उनसे मिले नहीं थे। युवा शासक ने अब्दुल्ला को उनके कुप्रशासन का संकेत किया और उन्हें सँभल कर चलने की सलाह दी। शेख ने इन आरोपों से साफ इन्कार कर दिया और ऐसे दिखलाया जैसे कि यह सुन कर उनको बहुत बड़ा दुःख पहुँचा हो। किन्तु युवराज ने उन आरोपों को फिर दोहराया। इसके बाद शेख गुलमर्ग चले गए। संविधान सभा के अनेक सदस्यों ने उनको पहले ही लिखित विरोध-पत्र भेज दिये थे कि वह स्थिति को ठीक से नहीं सँभाल पा रहे थे।

उस दिन दोपहर बाद हमें पक्की सूचना मिल गई कि दो दिन बाद शेख अपनी योजना को व्यावहारिक रूप देने जा रहे थे। बख्शी और मैं पहले तो धर के मकान पर मिले और फिर युवराज के यहाँ। वातावरण तनावपूर्ण था। हममें से प्रत्येक घबड़ाया हुआ था। काफी आगा-पीछा सोचने के बाद यह निर्णय हुआ कि ८ अगस्त की रात को अब्दुल्ला को गिरफ्तार कर लिया जाए क्योंकि अब वह कानून के लिए पूरा खतरा बन गए थे। दिल्ली को स्थिति की भयंकरता नहीं मालूम थी।

सम्भावित परिणामों को दृष्टि में रख कर कुछ सतर्कतापूर्ण कदम भी उठाये गए जैसे माहुरा के विजलीघर, श्रीनगर के टेलीफोन केन्द्र तथा अन्य महत्त्वपूर्ण स्थानों पर सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध कर दिया गया।

पुलिस कप्तान एल० डी० ठाकुर तथा पुलिस उप-कप्तान शेख गुलाम कादिर को गुलमर्ग भेज दिया गया कि जब जम्मू और कश्मीर प्रदेश सेना के लेफ्टी० कर्नल बलदेवसिंह अब्दुल्ला को उनके पदच्युत (बर्खास्त) किये जाने का आदेश-पत्र पकड़ा दें तो वे दोनों उनको गिरफ्तार कर लें। ऐसा ही हुआ।

घादेन-पत्र मिलने पर पहले तो अब्दुल्ला बीखलाये, गर्म हुए कि ऐसा उनके साथ कोई नहीं कर सकता किन्तु फिर ठण्डे पड गए। नमाज पढ कर और घाल इण्टिया रेडियो से समाचार सुन कर वह ऊधमपुर जेल के लिए चल पडे। यह ६ अगस्त के मुबहू की घटना है। यह काम काफी चुपचाप किया गया था किन्तु न मालूम अब्दुल्ला की गिरफ्तारी का समाचार कैसे फैल गया। (थीनगर से पाँच मील बाहर उस स्थान पर मैं खडा हुआ था जहाँ से अब्दुल्ला को ऊधमपुर जेल की ओर ले जाने वाली बन्द गाडी मेरे पास से गुजरी। जिम भमय बहशी को जम्मू और कश्मीर के प्रधान मन्त्री पद की शपथ दिनायी गई, मैं उस समय वहीं मौजूद था।)

अब्दुल्ला की गिरफ्तारी के बाद कुछ छिटपुट घटनाएँ घटी। सयुक्त राष्ट्र सभ का प्रेक्षक दल जो सीमा के निकट ही था, सफेद जीपों में बैठ कर थीनगर की ओर भागा। किन्तु बहशी और घर ने इस समस्त स्थिति का दृढ़ता से सामना किया। इन सब घटनाओं का मैं चरमदीद गवाह हूँ और थीनगर एव घाटी में शान्ति बनाये रखने के लिए जो कुछ मैं कर सकता था, वह मैंने किया।

६ अगस्त को जब नेहरू ने युवराज कर्णसिंह को अब्दुल्ला को गिरफ्तार करने के लिए डाँट पिलाई तो थोड़ी देर तो युवराज सुनते रहे किन्तु फिर कांपते हाथों ने फोन ए० पी० जैन (जो उस समय तक थीनगर पहुँच गए थे) को पकड़ा दिया। जैन भी पूरा प्रहार न संभाल सके और उन्होंने फोन डी० पी० घर को पकड़ा दिया। अब तक नेहरू का गर्जन समाप्त हो चुका था।

दो दिन बाद जब मैं दिल्ली में नेहरू से मिला तो उन्होंने बतलाया कि उनके घादेन के विरुद्ध अब्दुल्ला को गिरफ्तार करने पर वह बहुत अप्रसन्न थे। किन्तु जैसे-जैसे दिन बीतते गए और कश्मीर के मामले को दृढ़ता से संभालने के लिए नेहरू को श्रेय मिलता गया तो उन्होंने इस विडम्बनापूर्ण स्थिति से समझौता कर लिया।

कोरियाई भाषा में 'कोरिया' शब्द का अर्थ है 'चुनी हुई' अर्थात् वह भूमि जहाँ प्रातःकालीन दान्ति विराजमान हो। मुख्य प्रायद्वीप के प्रतिरिक्त इसमें ३,००० द्वीप हैं। मुख्य प्रायद्वीप ६०० मील लम्बा तथा १३५ मील चौड़ा है और इसका कुल क्षेत्रफल ८५,००० वर्गमील है। इसका तीन-चोपाई भाग पर्वतीय है और इसका सबसे ऊँचा शिखर ६,००० फुट ऊँचा है। यहाँ के निवासी परिश्रमी हैं एवं प्राचीन मन्मता में विश्वास रखते हैं। ईसाई धर्म यहाँ का प्रमुख धर्म है। १९०५ में, रूसी-जापानी युद्ध के समाप्त होने पर, कोरिया पर जापानियों ने अधिकार जमा लिया था।

मित्र देशों के नेताओं की १९४३ में हुई काहिरा की बैठक में अमरीका, चीन और इंग्लैण्ड ने घोषणा की कि द्वितीय विश्व युद्ध के बाद कोरिया को स्वतन्त्र कर दिया जाएगा। १९४५ में, पोर्ट्सडम में इस वचन को दोहराया गया तथा हम ने उस पर सहमति प्रकट की कि जब जापान समर्पण करेगा तो ३८वीं समानान्तर (थर्टीएथ्र पैरेलल) के उत्तर-स्थित कोरिया को वह ले लेगा तथा दक्षिण-स्थित कोरिया को अमरीका। दिसम्बर १९४५ में हम, अमरीका तथा इंग्लैण्ड इस बात पर सहमत हो गए कि सम्पूर्ण कोरिया में एक अस्थायी लोकतन्त्र सरकार की स्थापना की जाए तथा पाँच वर्षों के लिए एक चतुर्शक्तीय न्यासिता (फोर पावर ट्रस्टीशिप) की भी स्थापना की जाए। कोरिया पर शासन करने के लिए एक नियन्त्रक संस्था बनाने के लिए एक संयुक्त आयोग की स्थापना के सम्बन्ध में अमरीकी एवं रूसी सहमत नहीं हो पाए तो यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली के सामने पहुँचा जिसने १९४७ में यह सिफारिश की कि कोरिया में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए कोरियाई प्रतिनिधियों का चुनाव मार्च १९४८ से पहले हो जाना चाहिए तथा जहाँ तक सम्भव हो वहाँ तक कोरियाई सरकार की स्थापना के नव्वे दिन के भीतर अमरीकी एवं रूसी सेनाओं को वापस चले जाना चाहिए।

जनरल असेम्बली ने एक ऐसे आयोग की स्थापना का प्रस्ताव रखा जो कोरिया की स्थिति का अध्ययन करे और सम्पूर्ण कोरिया में एक राष्ट्रवादी सरकार बनाने की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दे। रूसी सदस्य ने इस प्रस्ताव के पक्ष में अपना मत देने से इंकार कर दिया तथा इस प्रकार के आयोग को उत्तरी कोरिया की सीमा में प्रवेश देने से भी मना कर दिया। इसलिए, इस आयोग की गतिविधियाँ दक्षिणी कोरिया तक ही सीमित रहीं। अतः संयुक्त राष्ट्र संघ ने दक्षिणी कोरिया को गणतन्त्र घोषित कर के डॉ॰ सिंगमैन री को इसका राष्ट्रपति बना दिया। दूसरी ओर, रूसियों ने अगस्त १९४८ में उत्तरी कोरिया में चुनाव कराए और वहाँ गणतन्त्र की स्थापना की। साथ ही उन्होंने सम्पूर्ण प्रायद्वीप पर अपने दावे की भी घोषणा की। इस प्रकार '३८वीं समानान्तर' से कोरिया दो भागों में विभाजित हो गया तथा दोनों भागों में गणतन्त्र की स्थापना हो गई। रूसी सेना कोरिया से दिसम्बर १९४८ में हट गई तथा अमरीकी सेना जून १९४९ में।

सिंगमैन री ने उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने की धमकी दी। किन्तु उत्तरी कोरिया वाले उनसे तेज़ निकले और वे २८ जून १९५० को '३८वीं समानान्तर' को पार कर दक्षिणी कोरिया में प्रविष्ट हो गए। इस पर कोरिया के दोनों भागों में युद्ध छिड़ गया। अमरीका और इंग्लैण्ड ने दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना की कमान जनरल मैकार्थर के हाथ में थी। ६ नवम्बर १९५० को इस सेना ने

रिपोर्टों की कि कोरिया युद्ध में चीनी सैनिक दस्ते भी सक्रिय भाग ले रहे थे। अद्य इस युद्ध ने भयानक रूप धारण कर लिया। इसमें एक ओर तो उत्तरी कोरिया और चीन की सेनाएँ थीं तथा दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्र की सेना थी जिगमें अमरीका, इंग्लैंड आदि गोलहूँ मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ सम्मिलित थीं। चार^{११} देशों ने बंधन चिकित्सा युनिट ही भेजे थे।

नवम्बर १९५१ में सान्ति-वार्ता प्रारम्भ हुई जिगमें विचार करने के लिए निम्नलिखित पञ्चमूत्रीय कार्यक्रम था :

- (अ) कार्यक्रम को स्वीकार करके उस पर विचार करने का समझौता,
- (आ) युद्ध-विराम रेखा निर्धारित करना,
- (इ) युद्ध-विराम की देखरेख,
- (ई) युद्ध-बन्धियों का विनिमय,
- (उ) तिपारिसे।

युद्ध-बन्धियों की सख्या के सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हुआ। २७ फ़रवरी १९५२ को दोनों पक्षों में यह समझौता हुआ कि युद्ध-विराम की धाराओं का पालन कराने के लिए एक तटस्थ राष्ट्रीय परिनिरीक्षण प्रायोग (न्यूट्रल नेगोन सुपरवाइजरी कमीशन) की नियुक्ति की जाए।

१७ नवम्बर १९५२ को भारत ने एक योजना प्रस्तुत की कि युद्ध-बन्धियों के स्वदेश लौटने का काम एक त्रिपक्षीय प्रायोग की देखरेख में हो और इस प्रायोग में दो साम्यवादी एवं दो गैर-साम्यवादी सदस्य हों तथा उनमें से ही किसी एक को सयुक्त राष्ट्र सभ पंच (अम्पायर) नियुक्त कर दे। इस भारतीय योजना को हस्त, चीन तथा उत्तरी कोरिया ने प्रस्वीकृत कर दिया। मार्च १९५३ में जनरल क्लार्क ने जिनेवा सम्मेलन के माध्यम में प्रस्ताव रखा कि गम्भीर रूप में प्रवृत्त एवं पायल युद्ध-बन्धियों के विनिमय का प्रविनम्ब प्रबन्ध होना चाहिए। साम्यवादियों ने इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। ८ जून १९५३ को दोनों पक्षों में निम्नलिखित समझौता हुआ :

- (घ) युद्ध-बन्धियों के स्वदेश लौटने के काम की देखरेख के लिए एक तटस्थ राष्ट्रीय प्रायोग की नियुक्ति की जाए जिसके सदस्य भारत, स्वीडन, स्विट्जरलैंड, पोलैंड तथा पॅरोतेबिया हों। जो युद्ध-बन्धी सरःस न

४१. फ्रांसिसिया, बेल्जियम, कन्डा, कोसम्बिया, इटली, जर्मनी, स्पेन, टूरि, डेनमार्क, हिन्दोस्तान, न्यू झीलैंड, फिलिपीन्स, मलय, टर्की, टाइवान, ब्रिटीश सभ, इंग्लैंड तथा अमरीका।

४२. भारत, इटली, गैर, स्वीडन।

किन्तु हमें निष्पक्षतापूर्ण आचरण कर के अपनी तटस्थता को सिद्ध करना होगा। आयोग का अध्यक्ष होने के नाते भारत का काम काफी जिम्मेदारी एवं विश्वास का था तथा उसके प्रतिनिधि के रूप में हमें वहाँ के अज्ञात एवं विस्फोटक वातावरण को शांत एवं निष्पक्षतापूर्ण बना कर अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में अपना अनुपम सहयोग प्रदान करना था। उन्होंने गुभाव दिया कि हम सब ने पहले युद्ध-बन्धियों को अपना सद्भावनापूर्ण मन्देश भेजे। उगाँड़ बाद हमें कोरियाई भाषा सीखनी चाहिए जिससे यह पता चले कि हम सबकुछ उनकी समस्याओं में रुचि रखते थे। उन्होंने कहा कि कुछ युद्ध-बन्दी ऐसे भी होंगे जो स्वदेश नहीं लौटना चाहेंगे, इसलिए हमें अपना काम उन युद्ध-बन्धियों से प्रारम्भ करना चाहिए था जो स्वदेश लौटने के लिए तैयार हों। उन्होंने यह भी कहा कि क्योंकि अधिकांश युद्ध-बन्दी किसान थे और राजनीति में दूर थे, इसलिए वे स्वदेश लौटने को उत्सुक होंगे तथा हमें उनके साथ काफी सहानु-भूतिपूर्ण व्यवहार करना होगा। उन्होंने सलाह दी कि जो बन्दी आपतित्वनक हों, हमें उन्हें अलग कर के उनके नेताओं की खोज करनी होगी। हो सकता है कि वे हमें अपना पूर्व जीवन न बतलाएँ, ऐसी स्थिति में हमें उन्हें समझाना-बुझा कर इसके लिए तैयार करना होगा। अन्त में नेहरू ने कहा कि यदि कहीं गाड़ी टप हो जाए तो हमें अनौपचारिक रूप में उसे हल करना होगा। चीन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि भारत और चीन एक-दूसरे के मित्र थे तथा हमारी काफी लम्बी-सीमा उनके साथ लगती थी, इसलिए व्यर्थ में उसे अग्रगण्य करने का कोई काम करना हमारे लिए बुद्धिमत्ता की बात नहीं थी। यह गलत था कि हमें किसी देश का पक्ष नहीं लेना था किन्तु उसके साथ ही हमें अपनी राष्ट्रीय नीतियों का भी ध्यान रखना था।

नेहरू की सलाह को गंठ बांध कर मैं तिमोर तथा प्रतिनिधि मण्डल के अन्य सदस्यों के साथ सितम्बर १९५३ में कोरिया के लिए चल पड़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना के कमाण्डर जनरल मार्क क्लार्क का सिबिर टोकियो में था। उनसे मुलाकात करते हुए हम अपने गन्तव्य 'पान मुन जोंग' की ओर बढ़े। दक्षिणी कोरिया के राष्ट्रपति सिंगमैन रो भारत से रहने अग्रगण्य थे कि उन्होंने हमें पान मुन जोंग जाते हुए दक्षिण कोरिया की भूमि पर उतरने की भी अनुमति नहीं दी। संयुक्त राष्ट्र संघ ने हमें अपनी ओर उतारा तथा हमारे गन्तव्य की ओर रवाना कर दिया।

कोरिया पहुँच कर मैंने देखा कि वहाँ घमरीकी ओर चीनी, दोनों ही पक्षों के काम के काम न रख कर अन्य अनेक प्रतिनिधियों में उभरे हुए थे।

जब तटस्थ राष्ट्रीय स्वदेशायमन आयोग ने हमारे बंनिकों के नापसन्द

४३. टटस्थ राष्ट्रीय स्वदेशायमन आयोग को अटक संस्था दी तथा 'भारतीय संसद' के अनेक सदस्यों का पालन कराने वाली संस्था।

ये संयुक्त राष्ट्र संघ मेला के कोरियाई और चीनी वन्दियों को सँभालने कोरियाई वन्दियों ने काफी भूटना दिखलाई। ये क्षण हमारे सैनिकों की सह-भीष्टता की परीक्षा के थे और जिस शांति एवं मधुर ढंग से उन्होंने स्विति को सँभाला, उनके लिए वे गराहना के योग्य थे। लेफटी० जनरल थोस्ट ने ब्रह्म दिया कि वन्दियों की इस भूटता के लिए उनसे किसी प्रकार का प्रतिगोच-त्मक व्यवहार न किया जाए तथा उनका भार सँभालते समय निहत्था रह जाय।

'तटस्थ राष्ट्रीय स्वदेशागमन आयोग' के दो सदस्य, स्विस एवं स्वीडन, तो संयुक्त राष्ट्र संघ के पक्ष में लगते थे और दो सदस्य, चैक्स एवं पोलै, उत्तरी कमान के पक्ष में। अब भारत का निष्पक्ष रहना और भी अनिर्वाह हो गया। इस आयोग की सफलता या असफलता इस पर निर्भर करती थी कि भारत अपनी भूमिका का किस प्रकार निर्वाह करता था। सच तो यह था कि दोनों ही पक्षों का हमारे प्रति व्यवहार कटुतापूर्ण और शत्रुतापूर्ण था। युद्ध विराम समझौते के समय जो आग दोनों ओर धीमी हो गई थी, अब वह हम (एक मात्र तटस्थ देश) पर झुनसा देने वाली चिंगारियाँ बरसा रही थी।

'पूछताछ शिविर' के निर्माण के लिए हमने एक स्थल को चुन लिया। इसको चुनने में हमारा दृष्टिकोण यह था कि यदि उत्तरी कमान के अधिकारी चाहेंगे तो वे भी युद्ध-वन्दियों को स्वदेश लौटने के लिए वहाँ समझा-बुझा सकेंगे। किन्तु इस स्थल के सम्बन्ध में दोनों पक्षों में काफी वाद-विवाद चला। संयुक्त राष्ट्र संघ कमान का कहना था कि इस क्षेत्र में सुरंगें बिछी हुई थीं और इसलिए इसमें जन-हानि होने की आशंका थी जबकि उत्तरी कमान का कहना यह था कि वहाँ कोई सुरंग नहीं थी। जब इस वाद-विवाद को चलते कई दिन बीत गए और इसका कोई अन्त नहीं दिखाई दिया तो मैंने एक समाधान सुझाया कि इस विवादग्रस्त क्षेत्र में मैं जाता हूँ। यदि मैं इसको सकुशल पार कर गया तो यह प्रमाणित हो जाएगा कि वहाँ कोई सुरंग नहीं थी और यदि वहाँ सुरंगें बिछी हुई थीं तो मेरे लौटने का प्रश्न ही नहीं उठता था। मेजर मार्क क्लॉ-देअरस—एक वीर एवं विश्वस्त सैनिक—तथा कुछ अन्य साथियों के साथ मैं उस क्षेत्र में प्रविष्ट हो गया। प्रत्येक पग पर मन में यह विचार उठता कि अब पैर सुरंग पर पड़ा और वह फटी। किन्तु कुछ मिनट बाद हम लोग उस पार पहुँच गए। वापसी यात्रा तो साधारण थी। इसके बाद सब वाद-विवाद समाप्त हो गया और वहाँ 'पूछताछ शिविर' का निर्माण प्रारम्भ हो गया।

पीकिंग घूमने के लिए मुझे वहाँ की सरकार ने निमन्त्रण भेजा। इसके लिए मैंने तिमैया और नेहरू से अनुमति माँगी जो मुझे मिल गई। पान मुन जोंग के पास एक स्थान है केसोंग जहाँ से मेरे मेजबान मुझे रेल गाड़ी में ले गए। हमने उत्तरी कोरिया के सरेवों एवं प्योंगयोंग स्थानों के बाद अन्तुंग

नामक स्मान पर सीमा पार की तथा मयूरिया के मुकद्दे (सेन-याग) नामक स्थान पर पहुँचे। मेरे माप विदेश सेवा के बहादुर सिंह, मेरे स्टॉफ ऑफिसर मेजर एच० एम० सन्धु तथा जी० के० रेड्डी, पी० अत्राहम एव मलकानी नामक तीन भारतीय पत्रकार भी थे। बहादुर को चीन का पूरा ज्ञान था और वह सारे रास्ते मुझे प्रमूख्य परामर्श देता रहा। वह बहुत योग्य एव सरल प्रवृत्ति का राजनयिक था और अनेक चीनी नेताओं को व्यक्तिगत रूप से जानता था। इन यात्रा में एक चीनी राजनीतिक कमिस्मर (विभागाध्यक्ष) भी हमारे साथ था। बाद में पता चला कि उसे हिन्दी का अच्छा ज्ञान था। किन्तु वह सदा दुभाषिये के माध्यम से बात करता था और जब हम लोग परस्पर हिन्दी में बातें करते थे तो वह अनभिज्ञ के समान चेहरा बनाये रखता था, हमने यह स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि वह हमारे प्रत्येक शब्द को समझ रहा था। १५ दिसम्बर १९५३ को हम पीकिंग^{४४} पहुँचे और वहाँ चीन के (कार्यवाही) चीफ ऑफ प्रोटोकॉल, अन्य चीनी अधिकारियों तथा हमारे दूतावास के अधिकारियों ने हमारा स्वागत किया।

पीकिंग में मैं लोगों की अनुसामनप्रियता एव समयपरायणता (वक्त की पाबन्दी), शिक्षा एवं चिकित्सा के क्षेत्रों में उनके निरन्तर सघर्ष तथा उद्योग, कृषि एव अन्य क्षेत्रों की समस्याओं को हल करने के ढंग से बहुत प्रभावित हुआ। दूसरी ओर मैंने यह भी देखा कि उनको न बोलने की स्वतन्त्रता थी और न काम करने की। सामान्यतः प्रत्येक बात में वे अपने उच्च अधिकारियों का हवाला देने रहते थे।

जब चीन के चीफ ऑफ प्रोटोकॉल ने मुझसे पूछा कि मैं पीकिंग में किस में मिलना चाहता था तो मैंने उत्तर दिया कि मेरा कोई विशेष आग्रह नहीं था। इस पर उन्होंने स्वयं ही उप विदेश मन्त्री जनरल लि का नोग तथा प्रधान मन्त्री चाऊ एन लाई से भेंट का प्रवन्ध करा दिया। चीन के प्रधान मन्त्री से तो मैं कई बार मिला। २२ दिसम्बर १९५३ की भेंट के समय तो अपने पीकिंग-स्थित राजदूत राधवन भी उपस्थित थे। चाऊ एन लाई ने जोर दे कर कहा कि निम्नलिखित सन्देश मैं स्वयं नेहरू को दूँ :

(घ) अमरीका निम्नलिखित कारणों से दक्षिण पूर्व एशिया में तनाव बनाये रखना चाहता था :

(क) जापान को सैनिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाते जाना तथा

४४ उत्तरी कोरिया से पीकिंग जाते समय हम अनेक भू-सण्डों, साक-सूधरे आदिम युग के शीशों, नये पुराने कस्बों, फैक्टोरियों से भरे औद्योगिक क्षेत्रों तथा दो-तीन आधुनिक शहरों से गुजरे

उस समय में अपने सोमिनह रूसी मोरुद रतना,
(१५) रूस के साम्राज्य के नाम को लेने कर परिष्कार
प्रतिष्ठान परमाणु पर जाना,

(१६) रूसों का इच्छा था कि रूस भी राजनीतिक सम्मेलन में लगे
जैसे कि रूस युद्ध करना चाहता था तथा रूस एशिया में रूस
सम्राज्य के नाम को पर्याप्त दे देने कि चीनी नोकरतन्त्र वह कम है
कर भक्त है पर। उमर का अर्थ यह था कि प्रमरीका चाहता है
पर कि राजनीतिक सम्मेलन में लगे,

(१७) पर रूसों का ने चीन में युद्ध करने की भूल की तो चीन को
रुसों के नाम पर मोरुद परमरीका को सिर-तोड़ जवाब देना।

परमरीका ने भी कहा कि 'वदस्या राष्ट्रीय स्वदेशागमन करने
के काम में रूस मोरुद नहीं के क्योंकि वह तथ्यों को निष्पक्ष दृष्टि से देखने
समर्थन रहा।

उस समय के बाद मैंने राधवन से कहा कि वह चाऊ एन लाई से
मन्देश पराम भन्ती मोरुद तक पहुँचा दे। उन्होंने ऐसा करने का वचन दिया।

एक दूसरी बैठक में चाऊ एन लाई ने मुझसे कहा कि विश्व की २४^५
करोड़ जनसंख्या में ६० करोड़ जनसंख्या चीन की है तथा तृतीय विश्व युद्ध के
उन्हें कोई भय नहीं था क्योंकि इससे समाजवादी शक्तियाँ और शक्तिशाली
हो जाएंगी। उन्होंने आगे कहा कि यदि कुछ अणु बम फट भी गए तो उन्हें
इंग्लैण्ड तो समाप्त हो सकता था किन्तु चीन नहीं, चीन का एक थोड़ा भाग
नष्ट भी हो गया तो उससे कोई ग्रन्तर नहीं पड़ता था क्योंकि उसके बाद भी
जो महाकार चीन शेष रहेगा वह अनेक इंग्लैण्डों से बड़ा होगा। जब मैंने पूछा
कि क्या चीनी क्रान्ति किसी रूप में रूस से अनुप्रेरित थी तो उन्होंने पन
हो कर उत्तर दिया कि क्रान्तियाँ आयात नहीं हुआ करतीं तथा चीनी क्रान्ति
विशुद्ध रूप से देशी थी और वह रूस से आयात नहीं की गई थी जैसा कि अनेक
लोगों का विचार था। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि ६० करोड़ चीनी
२० करोड़ रूसियों से किस प्रकार अनुप्रेरणा पा सकते थे।

चाऊ एन लाई ने यह वता कर कि वह विदेशियों से आलोचना सुनना
पसन्द करते थे, मुझसे पूछा कि अपनी चीन की यात्रा के सम्बन्ध में मेरा क्या
विचार था। मैंने कहा कि जहाँ मैं अनेक चीजों से प्रभावित हुआ था वहाँ कुछ
चीजें खटकने वाली भी थीं जो मैं उनकी दृष्टि में लाना चाहता था। उदाहरण
के लिए, जब मैंने कुछ चीनी अधिकारियों को भोजन के लिए आमन्त्रित

४५. एक शताब्दी बाद यह ६०० करोड़ हो जाएगी।

रा तो उन्होंने मुझे अन्तिम क्षण तक यह नहीं बतनाया कि वे भोजन करेंगे नहीं। जब मैंने पीकिंग रेडियो स्टेशन देखने की इच्छा प्रकट की तो मुझे फी समय तक इस प्रसमजस की स्थिति में रहना पड़ा कि मैं वह स्थान देख जूँगा या नहीं। जब मैंने पीकिंग की गन्दी बस्तियों को देखना चाहा तो मुझे हाँ तो गया कि वे मुझे गन्दी बस्तियाँ दिखा देंगे किन्तु वास्तव में दिखाई दें। मैंने चाऊ एन लाई में पूछा कि क्या वहाँ हर बात के लिए उच्च अधिकारियों से अनुमति लेनी पड़ती है और यदि वे मुझे कोई स्थान नहीं दिखाना होंगे तो मुझे प्रसमजस में न रस कर कोई टीक-सा बहाना लगा देते।

चाऊ एन लाई ने मेरे साथ बीती घटनाओं पर खेद प्रकट करते हुए कहा कि एक बात मुझे स्मरण रखनी चाहिए कि उनका देश अभी तरुण, अपरिपक्व व बालक के समान था और इसलिए कुछ प्रतिबन्ध अनिवार्य थे। इस बात में ध्यान रखना देश के अग्निभावको का काम था कि देशवामी अपनी किशोर अवस्था में कुछ गलत काम न कर बैठें। जब वे प्रबुद्ध हो जाएँगे तो उन पर प्रतिबन्ध हटा दिये जाएँगे। [यद्यपि इस उत्तर से मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ किन्तु केंची ('शिष्टाचार' के लिए चीनी शब्द) के कारण मैं चुप रहा।]

एक दिन चाऊ एन लाई ने मुझे और बहादुर सिंह को भोजन के लिए अपने निवास पर आमन्त्रित किया। अधिकाम बातचीत उन्होंने दुभाषिये के माध्यम से की किन्तु कभी-कभी कुछ शब्द अंग्रेजी के भी बोल देते थे। जब राधो-रत्ने-तुंग और नेहरू, चीन और भारत आदि के स्वास्थ्य की मंगल कामना के लिए मदिग का दौरा चला तो चाऊ एन लाई ने आप्रह किया कि मैं भी उनका साथ दूँ तो मैंने उनसे कहा कि बहादुर सिंह मेरा योग्य दाइ ध्याओ (प्रतिनिधि) सिद्ध होगा और मुझे क्षमा कर दिया जाए। लगभग पन्द्रह दौर चलने के बाद चाऊ तो अपनी सुघ खोने लगे किन्तु बहादुर सिंह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इससे चाऊ का आत्म-विश्वास डिग-सा गया और उन्होंने धूरते हुए साक्षर्य बहादुर से पूछा :

'आपने शराब पीनी कहाँ सीखी, श्री बहादुर सिंह ?'

बहादुर ने खड़े हो कर बड़ी दृढ़ता से, आँखों में चमक ला कर कहा :

'सर, मेरे राजपूत परिवार में सात पीढ़ियों से शराब पी जा रही है। इसलिए, शराब तो मेरे रून में है।'

चाऊ एन लाई ने शराब छोड़ कर भोजन करना आरम्भ कर दिया। चीन की इस रोचक यात्रा के बाद मैं और मेरे साथी पान मुन जोंग लौट गए।

कोरिया में समुक्त राष्ट्र सभ के प्रति चीनियों का व्यवहार बड़ा अतन्त्र एवं दुराग्रहपूर्ण था। प्रत्येक वार्ता के समय चीनी 'नयकर परिणामी' की धमकी देते और अतन्त्र चेतानियाँ देते तथा प्रत्येक चेतानि की पहले १७६वीं, २३६वीं, ४५६वीं आदि शब्द जोड़ देते। मेरे विचार में यह उनकी 'ठराने की कला'

- इस क्षेत्र में अपने सैनिक दस्ते मौजूद रखना,
- (ख) पूर्व में साम्यवादी घमकी का नाम ले-ले कर पाकिस्तान को सैनिक सहायता देते जाना,
- (ग्रा) अमरीका कहता था कि रूस भी राजनीतिक सम्मेलन में भाग ले जैसे कि रूस युद्ध करना चाहता था तथा रूस एशिया में शांति बनाये रखने की गारण्टी दे जैसे कि चीनी लोकतन्त्र यह काम नहीं कर सकता था। इसका अर्थ यह था कि अमरीका चाहता ही नहीं था कि राजनीतिक सम्मेलन हो,
- (इ) यदि अमरीका ने चीन से युद्ध करने की भूल की तो चीन इसके लिए तैयार था और अमरीका को सिर-तोड़ जवाब देगा।

चाऊ एन लाई ने यह भी कहा कि 'तटस्थ राष्ट्रीय स्वदेशागमन आयोग' के काम से वह सन्तुष्ट नहीं थे क्योंकि वह तथ्यों को निष्पक्ष दृष्टि से देखने में असफल रहा।

इस इण्टरव्यू के बाद मैंने राघवन से कहा कि वह चाऊ एन लाई का सन्देश प्रधान मन्त्री नेहरू तक पहुँचा दे। उन्होंने ऐसा करने का वचन दिया।

एक दूसरी भेंट में चाऊ एन लाई ने मुझसे कहा कि विश्व की २४०^{४५} करोड़ जनसंख्या में ६० करोड़ जनसंख्या चीन की है तथा तृतीय विश्व युद्ध से उन्हें कोई भय नहीं था क्योंकि इससे समाजवादी शक्तियाँ और शक्तिशाली हो जाएँगी। उन्होंने आगे कहा कि यदि कुछ अणु बम फट भी गए तो उनसे इंग्लैण्ड तो समाप्त हो सकता था किन्तु चीन नहीं, चीन का एक थोड़ा भाग नष्ट भी हो गया तो उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता था क्योंकि उसके बाद भी जो महाकार चीन शेष रहेगा वह अनेक इंग्लैण्डों से बड़ा होगा। जब मैंने पूछा कि क्या चीनी क्रान्ति किसी रूप में रूस से अनुप्रेरित थी तो उन्होंने गर्म हो कर उत्तर दिया कि क्रान्तियाँ आयात नहीं हुआ करतीं तथा चीनी क्रान्ति विशुद्ध रूप से देशी थी और वह रूस से आयात नहीं की गई थी जैसा कि अनेक लोगों का विचार था। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि ६० करोड़ चीनी २० करोड़ रूसियों से किस प्रकार अनुप्रेरणा पा सकते थे।

चाऊ एन लाई ने यह बता कर कि वह विदेशियों से आलोचना सुनना पसन्द करते थे, मुझसे पूछा कि अपनी चीन की यात्रा के सम्बन्ध में मेरा क्या विचार था। मैंने कहा कि जहाँ मैं अनेक चीजों से प्रभावित हुआ था वहाँ कुछ चीजें खटकने वाली भी थीं जो मैं उनकी दृष्टि में लाना चाहता था। उदाहरण के लिए, जब मैंने कुछ चीनी अधिकारियों को भोजन के लिए आमन्त्रित

किया तो उन्होंने मुझे अन्तिम क्षण तक यह नहीं बतलाया कि वे भोजन करेंगे या नहीं। जब मैंने पीकिंग रेडियो स्टेशन देखने की इच्छा प्रकट की तो मुझे काफी समय तक इस प्रसमजस की स्थिति में रहना पड़ा कि मैं वह स्थान देख पाऊँगा या नहीं। जब मैंने पीकिंग की गन्दी बस्तियों को देखना चाहा तो मुझे कहा तो गया कि वे मुझे गन्दी बस्तियाँ दिखा देंगे किन्तु वास्तव में दिखाई नहीं। मैंने चाऊ एन लाई से पूछा कि क्या वहाँ हर बात के लिए उच्च अधिकारियों से अनुमति लेनी पड़ती है और यदि वे मुझे कोई स्थान नहीं दिखाना चाहते थे तो मुझे प्रसमजस में न रम कर कोई ठीक-सा बहाना नया देने।

चाऊ एन लाई ने मेरे साथ बीती घटनाओं पर मेद प्रकट करते हुए कहा कि एक बात मुझे हमरण रखनी चाहिए कि उनका देश अभी तरुण, अपरिपक्व एवं बालक के समान था और इसीलिए कुछ प्रतिबन्ध अनिवार्य थे। इस बात का ध्यान रखना देश के अभिभावकों का काम था कि देशवासी अपनी किशोर प्रवृत्ता में कुछ गलत काम न कर बैठें। जब वे प्रबुद्ध हो जाएँगे तो उन पर से प्रतिबन्ध हटा दिये जाएँगे। [यद्यपि इस उत्तर से मैं सन्तुष्ट नहीं हुआ किन्तु किरवी ('शिष्टाचार' के लिए चीनी शब्द) के कारण मैं चुप रहा।]

एक दिन चाऊ एन लाई ने मुझे और बहादुर सिंह को भोजन के लिए अपने निवास पर आमन्त्रित किया। अधिकार्य बातचीत उन्होंने दुभाषिये के माध्यम से की किन्तु कभी-कभी कुछ शब्द अंग्रेजी के भी बोल देते थे। जब माओ-त्से-तुंग और नेहरू, चीन और भारत आदि के स्वास्थ्य की मंगल कामना के लिए मदिरा का दौर चला तो चाऊ एन लाई ने आप्रह किया कि मैं भी उनका साथ दूँ तो मैंने उनसे कहा कि बहादुर सिंह मेरा योग्य दाइ व्याघ्रो (प्रतिनिधि) सिद्ध होगा और मुझे क्षमा कर दिया जाए। लगभग पन्द्रह दौर चलने के बाद चाऊ तो अपनी मुघ सोने लगे किन्तु बहादुर सिंह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। इसमें चाऊ का आत्म-विश्वास डिग-सा गया और उन्होंने धूरते हुए सादर्य बहादुर से पूछा :

'आपने शराब पीनी कहाँ सीखी, श्री बहादुर सिंह ?'

बहादुर ने खड़े हो कर बड़ी दृढता से, आँखों में चमक ला कर कहा :

'भर, मेरे राजपूत परिवार में सात पीढ़ियों से शराब पी जा रही है।

इसलिए, शराब तो मेरे रून में है।'

चाऊ एन लाई ने शराब छोड़ कर भोजन करना आरम्भ कर दिया।

चीन की ८म रोचक यात्रा के बाद मैं और मेरे साथी पान मुन जोग लौट गए।

कोरिया में संयुक्त राष्ट्र सभ के प्रति चीनियों का व्यवहार बड़ा अनग्र एवं दुराग्रहपूर्ण था। प्रत्येक वार्ता के समय चीनी 'भयकर परिणामों' की धमकी देने और अनन्त चेतावनियाँ देते तथा प्रत्येक चेतावनी के पहले १७६वीं, २३९वीं, ४२६वीं आदि शब्द जोड़ देते। मेरे विचार में यह उनकी 'डराने की कला'

थी। संयुक्त राष्ट्र कमान की ओर से हर वार एक ही तर्क प्रस्तुत किया जाता कि युद्ध-बन्दी साम्यवाद से घृणा करते थे और इसलिए स्वदेश लौटने को तैयार नहीं थे।

पूछताछ की पद्धति से सम्बन्धित एक नियमावली हमने तैयार की थी किन्तु उसको लागू न किया जा सका। हुल्लड़वाजों के इस समूह के साथ हमें शान्तिपूर्ण व्यवहार करना था, इसलिए हम अपनी इच्छा उन पर थोपना नहीं चाहते थे। वे हमें गालियाँ देते, हम पर झूठे दोष मढ़ते, हमारी कारों पर पत्थर फेंकते तथा अन्य हिंसापूर्ण कार्य करते किन्तु हम उनके साथ सख्ती से पेश न आ कर शराफत से पेश आते ताकि फिर विशाल पैमाने पर बन्दी मुक्त न हो जाएँ। बन्दी पूछताछ शिविर में आना नहीं चाहते थे और यदि कुछ को ले जाने का प्रयत्न करते तो वे रास्ते में हमारे सैनिकों से मार-पीट करते थे। कुछ बन्दी तो गए ही नहीं। पूछताछ के बाद भी कुछ ही बन्दी स्वदेश लौटने को तैयार हुए। बन्दी शिविर में कुछ दादा लोगों को भी घुसा दिया गया था जिनका काम था बन्दियों को डरा-बमका कर स्वदेश न लौटने देना। ये दादा लोग बन्दियों को मौत की बमकी भी देते थे। हम इन दादाओं को नहीं छोट पाए। वे हमारी नाक के नीचे ही एक-दूसरे को अवैध सन्देश पहुँचाते रहते, संयुक्त राष्ट्र अस्पताल में अवांछित कार्रवाइयाँ करते रहते किन्तु हम उन्हें न पकड़ पाए। कुछ बन्दियों ने अपने नाम तक भी नहीं बतलाए थे, उनकी हम कोई सूची न तैयार कर सके। उनमें से कुछ बन्दियों को दूसरे शिविरों में चोरी-छिपे ले जा कर भी कुछ लोग समझाते। बन्दियों को चाकू आदि तेज धार वाली कई चीजें रखने की अनुमति थी जिससे उन्हें हम पर आक्रमण करने

४६. कुछ संदिग्ध व्यक्तियों की तलाश करते समय कुछ बन्दियों ने हमारे सैनिकों का विरोध किया और एक हत्या कर दी। अपराधियों को खोज निकालने की जिम्मेदारी मैंने अपने ऊपर ली तथा अधिकारियों को आश्वासन दिया कि यदि युद्ध-बन्दियों ने बड़े पैमाने पर मुक्त होने का प्रयत्न किया तो मैं उन्हें ऐसा न करने दूँगा। तिमैया ने मुझे आगे बढ़ने की अनुमति दे दी। एक विशिष्ट बन्दी शिविर में जा कर मैंने माइक पर घोषणा की कि वहाँ के बन्दी शान्ति से पंक्तिबद्ध हो कर मार्च करें ताकि अपराधियों की पहचान की जा सके और यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो मुझे विवश हो कर शक्ति का प्रयोग करना पड़ेगा। पहले तो उन उपद्रवकारियों ने मेरी इस घोषणा को कोरी धमकी समझा और ऊधम मचाने की सोची। मैंने सैनिकों को आदेश दिया कि वे एक-दो को गोली मार दें। इस कदम से उन बन्दियों की बोलती बन्द हो गई और वे सारी शरारतें भूल कर सीधे खड़े हो गए। इससे यह सिद्ध होता है कि यदि हमने उन्हें यह बात पहले समझा दी होती कि हम अपनी धमकी को व्यावहारिक रूप भी दे सकते थे तो वे बहुत पहले सीधे हो गए होते। किन्तु हमारे अधिकारियों ने उन्हें खराब कर दिया और अन्ततः हम उन बन्दियों के को बचाने तथा अपने लक्ष्य में अधिक सफलता नहीं प्राप्त कर सके।

या घमकी देने में सुविधा रहे। पूछताछ शिविर में आते समय उन्हें नकाब पहनने की भी अनुमति थी जैसे कि वे कोई सर्कस के जोकर हों। कुछ वन्दियों ने भारतीय अधिकारियों को बलपूर्वक रोक कर परेशान किया था किन्तु हम इस घटना की पूरी जाँच-पड़ताल भी न कर पाए तथा अपराधियों को दण्ड भी न दे पाए।

कुछ लोगों का विचार यह था कि युद्ध-बन्दियों की यह समस्या सतभने वाली समस्या नहीं थी (क्योंकि युद्ध-बन्दियों को दोनो शक्ति गुट अपने पास दूसरे का बन्धक मानते थे), इसलिए हम जो कुछ भी करते वह किसी-न-किसी पक्ष की दृष्टि में अनुचित होता। साथ ही उनका कहना यह भी था कि राजनीतिक युद्ध-बन्दियों को संभालने का इससे पहले हमें कोई अनुभव नहीं था और यदि हम किसी रूप में बल-प्रयोग करते तो वह भारत की नीति के विरुद्ध होता। इसलिए जो भी लेफ्टी० जनरल के० एस० तिमैया और मेजर जनरल एस० पी० पी० थोरट ने किया, परिस्थितियों को देखते हुए वह बिल्कुल सगत और बुद्धिमत्तापूर्ण था और इस नाजुक मामले को उन्होंने बड़ी चतुराई और धैर्य से निपटाया था।

दूसरी ओर पी० एन० हक्सर का, बहादुर सिंह का और मेरा विचार यह था कि जनरल तिमैया और जनरल थोरट के काफी अच्छा काम करने के बाद भी, हम कोरिया जाने के अपने लक्ष्य में अग्रसर रहे थे। नेहरू ने जिस रूप में इन स्थिति का अध्ययन किया था, उसके आधार पर मेरा विचार यह था कि युद्ध-बन्दियों के स्वदेश लौटने का प्रश्न मानवीय था, न कि राजनीतिक। मेरी दृष्टि में तो ये युद्ध-बन्दी, वर्षों तक युद्ध की भयकरता का शिकार होने तथा अपने परिवारों से दूर रहने के कारण, सदा के लिए स्वदेश छोड़ने के बदले स्वदेश लौट कर अपने बाल-बच्चों के साथ रहना अधिक धैर्यस्वर समझते थे।

भारत ने अग्रिम-रूप में कुछ भी किया हों किन्तु तत्काल राष्ट्रीय स्वदेश-गमन आयोग ने अपने चार्टर के अनुरूप आचरण नहीं किया था। इस मामले में नेहरू ने भी इस आयोग के प्रत्येक निर्णय के मामले सिर झुका कर अपने हुलमुत्तपने का परिचय दिया था।

(अपने ६ महीने कोरिया-वास के मध्य मुझे विविध गैनाओं के कमाण्डरों से मिलने का तथा १९५०-५३ के बीच लड़ी गई अनेक लड़ाइयों में उनके द्वारा प्रदर्शित युद्ध-कौशल के अध्ययन करने का अवसर मिला। मैंने उनमें सीखा कि सतकंता से गस्त लगाना, स्वस्थ योजना बना कर भाग्यमय करना, अत-बाधा को पार करने का तुरन्त उपाय सोचना, प्रभावशाली बस्तरबन्द गाड़ियों का होना, प्रशासन में दृढ़ सदाचार का होना तथा सनसुत एव सुदृढ़ नेतृत्व का होना युद्ध में बहुत लाभकारी सिद्ध होना है।)

नेहरू का कहना था कि एशिया में लोकतन्त्र का भविष्य इस बात पर निर्भर करता है कि लोकतन्त्र भारत और एकदलवादी चीन में से कौन अधिक तेजी से प्रगति करता है। इसलिए, दिल्ली लौटने पर जब मैं उनसे मिला तो उन्होंने पूछा कि चीन की किन-किन चीजों से मैं प्रभावित हुआ था। मैंने उन्हें बतलाया कि चीन में जो कुछ थोड़ा-बहुत मैं देख पाया था, उससे कह सकता था कि चीन अपनी सुदृढ़ सरकार के नीचे बहुत तेजी से प्रगति कर रहा था। भारत के कई अन्य शिष्टजनों ने भी मुझसे इस सम्बन्ध में चर्चा की। मेरी तरह, उनमें से भी अधिकांश लोग चीन की विचारधारा में विश्वास नहीं रखते थे किन्तु चीन की प्रगति से वे भी प्रभावित थे। किन्तु कुछ लोग यह मानने को तैयार नहीं थे कि चीन इतनी तेजी से प्रगति कर रहा था। मेरा अपना विचार यह है कि जहाँ हमें किसी देश की शक्ति को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बतलाना चाहिए, वहाँ उसकी शक्ति को कम करके भी नहीं देखना चाहिए।

कोरिया में चढ़ी थकान को मिटाने के लिए मैंने लम्बी छुट्टी के लिए आवेदन-पत्र भेजा। छुट्टी तो मुझे मिली नहीं वल्कि विदेश मन्त्रालय में एक विशेष काम पर मुझे लगा दिया गया। इस अवधि में एक बार नेहरू ने मुझसे पूछा कि क्या पीकिंग में मैं चाऊ एन लाई से मिला था। मैंने उनसे पूछा कि क्या उन्हें मेरी वह रिपोर्ट नहीं मिली थी जो मैंने पीकिंग से अपने राजदूत राघवन के माध्यम से भिजवाई थी। जब उन्होंने इस सम्बन्ध में नकारात्मक उत्तर दिया तो मैंने राघवन और वहादुर सिंह की उपस्थिति में हुई चाऊ एन लाई से अपनी वार्ता के ज्ञापन (मैमोरैंडम) की एक प्रति उन्हें दे दी।

नेफा (उत्तरी पूर्वी सीमान्त एजेंसी) के प्रति मुझे पहली बार तब रचि उत्पन्न हुई जब १९५४ के प्रारम्भ में मैंने वहाँ घटी यह मर्मभेदी दुर्घटना सुनी कि वहाँ के मूल निवासियों ने एक भारतीय सैनिक टुकड़ी को नृशंसता के साथ मृत्यु के घाट उतार दिया था। नेफा में अनेक कबीले थे और सभ्यता से अनजान वे लोग वर्चस्व का जीवन व्यतीत कर रहे थे। अब हम धीरे-धीरे उस क्षेत्र में अपना प्रशासन मजबूत करते जा रहे थे तथा वहाँ के निवासियों को प्रबुद्ध, विकसित एवं समुन्नत बनाने के लिए जो कदम उचित समझते थे, वह उठा रहे थे। इस दिशा में हमारा एक प्रयास यह भी था कि हम उस अज्ञात प्रदेश में गैर-सैनिक चौकियों की स्थापना करें। इस कार्य के लिए आसाम राइ-

४७. उदाहरण के लिए, चीन की अपनी यात्रा से लौटने पर जनरल चौधरी ने १ नवम्बर १९५६ को मुझे लिखा, '.....चीन में जो कुछ भी हो रहा है, मैं उत्तरे अधिक प्रभावित हुआ हूँ.....'

फल्स की एक सैनिक टुकड़ी दापोरिजो में आगे स्थित सुवनसिरि नदी के पूर्वी किनारे पर आगे बढ़ रही थी। इस भयकर एव अज्ञात प्रदेश में कुछ मील भीतर घुसने पर जब वह टुकड़ी अशिमोरी नामक स्थान के निकट पहुँच रही थी तो वह स्थानीय थागिन सरदार तुमसा दुमाक की नजर में पड़ गई। इस टुकड़ी को देख कर सरदार बड़े अस्मंजस में पड़ा क्योंकि तब तक तो कोई अजनबी इस प्रदेश में दिखाई नहीं दिया था। भयभीत हो कर उसने अपने सलाहकारों को बैठक बुलाई किन्तु वे सब भी इतने ही अधकार में थे और इस सम्बन्ध में कुछ सूचना नहीं दे पाए। काफी मन्त्रणा के बाद उन्होंने फैसला किया कि वे अपने आदिमियों को इकट्ठा कर लें तथा कोई छल कर के इन आगन्तुकों को मोत के घाट उतार दे, क्योंकि आमने-सामने की लड़ाई में विजय पाना उनकी सामर्थ्य के बाहर था। इसलिए जैसे ही हमारे सैनिक उसकी सीमा में पहुँचे, उसने अपने आदिमियों के साथ इनका स्वागत किया और रात को ठहरने का इनका प्रबन्ध कर दिया। इस स्वागत-सत्कार पर हमारे सैनिकों ने अपने भाग्य को सराहा और दैनिक कर्म में व्यस्त हो गए। कबीले वानों का अपने प्रति प्रेमपूर्ण व्यवहार देख कर उनके मन में किसी प्रकार की शका तो थी ही नहीं, इसलिए एक सन्तरी को पहले पर छोड़ शेष सैनिक आराम करने लेट गए। दिन भर के थके-भाँड़े तो थे ही, लेटते ही गहरी नीद सो गए। कपटी थागिन सरदार अपने आदिमियों के साथ रात में हमारे सैनिक शिविर में नमक माँगने के बहाने पहुँचा और सोते सैनिकों पर दूट पड़ा। उसका विचार था कि हमारे सैनिक उसके प्रदेश पर विजय प्राप्त करने पहुँचें थे, इसलिए उसने ७५ में से ७३ सैनिकों को समाप्त कर दिया। अपने वच सैनिकों के साथ मेजर रिपु-दमन सिंह ने भाग कर अपनी जान बचाई। लगभग दो दिन बेचारे एक खाई में दुबके रहे किन्तु बर्बर थागिनो ने उन्हें पकड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर दिया।

सौभाग्य में एक सैनिक बच गया जिसने शिलौंग पहुँच कर यह मर्मभेदी कथा सुनाई। वहाँ से यह दुखद समाचार दिल्ली पहुँचा जहाँ हमारी सरकार के सामने प्रश्न उठा कि अपराधियों को क्या दण्ड दिया जाए। इधर तो हम पूरी सद्भावना के साथ इस अविश्वसित प्रदेश को समुन्नत बनाने का प्रयास कर रहे थे और उधर थागिनो ने हमारे इतने सारे आदिमियों को एक ही प्रहार में समाप्त कर दिया था। कुछ लोगों का विचार तो यह था कि हमें इन कबायलों को इस जघन्य अपराध के लिए भयकरतम दण्ड देना चाहिए तथा कुछ लोगों का, जिनमें महावीर त्यागी भी थे, विचार यह था कि हमें दया और सहानुभूति से काम लेना चाहिए क्योंकि आदिवासी थागिनों से उस परिस्थिति में किसी अन्य व्यवहार की आशा करना व्यर्थ था। और सब हमें चाहिए था कि अपने सद्व्यवहार से उन्हें अपने पक्ष में कर लें क्योंकि किसी प्रकार का कठोर कदम उठाने में नैफ़ के विकाम में बाधा पड़ सकती थी। नेहरू

ने सुझाया कि हमें सख्ती तो बरतनी चाहिए किन्तु हम में बदला लेने की भावना नहीं होनी चाहिए जिससे नेफा के विकास में किसी प्रकार की बाधा पड़े। अन्त में निर्णय यह हुआ कि दापोरिजा, अलोंग और माचुका से लगभग एक हजार सैनिकों की तीन टुकड़ियाँ खाना की जाएँ जो सुवनसिरि नदी के साथ-साथ बढ़ें और ग्रशिमोरी स्थान पर एकत्र हो कर अपराधियों को दण्ड दें। इस बार जब थागिन सरदार ने एक विशाल सैन्य समूह को आते देखा तो वह भय के कारण पीला पड़ गया। उसने तुरन्त अपने सलाहकारों की बैठक बुलाई और इय नयी विपत्ति के बारे में विचार-विमर्श किया। उसको यह बात नहीं समझ आई कि अभी कुछ दिन पहले तो उसने शत्रु की एक टोली का सफाया किया ही था फिर इतना साहस किस में आ गया कि उसने अपनी सेना उसके प्रदेश में भेज दी। उसकी इस जिज्ञासा को उसका कोई सलाहकार सन्तुष्ट नहीं कर पाया और देखते-ही-देखते बेचारा गिरफ्तार कर लिया गया। अपना अपराध स्वीकार करते हुए उसने कहा कि उसने तो अपने ज्ञान में शत्रु की सारी सेना को समाप्त कर दिया था किन्तु उसे यह मालूम नहीं था कि वह अनजाने में अपने देश की शक्तिशाली सरकार से भिड़ गया था। अब वह घस्ती पर लेट गया और बड़े दीन स्वर में अपने किये के लिए क्षमा माँगने लगा। उसका यह पश्चात्तापपूर्ण व्यवहार महाभारत के इस सन्दर्भ का स्मरण कराता है: "जो" उचित व्यक्ति की मित्रता प्राप्त करने में असमर्थ रहता है" और समर्थ के प्रति द्वेष भाव रखता है" वह दया के योग्य है।" हमारी सरकार ने समझदारी से काम लिया और उसे छोड़ दिया। वाद में सुवनसिरि जिले में वह हमारा साहसी समर्थक सिद्ध हुआ।

इन्हीं दिनों अपने सीमान्त कबीलों, विशेषतः नेफा और नागालैण्ड में बसने वाले कबीलों के सम्बन्ध में मेरी नेहरू से काफी विस्तृत बातचीत हुई। उन्होंने बतलाया कि इन कबीलों के लोग काफी भोले-भाले किन्तु भावुक होते हैं, किन्तु उनके साथ किये गए हमारे किसी भी व्यवहार से हमारे बड़प्पन की पू नहीं आनी चाहिए और न ही हमें यह प्रयत्न करना चाहिए कि वे हमारा अन्धानुकरण प्रारम्भ कर दें। उन्होंने यह भी कहा कि जहाँ तक जीवन-दर्शन का प्रश्न है, उन्हें सिखाने के लिए हमारे पास कोई खास चीज नहीं है। इस बात पर उन्होंने विशेष बल दिया कि हम इन लोगों को उनकी परम्पराओं के अनुसार ही विकास करने दें। उन्हीं में से कुछ लोगों को कुशल प्रशासक और शिल्पी बनाना चाहिए। किन्तु उनकी सहायता करते समय हमें अति-उत्सुकता से काम नहीं लेना चाहिए बल्कि धीरे-धीरे आगे बढ़ना चाहिए। अन्त में, उन्होंने चेतावनी के स्वर में कहा कि यदि हम कवायलियों पर कोई बात जबर-दस्ती थोपनी चाहेंगे तो वे हमारे निकट आने के बदले और दूर हो जाएँगे।

ये बातें आगे चल कर मेरे काफी काम आईं।

गोमाप्रदेशीय सैनिक परामर्शदाता समिति (टेरोटोरियन प्रार्मी एडवाइजरी कमिटी) के नेहरू अध्यक्ष के घोर में पदेन (एकम-प्रोविन्स्यो) सचिव था। इस समिति ने एक निर्णय यह किया कि अपने देश के नागरिकों (गैर-सैनिकों) को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाए जिनमें उनमें अनुशासन की भावना एवं धार्मिक-विश्वास का विकास हो और विविध राष्ट्रीय विकासशील परियोजनाओं में उनको सेवाओं का सदुपयोग किया जा सके। इसी सम्बन्ध में मुझे सैनिक प्रशिक्षकों का एक दल पत्राव में लाहौर भेजना था जिसे रोहताग दर्रे में प्रायः ११,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित कीलाग नामक स्थान पर अपना सिविल स्थापित करना था। कैप्टेन त्रिलोचन लाल सिंह को मैंने इस दल का कमाण्डर नियुक्त किया। उनको इस अभियान के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण निर्देश देने हुए तथा उनकी मफनता के लिए शुभ कामनाएँ प्रकट करते हुए मैंने कहा कि इस प्रश्न पर वह अपनी योग्यता का प्रदर्शन कर सकने से क्योंकि लाहौर में उन्हें जटिल भू-गण्ड, भयावह भोगम एवं प्रतिभूल वातावरण में काम करना पड़ेगा। उन्होंने पूरे उत्साह में उत्तर दिया कि वह अपनी घोर से कोई कसर न छोड़ेंगे। चर्चने समय मैंने उन्हें धारणागत दिनाया कि यदि कभी ऐसी स्थिति घा गई जो उनके संभाले नहीं सँभलेगी तो मैं स्वयं पहुँच कर उमें सँभाल लूँगा। बिना किसी विशेष प्रमुखिया के उन्होंने रोहताग दर्रा पार कर के निश्चित स्थान पर अपना सिविल स्थापित कर लिया। उन लोगों ने वहाँ इतने परिश्रम एवं लगन में काम किया कि लाहौरी उनके अपने हो गए। मौसम अभी तक महद्दय था और प्रशिक्षण का काम मुचाग रूप में चल रहा था।

एक रात सोने में पहले वे सब बैरोमीटर की गोम्यता पर आश्चर्य प्रकट कर रहे थे किन्तु सुबह उठने पर क्या देखते हैं कि उनके सिविल के चारों घोर बर्फ ही बर्फ दिखलाई पड़ रही है। उस रात पुटते-पुटते बर्फ पड़ी थी। बड़ी कठिनाई में वे अपने गस्त्र, राशन, कपड़े आदि ले कर कीलाग के पश्चिम में ६ मील दूर स्थित तादी नामक गाँव में पहुँचे और अपने लिए तुरन्त कुछ भोपड़ियाँ खड़ी की। कुछ समय बाद चन्द्रा घोर भाग नदियों के ऊपर बना हुआ, कीलाग और रोहताग को मिलाते वाला पुल भी टूट गया। अब दोष भारत से उनका सम्बन्ध कट गया। धीरे-धीरे राशन भी घटने लगा और भयकर शीत में नये-नये रोगों ने आक्रमण करना शुरू कर दिया। एक हिमपात और, तथा वे लोग पूरी सर्दियों के लिए यही घिर जाते क्योंकि रोहताग दर्रा ६ महीने के लिए बन्द हो जाता।

इस समय मुझे कैप्टेन सिंह का सन्देश मिला जिसमें उन्होंने अपनी दयनीय स्थिति का चित्रण किया था। मुझे यह समझते देर नहीं लगी कि इन घादमियों का जीवन उत्तरे में या घोर मुझे तुरन्त इनकी सहायतायें वहाँ पहुँच जाना चाहिए। वैसे भी मैं कैप्टेन सिंह को बचन दे चुका था। इस अभियान के लिए

मैंने सरकार से अनुमति ली और लैपटी० कर्नल वी० एस० चांद से, जो कुछ दिन पहले तक मेरे स्टाँफ पर थे, पूछा कि क्या वह मेरे साथ चलेंगे और वह इस प्रकार तैयार हो गए जैसे कि मेरे कहने की प्रतीक्षा ही कर रहे थे।

लोगों ने मेरे इस अभियान को मूर्खतापूर्ण कह कर मुझे कीलांग जाने में रोका। कुछ दिन पहले बाढ़ आ कर चुकी थी और कुल्लु से मनाली जाने वाली सड़क बन्द थी तथा कई फुट बर्फ पड़ने के कारण रोहतांग दर्रा भी बन्द-सा हो रहा था। किन्तु मैंने कैप्टन सिंह को वचन दिया था कि जब भी उन पर भीड़ पड़ेगी, मैं पहुँच जाऊँगा। इसलिए उनको अपने चल पड़ने की सूचना दे कर चांद और मैं दिल्ली से चल पड़े।

रास्ते में हमने आवश्यक कपड़ों और दवाइयों का प्रवन्व किया तथा रात होते-होते पालमपुर पहुँच गए। चुने हुए लोगों की टुकड़ी आगे रवाना कर दी ताकि वह सड़क को साफ करके जाने योग्य बना दे। कुल्लु से आगे सड़क जगह-जगह कटी हुई थी और पानी भयंकर गर्जना के साथ सड़क पार कर रहा था। कुछ स्थानों पर तो पानी का वहाव इतना तेज था कि उसे पार करने में स्वयं वह जाने की आशंका थी, इसलिए हमने वृक्षों की शाखाओं में रस्सी बाँध कर वह बाधा पार की। कई जगह सड़क वह गई थी और वहाँ घुटनों-घुटनों कीचड़ एवं गारा था और पैर घुस कर निकलने का नाम नहीं लेता था। किन्तु हम अदम्य साहस से आगे बढ़ते गए और २५ घण्टे में ३२ मील की यात्रा करके रोहतांग दर्रे की तलहटी में स्थित कोठी नामक स्थान पर पहुँच गए।

रोहतांग दर्रा बर्फ से ढका हुआ था। हमारे कुलियों ने चेतावनी दी कि उस समय ऊपर चढ़ना घातक सिद्ध हो सकता था किन्तु अब चेतावनी पर ध्यान देने का समय कहाँ था, मैं तो शीघ्र-से-शीघ्र अपने आदमियों के पास पहुँचना चाहता था।

१०,००० फुट की ऊँचाई पर बर्फ से ढकी सीधी चट्टानें मिलीं जो पैर रखते ही प्रतिशोध लेती थीं। धीमे-धीमे हम ११,५०० फुट की ऊँचाई पर पहुँच गए। यद्यपि रोहतांग केवल १३,५०० फुट की ऊँचाई पर था किन्तु उस समय वह मीलों दूर लग रहा था। आँधी ने बर्फालि तूफान का रूप धारण कर लिया और साठ मील प्रति घण्टा की गति से चलने लगा। यह तूफान इतना भयंकर था कि हमारे अपर्याप्त सामान में से भी कुछ चीजें उड़ कर नीचे खड्ड में जा गिरीं। बर्फ पर चढ़ने में सहायता करने वाली हमारी छड़ियाँ उड़ने लगीं। किन्तु हम थके पैरों से धीमे-धीमे बढ़ते गए। थोड़ी दूर आगे हमारा रास्ता बर्फ की एक सीधी दीवार ने रोक लिया जिसको पार करने में बहुत समय लगा। इसके पार हमें हिम-शिलाखण्ड से दबा हुआ मानव शव मिला जिसे देख कर हमें भुरभुरी आ गई। बेचारा तनिक सुस्ताने के लिए होगा कि सर्दी से हाथ-पैर सुन्न हो गए होंगे और क्षणिक विश्राम के लिए

रहा वह पक्षिक विरविधाम कर रहा था। मोत हमारे चारों ओर मँडरा रही थी और प्रतीक्षा में थी कि हमारा कोई कदम गलत पड़े और वह हमें धर दबोके। भरकर गर्शों के कारण हमारे हाथ-पैर जड़ और निर्जीव हो गए और होने लग रहा था कि कुछ समय बाद हम भी उगो मार की भाँति वहाँ विर ममाधि में नीन होंगे। दृष्टि क्षीण हो गई और चारों ओर घना कोहरा छाने लगा। अभी हम दरें से पाँच सौ फुट नीचे ही थे कि वर्षाति तूफान में सघर्ष चलने रहने के कारण शरीर निर्जीव-ना होने लगा। अब हम चम नहीं रहे थे बल्कि पिघल रहे थे।

इन क्षणों में धनेक विचार मानस में कौपमे लगते हैं, धनेक दृश्य मानस पर उभरने लगते हैं। मेरे सामने प्रपना घर, प्रपनी पत्नी, प्रपने बच्चे एवं जीवन में किया गया सघर्ष उभर आया। बाद की ओर मेरी सहन-शक्ति लग-भग समाप्त हो चुकी थी किन्तु हम प्रपनी समस्त दृच्छा-शक्ति संचित कर आगे बढ़ने का प्रयत्न करने रहे। हम इतने अधिक यक गए थे, इतने अधिक निरस्तंज थे कि थोड़ी-थोड़ी दूर पर रुक कर मुस्ताना पड़ता। किन्तु हम रुके नहीं, बढ़ते गए—सकट में फँसे प्रपने माधियों के ओर प्रपने जीवन की रक्षा के लिए पूरे माहत्त्व एवं पूरी शक्ति में जुभते रहे। लगता था कि जैसे चलते-चलते युग बीत गए हों और मज्जिन निकट न आ रही हो। किन्तु सघर्ष कभी ध्यर्थ नहीं जाता और अन्ततः, हम भी दरें के शिखर पर पहुँच गए। हमारे चारों ओर बीग हज़ार फुट ऊँची पर्वतमाला थी और तापमान बहुत कम था। रात के समय वह दर्रा बहुत विमाल एवं भयावना प्रतीत हो रहा था। प्राँवसीजन के अभाव में स्वाम पूरा नहीं आ रहा था, यकान के कारण हृदयगति तेज थी और हम घने कोहरे में बर्फ की सख्या पर निर्जीव पड़े थे।

शारी रात भयकर भ्रंभावात चलता रहा और हम अस्थिर चित्त न मालूम किन-किन कारपनिक दृश्यो में भटकते रहे। लगा कि जैसे महर्षि व्यास—त्रिन्होंने दो हज़ार बर्ष-पूर्व यहाँ तप किया था और उस बीच महाभारत जैसे महाकाव्य की रचना की थी—हमारे सामने खड़े हों। हमें यह मालूम था कि व्यास नदी जिसका नाम महर्षि ध्यास के नाम पर ही ध्यास पड़ा था, का उद्गम वही था जहाँ हम खड़े थे। अपने चारों ओर का वातावरण बड़ा स्फूर्तिमय प्रतीत हो रहा था।

इस समय हमें सबसे सख्त ज़रूरत थी गर्म पेय और गर्म कपड़ों की। इस-लिए जब हमने कुछ देर पहले गए प्रपने कुलियों की खोज में दृष्टि दीडारि तो देना कि वे कुछ चाय, कुछ चीनी तथा कुछ कम्बल लिये सामने से चले आ रहे थे। चाय बनाने के लिए हमने कुछ बर्ष तोड़ी क्योंकि इस समय चाय हमें जीवन दान कर सकती थी। इतनी अधिक ऊँचाई और उत्तरध्रुवीय तापमान में पानी को गर्म होने में काफी समय लगता है, इसलिए हमें इन सघर्ष में काफी

देर तक जुटे रहना पड़ा। टीन के दो छोटे-छोटे डिब्बों में हमने यह पेय तयार किया और इसके तैयार होने पर ऐसा लगा जैसे कि पराग और मधु का सम्मिश्रण हमारे सामने रखा हो। अपने पास टीन के दो छोटे-छोटे डिब्बे थे, इसलिए चाय भी दो ही डिब्बे तैयार हुई थी। पीने वाले चार थे और चारों को ही उसकी एक समान ज़रूरत थी। प्रश्न उठा कि पहले कौन पीये। मैंने अपने मन में सोचा कि यदि हम पहले कुलियों को पीने देते हैं तो वे सदा के लिए हमारे अपने हो जाएँगे। चाँद से मैंने यही बात कही और उन्होंने अपनी सहमति दे दी। हम दोनों चाय के दोबारा तैयार होने की प्रतीक्षा में बैठ गए। प्रतीक्षा की ये घड़ियाँ युगों के समान लग रही थीं। अन्ततः चाय तैयार हुई और हमने पी।

दिल्ली से चलते समय तो हम बड़ी जल्दी में थे, इसलिए अपने साथ न तो पर्याप्त कपड़े ले जा पाए थे और न 'हिम लेप' (स्नो आइन्टमैण्ट)। वर्ष में अधिक समय तक रहने के कारण हमारे मुँह पर खून झलक आया था, खाल फट गई थी तथा पैर सूज गए थे। जैसे कि ये मुसीबतें कम रही हों, रात में एक हिम-भालू से और मुलाकात हो गई। पहले तो वह हमें हक्का-बक्का सा देखता रहा कि उसके एकान्त को भंग करने वाले हम कौन थे और फिर धीरे-धीरे एक ओर चला गया।

समय इतना धीरे-धीरे रेंग रहा था कि लगता था जैसे रात समाप्त ही न होगी। किन्तु प्रकृति के नियम अपवाद तो स्वीकार नहीं करते, इसलिए सूर्य की सुखद किरणें चारों ओर फैलीं और हमने आगे बढ़ने की सोची। अभी हम चलने की तैयारी ही कर रहे थे कि सामने से एक परिचित मुखाकृति ऊपर को उभरी। यह हमारे उन्हीं आदमियों में से एक था जिनकी सहायता के लिए हम जा रहे थे। उसके बाद धीरे-धीरे सभी सामने आ गए। किसी प्रकार जमी हुई नदी को पार कर के वे ऊपर चढ़ आए थे किन्तु उनकी हालत इतनी खराब थी कि पहली दृष्टि में तो उन्हें पहचाना ही नहीं जा सकता था। काफी समय से उन्हें भरपेट भोजन नहीं मिला था, उनके कपड़े चिथड़े-चिथड़े हो गए थे और यकान के कारण उनके शरीर निडाल हो चुके थे, वे हिमांध हो गए थे तथा उनके पैरों पर फफोले पड़ गए थे। यह सोच कर कि हमने यह यात्रा उनकी सहायता करने के लिए की थी, कृतज्ञता से उनकी आँखें भर आईं। परस्पर अभिवादन और मिलन का यह दृश्य अपने में अनुपम था।

कुल मिला कर चालीस आदमी थे जिनमें कई अस्वस्थ भी थे। इसलिए, मैंने अस्वस्थ व्यक्तियों की कई टोलियाँ बनाई और प्रत्येक टोली का भार एक स्वस्थ व्यक्ति को सौंप दिया ताकि रोहतांग दर्रे से उतरते समय वह उनकी सहायता कर सके।

दिन ढले हम दर्रे की तलहटी में पहुँचे। पता लगा कि दो आदमी कम हैं।

आतपाम खोज की किन्तु कुछ पता न चला । मैंने निर्णय किया कि बिना उन्हें साथ निरे हम नहीं लौटेंगे, इसलिए कुछ आदमियों को वापस जा कर दरें के ऊपर तक उन्हें देखना होगा । किन्तु इससे पहले कि यह टोली उनकी खोज में निकलती, वे दोनों आदमी लड़खड़ाते हुए शिविर में घुस आए । ईश्वर की इस अनुकम्पा के लिए उसका नाख-साख धन्यवाद दे कर हम लेट गए और गहरी नींद सो गए । यहाँ से मनीला होते हुए दिल्ली की यात्रा तो सरल थी ।

दिल्ली पहुँचने पर बधाइयों का आभार लग गया । प्रतिरक्षा मन्त्री ने मेरी विस्तृत प्रशंसा की । नेहरू ने भोजन के लिए आमन्त्रित किया । भारतीय समाचार-पत्रों ने प्रमुख शीर्षक दे कर इस समाचार को छापा । विदेशी समाचार-पत्रों ने मुझे से विशेष लेख लिखने का आग्रह किया । किन्तु कुछ लोगों के हृदय में तब भी ईर्ष्याग्नि प्रज्वलित थी ।

१५ जनवरी १९५६ को मुझे मेजर जनरल की पदोन्नति दे कर उत्तर प्रदेश का क्षेत्रीय कमाण्डर बना कर भेज दिया गया । (कुछ महीने बाद मुझे चतुर्थ इन्फैण्ट्री डिवीजन का कमाण्डर नियुक्त कर दिया गया था ।) । इस समय मेरे अधीन अनेक प्रशिक्षण संस्थान थे जिनमें एक था पैरा ब्रिगेड जिसकी कमान ब्रिगेडियर पी० पी० कुमारमगतम् (वर्तमान आर्मी चीफ) के हाथों में थी ।

बरेली की जिला जेल देखने का निमन्त्रण मिला । जेल में घूमते हुए मैंने देखा कि एक नवयुवक आर्मुरी आँवों से एक वृद्ध कैदी में विदा ले रहा था । पता चला कि अगले दिन उस वृद्ध को फाँसी लगने वाली थी । जेल-अधीक्षक ने बतलाया कि जिन हत्या के अपराध में उस वृद्ध को मृत्यु-दण्ड दिया जा रहा था, वास्तव में वह उसके पुत्र ने की थी किन्तु पितृ-स्नेह के कारण उस वृद्ध ने हत्या का दोष अपने सिर ले लिया था । इस अन्याय के साथ मैं समझीता न कर सका । मेरे चचेरे भाई एम० जी० कौल उस समय लखनऊ में गृह-सचिव थे । उनसे टेलीफोन पर मैंने चिरीरी कि वह इस अन्याय को रोकें और उस वृद्ध को फाँसी न लगने देने का रोचनादेश (स्टेट आर्डर) भिजवाएँ । कौल ने अपने पद की गुरता का पालन किया और रोचनादेश तुरन्त भिजवा दिया । इस सम्बन्ध में मैंने केन्द्रीय गृहमन्त्री पंडित पत से अपील की कि उस घटना में न्याय किया जाए और एक निरपराध को फाँसी न लगाई जाए । किन्तु मेरा सारा परिश्रम व्यर्थ गया क्योंकि वह वृद्ध अपनी जिद पर अड़ा रहा कि हत्या उसी ने की थी और कुछ सप्ताह बाद उसे फाँसी दे दी गई ।

लेपटी० जनरल सन्तसिंह मेरे आर्मी कमाण्डर थे । १९५६ की गर्मियों में उन्होंने मुझे कोहिमा के निकट घटी एक दुर्घटना का विवरण सुनाया जिसमें २ सिपाय ने भूल से प्रसिद्ध नागावासी और भारतीय सरकार के प्रबल समर्थक,

७५ वर्षीय डा० हरालु को गोली मार दी थी। कुछ दिन पहले कोहिमा पर नागाओं ने आक्रमण कर दिया था और इससे भारतीय सेना भूंकल खाये बैठी थी। एक सुबह २ मिनट की एक टुकड़ी ने नागा वेदाभूषा में एक व्यक्ति को कोहिमा की ओर बढ़ते हुए देखा और उसे विद्रोही नागा समझ कर गोली मार दी। वास्तव में वह डॉ० हरालु थे जो प्रातः भ्रमण के लिए गए थे और घर वापस लौट रहे थे। इस दुर्घटना पर काफी शोर मचा; भारतीय सेना पर वर्तमान का और भारत पर पड़्यन्त्र रचने का आरोप लगाया गया। डॉ० हरालु की पुत्री परराष्ट्र मन्त्रालय में नेहरू के स्टॉफ पर थीं। यह दुखद समाचार उनको तथा नेहरू को लगभग एक साथ मिला। इसकी छानबीन करने के लिए तुरन्त एक जांच समिति विठाई गई। इसके राजनीतिक परिणामों से चिन्तित सैनिक कमाण्डरों ने (जिनमें इस बटालियन के कमाण्डर कर्नल गुरबक्ष सिंह भी थे) अपने आदमियों को बचाने की सोची। पहली समिति की जांच के अनुसार ये सैनिक निर्दोष ठहराए गए। किन्तु इस समिति की सत्यनिष्ठा में सन्देह कर के दूसरी समिति नियुक्त की गई जिसमें जज एडवोकेट जनरल, ब्रिगेडियर डी० एम० सेन ने उन सैनिकों को दोषी ठहराते हुए कड़ी सजा दी। कुछ लोगों ने कमाण्डरों के विरुद्ध भी निरावार आरोप लगाए। फलतः, अपनी निष्ठापूर्ण एवं धर्मशील सेवा के बाद भी लेफ्टी० जनरल सन्त सिंह अपनी निवृत्ति (रिटायरमेंट) के समय से पाँच महीने पहले निवृत्त हो गए। उनके स्थान पर^{४८} तिमैया को नियुक्त किया गया। ब्रिगेड और बटालियन के कमाण्डरों को सन्देह के आवार पर स्थानान्तरित कर दिया गया। इस प्रकार ये लोग परिस्थितियों के शिकार बने।

४८. कहा जाता है कि जब तिमैया ने नागा विद्रोहियों के प्रमुख, कंटो, से मिलने शिश की तो उसने यह कह कर इन्कार कर दिया कि तिमैया केवल आर्मी थे और वह नागा प्रमुख।

चार

तैयारी

१९५६ की गर्मियों में मुझे पंजाब-स्थित ४ (रैंड ईंगल) इन्फैण्ट्री डिवीजन का कमाण्डर नियुक्त किया गया। पिछले युद्ध में इस डिवीजन ने विश्वव्यापी स्याति प्रजित की थी। मेरे पूर्वाधिकारी मेजर जनरल बहादुरसिंह ने इसे काफी तैयार कर दिया था। अन्य सामान्य महायुद्धों के साथ-साथ तीन ब्रिगेड (५, ७ एवं ११) भी मेरे अधीन थे। उनमें कुछ सैनिक दस्ते बहुत उत्तम थे। जब २ सिविल बटालियन को नागालैण्ड से हटाया गया तो मैंने अधिकारियों से कहा कि वे उस बटालियन को भी मेरी कमान में भेज दें ताकि हरापू दुर्घटना में उसकी प्रतिष्ठा पर जो घम्बा लगा था, मैं उसे मिटा सकूँ। जब यह बटालियन मेरी कमान में आ गई तो मैंने उसकी मन-स्थिति को ठीक करने के लिए उसे काफी पाठियाँ दीं। उस बटालियन के सैनिकों ने भी अपने अधिक परिश्रम से यह सिद्ध कर दिया कि खेलो, ड्रिल, निशानेबाजी तथा प्रशिक्षण में वे किसी से कम नहीं थे।

मेरे कोर कमाण्डर पहले तो लेफ्टी० जनरल थोरट थे और बाद में लेफ्टी० जनरल जे० एन० चौधरी। थोरट के साथ काम करने में मुझे काफी आनन्द आया किन्तु चौधरी बहुधादी थे, बातूनी थे तथा अपने अधिकारियों को प्रसन्न रखने के लिए मति उत्सुक रहते थे।

इस डिवीजन की कमान संभालने के बाद पहला काम मैंने यह किया कि यह मुसमावार मेजर जनरल टी० डब्लू० रीस को भेजा, जो एक समय इस डिवीजन के कमाण्डर रह चुके थे और जिनके प्रति मेरे मन में बहुत श्रद्धा थी। वह लेना से निवृत्त हो चुके थे और इंग्लैंड में रह रहे थे तथा अपने खाली समय में कुमवान (न्यूपोर्ट) से पाँच मील उत्तर में तथा कार्डिफ से घटारह मील दूर) नामक कस्बे का निर्माण करा रहे थे। मैंने उन्हें लिखा कि मुझे ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन की कमान संभालने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था और इस तथ्य के प्रति मैं प्रति धन आग्रहक था कि एक दिन इसकी कमान उन जैसे महान् व्यक्ति के हाथ में थी। मैंने उनसे निवेदन किया कि वे पहले की भाँति मेरा

मार्ग-दर्शन कर मुझे कृतार्थ करें। मुझे तुरन्त उनका स्नेहपूर्ण पत्र मिला कि मेरी एवं उन डिवीजन की गतिविधियों में सम्पर्क रखने में उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। (समय-समय पर मैं उन्हें अपने डिवीजन-सम्बन्धी समाचार दे रहा। कुछ वर्ष बाद पता चला कि मेजर जनरल रीस इस संसार में नहीं रहे। उनकी मृत्यु में मुझे बहुत बड़ी हानि हुई—मेरा महत्त्वपूर्ण मित्र एवं महान् मार्गदर्शक मुझमें छिन गया।)

नयी कमान सँभालने पर मेरे सामने चार प्रमुख काम थे—अपनी डिवीजन को अधिक-से-अधिक व्यायाम करा कर एवं युद्ध-सम्बन्धी विविध तकनीकों का ज्ञान करा कर उन्हें संग्रामिक भूमिका के लिए तैयार करना; निशानेबाजी में दक्ष बनाना; खेलों में विशिष्टता प्राप्त कराना तथा प्रशासन सँभालने जिसमें सैनिकों एवं उनके परिवारों के लिए निवास का प्रबन्ध करना। ये तीनों काम ऑफिसरों के मनोबल को ऊँचा उठाने के लिए जरूरी थे।

लगभग २०,००० आदमियों की डिवीजन की कमान सँभालना एक बड़ा काम है। इतने आदमियों को सँभालने एवं उनकी विविध समस्याओं को सुलझाने के लिए उनकी पृष्ठभूमि का ज्ञान अनिवार्य है। केवल मेजर जनरल का पद और उसके अधिकार मिल जाने से ही डिवीजन की कमान नहीं संभाली जाती। इस बीच आपको अनेक स्थितियों का सामना करना पड़ेगा जैसे बेतुकी, फाई, कृतघ्नता, खुशामद, कायरता, नीचता, झूठ एवं मानव-चरित्र की अनेक निर्बलताओं^१ से आपका साक्षात्कार होगा। बस एक सान्त्वना होती है कि जहाँ आपको इन अप्रिय अनुभवों का सामना करना पड़ता है, वहाँ आप त्याग, साहस तथा सहयोग के भी अतूठे उदाहरण मिलते हैं। इसलिए, मैं स्वयं को इन स्थितियों का सामना करने के लिए तैयार कर लिया।

इस डिवीजन के प्रशिक्षण-विषयक अनेक पक्षों को व्यावहारिक रूप से पहले मैंने अपने मन में वह सब स्मरण करने का प्रयास किया जो कुछ मैं मानव-प्रबन्ध तथा नेतृत्व के सम्बन्ध में पढ़ा था या मुझे सिखाया गया था। डिवीजन के दृष्टिकोण से युद्ध का अध्ययन किया और प्रगतिशील व्यायाम प्रारम्भ करा दिए।

मैंने तथा मेरे डिवीजन ने अनेक महत्त्वपूर्ण व्यायामों में भाग लिया जिनमें 'मालवा' और 'द्वावा' नामक व्यायामों की व्यवस्था पश्चिमी कमान ने की थी। पैदल सेना, वक्तरबन्द गाड़ियों, तोपखाने, इंजिनियरों आदि का बड़े पैमाने पर एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने तथा संकेतों द्वारा आदेश एवं सूचना देने का अभ्यास किया गया। अनेक महत्त्वपूर्ण सामरिक (युद्ध-सम्बन्धी) अभ्यासों सामने आईं और उन्हें सुलभाया गया। इन व्यायामों में से एक में मु

सतनुज पार करनी थी। अपेक्षित उपकरणों के अभाव में मैंने एक ब्रिगेड ले कर नदी पार करने का निर्णय किया। तोपखाने तथा इजिनियरों के साथ अपने ब्रिगेड को रिहसिल कराई। निर्धारित समय (एच घंटा) से छत्तीस घण्टे पहले की बात है कि मैं अपने 'घो' ग्रुप^२ के साथ बँटा हुआ इस व्यायाम में सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण बातों पर विचार-विमर्श कर रहा था कि लेपटी० जनरल जे० एन० चौधरी की जीप आ कर रकी और उन्होंने मेरे ब्रिगेड तथा व्यक्तियों के सामने मुझसे कहा कि आर्मी चीफ जनरल तिमैया का विचार था इस व्यायाम में दो ब्रिगेड भाग लें और इसलिए मुझे तदनुरूप अपनी योजना बनानी चाहिए। मैंने उन्हें समझाया कि नदी पार करने के लिए अपेक्षित उपकरणों के अभाव के कारण मैं केवल एक ब्रिगेड से यह व्यायाम-प्रदर्शन कर पाऊँगा और चीफ के कहने के बावजूद भी आखिरी मिनट पर अपनी योजना बदलना मेरे लिए व्यावहारिक न था। साथ ही इतना समय भी कहाँ था कि मैं दूसरे ब्रिगेड को इस प्रदर्शन के लिए तैयार कर पाता। किन्तु चौधरी की एक ही रट थी कि इस छोटी-सी बात के लिए वह चीफ को अप्रसन्न नहीं करना चाहते थे। मैंने उनसे पूछा कि इस व्यायाम-प्रदर्शन द्वारा हम युद्ध का प्रशिक्षण दे रहे हैं या चीफ को प्रसन्न कर रहे हैं। चौधरी ने सब के सामने घुरघुरा कर कहा कि मैं कहूँ चाहे जो कुछ किन्तु भगवान् के लिए दो ब्रिगेड ले कर ही नदी पार करूँ। सतनुज और ग्राण्ड ट्रंक रोड के सम्मिलन-स्थल पर एक पुल था (जिसे इस व्यायाम की दृष्टि से 'विनप्ट' मान लिया गया था)। जब चौधरी ने तर्कों को स्वीकार करने से मना कर दिया तो मैंने आदेश दिया कि एक ब्रिगेड ट्रकों में बैठ कर इस 'विनप्ट' पुल पर से नदी को पार करे। जब जनरल तिमैया ने ब्रिगेडियर भगवती सिंह को अपने ११ ब्रिगेड के साथ ट्रकों में बैठ कर इस 'विनप्ट' पुल पर से नदी को पार करते देखा तो उन्होंने भगवती सिंह की खबर ली। जब उनको असली बात का पता लगा तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि चौधरी ने व्यावहारिक कठिनाइयों को ध्यान में न रख कर ऐसा आदेश क्यों दिया।

उपरिलिखित उदाहरण से यह स्पष्ट है कि चौधरी अपने उच्च अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए क्या-क्या कर सकते थे। उनके एकदम ऊपर थे लेपटी० जनरल कलवन्त सिंह जिनकी उपस्थिति में चौधरी में व्यवहार देखने योग्य होता था। अपनी सफलता की अनेक गाथाएँ वह अपने अधीनस्थ ऑफिसरों को सुनाया करते थे। मेरा मत (और इससे अनेक लोग सहमत थे) यह था कि वह उच्च अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए अति उत्सुक रहते थे और

२. महत्त्वपूर्ण कमाण्डर जिन्हें योजनाओं की युद्ध में व्यावहारिक रूप देना होता है।

कई बार इसकी कीमत उनके प्रधीनस्थ ऑफिसरों को चुकानी पड़ती थी। दूसरे उनके बारे में क्या सोचते हैं, यह जानने के लिए वह उत्सुक रहते थे।

फरवरी १९५८ में मार्शल वेह चियांग-यिंग के नेतृत्व में एक चीनी सैनिक प्रतिनिधि मण्डल भारत आया। जनरल तिमैया ने इसे मेरा डिवीजन देखने के लिए भेज दिया और मुझे कहा कि मैं युद्ध का सजीव प्रदर्शन करके दिखलाऊँ। काफी परिश्रम के बाद मैंने स्थल सेना और वायु सेना के सम्मिलित व्यायाम का प्रवन्व किया और इस व्यायाम का नाम 'धनुष' रखा। टैंकों, तोपखाने, मध्यम मशीनगनों, छोटी तोपों तथा वायु सेना के साथ मिल कर आक्रमण करते त्रिगेड के एक भाग—इन्फैंट्री वटॉलियन—को आक्रमण करते प्रदर्शित किया गया। इस आक्रमण का उद्देश्य था शत्रु को थोड़ा डीला कर देना। सर्व-प्रथम वायुयानों और तोपखानों द्वारा 'एच' ग्रेंडर से पहले किया जाने वाला आक्रमण दिखलाया। पीछे-पीछे टैंकों के साथ पैदल सेना आगे बढ़ी। इसी समय छोटी तोपें और मध्यम मशीनगनें गरज उठीं।

इस प्रदर्शन के समय प्रतिरक्षा मन्त्री कृष्ण मेनन, आर्मी चीफ तिमैया, एयर चीफ मुकर्जी तथा अपने कमाण्डेण्ट मेजर जनरल ज्ञानी सहित स्टॉफ कॉलेज के विद्यार्थी उपस्थित थे।

भोजन के समय अतिथियों का स्वागत करते हुए मैंने चीनी भाषा में एक छोटा-सा भाषण दिया (जो पहले ही रट लिया था)। चीनियों में और हम में इस अपनत्व-प्रदर्शन का कारण हमारी सरकार की तत्कालीन नीति थी।

भारत-पाक सीमा की देख-रेख भी मेरे पास थी। इसलिए फिरोजपुर और पठानकोट के बीच के स्थल का मैंने काफी गहराई से अध्ययन किया, वागाह और डेरा बाबा नानक पुल के निकटवर्ती भू-खण्ड का संग्रामिक दृष्टि से अध्ययन किया।

मार्शल जुकोव के सामने 'आक्रमण का प्रदर्शन' करने के लिए भी तिमैया ने मेरे ही डिवीजन को चुना। हमने पूरी तैयारी कर ली किन्तु किसी कारण-वश जुकोव नहीं आये। शिमला-स्थित पश्चिमी कमान के मुख्यालय ने एक रेत माँडल व्यायाम का आयोजन किया जिसमें मैंने भी भाग लिया था। वहाँ लेफ्टी० जनरल कलवन्त सिंह ने चौधरी के सामने हल करने के लिए एक संग्रामिक समस्या रखी और इस समय चौधरी ने जो चिन्तन प्रस्तुत किया था, वह बहुत निर्बल था तथा किसी भी रूप में उनकी तथाकथित प्रतिष्ठा एवं उनके तथाकथित अनुभव के अनुरूप नहीं था।

१९५८ की बात है, मैं चौधरी के पास जालंधर में ठहरा हुआ था। एक दिन उन्होंने कहा कि वह होशियारपुर (जालंधर से एक घण्टे की यात्रा) के एक सुविख्यात भृगु (ज्योतिषी) से अपना भविष्य जानना चाहते थे और मुझे पूछा कि क्या मैं भी उनके साथ चलूँगा। चौधरी, मैं तथा एक अन्य ऑफिसर

होमियारपुर गए। उन श्योतिषी महोदय ने बतलाया कि चौधरी एक दिन घानों पीछे बनेंगे, इसने चौधरी बड़े प्रसन्न हुए। मेरे जीवन की कुछ पटनाओं के सम्बन्ध में भी उन्होंने टीका भविष्यवाणी की।

सुप्रसिद्ध पत्रकार प्रेम भाटिया उन दिनों घम्बाला ने निकलने वाले मस्रेंजी दैनिक 'ट्रिब्यून' के सम्पादक थे। प्रेम भाटिया घोर में कानिज में गृहपाटी थे। म्रैम १९५६ में म्रमरीकी राष्ट्रपति एल्सवर्थ बंकर घम्बाला गए तो उनके स्वागत में एक उत्सव का आयोजन किया गया। प्रेम भाटिया ने मुझे भी निमन्त्रण भेजा। कार्यक्रम में मुझे कोई विशेष रचि नहीं थी, दमलिए उग घोर मैंने कोई विशेष ध्यान नहीं दिया। घम्बालक प्रेम भाटिया ने मच में घोषणा कर दी कि माननीय प्रतिधि के सम्मान में मैं दो शब्द बहने वाला था। मैं घनजाने में पकड़ा गया। मच में मैंने घवमर के उपयुक्त दो-पार शब्द कह दिए किन्तु उचके बाद जो बंकर ने वार्तालाप हुआ, यह मत्यधिक रोचक था। दिल्ली पहुँच कर बंकर ने मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा :

नई दिल्ली

२१ म्रैम १९५६

डियर जनरल कौन,

...मैं नहीं जानता कि मुझे किनी मभा या वार्तालाप में द्रगसे अधिक मानन्द घाया हो। ऐसा बहुधा नहीं होता कि पहली मुलाकात में ही इस प्रकार की सहानुभूति की भावना जाग्रत हो जाए या विचारों की एकरूपता निजे जैसा कि उग रात घाष में बातचीत करने के बाद तो मैं अनुभव कर रहा हूँ।...

भवदीय,

एल्सवर्थ बंकर।

(घब इसको भाग्य की विद्वम्बना ही कहिए कि जिस समय एल्सवर्थ बंकर मुझे इस प्रकार का पत्र लिख रहे थे, मेरे निन्दक मुझे म्रमरीका-विरोधी घोषित कर रहे थे।)

मेजर रंगभाष्यम मेरे स्टॉक पर थे। वह एक सुयोग्य तथा कुशल म्रॉफिसर थे। अपने पेशे से सम्बन्धित बातचीत के प्रतिरिक्त म्रन्य विषयो पर भी हम दोनों में वार्तालाप होता रहता था। जब उन्होंने मुझे अपने देश के विविध प्रदेशों की संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करने के लिए कहा तो मैंने निरसंकोच कह दिया कि मुझे तो दक्षिण भारत और बंगाल के लोगों का रहन-सहन प्रिय लगता है। इन दोनों प्रदेशों के वासी सीधा-सादा जीवन व्यतीत करते हैं और बिना किसी हीनता का अनुभव किए इहली, डोसा

व मछली खाते हैं, अपनी परम्परागत वेशभूषा धारण करते हैं तथा अपनी भाषा तमिल, तेलगु या बंगला बोलते हैं। उनका अपना संगीत है, अपने पर्य हैं तथा एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वे, कुछ लोगों के समान, भारतीय होना अपमानजनक नहीं मानते अपितु इसमें गौरव का अनुभव करते हैं।

अम्बाला के दक्षिण भारतीयों ने मुझे श्री त्यागराज के आराधना संगीतोत्सव का सभापतित्व करने को कहा। मुझे इन संत-संगीतज्ञ के विषय में कोई ज्ञान नहीं था, इसलिए मैंने उनके जीवन का सविस्तार अध्ययन किया। अध्ययन के बीच मुझे पता चला कि इस संगीतज्ञ ने संगतियों को ठीक विठाने के लिए कुछ शब्दों का सपरिश्रम सम्पादन किया है। सजीव साहित्यिक अभिव्यक्ति एवं भावनाओं के मुखरण में वह दक्ष थे। वह अति श्रेष्ठ साहित्यिक संगीतज्ञ थे।

एक वार मुझे एक एंग्लो-इण्डियन महिला श्रीमती जॉयस नेल^३ का पत्र (जो आज भी मेरे पास है) मिला। तीस वर्ष से कम आयु की यह महिला अस्पताल में अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थीं। पत्र में इन्होंने लिखा था :

डियर जनरल,

मुझे आपसे एक महत्वपूर्ण विषय पर बातचीत करनी है। कृपया दस मिनट के लिए तुरन्त चले आइए।

ईश्वर आपका मंगल करे,

भवदीय,
जॉयस नेल।

मैं अविलम्ब अस्पताल पहुँचा। वह अपनी अन्तिम साँसें पूरी कर रही थीं। उन्होंने मुझसे फुसफुसा कर कहा कि मेरे विरुद्ध जो व्यर्थ की चर्चा चल रही है, उन्हें विश्वास था कि वह सब निराधार थी। किन्तु वह मुझसे जानना चाहती थीं कि उनका विश्वास ठीक था या नहीं। तब उन्होंने अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया और सुबकने लगीं। कुछ क्षण बाद वह इस पार्थिव जगत् से विदा हो गईं। इस दृश्य से मुझ पर जो प्रभाव पड़ा, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मार्च १९५८ की बात है कि एक दिन अचानक मेरे डिवीजन में मेनन पहुँच गए। इससे पहले मेनन से मेरी मुलाकात एक ही वार हुई थी और वह भी

३. कैप्टेन नेल की पत्नी, जो उस समय मेरे अधीन ६/८ गोरखा राइफल्स में थे।

कोई दम वषं पहले नेहरू के यहाँ। किन्तु इस वार मुलाकात दूसरे रूप में हो रही थी। उनका व्यवहार बड़ा अशिष्ट था तथा वह बड़ी जल्दी में लग रहे थे। पहले तो मैंने उनसे अपने डिवीजन की संग्रामिक भूमिका की चर्चा की कि किस प्रकार पिछले दो वर्षों में हमने प्रशिक्षण लिया था और उसके बाद कुछ प्रशासन-विषयक बातें उनके सामने रखी। मैंने उन्हें बतलाया कि देश का विभाजन होने पर सेना तो यद्यपि एक-तिहाई ही पाकिस्तान में गई थी किन्तु सेना के आवास-क्षेत्र लगभग दो-तिहाई पाकिस्तान में पहुँच गए थे। इसलिए हमारे पास अपने परिवारों को रखने के लिए कोई प्रबन्ध न था। यद्यपि मेरे पूर्वाधिकारियों ने इस सम्बन्ध में उच्च अधिकारियों में चर्चा चलाई थी किन्तु लाभ कुछ न निकला। सरकार शायद इस मामले में कुछ कर सकने में इसलिए असमर्थ थी क्योंकि अभी तक वह सेना के लिए किसी उपयुक्त स्थायी स्थान को नहीं चुन पाई थी। किन्तु पारिवारिक आवास के न होने से सैनिकों के मनोबल पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था।

मेनन ने उत्तर दिया कि जिस गति से काम हो रहा था, उस गति से तो अनेक प्रक्रियात्मक एवं विभागीय बाधाओं को पार करके यह समस्या कही तीस वर्षों बाद मुलभू पाएगी। इसलिए उन्होंने एक सुझाव दिया कि यदि वह अपेक्षित धन-राशि दे दें तो क्या सेना के जवान अपने लिए मकान आदि स्वयं बना लेंगे। पहले तो मैंने उनकी बात को गम्भीरता से नहीं लिया क्योंकि उनके पूर्वाधिकारियों से भी इसी प्रकार की बातें कई बार सुनी थी। किन्तु कुछ देर बाद लगा जैसे मेनन की बात में कुछ तत्त्व था। अतः, मैंने इस विषय पर थोड़ी देर सोचा। लेकिन इसके लिए अपने उच्च अधिकारियों की भी मुझे अनुमति लेनी थी। इसलिए, मैंने मेनन को उत्तर दिया कि यदि मेरे उच्च अधिकारियों को इसमें कोई आपत्ति नहीं हुई और इस समस्या का कोई और समाधान न निकल पाया तो मैं उनके सुझाव को मान लूँगा। मैंने उन्हें स्पष्ट कहा कि मेरे विचार से तो अपने परिवार के लिए मकान आदि बनाने में सेना का कोई अपमान नहीं है। साथ ही मैंने यह भी कह दिया कि कुछ महीने इस परियोजना में काम करने से सैनिक अपने पैसे को नहीं भूल सकने और न ही इससे कुछ इतना बड़ा अन्तर पड़ेगा कि बाद में अधिक परिश्रम कर के वह इस काम को पूरा न कर सकें।

मेनन ने पूछा कि इस परियोजना को पूरा करने में कितना समय लगेगा तथा इस पर कितना खर्च आएगा। मैंने जल्दी से अपने मन में हिसाब-किताब

४. लेफ्टी० जनरल जे० एन० चौधरी, लेफ्टी० जनरल कलबन्त सिंह तथा जनरल के० एस० तिमैया मेरे उच्च अधिकारी थे जिन्होंने यह परियोजना हाल में सेने की मुझे अनुमति दी।

व मछली खाते हैं, अपनी परम्परागत वेशभूषा धारण करते हैं तथा अपनी भाषा तमिल, तेलगु या बंगला बोलते हैं। उनका अपना संगीत है, अपने पर्व हैं तथा एक स्वतन्त्र व्यक्तित्व है। वे, कुछ लोगों के समान, भारतीय होना अपमानजनक नहीं मानते अपितु इसमें गौरव का अनुभव करते हैं।

अम्बाला के दक्षिण भारतीयों ने मुझसे श्री त्यागराज के आराधना संगीतोत्सव का सभापतित्व करने को कहा। मुझे इन संत-संगीतज्ञ के विषय में कोई ज्ञान नहीं था, इसलिए मैंने उनके जीवन का सविस्तार अध्ययन किया। अध्ययन के बीच मुझे पता चला कि इस संगीतज्ञ ने संगतियों को ठीक विठाने के लिए कुछ शब्दों का सपरिश्रम सम्पादन किया है। सजीव साहित्यिक अभिव्यक्ति एवं भावनाओं के मुखरण में वह दक्ष थे। वह अति श्रेष्ठ साहित्यिक संगीतज्ञ थे।

एक बार मुझे एक एंग्लो-इण्डियन महिला श्रीमती जॉयस नेल^३ का पत्र (जो आज भी मेरे पास है) मिला। तीस वर्ष से कम आयु की यह महिला अस्पताल में अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रही थीं। पत्र में इन्होंने लिखा था :

डियर जनरल,

मुझे आपसे एक महत्त्वपूर्ण विषय पर वातचीत करनी है। कृपया दस मिनट के लिए तुरन्त चले आइए।

ईश्वर आपका मंगल करे,

भवदीय,

जॉयस नेल।

मैं अविम्व अस्पताल पहुँचा। वह अपनी अन्तिम साँसें पूरी कर रही थीं। उन्होंने मुझसे फुसफुसा कर कहा कि मेरे विरुद्ध जो व्यर्थ की चर्चा चल रही है, उन्हें विश्वास था कि वह सब निराधार थी। किन्तु वह मुझसे जानना चाहती थीं कि उनका विश्वास ठीक था या नहीं। तब उन्होंने अपना हाथ मेरे हाथ पर रख दिया और सुबकने लगीं। कुछ क्षण बाद वह इस पार्थिव जगत् से विदा हो गईं। इस दृश्य से मुझ पर जो प्रभाव पड़ा, वह शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता।

मार्च १९५८ की बात है कि एक दिन अचानक मेरे डिबीजन में मेनन पहुँच गए। इससे पहले मेनन से मेरी मुलाकात एक ही बार हुई थी और वह भी

३. कैप्टेन नेल की पत्नी, जो उस समय मेरे अधीन ६/८ गोरखा राइफल्स में थी।

कोई दस वर्ष पहले नेहरू के यहाँ। किन्तु इस बार मुनाकात दूसरे रूप में हो रही थी। उनका व्यवहार बड़ा अशिष्ट था तथा वह बड़ी जल्दी में लग रहे थे। पहले तो मैंने उनसे अपने द्विबीजन की संश्लेषिक भूमिका की चर्चा की कि कित्त प्रकार पिछले दो वर्षों में हमने प्रशिक्षण लिया था और उसके बाद कुछ प्रशिक्षण-विषयक बातें उनके सामने रखी। मैंने उन्हें बतलाया कि देश का विभाजन होने पर सेना तो यद्यपि एक-तिहाई ही पाकिस्तान में गई थी किन्तु सेना के आवास-क्षेत्र लगभग दो-तिहाई पाकिस्तान में पहुँच गए थे। इसलिए हमारे पास अपने परिवारों को रखने के लिए कोई प्रयत्न न था। यद्यपि मेरे पूर्वाधिकारियों ने इन सम्बन्ध में उच्च अधिकारियों से चर्चा चलाई थी किन्तु नाम कुछ न निकला। सरकार शायद इस मामले में कुछ कर सकने में इसलिए असमर्थ थी क्योंकि अभी तक वह सेना के लिए किसी उपयुक्त स्थायी स्थान को नहीं चुन पाई थी। किन्तु पारिवारिक आवास के न होने से सैनिकों के मनोबल पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा था।

मेहन ने उत्तर दिया कि जिस गति से काम हो रहा था, उस गति से तो अनेक प्रक्रियात्मक एवं विभागीय बाधाओं को पार करके यह समस्या कही तीस वर्षों बाद सुलभ पाएगी। इसलिए उन्होंने एक सुझाव दिया कि यदि वह अपेक्षित धन-राशि दे दें तो क्या मेना के जवान अपने लिए मकान आदि स्वयं बना लेंगे। पहले तो मैंने उनकी बात को गम्भीरता से नहीं लिया क्योंकि उनके पूर्वाधिकारियों ने भी इसी प्रकार की बातें कई बार सुनी थी। किन्तु कुछ देर बाद लगा जैन मेहन की बात में कुछ तर्क था। अतः, मैंने इस विषय पर थोड़ी देर सोचा। लेकिन इसके लिए अपने उच्च अधिकारियों की भी मुझे अनुमति लेनी थी। इसलिए, मैंने मेहन को उत्तर दिया कि यदि मेरे उच्च अधिकारियों को इसमें कोई आपत्ति नहीं हुई और इस समस्या का कोई और समाधान न निकल पाया तो मैं उनके सुझाव को मानूँगा। मैंने उन्हें स्पष्ट कहा कि मेरे विचार से तो अपने परिवार के लिए मकान आदि बनाने में सेना का कोई अपमान नहीं है। साथ ही मैंने यह भी कह दिया कि कुछ महीने इस परियोजना में काम करने से सैनिक अपने पैसे को नहीं भूल सकते और न ही इससे कुछ इतना बड़ा अन्तर पड़ेगा कि बाद में अधिक परिश्रम कर के वह इस कमी को पूरा न कर सकें।

मेहन ने पूछा कि इस परियोजना को पूरा करने में कितना समय लगेगा तथा इस पर कितना खर्च आएगा। मैंने जल्दी से अपने मन में हिसाब-किताब

४. लेफ्टी० जनरल जे० एन० चौधरी, लेफ्टी० जनरल कलवन्त सिंह तथा जनरल के० एस० सिमंशा मेरे उच्च अधिकारी थे जिन्होंने यह परियोजना हाथ में लेने की मुझे अनुमति दी।

लगा कर बताया कि यह परियोजना ६-७ महीने में पूरी हो जाएगी तथा इस पर लगभग एक करोड़ रुपया लग जाएगा। निर्माण-एजेंसियों के अनुमान की तुलना में यह काफी सस्ता और जल्दी पूरा होने वाला अनुमान था। और मैं यह अनुमान इसलिए दे सका क्योंकि मुझे अपने आदमियों की सर्वतोमुखी प्रतिभा का तथा उनके साहस, परिश्रम एवं निष्ठा से काम करने के सद्गुण का ज्ञान था। साथ ही मुझे अपने पर भी इतना विश्वास था कि उन आदमियों को साथ ले कर मैं किसी भी काम को पूरा कर सकता था। मेनन ने कहा कि मैं उनके साथ दिल्ली चलूँ ताकि इस विषय पर विस्तृत चर्चा की जा सके। इस पर मैंने सखेद उत्तर दिया कि बिना अपने उच्च अधिकारियों की अनुमति लिये मैं अपना स्थान नहीं छोड़ सकता। मेनन ने इसे वहाना समझा और वह जल्दी में उठ गए। अगले दिन सुबह मुझे तिमैया तथा अन्य अधिकारियों का आदेश मिला कि मैं दिल्ली पहुँच कर मेनन को मिलूँ और मैंने उनके आदेश का अविलम्ब पालन किया। मेनन ने अम्बाला वाले अपने सुभाव का समर्थन किया और कहा कि इस परियोजना को पूरा करने के लिए मुझे कुछ विशेष अधिकार दिए जाएँगे ताकि लालफीताशाही से बचा जा सके। तिमैया ने मुझे बताया कि यद्यपि पहले तो इस प्रस्ताव को सुन कर उनकी प्रतिक्रिया इसके प्रति अनुकूल नहीं थी किन्तु वाद में उन्होंने यह सोच कर अपनी सहमति दे दी थी कि पारिवारिक आवास के अभाव में सैनिकों का मनोबल गिरता है जो प्रतिरक्षा की दृष्टि से उचित नहीं है।

मुझे १४५० घर बनाने थे तथा अन्य सहायक सेवाओं एवं फर्नीचर का प्रवन्ध करना था। इस पर कुल मिला कर एक करोड़ से ऊपर लागत आती थी। यह काम करना भी केवल सात महीने में था अर्थात् एक घर के बनाने के लिए साढ़े तीन घण्टे की औसत आती थी। अपने कमाण्डरों को इकट्ठा कर के मैंने यह परियोजना उनके सामने रखी और कहा कि इतना बड़ा दायित्व मैंने उनके सहयोग के बल पर स्वीकार कर लिया है। उन्होंने मुझे पूरा सहयोग देने का वचन दिया।

इसी समय हमें 'द्वावा' व्यायाम में भाग लेना पड़ा जो उच्च अधिकारियों ने हमारी कार्य-क्षमता के परीक्षण के लिए आयोजित किया था। इसमें हमने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की। इस समय भयंकर गर्मी पड़ रही थी और हमें कड़कती धूप तथा रेतीले तूफानों में काम करना पड़ा।

१६ जून १९५८ को मेनन ने इस परियोजना की आधार-शिला रखी। इस परियोजना के मुख्य इंजिनियर कर्नल शमशेर सिंह एक शिष्ट, धर्मशील, सुयोग्य एवं प्रसन्नमुख ऑफिसर थे। प्रशासन का भार लेपटी० कर्नल लाम्बा था जिन्होंने अपना दायित्व पूरी जागरूकता से निभाया और इस परि-
की अमूल्य सेवा की।

१४५० घरों के निर्माण के साथ-साथ हमें ६००,००० गैलन पानी के लिए आयोजन करना था तथा सोलह मील लम्बी नालियाँ बिछानी थी, भासडा ग्रिड पद्धति से ४५० किलोवाट बिजली लेनी थी तथा कुछ सड़क बनानी थी। परियोजना के लिए चार करोड़ इंटें, १०,००० टन सीमेंट, ८,००० टन कोयला और १,५०० टन इस्पात की जरूरत थी अर्थात् कुल मिला कर २०,००० टन सामान चाहिए था जिसकी कीमत ६० लाख रुपये से ऊपर बैठती थी। आयात पर प्रतिबन्ध होने के कारण इनमें से कुछ सामान तो बड़ी मुश्किल में मिल पाता था। किन्तु सामान तो फौरन चाहिए था, इसलिए इसे इकट्ठा करने का काम शुरू कर दिया गया। यह किसी को मालूम नहीं था कि सैनिक एवं गैर-सैनिक शिल्पियों के साथ काम करने पर मानव-प्रबन्ध की समस्या क्या-क्या गुल खिनाएगी।

निकटवर्ती स्थानों में इंट पकाने के चौदह भट्टे थे जिनकी उत्पादन-क्षमता लगभग एक करोड़ इंट थी। हमारी माँग को देख कर भट्टों के मालिक पीछे हट गए। जब मैं उनके पास पहुँचा तो उन्होंने कहा कि उनके पास तो घघपकी इंटें थी। उनका यह कपटपूर्ण व्यवहार मुझे बहुत खला और मैंने स्थानीय कमिश्नर की सहायता ले कर उन भट्टों पर अधिकार कर लिया तथा इंटें निकलवाईं। इन इंटों का पूरा भुगतान किया गया। इसमें मेरा धपना स्वार्थ तो था नहीं, इसलिए ऐसा कदम उठाने में मुझे कोई संकोच नहीं हुआ। किन्तु अब भी तीन करोड़ इंटें और मँगवानी थी। रेत तो पास में ही घग्गर नदी के किनारे पर मौजूद था, इसलिए अपेक्षित मात्रा में वह मँगवा लिया गया। मेरा विचार था कि नदी के किनारे पड़ा रेत तो मुफ्त लिया जा सकता था किन्तु पता चला कि वह सरकारी सम्पत्ति है और उसका भुगतान करना होगा। वर्षा ऋतु में इसके दर्शन दुर्लभ हो जाते हैं क्योंकि जल की धारा इसे धपने साथ बहा ले जाती है। कुछ लकड़ी तथा दूसरा सामान पड़ोसी क्षेत्रों से खरीदा किन्तु मेरी माँग इतनी अधिक थी कि इसका प्रबन्ध दूरस्थ क्षेत्रों से करना पड़ा।

किराए पर लिये गए गैर-सैनिक परिवहन का अधिकतम उपयोग किया गया क्योंकि धपना परिवहन हम संप्रामिक कामों के लिए सुरक्षित रखना चाहते थे। डके हुए स्थान का आकार दुपना कर दिया ताकि हम विविध कारखाने आदि वहाँ स्थापित कर लें जिससे परियोजना के निर्माण में कोई बाधा न पड़ सके।

वर्षा ऋतु के आने पर काम बौला पड़ गया। इंटों के भट्टे ठप्प पड़ गए। कई बार मुझे लालपीताशाही के चक्कर में पड़ना पड़ा। पता चला कि उत्तर प्रदेश से पंजाब इंटें लाने पर प्रतिबन्ध था। कई बार उत्तर प्रदेश के मन्त्रियों से मिला तथा केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से मिला और सब कही जा कर यह प्रतिबन्ध हटवा पाया। सामान नाना भी एक जटिल समस्या थी। इस

१२५ • प्रनरुहो कहानी

... में २००० घण्टों में मेरी सहायता की और कुछ वेगन सुरक्षित कर दिए।
 ... और आठोंगर गिव किशोर की देवरेख में मालगाड़ियाँ हमारा सामान घेने
 ... में शिव किशोर से जल्दी करने को कहा तो उन्होंने रेल अधिकारियों
 ... बना कर इन मालगाड़ियों को डाकगाड़ियों एवं एक्सप्रेस गाड़ियों
 ... को पहले छोड़ा और शीघ्रता से उनके गन्तव्य पर पहुँचा दिया। आदमियों
 ... नमस्त्रा रोजगार विभाग ने हल की। जैसे-जैसे काम ने प्रगति की, जवानों
 ... मनोबल बढ़ता गया। दरवाजों, खिड़कियों तथा रोशनदानों की २०,०००
 ... चीजें चाहिए थीं। यह सामान जम्मू एवं कश्मीर सरकार के श्रीनगर तथा
 ... स्थित फर्नीचर के कारखानों से मिल गया। इन चीजों को सुलभ कराने
 ... मेरी गुलाम मुहम्मद ने मेरी काफी सहायता की। इस सामान तथा खिड़कियों
 ... की जल्दी पहुँचने में काफी कठिनाई आई किन्तु अन्ततः यह समस्या
 ... हल हो गई। फर्नीचर में मुझे लगभग १०,००० चीजें चाहिए थीं।

छत डालने का काम काफी जटिल था। कुछ तरीके तो काफी महँगे थे
 तथा कुछ जटिल। मुझे पता चला कि रुड़की के केन्द्रीय भवन-निर्माण शोध
 संस्थान (सेण्ट्रल विल्डिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट) ने एक नये प्रकार की छत का
 फार्मूला निकाला था कि बिना ढले दोहरे मुड़े हुए धातु के खोल को लकड़ी
 के तख्ते पर रख कर शहतीर (बीम) पर बिठा दो और फिर वहीं उसे ढालो।
 इस्पात और सीमेंट की दृष्टि से यह छत काफी सस्ती पड़ती थी और कच्चे
 फुस्के एवं टाइलों से बनने के कारण स्थिति को देखते हुए उपयुक्त ठहरती थी।
 इसके डिजाइन का काफी परीक्षण कर लिया गया था और इस कसौटी पर यह
 खरी उतरी थी, नई चीज थी तथा हमारी समस्या को हल कर देती थी। मेरे
 इंजिनियरों ने ३,००० छतें तैयार कीं। (यद्यपि मैं इंजिनियर नहीं था किन्तु
 इन सब चीजों को गहराई से समझने का मैंने पक्का विचार कर लिया था।)

सदियाँ आ गई थीं और हमारा काम भी परिपूर्णता के निकट पहुँच चुका
 था। सैनिक की एक विशेषता है कि वह अपने काम को बहुत शीघ्र सीख लेता
 है। काम के समय उन्हें ठण्डा पेय तथा चाय मुफ्त मिलती थी। संगीत का भी
 प्रबन्ध था। प्रत्येक निर्माण-स्थल पर मैंने अस्थायी शिविर लगवा दिये थे ताकि
 काम का ठीक से निरीक्षण हो सके और जो मुझे मिलना चाहें, वे सरलता से
 मिल सकें।

अभी यह परियोजना 'अमर' चल ही रही थी कि मेनन ने मुझे एक काम
 और सौंप दिया कि मैं दिल्ली में होने वाली भारतीय प्रदर्शनी (इण्डिया एक्जी-
 वीशन) के लिए ६ सप्ताह के भीतर-भीतर एक प्रतिरक्षा मण्डप (डिफेंस
 पैविलियन) का निर्माण करा दूँ। इंजिनियरों ने इसके लिए काफी समय की

५. तिमैया ने सेना मुख्यालय के मुख्य इंजिनियर को लिख कर यह सूचना दी

माँग की थी। मैंने ग्रम्बाला से दिल्ली आने और दिल्ली से ग्रम्बाला जाने के लिए जेट तथा तथा अन्य शीघ्रगामी वायुयानों का उपयोग किया ताकि मैं दोनों स्थानों पर स्वयं निरीक्षण कर सकूँ। जेट को एक ओर की यात्रा में पन्द्रह मिनट लगते थे। १५,००० वर्गफुट भूमि पर ३५ फुट ऊँचा मण्डप बनाना था। भारी वर्षा और महँगाई के कारण लागत अधिक बैठ रही थी, इसलिए मैंने वित्तीय परामर्शदाता (फाइनेंशल एडवाइजर) जो मेरे एक मित्र थे, को स्थल पर ला कर मारी स्थिति समझाई।

नयी परियोजना 'विजय' १६ अगस्त १९५८ को प्रारम्भ हुई। यहाँ मेरे मुख्य इंजिनियर कर्नल वी० एन० दास थे। यह बहुत ही विश्वमनीय व्यक्ति थे। निर्माण का काम अनुभवी ला० तीर्थराम ने पूरा किया।

जिस काम को पूरा करने के लिए विद्येपत्रों ने ६ महीने का समय माँगा था, वह काम मुझे ६ सप्ताह में पूरा करना था। इसलिए विनियोजन और कार्य सम्पादन साथ-साथ किया गया। सेना के वास्तुविद् और इंजिनियरों में काफी मतभेद था, इसलिए वास्तुविद् महोदय के स्थान पर विश्वविख्यात वास्तुविद् राना को लाया गया। यहाँ पृथ्वी-तल से चार फुट नीचे पानी निकल आता था। साथ ही इस स्थान के नीचे विजली के केबल फँले हुए थे तथा पानी की नालियाँ बिछी हुई थीं। इस कारण हमें आधार-शिला की डिजाइन बदलनी पड़ी और तदनुसार सारा नक्शा बदलना पड़ा। इसने काम के शुरू होने में और देर हो गई। नये वास्तुविद् ने हमारे नक्शे और डिजाइनों को जड़ में बदल दिया। वर्षा अपने पूरे जोर पर थी और पृथ्वी-तल के नीचे पानी और ऊपर बह धाया था। इस्पात और सीमेंट जल्दी-जल्दी बंगान से भँगवाया गया। कभी-कभी तो मैं सारी-सारी रात वर्षा में खड़े रह कर काम कराता रहता और भोर के समय ग्रम्बाला लौटता। वहाँ पहुँच कर वहाँ की समस्याओं में लौ जाता। दोनों स्थानों पर एक साथ निर्माण कराना बड़ा कष्टसाध्य काम था। दिल्ली में जब थोड़ा-बहुत काम पूरा हुआ तो मेनन ने एक विप्रेटर एवं एक रेस्टोर बनाने का आदेश और दे दिया। अब निर्माणाधीन भूमि का क्षेत्रफल २८,००० वर्गफुट हो गया अर्थात् पहले से नगभग दुगना।

कुछ दिन पहले मैंने एक पुस्तक में पढ़ा था कि यदि ताजे सीमेंट पर नियमित रूप से धौर धँस के साथ निर्माण थानू रगा जाए तो सीमेंट के मूगने की प्रतीक्षा करने की कोई आवश्यकता नहीं है। विद्येपत्रों का कहना था कि सीमेंट को सखने के लिए कम-से-कम तीन सप्ताह का समय देना जरूरी है

तो कि क्योंकि उनके कथनानुसार यह काम ६ सप्ताह में होना सम्भव था और मैंने इसे इसी अवधि में पूरा करना स्वीकार कर लिया था, इसलिए इसका इच्छार्थ मूठ बना दिया गया था। इंजिनियर महोदय ने प्रत्यक्ष में आश्वासन दिया कि वह मेरी सब प्रकार से सहायता करेंगे।

श्रीर तत्र उस पर निर्माण किया जाए। मुझे यह बात समझ नहीं आई कि सीमेंट को सूराने के लिए उतना समय देने में क्या तुक है जबकि उस पर धीरे-धीरे निर्माण को चालू रखा जा सकता है, हाँ एक साथ भार नहीं पड़ना चाहिए। ६५ फुट के फैलाव में गाटर एक सप्ताह में डाल दिये गए। सम्पूर्ण निर्माण के नीचे परिपुष्ट कंकरीट का आवार दिया गया। वर्षा के कारण कई ट्रांसफॉर्मर ठप्प पड़ गए और शहतीरों एवं कड़ियों को बँड करना सिर दर्द हो गया। किन्तु सारी परियोजना निर्धारित समय में पूरी हो गई और नेहरू ने उसका उद्घाटन किया।

अब मैंने फिर अपना सारा ध्यान 'अमर' पर केन्द्रित कर दिया। इस्यात श्रीर सीमेंट पर्याप्त मात्रा में एवं समय पर इकट्ठे कर लिये गए। अपनी व्यक्तिगत देखरेख में सामान भेजने के लिए मैंने अपने सुयोग्य ऑफिसरों को सारे भारत में भेजा। अन्तिम समय में फर्मों ने चीजों की कीमतें बढ़ा दीं और कई अनुबन्ध टूट गए। इस समय मुझे बहुत फुर्ती से सारा प्रबन्ध करना पड़ा। इस कार्य में लेफ्टी० कर्नल डी० एस० राव ने मुझे प्रशंसनीय सहयोग दिया।

सड़कें बनाने, नालियाँ विछाने, विजली के तार फैलाने एवं पानी का प्रबन्ध सर्दियों के शुरू होने पर प्रारम्भ हुआ। कुएँ खोदना काफी जटिल समस्या थी किन्तु इसको भी पार किया गया और पूर्व-निर्धारित १०,००० गैलन पानी प्रति घण्टे की अपेक्षा १५,००० गैलन पानी प्रति घण्टा निकाला गया। पंजाब सरकार १९६१ से पहले अतिरिक्त विजली देने को तैयार नहीं थी किन्तु किसी-न-किसी प्रकार मैंने यह काम भी बना लिया। इस अतिरिक्त भार को संभालने के लिए जमीन के नीचे अतिरिक्त पाइप डलवाए गए, वितरण-पद्धति को शक्तिशाली बनाया गया तथा और सब-स्टेशन खोले। विजली का सामान बाजार में बहुत कम था और यह निश्चित नहीं था कि और सामान कब तक सुलभ होगा। कुछ सामान तो विदेशों से आयात किया जाना था जिसके लिए विदेशी मुद्रा की समस्या सामने आ गई। अपने व्यक्तिगत सम्पर्क के बल पर मैंने इन सब बाधाओं को पार करके सब अपेक्षित सामान जुटाया।

इस परियोजना में मैं सफ़ाई का प्रबन्ध ठीक रखना चाहता था। पहले का प्रबन्ध दुर्गन्धयुक्त टंकियों एवं सीलन वाले कुओं पर आधारित था जो वर्ष में एक-दो बार ठप्प पड़ जाता था। पृथ्वी-तल के नीचे ६ फुट से ले कर ३० फुट तक की मिट्टी में चिकनी मिट्टी का प्रतिशत बहुत ज्यादा था और सख्त मिट्टी ३० फुट नीचे थी। इसके फलस्वरूप गन्दगी भू-गर्भ में नहीं खप पाती थी। इस प्रबन्ध को अनुपयुक्त ठहरा कर नये प्रबन्ध की कल्पना की गई और तदनुरूप कार्य किया गया अर्थात् ऐसा प्रबन्ध कर दिया गया कि यह सब चीजें कुओं से बाहर टंकियों में पहुँचा दी जाए जो प्राकृतिक नालों के पास थीं तथा वहाँ से वह कर आगे चली जाए।

मैनीटरी के सामान की बहुत ज़्यादा की बर्बादी इसके घातक पर नो प्रति-
बन्ध था और देशी उत्पादन इतनी मात्रा में नहीं हो पाता था कि बाजार की
माँग को पूरा कर सके। गैर-मैनिंग मजदूरों की काम पर देर में आने की
घातक बन गई थी, इसलिए गुरु-गुरु में हमें भी उनकी इस घातक का शिकार
होना पड़ा। किन्तु हमारा उनके प्रति भावुर व्यवहार तथा काम के समय उनकी
देखरेखा आदि में उनकी यह घातक छुटका दी और उन्होंने नियत समय पर
माना गुरु कर दिया। मजदूर सघों ने उन्हें काशी भटकाने की कोशिश की।
किन्तु उन पर कोई प्रभाव न पड़ा और हमारे यहाँ काम मुत्तार रूप से चलता
रहा। दिसम्बर के महीने में मुझे काशी चिन्ता हुई क्योंकि कुछ सामान तो देर
में पहुँच रहा था और कुछ अनुबन्ध पूरे नहीं हो पाए। लोहे के सामान के
लिए तो मुझे ६ दिनों में नकद खपवा ले कर ६ जगहों पर भेजना पड़ा। इनमें
से एक अनुबन्ध गिराई के शीशों का था। पानी की टकियों (छत वाली)
के मामले में भी मुझे घाविरा मिनट पर हरी भण्डी दिया दी गई। महीने के
समाप्त होने-होते नहीं यह सामान था पाया और १० जनवरी १९५६ को
हमारी परियोजना पूरी हो गई। घाविरा क्षण में निर्णय किया गया कि जहाँ
स्टेडियम में उद्घाटन-समारोह सम्पन्न होना था, वहाँ एक साठ फुट ऊँचा
स्पात का तोरण बनाया जाए। यह स्वयं में एक बहुत बड़ा काम था। गैर,
एन मोर्चे को भी मार लिया गया। मेरे इजिनीयर्स, सैनिकों और कमाण्डरों
ने राठ-दिन अथक परिश्रम कर के 'अमर' का निर्माण किया था। यह परि-
योजना इसलिए और भी महत्वपूर्ण थी कि इसे विल्कुल प्रतिकूल परिस्थितियों
में तथा एकदम नये घादमियों में (भवन-निर्माण की कला से अनभिज्ञ) पूरा
किया गया था। दनबद्ध काम करने की भावना का यह एक अनुपम उदाहरण
था।

१६ जनवरी को नेहरू, मेनन, कई केन्द्रीय मन्त्री, बरुशी गुलाम मोहम्मद,
सरदार प्रतापसिंह कैरो, तीनों सेनाओं के अध्यक्ष तथा अनेक सिट्ट जन
पधारे और उन्होंने सम्पूर्ण परियोजना का भली-भाँति निरीक्षण किया। बाद
में, २० हजार सैनिकों, उनके परिवारों तथा १० हजार अन्य दर्शकों के सामने
नेहरू ने 'अमर' का उद्घाटन किया।

मैंने अपने दिव्यजन के २०,००० घादमियों को एक सामूहिक गान^६

६. ऐ हिन्द के निवासियों
ऐ और दिव के वासियों
उठाओ मिल के देश को
बढ़ाओ मिल के देश को
जोशे वतन बढ़ाएंगे
भारत को जगमगाएंगे

दिनाया था। उसके लेगक जमादार कदमोरी थे। इस गान ने सम्पूर्ण डिवीजन में एकता, उद्देश्य एवं देशभक्ति की नयी चेतना फूँक दी थी। इस गान को गुन कर नेहरू भी भावाभिभूत हो उठे। जनरल तिमैया तो पहले ही इसकी निमित्त प्रशंसा कर चुके थे। अपने उद्घाटन-भाषण में 'अमर' के निर्माण में लगे प्रत्येक व्यक्ति की सराहना की और कहा कि उन्होंने स्वयं-सेवा के क्षेत्र में एक नया दृष्टान्त स्थिर किया था। उन्होंने कहा कि इस समय युद्ध में विजय पाने पर नहीं अपितु एक नयी प्रकार की विजय पाने पर हर्ष मना रहे थे। चतुर्थ इन्फैण्ट्री डिवीजन ने जिस तेजी व कुशलता से यह निर्माण पूरा किया था, उससे वह बहुत प्रसन्न थे। देशभक्ति एवं अनुशासन का अनुपम उदाहरण था। इसके बाद लगभग २०,००० आदमियों ने खुले में भोजन किया। नेहरू ने सैनिकों में घूम-घूम कर एवं उनसे बातचीत कर के भोजन किया। भोजन परोसने, खाने एवं वर्तन समेटने में कुल बीस मिनट लगे। इससे प्रघान मन्त्री बहुत प्रभावित हुए।

सैनिकों के भवन-निर्माण करने पर देश में काफी चर्चा हुई। मैं भी इसके विरुद्ध हूँ क्योंकि उनका काम तो मूलतः युद्ध का प्रशिक्षण प्राप्त करना है जिससे वे देश की प्रतिरक्षा कर सकें। किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में, यदि वे अपने परिवारों के लिए घर बना लें तो मैं समझता हूँ कि इसमें कोई अनर्थ नहीं है। यदि कोई गैर-सैनिक काम सैनिकों के बिना न हो सकता हो तो उन्हें उस काम में भी लगाया जाता है। जैसे, टूटे पुलों की मरम्मत करना, बाढ़ रोकना, रेल-दुर्घटना के बाद लोगों को सँभालना, भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में पहुँच कर जन-जन की रक्षा करना आदि अनेक गैर-सैनिक काम हैं जो प्रत्येक देश में सैनिक करते हैं और इससे प्रशिक्षण में बाधा पड़ती है। अमरीका, यूरोप, रूस, इंग्लैंड आदि देशों में आप जिसका कहें, मैं उसका उदाहरण दे सकता हूँ कि वहाँ सैनिकों से गैर-सैनिक काम करवाये गए हैं और कुछ जगह तो अपराधियों को पकड़ने में भी उनकी सहायता ली गई है। 'अमर' के निर्माण के समय जिन कमाण्डरों ने यह कहा कि मुझे सैनिकों से गैर-सैनिक काम नहीं कराना चाहिए

हम हिन्द के सपूत हैं
जय जय हिन्द गाएँगे
रक्षा अपना धर्म है
सेवा अपना कर्म है
शहीद होने के लिए
रगों में खून गर्म है
हम अपने जानो-माल को
देश पर चढ़ाएँगे
ऐ हिन्द के निवासियों

या, समझ नहीं पाया कि उन्होंने अपने सैनिकों में गैर-सैनिक नाम (बाउ, भूकम्प, रेन-बुनटना) क्यों कराने थे, क्यों नहीं उन्होंने उम समय उच्च परिष्कारियों को बना कर दिया था।

वहाँ सैनिकों को अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र तथा अच्छे प्रत्य-गण देना आवश्यक है, वहाँ उनके लिए पारिवारिक आवास की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। तभी वे ध्यान-गुप्त हो कर देश की रक्षा कर सकेंगे। युद्ध-काल में अपने बा-बन्धों में घलग रहना तो उन्हें समझ आता है किन्तु यह बात उन्हें समझ नहीं आती कि सैनिक-बान में घोर वह भी 'परिवार स्थान' पर वे अपने बा-बन्धों को अपने साथ क्यों नहीं रख सकेंगे। इससे उनके मनोबल पर प्रतिबल प्रभाव पड़ता है। कमाण्डरों का धर्म है कि वे अपने सैनिकों के मनोबल को ऊँचा रखें। इसलिए, जिन कारणों से भी सैनिकों का मनोबल घटना हो, उन कारणों को दूर करना चाहिए। यदि सरकार एव सेना ऐसा न कर सके तो कमाण्डरों को ऐसा करना चाहिए। युद्ध-समय की भाँति अपनी गर्दन रेत में छिना देने में अपनी तुल्यों की घोर में धीम पौर लेने में एव यह कहने में कि 'सैनिकों का काम भय-निर्माण नहीं है' तो समस्या हल नहीं हो जाती। इन प्रकार के उपदेशों का क्या मान जिनका केवल साधक महत्त्व हो? अपने सैनिकों का मनोबल बनाये रखने के लिए यदि कोई कमाण्डर उन्हें अपने परिष्कार के लिए पर बनाने में मना देता है तो वह कोई मूलतः काम नहीं करता। इससे तो देश की प्रतिस्था में गहायता ही मिलेगी क्योंकि सैनिक जितने अधिक श्लुष्ट होंगे, युद्ध में उतनी ही क्षति में प्रहार करेंगे। किन्तु 'घमर' के निर्माण पर जनता घोर मना में काफी जोर मना। इस प्रश्न पर किसी ने गहराई में सोचने का प्रयास ही नहीं किया।

मेरे सैनिक आवास के अभाव में अपने बा-बन्धों को अपने साथ नहीं रख सकने थे। सरकार की इस उच्च का अनेक वर्षों में ज्ञान था किन्तु वह अपनी अनायति, धन के अभाव एव सेना के आवास का स्थान निश्चित न हो पाने के कारण, इस दिशा में कोई कदम नहीं उठा पाई थी। इससे मेरे आदमियों का मनोबल घट रहा था। ऐसी स्थिति में क्या मैं चुप बैठा रहता? उपदेश देने के बदले मैंने व्यावहारिक काम कर दिया था। अन्य अनेक कमाण्डर भी ऐसी ही स्थिति में थे किन्तु उन्होंने कोई ठोस कदम नहीं उठाया, कोई पहल नहीं की। अतुर्थ इन्फैंट्री डिबोडन की कमान मेरे पास २४ महीने रही जिनमें केवल ७ महीने मैंने 'घमर' को भेंट किए और वह भी तब जब मेरे तत्कालीन उच्च अधिकारियों ने अपनी सहमति दे दी थी। लोगों ने आरोप लगाया कि इस गैर-सैनिक कार्य के करने से मेरे सैनिकों की सैनिक कुशलता में कमी आ गई थी। किन्तु जब सैनिकों में ठूटे पुल बमबाए जाते हैं, याद के समय या भूकम्प के समय उन्हें महीनों गैर-सैनिक कामों में लगाये रखा जाता

सिखाया था। उसके लेखक जमादार कश्मीरी थे। इस गान ने सम्पूर्ण डिवीजन में एकता, उद्देश्य एवं देशभक्ति की नयी चेतना फूँक दी थी। इस गान को सुन कर नेहरू भी भावाभिभूत हो उठे। जनरल तिमैया तो पहले ही इसी लिखित प्रशंसा कर चुके थे। अपने उद्घाटन-भाषण में 'अमर' के निर्माण में लगे प्रत्येक व्यक्ति की सराहना की और कहा कि उन्होंने स्वयं-सेवा के क्षेत्र में एक नया दृष्टान्त स्थिर किया था। उन्होंने कहा कि इस समय युद्ध में विजय पाने पर नहीं अपितु एक नयी प्रकार की विजय पाने पर हर्ष मना रहे थे। चतुर्थ इन्फैण्ट्री डिवीजन ने जिस तेजी व कुशलता से यह निर्माण पूरा किया था, उससे वह बहुत प्रसन्न थे। देशभक्ति एवं अनुशासन का अनुपम उदाहरण था। इसके बाद लगभग २०,००० आदमियों ने खुले में भोजन किया। नेहरू ने सैनिकों में घूम-घूम कर एवं उनसे बातचीत कर के भोजन किया। भोजन परोसने, खाने एवं वर्तन समेटने में कुल बीस मिनट लगे। इससे प्रवात मन्त्री बहुत प्रभावित हुए।

सैनिकों के भवन-निर्माण करने पर देश में काफी चर्चा हुई। मैं भी इसके विरुद्ध हूँ क्योंकि उनका काम तो मूलतः युद्ध का प्रशिक्षण प्राप्त करना है जिससे वे देश की प्रतिरक्षा कर सकें। किन्तु विशिष्ट परिस्थितियों में, यदि वे अपने परिवारों के लिए घर बना लें तो मैं समझता हूँ कि इसमें कोई अनर्थ नहीं है। यदि कोई गैर-सैनिक काम सैनिकों के बिना न हो सकता हो तो उन्हें उस काम में भी लगाया जाता है। जैसे, टूटे पुलों की मरम्मत करना, बाढ़ रोकना, रेल-दुर्घटना के बाद लोगों को सँभालना, भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में पहुँच कर जन-जन की रक्षा करना आदि अनेक गैर-सैनिक काम हैं जो प्रत्येक देश में सैनिक करते हैं और इससे प्रशिक्षण में बाधा पड़ती है। अमरीका, यूरोप, रूस, इंग्लैंड आदि देशों में आप जिसका कहें, मैं उसका उदाहरण दे सकता हूँ कि वहाँ सैनिकों से गैर-सैनिक काम करवाये गए हैं और कुछ जगह तो अपराधियों को पकड़ने में भी उनकी सहायता ली गई है। 'अमर' के निर्माण के समय जिन कमाण्डरों ने यह कहा कि मुझे सैनिकों से गैर-सैनिक काम नहीं कराना चाहिए

हम हिन्द के सपूत हैं
जय जय हिन्द गाएँगे
रक्षा अपना धर्म है
सेवा अपना कर्म है
शहीद होने के लिए
रगों में खून गर्म है
हम अपने जानो-माल को
देश पर चढ़ाएँगे
ऐ हिन्द के निवासियो

वा, समझ नहीं आता कि उन्होंने अपने सैनिकों से गैर-सैनिक काम (बाढ़, भूकम्प, रेल-दुर्घटना) क्यों कराये थे, क्यों नहीं उन्होंने उस समय उच्च अधिकारियों को मना कर दिया था।

जहाँ सैनिकों को अच्छा भोजन, अच्छे वस्त्र तथा अच्छे अस्त्र-शस्त्र देना आवश्यक है, वहाँ उनके लिए पारिवारिक आवास की व्यवस्था करना भी आवश्यक है। तभी वे आत्म-नुष्ट हो कर देश की प्रतिरक्षा कर सकते हैं। युद्ध-काल में अपने बाल-बच्चों से अलग रहना तो उन्हें समझ आता है किन्तु यह बात उन्हें समझ नहीं आती कि शान्ति-काल में और वह भी 'परिवार स्टेशन' पर वे अपने बाल-बच्चों को अपने साथ क्यों नहीं रख सकते। इससे उनके मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। कमाण्डरों का धर्म है कि वे अपने सैनिकों के मनोबल को ऊँचा रखें। इसलिए, जिस कारण से भी सैनिकों का मनोबल घटता हो, उस कारण को तुरन्त दूर करना चाहिए। यदि सरकार एवं सेना ऐसा न कर सके तो कमाण्डरों को ऐसा करना चाहिए। शुतुरमुर्ग की भाँति अपनी गर्दन रेत में छिपा लेने से घर्षान् तथ्यों की ओर से आँसु फेर लेने से एवं यह कहने से कि 'सैनिकों का काम भवन-निर्माण नहीं है' तो समस्या हल नहीं हो जाती। इस प्रकार के उपदेशों का क्या लाभ जिनका केवल शाब्दिक महत्त्व हो? अपने सैनिकों का मनोबल बनाये रखने के लिए यदि कोई कमाण्डर उन्हें अपने परिवार के लिए घर बनाने में लगा देता है तो वह कोई गलत काम नहीं करता। इसमें तो देश की प्रतिरक्षा में सहायता ही मिलेगी क्योंकि सैनिक जितने अधिक मनुष्ट होंगे, युद्ध में उतनी ही शक्ति से प्रहार करेंगे। किन्तु 'अमर' के निर्माण पर जनता और मेना में काफी शोर मचा। इस प्रश्न पर किसी ने गहराई से सोचने का प्रयास ही नहीं किया।

मेरे सैनिक आवास के अभाव में अपने बाल-बच्चों को अपने साथ नहीं रख सकते थे। सरकार को इस तथ्य का अनेक वर्षों से ज्ञान था किन्तु वह अपनी अनामकित, धन के अभाव एवं सेना के आवास का स्थान निश्चित न हो पाने के कारण, इस दिशा में कोई कदम नहीं उठा पाई थी। इससे मेरे आदमियों का मनोबल घट रहा था। ऐसी स्थिति में क्या मैं चुप बैठा रहता? उपदेश देने के बदले मैंने व्यावहारिक काम कर दिखाया। अन्य अनेक कमाण्डर भी ऐसी ही स्थिति में थे किन्तु उन्होंने कोई ठोस कदम नहीं उठाया, कोई पहल नहीं की। चतुर्थ इन्फैण्ट्री डिवीजन की कमान मेरे पास ३४ महीने रही जिसमें केवल ७ महीने मैंने 'अमर' को भेंट किए और वह भी तब जब मेरे तत्कालीन उच्च अधिकारियों ने अपनी सहमति दे दी थी। लोगों ने आरोप लगाया कि इस गैर-सैनिक कार्य के करने से मेरे सैनिकों की सैनिक कुशलता में कमी आ गई थी। किन्तु जब सैनिकों से टूटे पुल बनवाए जाते हैं, बाढ़ के समय या भूकम्प के समय उन्हें महीनो गैर-सैनिक कामों में लगाये रखा जाता

है, क्या तब उनकी सैनिक कुशलता में कमी नहीं आती ? जैसे इन कामों के बाद अधिक परिश्रम कर के इस कमी को पूरा कर लिया जाता है, इसी प्रकार 'अमर' के निर्माण के बाद मैंने भी अतिरिक्त समय लगा कर एवं अधिक परिश्रम कर के अपने सैनिकों की कार्य-कुशलता में कमी नहीं आने दी थी।

जब मेरे सैनिकों ने अपने परिवारों के लिए घर बनाए तो सबने उंगली उठाई किन्तु जब कुम्भ मेले पर या अन्य मेलों पर सैनिकों को काफी-काफी समय लगाये रखा जाता है तो किसी को आपत्ति नहीं होती। सचाई यह है कि विभाजन के बाद प्रत्येक रक्षा मन्त्री से हमने यह बात कही है कि इस प्रकार के कामों के लिए सरकार सेना का उपयोग न कर किसी अन्य शक्ति का सहारा ले क्योंकि इससे सेना की काफी हानि होती है। किन्तु प्रत्येक प्रति-रक्षा मन्त्री इस मामले में विवश रहा क्योंकि जनता की माँग को टुकराना उसकी शक्ति से बाहर था। जब भी यह मामला प्रधान मन्त्री के पास गया, उन्होंने भी बहुत-कुछ ऐसा ही उत्तर दिया।

हमने निष्ठा और एकता से काम कर के अपनी समस्या को सुलझा लिया और 'अमर' का निर्माण कर लिया जबकि दूसरे लोग हाथ पर हाथ धरे बैठे रहे।

लोगों ने मुझे 'राज' कहना शुरू कर दिया जैसे कि मैंने जीवन में कुछ और काम किया ही न हो। (छब्बीस वर्ष के सैनिक जीवन में केवल कुछ महीने मकान बनवाए हैं। चतुर्थ इन्फैण्ट्री डिवीजन की चौतीस महीने की कमान में केवल सात महीने अमर के निर्माण में लगाए। इसके अतिरिक्त केवल कुछ महीने और अन्य स्थानों पर निर्माण का काम किया।)

यदि इस अवधि में सैनिकों के युद्ध-कौशल में कुछ कमी आई भी हो तो वह फरवरी-मई १९५९ में रात-दिन परिश्रम कर के पूरी कर ली गई। निशाने-बाजी एवं व्यूह-कौशल से सम्बन्धित नियमित व्यायाम किया गया। अप्रैल मास में डिवीजनल ड्रिल प्रतियोगिता हुई जिसमें सब यूनिटों ने बहुत अच्छा प्रदर्शन किया। निशानेबाजी में हमने कोर एवं कमान, दोनों की चैम्पियनशिप जीती। इन चार महीनों में एक मुख्य व्यायाम के अतिरिक्त टैंक तोड़ने, सुरंग विछाने आदि के अनेक प्रदर्शन आयोजित किए गए और हमारा डिवीजन सब प्रकार से उत्तम रहा।

जब भी नेहरू सार्वजनिक रूप से मेरी प्रशंसा करते तो कुछ लोगों को जलन होती और उनकी ख़वान चलनी शुरू हो जाती। 'अमर' को ख्याति मली तो इन ईर्ष्यान्वितों ने कहना शुरू कर दिया कि इसमें अनेक तकनीकी टिपियाँ रह गई हैं तथा इस निर्माण में लगे रहने के कारण मेरा डिवीजन क्रय नहीं रह गया है। किन्तु ऐसा कहना निराधार था, तथ्यों के विरुद्ध था।

यह थी कि ये घर बहुत मजबूत बने थे तथा मेरे सैनिक अपने परिवारों लए आवास का निर्माण करने पर बहुत गर्व का अनुभव कर रहे थे और

उनकी सैनिक-कुशलता में रस्ती भर भी कमी न आई थी। सैनिक अपने संपूर्ण जीवन का धम्यास कुछ महीनों में कैसे भूल सकता है।

इस परियोजना की सफलता के सम्बन्ध में अनेक भविष्यवाणियाँ की जा चुकी थी। हमने इस चुनौती को स्वीकार किया और नफल रहे। इंग्लिश, जिन ठेकेदारों एवं इंजिनियरों की भविष्यवाणियों को हमने गलत सिद्ध कर दिया था, उनका उल्टा-सीधा बकना तो स्वाभाविक ही था।

'अमर' के पूरा होने से पहले तिमैया ने इसका दो बार निरीक्षण किया था। इस परियोजना के सम्बन्ध में उन्होंने मुझे लिखा था कि मैं 'उन समस्त ऑफिसरों, एन० सी० ग्रो'स० तथा जवानों को, जिन्होंने मेरे प्रेरणादायक एवं प्रभावशाली नेतृत्व में यह सफलता प्राप्त की थी, उनकी प्रशन्नता से मूचित कर उन्हें वधाइयाँ दूँ।' कुछ समय बाद उन्होंने लिखा कि इस बात का वह ध्यान रखेंगे कि कम-से-कम मई १९५६ तक मैं अपने इसी डिवीजन में रहूँ ताकि अपने सैनिकों को अपेक्षित स्तर तक प्रशिक्षित कर सकूँ। साथ ही उन्होंने यह भी लिखा कि 'अमर' के पूरे हो जाने पर मेरे विरुद्ध फँसाई जा रही बातें स्वयं बन्द हो जाएँगी। उन्होंने मुझे सलाह दी कि मुझे इन व्ययों की बातों की चिन्ता किये बिना अपने लक्ष्य की ओर बढ़ते जाना चाहिए।

इस परियोजना के उद्घाटन के बाद एक सार्वजनिक भाषण में नेहरू ने कहा कि यह भारतीय सैनिक की कुशलता एवं दायित्व-भावना के प्रति जागरूकता से बहुत सन्तुष्ट थे। उदाहरण में उन्होंने 'अमर' के उद्घाटन-भोज का मदभं देते हुए कहा कि वहाँ जिम फुर्ती से २०,००० आदमियों का भोजन बीस मिनट में निर्विघ्न पूरा हो गया था वह सराहनीय था। उन्होंने अन्त में कहा कि अनुशासन के इस उदाहरण का समस्त भारत को अनुकरण करना चाहिए।

कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी दैनिक 'स्टेट्समैन' ने अपने १८ जनवरी १९५६ के अंक में लिखा कि १६ जनवरी १९५६ को नेहरू ने ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन की प्रशस्ति में जो कुछ कहा था, इस नयी कानौनी को देख कर वह सब संगत और उचित था। सामान्य तौरके से यदि इस कॉलोनी को बनाया जाता तो इसके बनने में कम-से-कम दो-तीन वर्षों का समय लगता तथा दुगनी लागत आती। कुछ अन्य स्थानों पर भी ऐसी परियोजनाएँ प्रारम्भ की जाने वाली थी और उनकी उपलब्धियों में सभी रचें लेंगे (केवल सेना ही नहीं)। मेना के अनुमान से सैनिकों के परिवार-आवास (फेमिली एकोमोडेशन) के निर्माण में तीन वर्षों लगेगे जो देश के लिए कोई अच्छी बात नहीं है।

लेफ्टी० जनरल जे० एन० चौधरी ने मुझे लिखा कि यदि भविष्य में लोगो ने 'अमर' से यह परिणाम निकाला कि हमारी सेना केवल भवन-निर्माण के योग्य थी तो यह उनकी गलती होगी। 'अमर' में ठीक सिखा तो यह लेनी चाहिए कि हमें एक मुयोग्य डिवीजनल कमाण्डर मिला था जिसने अपने साहस

के वन पर सैनिक-शक्ति का एक नये क्षेत्र में भी उपयोग किया था। कुछ समय बाद उन्होंने एक और पत्र में लिखा कि भारत तो सदा पहल करने वालों में रहा है और आगे भी नये-नये क्षेत्रों का उद्घाटन करता रहेगा।

मई १९५६ में मुझे लेफ्टी० जनरल की पदोन्नति दे कर सेना मुख्यालय में क्वार्टरमास्टर जनरल नियुक्त किया गया। अब तक मैं ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन की लगभग तीन वर्ष और ११ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड की साढ़े तीन वर्ष से अधिक अवधि तक कमान संभाल चुका था (इससे पहले इन्फैण्ट्री के अनेक उप-यूनिटों की कमान भी संभाली थी)। इसके बाद भी कुछ लोगों ने यह फरमाया कि मुझे कमान करने का अनुभव नहीं था।

चीधरी ने मुझे लिखा कि क्वार्टरमास्टर जनरल के पद पर मेरी नियुक्ति बहुत उपयुक्त और सुखद सूचना थी। मेरे परिश्रम एवं अनुभव को उचित रूप से पुरस्कृत किया गया था। और उन्होंने यह आशा भी व्यक्ति की कि भविष्य में भी मैं उसी लगन और साहस के साथ सेना के व्यूह-कौशल को भी सुधारूँगा। अन्त में उन्होंने स्वयं को मेरा पक्का समर्थक घोषित किया।

जून १९५६ में मैंने अपना नया पद संभाला। रहने के लिए यार्क रोड पर ५ नम्बर बंगला मिला जिसके चारों ओर सुगन्धित उद्यान फैला हुआ था। शक्तिशाली सरकार एवं 'मिलिटरी मक्का' (सेना का केन्द्र) में, एक सीनियर ऑफिसर के रूप में यह मेरा प्रथम पदार्पण था। मैंने देखा कि यहाँ लालफीताशाही का साम्राज्य था जबकि यहाँ फुर्ती और शीघ्रता का उद्गम होना चाहिए था। यहाँ के संगठन बड़े जटिल एवं हृदयहीन थे, न उनमें कोई उत्साह था और न कोई एकसूत्रबद्धता। सच तो यह था कि इन संगठनों में अनेक अधिकारी ठोस कदम उठाते हुए डरते थे। अधिकांश अधिकारी मानवीय भावनाओं से रहित थे तथा यन्त्रवत् कार्य करते थे।

मैंने लेफ्टी० जनरल दौलतसिंह से कार्य-भार संभाल लिया। मेरे अधीनस्थ ऑफिसरों का दल काफी सक्षम एवं कुशल था। मेरे प्रमुख सहयोगी मेजर जनरल आर० एन० नेहरा काफी विश्वसनीय व्यक्ति थे।

मेरे प्रमुख काम थे—'Q' विनियोजन, सेना के आवास का निर्माण, कामिकों (पर्सनेल) का संचलन (इधर-उधर भेजना), उपकरण एवं भण्डार तथा रसद और परिवहन की व्यवस्था। मैं चाहता था कि निर्माण-कार्य तेजी से हो तथा उस पर कम लागत आए और संचलन सुनियोजित हो एवं शीघ्रतापूर्वक हो। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मैंने नये एवं अप्रचलित तरीके अपनाए और इस काम में मुझे कृष्ण मेनन से काफी सहयोग मिला। ऐसा करने में यद्यपि कठिनाइयाँ तो कई सामने आईं किन्तु मैं रुका नहीं और बढ़ता गया।

संचलन (मूवमेंट) सैनिक गतिविधि की जान है। इस दिशा में विशेष सुधार करने के लिए मैं विशेष रूप से उत्सुक था। सोच-विचार कर मैंने निष्कर्ष निकाला कि इसके लिए हमें काफी कल्पनाशील होना चाहिए एवं रेल अधिकारियों का और अधिक सहयोग प्राप्त करना चाहिए। कुछ वर्ष पहले मैंने एक बात पर ध्यान दिया कि यदि उस समय हमें अपने बक्तरबन्द डिब्बीजन को अचानक भारत-याक सीमा पर भेजना पड़ जाता तो तत्कालीन संचलन-नीति से उममें काफी लम्बा समय लगता। मुझे पूरा विश्वास था कि इस दिशा में यदि थोड़ा-सा प्रयत्न किया गया तो यह काम बहुत शीघ्रता से हो सकता था। किन्तु मेरे सुभाव की व्यावहारिकता के सम्बन्ध में बक्तरबन्द कौर एवं मेना के सीनियर कमाण्डरों ने शका प्रकट की। वे तो इस सम्बन्ध में यह मान बैठे थे कि रेल के डिब्बों की कमी के कारण इस दिशा में कोई सुधार सम्भव ही नहीं था। जबकि सचार्ई यह थी कि इस दिशा में उन्होंने कोई गम्भीर प्रयत्न ही नहीं किया था। इस सम्बन्ध में उन्होंने रेल अधिकारियों से कभी बात नहीं की और यह कहानी अपने तक ही रखी किन्तु मैंने इस सम्बन्ध में रेतवे बोर्ड के अध्यक्ष कै० बी० माधुर से बात की। मैंने उन्हें सम-भाया कि भारत की प्रतिरक्षा की दृष्टि से संचलन का गतिशील होना कितना अनिवार्य है, उनके बाद मैं करनैलसिंह अध्यक्ष बने तो मैंने उन्हें भी सारी स्थिति समभाई। दोनों अध्यक्षों ने इस सम्बन्ध में मुझे अपना पूरा-पूरा सहयोग दिया।

इसके बाद मैंने अपना काम तेजी से शुरू कर दिया। बक्तरबन्द डिब्बीजन के सामान को उतारने एवं बढ़ाने के लिए पथिकाएँ (साइडिंग) बनवाई तथा नये डिब्बों का निर्माण करवाया। इस पर जो लागत आई, उसे प्रतिरक्षा मन्त्रालय और रेल मन्त्रालय ने मिल-बाँट कर पूरा किया। साथ ही मैंने पहले के डिब्बों और वेगनों का अधिकतम लाभ उठाने की योजना बनाई। अभी तक जो विशिष्ट प्रकार के वेगन गैर-सैनिक काम के लिए उपयोग में लाये जाते थे, उनमें थोड़ा-बहुत परिवर्तन कर के उन्हें काम में लिया गया। इस प्रकार हमें टैंको के ले जाने के लिए नये वेगन नहीं बनवाने पड़े और इससे काफी बचत हो गई। संचलन में जो अन्य रकावटें रास्ते में आती थी, उन्हें हटाया तथा आने-जाने के रास्तों (हटो) में परिवर्तन किया। इजन बदलने में या दूसरी चीजों में जो अनावश्यक विलम्ब लगता था, उसे कम-से-कम कर दिया। बक्तरबन्द डिब्बीजन रेल मार्ग और सड़क मार्ग से एक साथ जा सके, इसके लिए भीड़ भरे फस्वो और नगरों को बचा कर बाहर-ही बाहर सड़कें निकाली गईं तथा रेल के पाटको पर लगने वाले बिलम्ब से बचने के लिए ऊपर से पुल बना दिये गए ताकि सड़क मार्ग में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो। इन साधारण

७. जिस समय मुझे इस स्थिति को सुधारने का अधिकार नहीं था।

किन्तु नये तरीकों को अपना कर तथा सब सम्बन्धित व्यक्तियों में जल्दी काम करने की भावना का विकास कर के संचलन की गति बढ़ा दी। जिन लोगों को मेरी योजना की व्यावहारिकता में सन्देह था, उनको अब विश्वास बरता पड़ा कि यह सब सम्भव था, बस केवल ध्यान नहीं दिया गया था।^६

वक्तरवन्द डिवीजन ने श्रीर सेना में इसके यशस्वी संरक्षकों ने स्वयं तो कभी इस दिशा में कोई प्रयत्न किया नहीं था, जब अपनी मान्यता का लक्षण होते देखा तो बहुत नाक-भों सिकोड़ी। अपनी सफाई में उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि इतनी जल्दी करना व्यर्थ था और वे अपने पुराने हिसाब-किताब से सन्तुष्ट थे। मैंने उनके बड़बड़ाने की कोई चिन्ता नहीं की और वक्तरवन्द डिवीजन की रिहर्सल चालू रखी जब तक मुझे यह विश्वास नहीं हो गया कि अबसर आने पर यह डिवीजन शीघ्रता से मोर्चे पर पहुँच जाएगा। हमारी प्रतिरक्षा के लिए संचलन का गतिशील होना बहुत अनिवार्य था। (१९५५ के भारत-पाक युद्ध में इस रिहर्सल के कारण बहुत लाभ हुआ था)।

सन् १९४८ से ही मैं सुनता आ रहा था कि जोजिला दर्रा (कश्मीर में) जो ११,००० फुट की ऊँचाई पर है, वर्ष में केवल चार महीने (जुलाई में नवम्बर) खुला रहता था। शेष आठ महीने यह वर्ष में ढका रहता था। सेना के प्रत्येक व्यक्ति ने इस स्थिति से समझौता कर लिया था किन्तु मुझे यह बात समझ नहीं आती थी कि आधुनिक युग में (विज्ञान के युग में) कोई स्थान सेना के लिए वर्ष में आठ महीने बन्द रहे। न ही मैं यह बात स्वीकार करने के लिए तैयार था कि वर्तमान यान्त्रिक साधनों से वर्ष को नहीं हटाया जा सकता था। जब पहली बार, १९५९ में, यह चीज मेरे अधिकार-क्षेत्र में आई तो मैंने इस रहस्य को अनावृत्त करने की ठान ली। मैंने अपने इंजिनियरों से, जिनके नेता मेजर जनरल के० एन० दुबे थे, कहा कि वे विदेशों से ऐसे पत्थर मँगवाएँ जिनसे यह वर्ष हटाई जा सके और यह दर्रा चार महीने की अपेक्षा अधिक समय तक खुला रह सके। इस सम्बन्ध में सरकार से मैंने अनिवार्य अनुमति प्राप्त कर ली थी। हमारे दृढ़ निश्चय और अथक प्रयत्नों के सामने दर्रे को झुकना पड़ा और इसके बन्द रहने और खुले रहने का अवधि-क्रम बदल गया अर्थात् अब यह वर्ष में आठ महीने खुला रहने लगा और केवल चार महीने बन्द। अनेक भविष्यवक्ताओं ने, जो स्वयं इस सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं कर पाए थे, मेरी असफलता के सम्बन्ध में पूर्व घोषणा की थी किन्तु इस समय उनके मुँह बन्द हो गए थे।

८. गोपनीयता की दृष्टि से, यहाँ असली आँकड़े नहीं दिये गए हैं।

९. इस समस्त भागदौड़ में, मेरे रेल परामशदाता शिव किशोर ने मुझे सरासरी नौ सहयोग दिया था।

बीजू पटनायक को मैं कई वर्षों से जानता था। एक समय वह अद्वितीय वायुयान-वातक थे और इण्डोनेशिया के स्वतन्त्रता-संग्राम में उन्होंने कई साहसी उड़ानें भरी थी तथा वहाँ के कुछ लोकप्रिय नेताओं की जान बचाई थी। एक दिन वह मेरे हफ्तर में मुझमें मिलने आए। अभी वह मुख्यमंत्री नहीं बने थे। उन्होंने कहा कि वायु सेना के साधन सीमित होने के कारण, दूरस्थ आसाम राइफल्स की सैनिक चौकियों को रसद पहुँचाने का काम परराष्ट्र मन्त्रालय ने उनकी एक सस्या कर्लिंग एयरवेज को सौंप रखा था। (मुझे यह तथ्य पहले ही मालूम था)। किन्तु वायुयानों की कमी के कारण, जो विदेशी मुद्रा के अभाव में नहीं खरीदे जा सके थे, यह काम पूरी तरह नहीं हो पा रहा था। उन्होंने मुझसे कहा कि मैं अपने प्रतिरक्षा मंत्री कृष्ण मेनन को समझा-बुझा कर उन्हें प्रेषित विदेशी मुद्रा दिलवा दूँ जिससे वह अतिरिक्त वायुयान खरीद सकें। मुझे यह प्रस्ताव ठीक-ठाक लगा, इसलिए मैंने मेनन से इस सम्बन्ध में बात चलाई। मुझे यह मालूम नहीं था कि मुझे अंतरंग का मोहरा बनाया जा रहा था। कृष्ण मेनन ने उत्तर दिया कि वह यह काम किसी भी दशा में करने को तैयार नहीं थे क्योंकि ऐसा करने का प्रत्यक्ष अर्थ यह था कि वायु सेना (उनके अधीन एक पक्ष) यह काम करने में असमर्थ थी। मैंने तर्क दिया कि देश की प्रतिरक्षा के मामलों में भूठी प्रतिष्ठा को महत्त्व नहीं देना चाहिए। किन्तु मेरे सारे तर्क व्यर्थ गए और मेनन अपनी बात पर अड़े रहे। इसका फल यह निकला कि आसाम राइफल्स की चौकियों को पूरी रसद न पहुँच सकी और साथ ही हम उस क्षेत्र में नयी चौकियों की भी स्थापना न कर सके जिनका होना सशामिक दृष्टि से बहुत जरूरी था।

इमारतों के निर्माण के सम्बन्ध में मेनन का विचार था कि उन पर लागत कम आनी चाहिए चाहे उनका स्तर नीचा कर दिया जाए जिससे स्वीकृत धन राशि में अधिक-से-अधिक इमारतें खड़ी की जा सकें। इस विषय में मेरा उनसे सदा मतभेद रहता था और कभी-कभी झड़प भी हो जाया करती थी क्योंकि मैं इजिप्तीयरो के मत का समर्थन करता था कि गति, स्तर और लागत को एक समान महत्त्व मिलना चाहिए। (यद्यपि धीमी गति और अनावश्यक व्यय के लिए जिम्मेदार तत्त्व थे—अनुचित लाभ कमाने की प्रवृत्ति एवं जटिल प्रक्रिया) किन्तु मेनन ने इस तथ्य को कभी समझने की कोशिश नहीं की और गति एवं बचत को सब चीजों से अधिक महत्त्व दिया।

जुलाई १९५६ में मेनन श्रीनगर गए तो लेफ्टी० जनरल एस० डी० वर्मा ने उन्हें मुझसे दिया कि जम्मू तथा कश्मीर में सैनिक आवास का नितान्त अभाव था, इसलिए जम्मू को छोड़ कर दोष प्रदेश में सैनिकों को यह अनुमति दी जाए कि वे अपने परिवारों के रहने के लिए घर स्वयं बना सकें। जम्मू में मेजर जनरल मानेकरों पहले ही इस परियोजना में लगे हुए थे। पहले तो

मानेक्याँ ने इस परियोजना की निन्दा की थी किन्तु जब चारों ओर वह काम प्रारम्भ हो गया तो उन्होंने सोचा कि कहीं वह इस दौड़ में पीछे न रह जाए और उन्होंने भी यह परियोजना अंगीकार कर ली। उनका विचार था कि 'अमर' की भाँति उनकी परियोजना की ओर भी जनता का ध्यान आकर्षित होगा और उनकी साराहना की जाएगी। इसलिए उन्होंने अपनी विरोधी विचार-धारा को नमस्ते कर के इस परियोजना को गले लगा लिया। फिरोजपुर में मेजर जनरल हरब्रह्मसिंह ने भी अपने सैनिक इसी काम पर लगा रहे थे। पारिवारिक आवास के निर्माण में सैनिक-श्रम के उपयोग करने का निर्णय तो आर्मी चीफ तिमैया का था और उन्हीं की स्वीकृति से ये सब परियोजनाएँ चल रही थीं।

जनरल वर्मा की इस प्रार्थना पर मेनन ने मुझ से पूछा कि क्या मैं कश्मीर के अन्य सैनिक स्टेशनों पर भी यह काम तुरन्त शुरू कर सकता था। मैंने उत्तर दिया कि तुरन्त तो मेरे लिए सम्भव नहीं था क्योंकि कई परियोजनाएँ पहले ही चल रही थीं और मैं अपने सीमित साधनों के कारण कोई भी अतिरिक्त काम स्वीकार करने में असमर्थ था। हाँ, कुछ महीने वाद अवश्य मैं इन नयी परियोजनाओं को प्रारम्भ कर सकूँगा। इस पर मेनन ने फाइल में लिखा कि 'मेरा व्यवहार कुछ निरुत्साहपूर्ण था और अच्छा होता यदि कुर्सी की अस्वाभाविक निरोधक सत्ता के साथ-साथ प्रशासकीय दायित्व एवं कुण्ठाओं ने मेरा उत्साह एवं पौरुष भंग न किया होता'। उन्होंने व्यंग्य कसा कि 'शायद मैं काम की अधिकता से आने वाली थकान अनुभव करने लगा था'। तिमैया के माध्यम से मैंने उन्हें उत्तर दिया कि मेरे विषय में जो भय और शंकाएँ उन्हींने व्यक्त की थीं, उनको मैंने नोट कर लिया था। साथ ही मैंने यह भी लिख दिया कि न तो मैं काम की अधिकता से आ जाने वाली थकान ही अनुभव कर रहा था, न मेरे मन में कुण्ठाएँ थीं और न मेरा उत्साह एवं पौरुष भंग हुआ था अपितु मैं तो इस ओर से सचेत रहना चाहता था कि कहीं मैं अपनी शक्ति से अधिक भार उठाने की भूल न कर बैठूँ जिससे उन्हें या आर्मी चीफ को जनता की दृष्टि में लज्जित होना पड़े। तिमैया तो मेरे उत्तर से सन्तुष्ट हो गए तथा मेनन ने उस सम्बन्ध में और पत्र-व्यवहार नहीं किया।

मेनन अनेक विभागों में चेतना फूँकने के लिए प्रयत्नशील थे। इस प्रयत्न में उन्होंने रीअर एडमिरल शंकर^{१०} को उत्पादन प्रमुख नियुक्त किया (और मेजर जनरल कपूर—असाधारण योग्यता के ऑफिसर—को सी० सी० आर० एण्ड डी०)। शंकर की कलकत्ता से दिल्ली को बदली हुई तो उन्हें दिल्ली में

१०. उनके पूर्वाधिकारी मेजर जनरल पी० नारायण ने यह स्थान स्वेच्छा से छोड़ दिया था।

रहने के लिए जगह भी चाहिए थी। दिल्ली में जगह का अभाव था और प्रायश्चित्तों को कार्यो प्रतीक्षा करनी पड़ती थी। मेनन चाहते थे कि सरकार को प्रायश्चित्तना दी जाए। वास्तविकता यह थी कि सरकार में सीनियर दो जनरल प्रायश्चित्त, मोती गानेर और दुबे, पहले ही इस प्रतीक्षा-मूखी पर थे। मेनन ने प्रायश्चित्त दिया कि सरकार को इन दोनों प्रायश्चित्तों में पहले अंगना प्रानांट किया जाए। क्योंकि यह प्रायश्चित्त य प्रसंगत था, इसलिए इसके पालन करने में अपनी प्रसंगता में नैतिक विचार थे। जब मेनन ने मुझे अपनी बात पर प्रतिग दया तो उन्होंने अपनी प्रायश्चित्त वापस ले लिया तथा सरकार को कोई और आवास दे दिया।

जब वृष्ण मेनन ने प्रतिरक्षा मन्त्री का पद संभाला तो यह एक चुनौती स्वीकार करने के बराबर था। उत्तराधिकार में उन्हें उर्ध्वनि सेना मिली। 'अहिंसा' के सिद्धान्त को मानने वाले हनारों नेनाओं का विचार था कि प्रतिरक्षा सेना को उन्हें कभी आवरणना नहीं पड़ेगी। तत्कालीन भारतीय दर्शन में युद्ध के लिए कोई स्थान नहीं था, इसलिए हमारी कोई मुनिश्चित प्रतिरक्षा नीति नहीं थी। फलतः, १९४७ और १९५७ के बीच सम्यक् प्रतिरक्षा व्यवस्था नहीं हो पाई थी। तीनों नेनाओं के अग्रणी स्वयं ही जो करते रहे, वही होता रहा। अब उन्हें यह आशा थी कि मेनन की प्रतिष्ठा का व्यक्ति उनकी ओर भी सरकार का ध्यान आकर्षित कर सकेगा और उनकी जहरी समस्याओं को हल करा देगा।

परेमान-सी मूर्त वाले मेनन का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। उनकी नजर से या कान से कुछ नहीं बचता था। उनका मनोरंजन उनके चेहरे पर प्रकृत रहते थे। अपनी प्रसंग या नापसन्द को छिपाना उनकी प्रकृति के बाहर था। या तो उनमें धृष्टता की जा सकती थी या उनकी पूजा की जा सकती थी, किन्तु उनकी अविश्वसनीयता नहीं की जा सकती थी। मूर्तों से उनकी कभी नहीं पटती थी। उनके पास सब पहुँच सकते थे; राजा हो या कर्णाल, वह सब से मिलते थे। जिनके साथ जीवन ने अग्र्याय किया हो, उनके लिए सघर्ष करने में उन्हें प्रानन्द आता था। वह बड़ा चुभता हुआ मजाक करते थे, व्यंग्योत्तर देने में तेज थे तथा अपनी आलोचना के प्रति भावुक थे। उनके बुद्धि-व्यक्तियों का प्रदर्शन इस प्रकार के वाक्यों में होता था, 'मछली को इससे क्या अन्तर पड़ता है कि आप उसे मकलन में तलते हैं या खर्बों में' अथवा 'मैंने किसी आकाशवाणी यात्रा का नाम नहीं सुना'। एक बार संयुक्त राष्ट्र सभ में उन्होंने एक ब्रिटिश प्रतिनिधि पर चोट की, 'आपसे मुझे अग्र्येजी नहीं सीखनी है। मैंने इसे सीखा है, मुझे यह तुम्हारी तरह पढ़ी हुई नहीं मिली.....'। ब्रिटेन के

मुख्य प्रतिनिधि सर पीअरसन डिक्सन को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं आपसे प्रार्थना करूँगा कि कॉमनवैलथ (राष्ट्र-मण्डल) के विभिन्न सदस्यों से व्यवहार करते हुए आप कुछ ईमानदारी बरता करें.....कम-से-कम सार्व-जनिक रूप से।' एक बार लन्दन में एक पत्रकार सम्मेलन में बोलते हुए उन्होंने कहा, 'कॉमनवैलथ में कुछ कॉमन नहीं है.....वैलथ तो निश्चित रूप से नहीं।'।

मेनन की व्यंग्यात्मक एवं कठोर टीका-टिप्पणियों के कारण उनके अग्र-णित शत्रु पैदा हो गए। गुस्सा तो उनकी नाक पर रखा रहता था, वह दुः-ग्रही थे तथा हर समय किसी-न-किसी से उलझे रहते थे। अपने बराबर वालों के पास से वह बिना अभिवादन किये गुजर जाते थे और उनके इस दम्भी एवं उद्धत व्यवहार ने उनके शत्रुओं की संख्या काफी बढ़ा दी।

शक्की स्वभाव के मेनन अपनी सनक में जीते थे और कई बार तो अपने मित्रों की निष्ठा में अकारण ही सन्देह किया करते थे। उनके साथ काम करना सरल काम नहीं था। उनकी दृष्टि में शायद ही कोई खरा उतरा हो।

इन दिनों उनकी वेशभूषा बड़ी साफ-सुथरी होती थी और वह दिन में कई बार वस्त्र बदलते थे। उनके वाइंरोव में कई प्रकार की भारतीय एवं पश्चिमी पोशाकें रखी रहती थीं तथा कई प्रकार की छड़ियाँ, कई प्रकार के टोप एवं जूते होते थे। साफ-सुथरी वेशभूषा की दृष्टि से वह अनेक लोगों की स्पर्धा के केन्द्र थे। 'तेज रफतार' का उन पर पागलपन था, अपनी कारों भी वह सैनिक चालकों से चलवाते थे और वह भी गर्दन तोड़ रफतार पर।

उन्होंने देश के लिए अनेक अच्छे काम किए जिनमें मैंने उन्हें अपना पूरा सहयोग दिया। उन्होंने कुछ ऐसे काम भी किए, शायद अनजाने में, जो मेरी दृष्टि में देश के लिए हितकर नहीं थे, इसलिए इन कामों में मैंने उनका विरोध किया। उदाहरणतः, सैनिक महत्त्व की अनेक परियोजनाओं की शीघ्रता से स्थापना करने में, सैनिकों के गतिशील संचालन में, सैनिकों को सैन्य-सम्पादन एवं निवेश-कला से सम्बन्धित सहायता देने में तथा सैनिक-आवास के शीघ्र निर्माण में मैंने उनको भरसक सहयोग दिया। किन्तु जब वह यह आग्रह करते थे कि प्रतिरक्षा सामग्री कुछ विशिष्ट देशों से ही आयात की जाए; संग्रामिक, सैनिक या तकनीकी मामलों की गहराई को समझे बिना उनमें अपनी टाँग अड़ाते थे; निम्न स्तर का और सस्ता निर्माण कराना चाहते थे; प्रतिरक्षा संस्थापनों में अपनी सनक के कारण अनावश्यक सामग्री का उत्पादन कराना

११. वक्तरबन्द लड़ाकू गाड़ियों के युगों पुराने बेड़े को बदलने के लिए १९६१ में उन्होंने विकरस टैंक बनाने का निर्णय किया। बाद में इस टैंक का नाम 'विजयन्ता' पड़ा।

चाहते थे। जैसे काफी या ठण्डी करने की मशीनों (जिसके लिए 'करण्ट' ने मुझे जिम्मेदार ठहराया यद्यपि इन चीजों के उत्पादन से मेरा दूर का भी सम्बन्ध नहीं था); ऐसी अनिवार्य सैनिक सामग्री, जो मेरी दृष्टि में देश की प्रतिरक्षा के लिए जरूरी थी, के आयात को मना करने थे तो मुझे उनका विरोध करना पड़ता था और डट कर करना पड़ता था।

वह बहुपठित थे तथा चलते-फिरते विश्वकोश थे। विज्ञान, दर्शन, चिकित्सा, इजिनीयरिंग, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, कृषि, पशु-जगत् आदि सभी विषयों पर उनका गहन अध्ययन था। वायुयान के इजनों, बक्तरबन्द गाड़ियों, पनडुब्बियों और वायरलेस सैंटो की गूढ़तम बातों का उन्हें पूरा ज्ञान था। उनकी उपस्थिति में कोई विशेषज्ञ अपने को सुरक्षित नहीं मानता था। मेरा विचार था कि अपनी नानाविध गतिविधियों में से थोड़ा-सा समय वह युद्ध-कौशल, आसूचना एवं प्रशिक्षण जैसे महत्त्वपूर्ण सैनिक विषयों को भी देगे किन्तु मेनन ने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया।

उनका भस्तिष्क मन्त्रवत् कार्य करता था। गोष्ठी के बीच में महत्त्वपूर्ण संयुक्त राष्ट्र सत्र के प्रस्तावों, ससद् में दिये जाने वाले वक्तव्यों एवं विदेशी सवाददाताओं के प्रश्नों के उत्तर धारा-प्रवाह लिखवाने हुए मैंने उन्हें देखा है।

अपने कुछ अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ तो उनका व्यवहार बड़ा भद्र था किन्तु दूसरों के साथ वह बड़ी धृष्टता से पेश आते थे और उनके धात्म-सम्मान पर चोट करते थे। ऐसा करने के बाद उन्हें दुःख होता था और फिर उसमें सुधार किया करते थे।

एक साधारण बंगले के एक छोटे-से कमरे में बड़े सीधे-सादे ढंग से रहते हैं मेनन। जब प्रतिरक्षा मन्त्री थे, तब भी यही रहते थे। यह बंगला उस भवन के विस्तृत सामने है जो कभी प्रधान मन्त्री नेहरू का निवास-स्थान था। कमरे की दशा बड़ी अस्त-व्यस्त रहती थी, पुस्तकें, मशीनों के पुर्जों एवं समाचार-पत्रों का वहाँ सांभाला था। जब वह सत्ता में थे तो मिनने वालों का नाँता लगा रहता था : मन्त्री, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, विद्यार्थी एवं पीड़ित जन अपनी-अपनी समस्याएँ ले कर उनके पास पहुँचते रहते थे।

काम की अधिकता के कारण मेनन रात को देर तक काम किया करते थे। गर्म दूध और चाय पर गुजारा करते थे। अपने असंख्य शारीरिक रोगों पर विजय पाने के लिए अनेक घामक औषधियाँ (सिडेडिब्ल) तथा अन्य औषधियाँ लिया करते थे। उनके यहाँ नियमित रूप से भोजन बनाने वा कोई प्रयत्न नहीं था और न ही वह भोजन करते थे, वह तो सैंडविचों, बिस्कुटों तथा काजू से काम चला लेते थे। वह न धूम्रपान करते थे, न फल खाने थे

श्रीर न मदिग पीने थे । प्रत्येक क्षेत्र में उनकी चर्चा होती थी, वह ज्वलंत प्रश्न बने हुए थे ।

वायुयान-यात्रा के बीच वह रोमांचकारी साहित्य पढ़ा करते थे । विदेश जाने के लिए वायुसेना के द्रुतगामी यानों में बैठ कर, रात्रि के अप्राकृतिक क्षणों में दिल्ली छोड़ा करने थे ताकि अपने गन्तव्य (मंजिल) पर अगले दिन संधरे पहुँच जायें । वच्चों से उनको स्नेह था और वच्चों को भी वह अच्छे लगते थे । बड़े एवं छोटी से हाथ मिलाना तथा वच्चों के गालों को थपथपाना उनका स्वभाव था ।

एक दिन मेनन ने मुझे अपने दफ्तर में बुलाया । मैं पहुँचा और उनके सामने रखी कुर्सी पर बैठ गया । मुझे क्या मालूम था कि यह ऊँची पीठ वाली कुर्सी सेनाध्यक्षों तथा उनके समान पद वालों के लिए थी । छूटते ही मेनन ने मुझसे कहा, 'जनरल, यह दिल्ली है, अम्बाला नहीं।' अम्बाला मेरा पिछला स्टेशन था किन्तु यहाँ उसका सन्दर्भ मुझे समझ नहीं आया । मैंने उत्तर दिया, 'अपना भूगोल मुझे पता है, सर।' उन्होंने बड़ी असम्यता से कहा, 'आप गलत कुर्सी पर बैठे हुए हैं।' मेरे विचार से उन्हें इस छोटी-सी बात का वतंगड़ नहीं बनाना चाहिए था । कुर्सी ही तो थी, कोई सिंहासन तो नहीं था ! इस अपमान को न सह सकने के कारण मैं खड़ा हो गया, मैंने वह 'गलत' कुर्सी भी छोड़ दी और वह कमरा भी छोड़ दिया । सचिवालय से निकल कर कार जी० टी० रोड की ओर घुमा दी । मेनन को इस प्रकार के प्रतिकार की आशंका नहीं थी, मेरे चले आने पर बड़े परेशान हुए । मेरे दफ्तर और मेरे घर कई फोन किए किन्तु न मैं मिला और न मेरा समाचार । दो घण्टे बाद जब मैं अपने कमरे में अपनी 'ठीक' कुर्सी पर पहुँचा तो मेनन के कई सन्देश मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे । सार सबका एक ही था कि मैं आते ही उनसे मिलूँ । उत्तेजित तो मैं था ही, मैंने मेनन को लिख भेजा कि मेरे आसन्न अधिकारी (इमिडियेट बॉस) तिमैया थे न कि मेनन, इसलिए भविष्य में वह मुझे तिमैया के माध्यम से बुलवाया करें न कि सीधे । इस पर मेनन ने तिमैया को लिखा कि कुछ प्रशासकीय मामलों पर बातचीत करने के लिए वह मुझे ले कर उतरे तिमैया और मैं उनसे मिलने गए । बातचीत समाप्त होने पर उन्होंने

कहा कि वह चले जाएँ । एकान्त हो जाने पर मेनन ने मुझसे पूछा कि उनके कमरे से क्यों भाग गया था । मैंने उत्तर दिया कि समाज की सभी अपनी इज्जत रखता है और हमें उसकी बेइज्जती करने का अधिकार नहीं है । जहाँ तक मेरा सम्बन्ध था, हँसी-मजाक तो मैं सहता था किन्तु अपमान नहीं । कुछ आरोपण-प्रत्यारोपण के बाद हम दोनों को भूल जाने का वचन दिया । लोगों पर चोट मजाक था ।

घपनी बंटकों को प्रभावशाली बनाने के लिए मेनन विविध मन्त्रालयों के अधिकारियों और जनरलों को बुला लिया करते थे। जब भी मौका लगता, तब वह तीनों सेनाध्यक्षों, मन्त्रिमण्डल के अधिकारियों, पर-राष्ट्र, गृह एवं प्रतिरक्षा मन्त्रालयों के अधिकारियों, सामूहिक विभाग के निदेशक तथा अन्य मिश्रित जनों को बुला भेजते। यदि किसी कारणवश समय न भी इकट्ठे हो पाते तो भी उनकी पहुँचनीयता को रंगीन बनाने के लिए कुछ तो धोखा ही पाते। जब बंटक शुरू हो जाती तो मेनन ऊब जाते, गंगा प्रभुभव करते जैसे कुछ नीच भोग धिन बुलाते उनके चारों ओर इकट्ठे हो गए हैं। बीच-बीच में ऊँघते रहते—अधिक काम करने के कारण या शान्ति घौपधियाँ देने के कारण। यदि वह किसी पर व्यभिचर-प्रहार करते और उनका निकार विवेक से काम लेता और घुप रहता तो वह प्रकृत होने। किन्तु यदि उनका निकार पसन्द कर जवाब दे देता तो सब के सामने मेनन मुस्कराते हुए उसकी ओर घात मारते—कभी एक ओर कभी दोनों—मानों वह रहे हैं कि वह तो केवल मजाक कर रहे थे।

उनकी बंटकों का न तो कोई कार्यक्रम होता और न कोई कार्य-विवरण (मिनिट्स) क्योंकि उन्हें इन दोनों से ही चिढ़ थी। इन बंटकों का प्रारम्भ तो शान्ति से होता किन्तु घन बुद्धि-द्वन्द्व व्यवस्था धीरे-धीरे में होता। मेनन विरोधियों का मजाक उड़ाते, इसलिए वही शोधपूर्ण स्वर सुनाई पड़ते तथा शोरगुन मच जाता। एक बार किसी ने ऐसी एक बंटक की बातों को टेप-रिकार्ड कर लिया। इस बंटक में सेनाध्यक्षों के लिए काफी अशिष्ट भाषा को व्यवहार में लाया गया था। इस मामले में भगड़ा काफी बढ़ा था।

यदि किसी बंटक में जनरल के मुँह में यह निकल पड़ता 'मैं सोचता हूँ...' तो मेनन बीच में ही चोट करने, 'मोक्षना सैनिकों की शक्ति के बाहर है।' यदि कोई एडमिरल यह कह रहा होता, 'जल-सेना.....' तो मेनन बीच में घुप पड़ते और वाक्य-वृत्ति इस प्रकार करते 'मागर-तल के नीचे होनी चाहिए।' जब मेनन की व्यंग्योक्तियों के ये शिखर बाहर निकलते तो मेनन से हुई घपनी काल्पनिक झड़पों की कहानी सुनाया करते या मेनन के साथ हुई घपनी शक्ति-परीक्षा की डींग हँका करते। किन्तु यथार्थ में ऐसे कुछ ही लोग थे जो मेनन की चोटों का प्रत्युत्तर देते अन्यथा शेष लोग तो प्रवसरवादी थे और मेनन के व्यभिचर-प्रहारों को हँस कर सिर-माथे लगा लेते थे।

मेनन की मेज पर टेलीफोनों की एक लम्बी कतार लगी हुई थी। ये टेलीफोन प्रतिक्षण बजते रहते। मेनन घापसे इस प्रकार व्यवहार करते जित प्रकार एक बिल्ली चुहने से घबरा करती है। उनके पास जा कर शायद ही कोई बिना अपमानित हुए लौट पाता।

२३. यदि बापर या सरोन के साथ मेनन कोई अशिष्ट मजाक करते तो वे बुरास उत्तर देते थे।

यदि मेनन यह चाहते कि प्रायः उनकी बात न समझ पाएँ और 'वेग जेट पाइंड' कहें तो यह उस प्रकार से धीमे-धीमे फुसफुसाते कि आपको अपने कर्तों और दिमाग पर काफ़ी जोर डालना पड़ता। इस स्थिति में केवल प्रायः विवेक आपकी रक्षा करता था।

मेनन के मस्तिष्क में प्रतिक्षण नये-नये विचार कौंचते रहते और नयी-नयी योजनाएँ जन्म लेती रहतीं। प्रतिरक्षा उत्पादन को गति प्रदान करने का श्रेय उन्हीं को है। उनका कार्यक्रम अति व्यस्त था—भार से ले कर रात्रि तक चले करते रहना—कभी वैज्ञानिकों से परामर्श करना, कभी आदेश देना और कभी आने-जाने वालों से बातचीत करना। संसद् से या अपने दल की बैठक से धरे-द्वारे लौटते मेनन और अपने स्टाँफ़ के या मिलने-जुलने वालों पर बरसते रहते।

जब वह विदेश जाने के लिए पालम पहुँचते तो उस समय लगता कि वहाँ कोई उत्सव मनाया जा रहा हो। सिविल सेवा एवं सैनिक सेवा के उच्चाधिकारी, प्रेस फोटोग्राफर तथा मित्रगण इकट्ठे हो जाते। वह दृश्य देखने वाला होता था जब मेनन भाग-भाग कर अपने विश्वास-पात्रों के कानों में तथा कथित महत्त्वपूर्ण और गोपनीय बातें जोर-जोर से फुसफुसाया करते और उन्हें हवाई अड्डे तक आने का कष्ट उठाने के लिए मीठी डाँट लगाया करते। इतने दर्शक बहुत प्रभावित होते थे।

इस बात को मेनन अच्छी तरह समझते थे कि प्रभावशाली मुख्य मन्त्रियों को उन्हें अपने पक्ष में रखना चाहिए, इसलिए वही गुलाम मोहम्मद, प्रतापसिंह कैरो, बीजू पटनायक, कामराज एवं विधानचन्द्र राय को प्रसन्न रखने के लिए उन्होंने सब कुछ किया। वह इस बात को भी जानते थे कि उन्हें ऐसा कोई काम नहीं करना चाहिए जिससे नेहरू के अप्रसन्न होने की आशंका हो। मौलाना अबुल कलाम आज़ाद, गोविन्दवल्लभ पन्त एवं कुछ अन्य सहकर्मियों का तो वह सम्मान करते थे किन्तु शेष को पाँवदान के समान महत्त्वहीन एवं उपेक्षणीय मानते थे। मोरारजी देसाई और मेनन एक-दूसरे के प्रबल विरोधी थे। दोनों यह मानते थे कि भारत के सिंहासन पर उनके बैठने में दूसरा दावा बना हुआ था। उनके इस परस्पर विरोध के फलस्वरूप देश-हित को हानि पहुँचती थी। एक समय था जब कृष्णमाचारी और अशोक सेन मेनन के अपने थे किन्तु बाद में ये मेनन को एक आँख नहीं भाते थे। मालवीय उनके कृपा-पात्र थे।

राष्ट्रपति राधाकृष्णन् के साथ मेनन के सम्बन्ध साधारण थे। इन बन्धनों तथा अन्य राजनीतिक समस्याओं के कारण उनका गतिविधि-क्षेत्र सीमित था।

मेनन नेहरू के दाएँ हाथ थे और उनके बौद्धिक सहयोगी। नेहरू का यह विश्वास था कि और लोगों की अपेक्षा मेनन उनके आचारशास्त्र, विचार-विचार तथा नीतियों की अधिक निष्ठा से नज़र रखते थे। इसी विश्वास

कारण मेनन पर उनका विशेष स्नेह था। साथ ही नेहरू को यह भी स्मरण था कि १९२४ से १९४७ तक मेनन ने इंग्लैंड में रह कर साधारण जीवन यतीत कर के, भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में कितना भ्रमूल्य सहयोग प्रदान किया था। नेहरू इस बात को भी नहीं भूले थे कि १९३५ में उनकी विविध पुस्तकों के प्रकाशन के समय मेनन ने उनके प्रकाशन-एजेंट के रूप में कितनी अधिक भागदौड़ की थी। लन्दन के प्रकाशन-जगत में मेनन की काफी पहुँच थी और नेहरू की आत्मकथा के प्रकाशन का बॉटले हैड से प्रबन्ध उन्हीं ने कराया था तथा इस ग्रन्थ के प्रकाशन में सम्पादकीय परामर्शदाता के रूप में काफी महत्त्वपूर्ण योग दिया था। नेहरू के ग्रन्थ 'ग्लिम्पसिस ऑफ वल्ड हिस्ट्री' (विश्व के इतिहास की झलकियाँ) में कुछ सशोधन भी उन्होंने सुभाषे थे। नेहरू और मेनन के अनेक हित समान थे तथा बौद्धिक दृष्टि से दोनों एक-दूसरे के प्रतिविम्ब थे यद्यपि व्यक्तिगत आचरण और व्यवहार की दृष्टि से दोनों में आकाश-पाताल का अन्तर था।

नेहरू से अपने सम्बन्धों तथा अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में अपनी प्रतिष्ठा के कारण परराष्ट्र मन्त्रालय में उनका काफी मान था एवं वहाँ की प्रत्येक घटना में उनका हाथ होता था। फलतः, विदेश सेवा के वरिष्ठ अधिकारी उनको अपना 'बिताज का बादशाह' मानते थे तथा उनको प्रसन्न रखने का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते थे एवं प्रत्येक उत्सव या समारोह में उनके प्रति विशेष सम्मान प्रदर्शित करते थे यद्यपि सरकारी रूप में उस मन्त्रालय से उनका कोई सम्बन्ध न था। कश्मीर में उनका विशेष सम्मान होता था और जब भी वह इस सौन्दर्य-प्रदेय में पहुँचते तो वहाँ का समस्त मन्त्रिमण्डल उनका स्वागत करने के लिए उपस्थित रहता था। इसके दो कारण थे—एक तो नेहरू से उनके सम्बन्ध तथा दूसरे कश्मीर के मामले बड़े सुन्दर एवं प्रशंसनीय ढंग से सुरक्षा परिपद् में प्रस्तुत करने का उनका प्रयास। वह इस स्वागत-सत्कार को अपना अधिकार मानते थे। अनेक राजनीतिज्ञ एवं सरकारी कर्मचारी उनको नेहरू का दायीं हाथ मान कर उनके हाथ की कटपुतली बने रहते थे, हाँ वे इस बात को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। कुछ लोग उनसे ईर्ष्या भी रखते थे क्योंकि उनके विचार से वह देश की आधारभूत नीतियों को प्रभावित करने की योग्यता रखते थे तथा इस योग्यता का उपयोग भी करते थे।

नेहरू की उपस्थिति में मेनन की सिट्टी-पिट्टी गुम हो जाती थी। न मानूम क्यों, नेहरू के पहुँचते ही मेनन झुकने के अर्थ में कोई शब्द बर्कसगत एवं प्रभावशाली भाषण दे रहे होते और बीच में नेहरू पहुँच जाते तो मेनन की खोलती बन्द हो जाती एवं उनकी विचार-शृंखला लड़खड़ा उठती। नेहरू के सामने वह अपना वाग्चानुर्य, व्यक्तित्व आदि सब कुछ भूल जाते थे। बलरथ होने पर मेनन 'नेहरू-नेहरू' चिल्लाते और नेहरू से मिलने की व्यग्रता

प्रकट करते। नेहरू भी उन्हें देखने पहुँच जाया करते थे।

कर्टर समाजवादी होने के नाते, भारतीय वामपक्षियों में उनकी स्थिति सदा ही काफी कुछ रही है। शक्तिशाली व्यवसायियों ने, जिनका प्रेस पर भी अधिकार था, उन पर काफी प्रहार किए। दक्षिणपक्षी उनको अभिशाप मानते थे क्योंकि उनका विचार था कि देश की आर्थिक समृद्धि और उनके बीच में वह (मेनन) बाधा बने हुए थे। संयुक्त राष्ट्र संघ में कश्मीर के मामले में सशक्त वकालत करने के कारण भारतीय नवयुवकों में उनकी लोकप्रियता काही बढ़ गई थी।

पश्चिमी देशों के बार-बार यह आरोप लगाने से कि मेनन भारत के हितों के विरुद्ध काम कर रहे थे, मेनन का उनके प्रति दृष्टिकोण और व्यवहार अनुजैसा हो गया था। इससे ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि जिन क्षेत्रों में मेनन अधिक लोकप्रियता अर्जित करना चाहते थे उन्हीं क्षेत्रों में उनके प्रति अधिक घृणा फैल गई।

उपरिलिखित कारणों के फलस्वरूप अमरीका के लिए मेनन के हृदय में कोई स्नेह नहीं था। यदि कोई उनसे अमरीका के पक्ष में तर्क करता तो वह उस पर आग-बबूला हो जाते। भारत में और विदेश में, जहाँ भी अवनत मिलता, वह अमरीका की कस कर खबर लेते और वहाँ के पत्रकारों द्वारा पूछे गए प्रश्नों पर अप्रसन्न हो जाते। अमरीका के प्रत्येक कदम को वह सन्देह की दृष्टि से देखते। उनके (अमरीकियों के) रहन-सहन के ढंग का वह मजाक उड़ाते और स्पष्ट घोषणा करते कि उनसे भारत को कुछ नहीं सीखना था। इसलिए, अमरीका में उनके प्रति घृणा फैलना स्वाभाविक था। अमरीकी जनको खलनायक, ततैया और अहंवादी कह कर पुकारते थे। रूस के सम्बन्ध में बात करते हुए मेनन के स्वर में सम्मान भ्रलकता था, और उस देश में वह लोकप्रिय भी थे। साम्यवादी देशों में जितनी लोकप्रियता उनकी थी, उतनी शायद किसी अन्य भारतीय की नहीं थी यद्यपि वह देशों में शायद ही कभी जाते थे। पश्चिमी देशों में, कुछ उनसे कम घृणा करते थे और कुछ अधिक, किन्तु पूना सब करते थे। तटस्थ जगत् उनको अपना चेम्पियन मानते थे किन्तु उनके संरक्षक-जैसे व्यवहार की आलोचना करते थे।

मेनन के प्रति अमरीका में विविध प्रतिक्रियाएँ थीं। न्यूयार्क के एक टैक्सि-डाइवर ने एक बार मुझे बतलाया, 'मैं जानता हूँ कि मेनन के पास हमारे लिए कौन-सा समय नहीं है। किन्तु उनके पास दिमाग जरूर है... यदि वह हमारे 'ऑफ स्टेट' (विदेश मन्त्री) होते तो हम उन शैतान रुसियों से पहले पर पहुँच गए होते।'

एक अमरीकी वकील ने मुझे एक घटना सुनाई। एक बार वह हवाई से न्यूयार्क से शिकागो जा रहे थे। उनकी बगल में मेनन बैठे हुए थे

किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम था कि यह मेहनत है। मात्रा के घुस होने पर उन्होंने मोचा कि बगल में बैठे विदेशी को कहीं भ्रंशलापन न गन रहा हो, इसलिए उन्होंने बातचीत शुरू की,

'भार भमरीका मे कब से है ?'

'दस दिन से', मेहन ने रग्गाई से उत्तर दिया।

'घाप यहाँ क्या कर रहे हैं ?' भमरीकी ने पूछा।

'काम', मेहन ने काट छाने जैसे स्वर में कहा।

'क्या काम ?' भमरीकी ने घागे बात बढ़ाई।

'समुक्त राष्ट्र सप', मेहन ने सधोष में उत्तर दिया।

'किसी प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य हो ?' भमरीकी ने पूछा।

'नहीं, भारतीय प्रतिनिधि मण्डल का नेता हूँ। धोर कोई प्रश्न ?' मेहन ने कहा।

भमरीकी बकील विचारा सिटपिटा गया। उसने तो बातचीत इसलिए शुरू की थी ठाकि एक विदेशी को उत्तरंग देस में घ्रा कर भ्रंशलापन न महसूस हो धोर इस प्रम में बेचारा मेहन में भिड बैठा तथा मेहन निश्चित रूप में भमरीका के मित्र नहीं थे।

मेहन अपने अधिकास मन्त्री-सहकर्मियों को घृणा की दृष्टि से देखते थे। उनका विचार था कि वे लोग किसी काम के नहीं थे। बदले में वे भी मेहन से घृणा करते थे और जनता की दृष्टि में उनके विम्ब (इमेज) को विकृत करने का उन्होंने प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया। उनमें में कुछ नेहरू के बाद नेहरू का स्थान संभालने की सोच रहे थे और उनका विचार था कि नेहरू और उनके बीच में मेहन बाधा थे। मेहन उनकी इस महत्वाकांक्षा पर उनका मद्दाक उदांगे थे और कहते थे कि 'यह मुँह और मसूर की दाल'। उनके सहकर्मियों अनेक कारणों से स्वयं को मेहन से हीन मानते थे। उनमें से कुछ तो बिना प्रेस किये कपड़े पहनते थे तथा कभी-कभी राष्ट्रपति भवन में आयोजित उत्सवों में बिना शोष वनवाए पहुँच जाते थे। यह इसी प्रकार था जैसे कोई गन्दे कपड़ों में बकिषम पैसेस या ह्वाइट हाउस में पहुँच जाए। मेहन को उनकी ये आदतें बुरी लगती थीं और एक-दो बार उन्होंने उनको टोक कर कहा कि वे तो केवल अर्थों की शोभा बढ़ा सकते थे।

अपने सहकर्मियों के सम्बन्ध में मेहन का कहना था कि उनमें से अधिकांश भवकों थे, ऊँचे-ऊँचे बंगलो में रहते थे और एक नम्बर के कजूस थे। किसी को अपने यहाँ आमन्त्रित करना तो जानते ही नहीं थे। उनमें से कुछ की खाने की आदतें इतनी भोडी थी कि अपने मेजबानों के लिए वे समस्या बन जाते थे। वे वार्ने तो लम्बी-चौडी करते थे किन्तु काम के नाम पर सिफर थे। उनमें से अधिकास तो देश पर भयंकर सकट के समय भी घुराटि भरा करते

थे। वेगें वे हाथ जोड़ कर प्रीर मुस्कुरा कर बड़ी मीठी-मीठी बातें करते थे। सबके सामने ही नेहरू की प्रशंसा करते थे किन्तु पीछे उनकी बुराई करते थे। धीरता की बातें तभी करते थे जब उन्हें विश्वास होता था कि उनका स्वतः गुरद्वान है तथा जनता उनके साथ है। नारे लगाने और मजमा जमाने में निपुण थे किन्तु गुण रूप में अनेक असोभन काम करते थे।

यदि मेनन ने किसी का जोरदार वाद-विवाद हो जाता था तो जतना वह सोचना स्वाभाविक ही था कि मेनन उससे अप्रसन्न हो गए होंगे। कई बार अप्रसन्न हो भी जाते थे किन्तु कई बार उस बात को विसारने के लिए दूरे पक्ष को कीमती चींकलेटों का एक डिब्बा भेजा करते थे।

उनकी दिनचर्या बहुत व्यस्त थी—रात को देर से सोना तथा दिन में ऊँघते रहना, अनेक उत्सवों, उद्घाटन समारोहों (जिनकी हमारे देश में चींक कमी नहीं है), बैठकों एवं अन्य कार्यक्रमों में भाग लेने पर असमीत शक्ति का प्रदर्शन करना; राजनयिक वार्ताग्रों में भाग लेना; जिन राजदूतों की नीति में प्रसन्न न हों, उन्हें डांट पिलाना; लोगों पर चिल्लाते रहना और कई बार बिना किसी कारण के तथा जल्दी में फर्नीचर से टकरा जाना और उसका दोष दूसरों पर मढ़ देना।

कई बार जानते-बूझते अनजान बन जाना उनका स्वभाव था। कई बार नेहरू से मिलने एवं उनका आदेश प्राप्त करने की धमकी देना जबकि वास्तव में ऐसा करने की उनकी कोई इच्छा नहीं होती थी। कई बार बेहोश हो जाना तथा जल्दी से सुध में आ कर अपनी अनन्य शक्ति का परिचय देना। वह कई बार गम्भीर रूप से अस्वस्थ हुए किन्तु जल्दी स्वस्थ हो गए। वह लोगों को करने के लिए असंभव काम देते थे। कई बार वह कुछ क्षेत्रों में कुछ सूचना पहुँचवा देते किन्तु वाद में पूछे जाने पर पूर्ण अनभिज्ञता प्रकट करते। सीनियर जनरलों तथा सिविल अधिकारियों को वह रविवार की दोपहर को या अन्य किसी दिन रात को या अन्य किसी बेढंगे समय जरूरी एवं महत्वपूर्ण विषय पर चर्चा करने के वहाने से बुला लिया करते थे जबकि वह विषय बहुत मामूली हुआ करता था। लोगों के विश्राम के क्षणों में हस्तक्षेप करना उनकी आदत थी और लोगों को यह बहुत बुरा लगता था। इसका कारण शायद यह था कि उनके अपने जीवन में विश्राम नाम की किसी चीज का अस्तित्व नहीं था।

उन्होंने अपने स्टॉफ के लिए तरह-तरह के लोग चुने थे—कुछ प्रतिभावान् एवं मेधावी तथा कुछ बिल्कुल बेकार। किन्तु मेनन के आलोचक उनके स्टॉफ के सब लोगों को ही निकम्मा बताते थे।

एक दिन सुबह तीन बजे मेरे फोन की घण्टी बजी।

'मेनन बोल रहा हूँ, धाबाड़ धाई, 'बधा धाए कुछ भिनटो ने भिण्ण मुग्ग
न सकउं है ? कुछ उकरी बान है ।'

'धभो धाना', मैने उबाव दिया ।

स्वोकि मुझे उग समय १०२° दुगार था, रगनिण मैने धपने गने के पारी
तेर ठो एक मोटा मयभर पोटो तथा बापी बपड़े पहन कर धन पया । मेनन
है धागे धोर पादना का धम्बार मगा था । धपने दिन मुबह उठे समुक्ता
गण्ड मय के लिए जाना था, रगनिण बहु गारी रान काम करने रहल थे ।

'पोनिम पोशो की टोक स्थिति क्या है ?' उन्होंने पूछा ।

'पोनिम पोशे ?' मैने मारभरं पूछा, 'मुझे कुछ मामूम नहीं । मुझे पोशो
मे कोई मगोकार नहीं, यह गो उनरम बोण्ड' का विषय है ।'

'उनरम, मुझे बहुत दुग है कि मैने धापनी धममय काट दिया', उन्होंने
ज्येद कहा । उह बहो-कहो उन्होंने भिण-भाब मे मेरे हाथ पर हाथ रगा
रैसा कि उनका उबाव था । मेरा हाथ उह कूछ गर्म लगा ।

'धापको दुगार है !' उन्होंने सविस्मय पूछा ।

'है, है तो गही', मैने स्वीकार किया ।

'हे ईस्वर !' उन्होंने मारभरं कहा । 'यही धाने मे पहले धापने मुझे
मगा क्यों नहीं ?' उन्होंने कहा ।

रगका मैने कोई उत्तर नहीं दिया ।

धपने दिन बहु मन्दन होने टुण्णूयाकं पने गए । धार दिन बाद मुझे
पर रगिया के स्थानीय कार्यालय मे एक मोटा-भा पार्सल मिला । उसमे दो
पर (मुद्ध ऊनी वस्त्र) स्वीटर थे जो मेनन ने धपनी धुभ कामनाधो के माय
न्दन मे भेजे थे । ये मेरे मनपतन्द रग के थे तथा उस रात दुगार मे बुलाने
: बदने मे भेजे थे । ममम-ममय पर बहु धापन, सरीन तथा कुछ धोर लोर्गो
ने भी धपनी मसाधपता प्रकट करने के लिए उपहार दिया करते थे ।

पादनों पर मेनन ने धनेक धप्रिय टिण्णियाँ लिखी । एक धार मुझे लिख
नर भेजी तो मैने भी उगी स्वर में एक नोट लिख दिया । मुझे बुला कर उन्होंने
'आ कि मैने बहु नोट क्यों लिखा । मैने इस पर किसी प्रकार का जेद प्रकट
।हीं किया तो उन्होंने बहु पादल उठा कर मेरे ऊपर फेंक दी । मुझे यह बात
बहुतुल पगन्द नहीं कि कोई मुझ पर पादल फेंक कर मारे किन्तु इस मवसर
र मैने धावाडस्वरुप बहु धापन तो फेंक कर नहीं मारी किन्तु लिङ्की मे बाहर
फेंक दी । मेनन का बधा धपता तो यह मुझे कन्धा चबा जाते ।

यदि मेनन का व्यवहार सोजन्यपूर्ण होता तो मेना का प्रत्येक व्यथित उनके
रति धगीमिन रूप से निष्ठावान् होता । धुर-धुर मे, जब मेनन प्रतिरक्षा मन्त्री

भने मे, यह मेना में बहुत लोकप्रिय थे किन्तु उनके अशिष्ट व्यवहार के कारण उनकी लोकप्रियता भटती चली गई। वाद में स्थिति ऐसी आ गई कि जहाँ कुछ लोग उनका समर्थन करते थे, वहाँ कुछ लोग उनसे घृणा भी करने लगे थे। राजनीतिक कुमन्त्रणा ने इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाया और धीरे-धीरे मेनन का विरोध बढ़ता गया। यदि मेनन का जन-सम्पर्क ठीक रहा तो यह स्थिति कभी आ ही नहीं सकती थी।

कुछ क्षेत्रों में मैंने यह अफवाह सुनी कि मेनन ने तिमैया की इच्छा के विरुद्ध मेरी पदोन्नति की थी। मैंने सोचा कि यदि यह बात सत्य होती तो तिमैया के स्टॉफ पर काम करने का मुझे कोई नैतिक आधार नहीं था। इसलिए, मैं तिमैया से मिला और मैंने अपने विचार उनके सामने प्रकट कर दिए। उन्होंने मुझे बतलाया कि लेफटी० जनरल पद के दो स्थान रिक्त हुए थे तथा उनके लिए तीन व्यक्तियों—मेजर जनरल ज्ञानी, मेजर जनरल कुमारमंगलम तथा मैं—की नामावली उनके सामने थी। यह नामावली बिल्कुल वरिष्ठता-क्रम से थी। (कुमारमंगलम और मैं समान वरिष्ठ थे।) मेनन ने कहा कि लेफटी० जनरल बनने के लिए यह जरूरी था कि प्रत्याशी ने किसी डिवीजन की कमान सँभाली हो और क्योंकि ज्ञानी ने किसी डिवीजन की कमान नहीं सँभाली थी, इसलिए उनकी पदोन्नति नहीं की जा सकती थी। अतः मेनन और तिमैया, दोनों ने मिल कर यह निर्णय किया कि कुमारमंगलम की और मेरी पदोन्नति कर देनी चाहिए। (कुछ महीने बाद ज्ञानी की भी पदोन्नति हो गई थी जब उन्होंने इस बीच डिवीजन की कमान सँभालने की औपचारिकता पूरी कर ली थी।) तिमैया ने मुझे असन्दिग्ध भाषा में बतलाया कि मेरी पदोन्नति उनकी इच्छा से हुई थी, न कि उनकी इच्छा के विरुद्ध और इसलिए इस सम्बन्ध में मुझे चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं थी।

लगभग एक दर्जन ऑफिसरों को कुमारमंगलम और मैं पीछे छोड़ आये थे। किन्तु अफवाह का शिकार मुझे ही बनाया गया कि मुझे योग्यता के दान पर नहीं अपितु ऐसे ही पदोन्नति मिल गई थी। कुमारमंगलम ने भी उन्हें ऑफिसरों को पीछे छोड़ा था किन्तु उनकी ओर एक उँगली भी नहीं उठाई गई। कुमारमंगलम को और मुझे एक ही दिन कमीशन मिला था और वरिष्ठता की दृष्टि से भी हम दोनों बिल्कुल समान थे। उन्होंने वूलविच से और मैंने सैण्डहर्स्ट से स्नातक की उपाधि प्राप्त की थी। हम दोनों ही दो भिन्न 'पासिंग आउट एक्जामिनेशन्स' में बैठे थे और उन्होंने मुझसे अधिक अंक नहीं प्राप्त किए थे। इसलिए वह किसी दृष्टि से भी मुझ से वरिष्ठ नहीं थे। वरिष्ठता-सूची में उनका नाम इसलिए मेरे नाम के पहले आ गया था क्योंकि उनका अंग अंग-

टैनरी था और मेरा इन्फैण्ट्री और सेना में अग्रता-वम (ग्रैंड ऑफ प्रीमिडेंस) में आर्टिलरी पहले आता है तथा इन्फैण्ट्री बाद में। यह केवल सेना के वम और प्रोटोकॉल के कारण है।

इन लोगों को शायद यह नहीं मालूम था कि मुझे अपनी सेवा के रिकार्ड के बल पर अतीत में भी बहुत शीघ्र-शीघ्र पदोन्नति मिली थी। और तब मेहनत कही आसपास भी नहीं थी। उदाहरण के लिए, सन् १९४२ में जब तीस वर्ष की आयु में मैं लेफ्टी० कर्नल बना तो मेरी सेवा केवल साढ़े नौ वर्ष की थी, सन् १९४८ में जब छत्तीस वर्ष की आयु में मैं ब्रिगेडियर बना तो मेरी सेवा केवल पन्द्रह वर्ष की थी तथा सन् १९५६ में जब तैंतालीस वर्ष की आयु में मैं मेजर जनरल बना तो मेरी सेवा केवल तेइस वर्ष की थी। और इन तीनों ही अवसरों पर मैं अनेक ऑफिसरों को फर्माग कर आगे पहुँचा था। किन्तु जब १९५६ में एव तैंतालीस वर्ष की आयु में छब्बीस वर्ष की सेवा के बाद मैं लेफ्टी० जनरल बना और अपनी योग्यता एव सेवा के रिकार्ड के बल पर मैंने (कुमारमगनम् के साथ) ऑफिसरों को फर्मागा तो मेरे सहकर्मियों ने मेरी ओर—केवल मेरी ओर—उँगली उठा कर कहना शुरू कर दिया कि मैं—एक 'आर्डिनरी ऑफिसर' मेहनत के कारण इस महत्त्वपूर्ण पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था।

कुछ लोगों ने कहा कि मुझे कुछ ऐसे ऑफिसरों में ऊपर पहुँचा दिया गया था जिनकी सेवा का रिकार्ड मेरी सेवा के रिकार्ड से अच्छा था? ये कौन ऑफिसर थे जिनकी सेवा का रिकार्ड मेरी सेवा से अच्छा था? [क्या किसी ने मेरी^{१५} मिसल (डोजियर) देखने का कष्ट उठाया था?] यदि शराब पीना और अन्य मनोविनोदों में भाग लेना पदोन्नति का आधार है तो मुझसे बहुत लोग वरिष्ठ थे।

कुछ मेजर जनरलों की पदोन्नति के सम्बन्ध में समाचार-पत्रों एव सप्ताह में काफी शोर मचा था। यहाँ तक कहा गया कि मेहनत के पदस्थ होने के बाद सेना में असन्तोष बढ़ गया था। यह असन्तोष तो बहुत पहले में बढ़ा हुआ था, केवल कुछ मीनियर जनरलों की नियुक्ति से सारी सेना में असन्तोष नहीं फैल सकता था। मीनियर ऑफिसरों की पदोन्नति के पूर्व सरकार अनेक मानदण्ड अपनाती है और पूरी सन्तुष्टि करने के बाद ही किसी को ऊपर चढ़ाती है। मैं जहाँ तक सोचता हूँ, यह अफवाह 'कि सम्पूर्ण सेना में असन्तोष फैला हुआ

१५. संसद में मेहनत और चहूँवाण दोनों ने यह बयान दिया है कि लेफ्टी० कर्नल के पद से ऊपर पदोन्नति देते समय सम्बन्धित ऑफिसर के नेतृत्व की शक्ति को देखा जाता है तथा उसकी वार्षिक गोपनीय रिपोर्ट (केवल वरिष्ठता ही नहीं) के आधार पर चुनाव-मण्डल उसका चुनाव करता है।

था' उन थोड़े से ऑफिसरों की फैलाई हुई थी जो मेरे और कुमारमंगलक के ऊपर पहुँचने में सक्षम रह गए थे।

सत्य तो यह है कि यदि सेना में किसी के साथ अन्याय हुआ है तो वह उन ऑफिसरों के साथ जिन्हें लेफ्टी० कर्नल के पद के लिए उन्नति मिलनी होनी थी। इस अन्याय को न कृपया मेनन रोक पाए और न कोई सेनाध्यक्ष। लेफ्टी० कर्नल के पद के लिए एक चुनाव-मण्डल बैठता है। दस या पन्द्रह मिनट में एक ऑफिसर के भाग्य का निर्णय कर देता था (और शायद आज भी वह परम्परा है)। समझ नहीं आता कि एक ऑफिसर की सत्रह-अठारह वर्षों की सेवा के रिकार्ड का देखना तथा उसके गुण-दोषों का विवेचन कर उसकी योग्यता का मूल्यांकन करना दस-पन्द्रह मिनट में किस प्रकार सम्भव है? हाँ, क्या है कि इस जल्दबाजी में उन ऑफिसरों की भी पदोन्नति हो जाती है जो पदोन्नति परीक्षा (प्रोमोशन एक्जामिनेशन) या सीनियर ऑफिसरस कोर्स में अनुत्तीर्ण हो चुके हैं या जिन्होंने सीनियर ऑफिसरस कोर्स के दर्शन ही नहीं किए हैं या जो स्टॉफ कॉलेज ही नहीं गए आदि। कुछ स्वास्थ्य की दृष्टि से भी अनुपयुक्त होते हैं और कुछ ने कभी किसी यूनिट की कमान भी नहीं संभाली। लेकिन इतनी अयोग्यताओं के बाद भी वे ऑफिसर लेफ्टी० कर्नल के पद पर प्रतिष्ठित हो जाते हैं। सेना में असन्तोष फैलने का मुख्य कारण यह था। (१९६३-६६ की अवधि में अनेक ऐसी ऊँची पदोन्नतियाँ हुई हैं जो आपत्तिजनक हैं तथा जिनसे काफी ऑफिसर असन्तुष्ट हैं किन्तु सेना के बाहर किसी ने इस ओर कोई उँगली नहीं उठाई जबकि १९५६-६२ की अवधि में कुछ लोगों ने इसे अपनी दिनचर्या में सम्मिलित कर लिया था।)

अपनी पदोन्नति के सम्बन्ध में तिमैया से बात करने के दस सप्ताह बाद एक सितम्बर के स्टेट्समैन में मैंने एक शीर्षक पढ़ा कि निकट अतीत में सेना में हुई पदोन्नतियों के ऊपर तिमैया ने सेना से त्यागपत्र दे दिया था। इस शीर्षक के नीचे इस सम्बन्ध में एक सनसनीखेज कहानी छपी थी कि सेना के ऊँचे पदों पर हुई उन्नतियों में मेनन ने अनुचित हस्तक्षेप किया था जितने असन्तुष्ट हो कर तिमैया ने यह कदम उठाया था। लेकिन तिमैया ने जो कुछ मुझे बतलाया था, यह कहानी उसके एकदम विपरीत थी। और फिर उन्होंने इस कदम के उठाने में दस सप्ताह की प्रतीक्षा क्यों की थी। यदि इस सम्बन्ध में तिमैया का मेनन से कुछ मतभेद था तो उन्होंने तुरन्त अपना त्यागपत्र क्यों नहीं दे दिया था? हो सकता है कि कुछ अन्य लोगों ने उनसे यह कदम उठवाया हो। कुछ भी हो, मैंने उनसे स्पष्ट बात करना उचित समझा। अभी वह विस्तर पर ही थे कि मैंने वह समाचार-पत्र उनके सामने रख दिया। मैंने पूछा कि कुछ सप्ताह पहले उन्होंने मुझे बतलाया था कि मेरी पदोन्नति सम्बन्ध में उनका मेनन से कोई मतभेद नहीं था, इसलिए स्टेट्समैन ने अब

ऐसा समाचार क्यों छापा था ? उन्होंने माश्चर्य कहा कि न तो कोई ऐसी बात थी और न उन्होंने किसी को ऐसी गलत बात कही थी । यह बात उनको भी समझ नहीं आई कि स्टेट्समैन ने यह निराधार समाचार क्यों प्रकाशित किया था । उन्होंने बतनाया कि उन्होंने त्यागपत्र देने की इच्छा नेहरू से जरूर व्यक्त की थी और वह भी इसलिए कि मेनन जिन अप्राकृतिक धरों में, विधाय के धरों में छोटी-छोटी बातों के लिए उन्हें बुझा भेजते थे और उन्हें परेशान करते थे, उस स्थिति से वह समझता नहीं कर सकते थे । तिमैया ने स्पष्ट कहा कि पदोन्नति की तो बात ही नहीं पैदा होती थी । इस पर भी मैंने अपना त्यागपत्र लिख कर तिमैया के सामने रख दिया कि यदि वह अपना त्यागपत्र दें तो मेरा भी साथ दे दें क्योंकि लोगों को यह बात समझ सकना मेरी शक्ति के बाहर था कि जब मेरे 'चीफ' ने मेरे कारण त्यागपत्र दिया तो मैं किम प्रकार अपना पद संभाले रहा । इसलिए हम दोनों का एक साथ सेना से मुक्त होना अधिक समीचीन होगा । तिमैया ने कहा कि वह मेरी इस भावना का सम्मान करते हैं तथा उन्होंने मेरा त्यागपत्र लौटा दिया । प्रेम भाटिया ने इस सम्पूर्ण घटना को, लगभग इसी रूप में, टाइम्स ऑफ इण्डिया में प्रकाशित किया था और तिमैया ने इसकी गलतता की प्रामाणिकता का खण्डन नहीं किया था ।

उसी दिन किसी अन्य काम से नेहरू से मिलना हुआ । वार्ता के मध्य उन्होंने बतनाया कि तिमैया उनमें मिले थे और मेनन के एव अपने स्वभाव की असंगति की चर्चा कर रहे थे । नेहरू ने मुझसे पूछा कि मेनन एव तिमैया की असंगति का क्या और कोई कारण मुझे मालूम था किन्तु इस सम्बन्ध में मैंने अपनी अनभिज्ञता प्रकट कर दी । नेहरू ने इस सम्बन्ध में मेनन से बातचीत की । मेनन ने तिमैया से पूछा कि उन्होंने बिना मेनन की अनुमति के नेहरू से बात क्यों की । इसके प्रत्युत्तर में तिमैया ने अपना लिखित त्यागपत्र नेहरू के सामने रख दिया और इस सम्बन्ध में भी मेनन से बात नहीं की । नेहरू ने तिमैया को बुला कर उनके इस कदम की असंगतता बतलाते हुए कहा कि उन्हें छोटी-छोटी बातों पर उस समय त्यागपत्र नहीं देना चाहिए जबकि राष्ट्र को चीन एव पाकिस्तान की ओर से भय था कि कहीं उनमें से कोई आक्रमण न कर बैठे । नेहरू के इतना कहने पर तिमैया ने अपना त्यागपत्र वापस ले लिया । बाद में, नेहरू ने तिमैया के इस कदम की संसद् में आलोचना करते हुए कहा कि सैनिकों को सिविल अधिकारियों से नहीं भगड़ना चाहिए क्योंकि लोकतन्त्र में सिविल अधिकारी का पद ऊँचा होता है । तिमैया के इस कदम से—पहले त्यागपत्र देना और फिर वापस ले लेना—उनकी लोकप्रियता बढ़ी नहीं अपितु उस पर कुछ प्रतिकूल प्रभाव ही पड़ा ।

पच मेरे शत्रुओं ने मेरे विरुद्ध अपना प्रचार-अभियान जोरों से शुरू कर दिया । इन प्रचार-साधनों में एक था वम्बई से प्रकाशित होने वाला अंग्रेजी

मान्यारिक 'करण्ट' जिसने मेरे शत्रुओं के कहने पर तथ्यों को तोड़-मरोड़ कर प्रस्तुत करना तथा मेरे निकट विष उगलना शुरू कर दिया। जब मेरे एक मित्र ने मुझे पूछा कि 'करण्ट' का सम्पादन ३० एक० करारका मेरी जान के पीछे क्यों गया हुआ था तो मुझे एक कहानी याद आ गई कि जब किसी ने सुविद्या समाज-मन्थारक ईश्वरचन्द्र विश्वासागर को बतलाया कि कोई विशिष्ट व्यक्ति उनके विशिष्ट विष क्यों उगल रहा था तो उन्होंने साश्चर्य कहा, "वह ऐसा क्यों कर रहा है ? मैंने तो कभी उसके साथ कोई भलाई की नहीं है।"

मैंने निर्मया, मेगन और नेहरू, तीनों से कहा कि मुझे या सरकार से 'करण्ट' पर उस प्रकार का झूठा प्रचार करने के लिए मुकदमा चलाना चाहिए। नेहरू ने कहा कि मेरे मुकदमा चलाने की कोई आवश्यकता नहीं थी तब उपयुक्त अवसर पर वह स्वयं मेरी स्थिति स्पष्ट कर देंगे।

२६ अगस्त १९५६ के ग्रंथ में 'करण्ट' ने मुझ पर काफी आरोप लगाए। अन्य आरोपों में एक यह भी था कि १९४८ में सरकार ने मुझे वाशिंगटन में वापस बुला लिया था। यह सत्य नहीं है। वाशिंगटन से मैं अपनी इच्छानुसार लौटा था और इसके लिए मैंने नेहरू से प्रार्थना की थी कि कश्मीर-युद्ध में भाग लेने के लिए मुझे भारत वापस बुलाया जाए। (इसके प्रमाण में सरकारी रिकार्ड मौजूद हैं।) एक आरोप यह था कि ब्रिगेड की कमान संभालने के पहले मुझे इन्फैण्ट्री यूनिट की कमान करने का अनुभव नहीं था। जबकि सत्य यह है कि इससे पहले मैं इन्फैण्ट्री प्लॉटून तथा कम्पनी की कमान कर चुका था तथा बटॉलियन की कमान भी मुझे सौंपी जाने वाली थी किन्तु सरकारी आदेश से मुझे किसी अन्य महत्वपूर्ण काम को संभालना पड़ गया था और मैं इस अवसर से वंचित^{१६} रह गया। (मुझे सरकार ने कर्नल की पदोन्नति दे कर भारत के प्रथम सैनिक सहचारी के रूप में वाशिंगटन भेज दिया था।) वाशिंगटन से लौटने पर सैनिक अधिकारियों ने मुझे फिर बटॉलियन की कमान सौंपनी चाही किन्तु सरकार फिर बीच में आ गई। सरकार ने आदेश दिया कि मैं कश्मीर-युद्ध में जा कर जम्मू तथा कश्मीर की नागरिक सेना (मिलिशिया) की कमान संभालूँ।

कहा गया कि मेरा युद्ध-क्षेत्र से परिचय ही नहीं था। यह बात बिल्कुल गलत है। भारतीय सेना की वर्तमान पीढ़ी केवल तीन अवसरों पर युद्ध में भाग ले सकती थी और वे थे—भारत के उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर होने वाली मुठभेड़ें, द्वितीय विश्व-युद्ध तथा कश्मीर-युद्ध। मैंने इन तीनों में युद्ध-क्षेत्र में सक्रिय भाग लिया था।

१६. इस दृष्टि से मैं अकेला नहीं था। मेरे साथी लेफटी० जनरल मानेकश ने भी बटॉलियन की कमान कभी नहीं संभाली थी।

एक धारोप यह लगाया गया कि मैंने अधिक समय नाटकों के प्रदर्शन में लगाया था। नाटक तो मेरा एक शौक था अंता कि अनेक अन्य मेरा धार्मिकों का था। १९५२ में दिल्ली में मैंने 'सनातनवादी' नामक नाटक का प्रदर्शन किया था जो इन धारोप लगाने के समय में सात वर्ष पहले की घटना थी तथा इससे पहले केवल दो-तीन नाटकों का प्रदर्शन होर किया था। योग वर्ग की दीर्घ अवधि में इन गिने-गुने नाटकों के प्रदर्शन करने से मेरे सैनिक जीवन का कौन-सा महत्वपूर्ण घन पीछे रह गया था। और फिर इतना अधिकार तो एक सैनिक को भी है कि वह अपने अपनी समय में नाटकों का प्रदर्शन करे या चित्र बनाए। हाँ, इसमें उसके सैनिक कर्तव्य के पालन में किसी प्रकार की कमी नहीं जानी चाहिए। जहाँ तक मेरे सैनिक दायित्वों का प्रश्न है, मेरे किसी शौक के कारण उसमें कभी कोई अन्तर नहीं पडा, अपनी ड्यूटी पर मैंने अपना पूरा-पनामा एक कर दिया था। फिर भी कुछ समाचार-पत्र जिनमें बम्बई का 'करण्ट' प्रमुख था, नाटक-प्रदर्शन के शौक का बतगड बनाये हुए थे। देश के लिए जो मैंने अनेक महत्वपूर्ण काम किए, उनकी ओर किसी ने संकेत भी नहीं किया था।

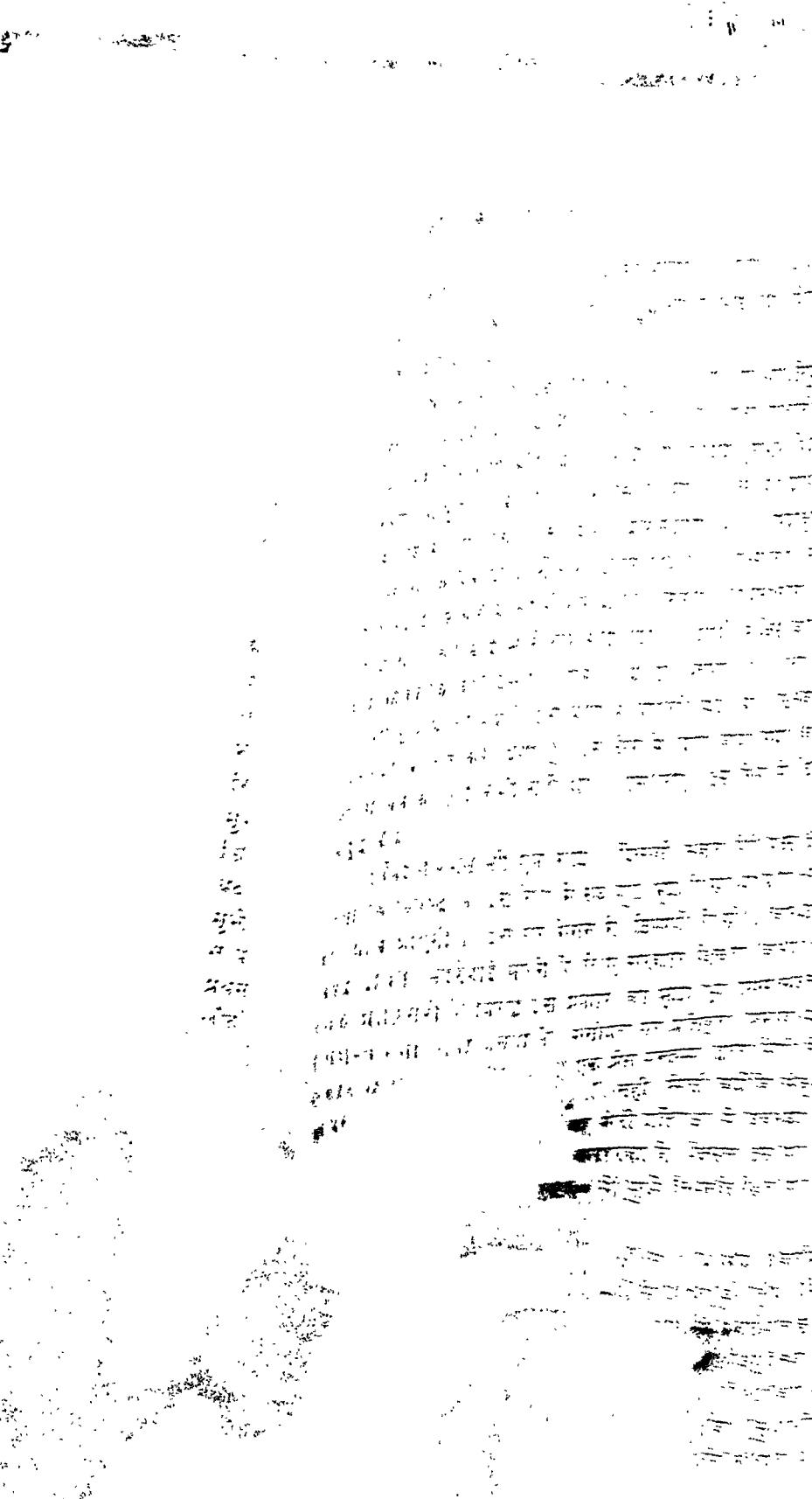
कहा गया कि डिब्रीज की कमान संभालने से पहले मेरी सैनिक पुष्ट-भूमि दुर्ब नहीं थी। मत्त यह है कि इसके कुछ ही पहले मैंने एक इन्फैण्ट्री ब्रिगेड की कमान गाड़े तीन वर्ष तक सफलतापूर्वक संभाली थी।

कहा गया कि मैंने इन्फैण्ट्री डिब्रीज की कमान केवल दो वर्ष संभाली थी और वह अवधि भी मैंने मकान बनाने में गुजार दी थी। जबकि सचार्ई यह है कि इन डिब्रीज की कमान मेरे हाथों में थीतीस महीने रही जिसमें केवल सात महीने मैंने अपने सैनिकों के लिए घर बनाने में लगे किए। शेष सत्तादस महीने मैंने सामान्य सैनिक तरीके से अपने डिब्रीज की युद्ध के लिए तैयार करने में लगाए थे।

'करण्ट' ने एक धारोप यह लगाया कि मैंने 'अमर' को बिना किसी लागत के तैयार कर देने की भविष्यवाणी की थी। मत्त यह है कि इस प्रकार की कोई बात मैंने कभी नहीं कही थी। मैंने इसे एक करोड़ रुपये से कुछ ऊपर में पूरा करने की बात कही थी जबकि सरकारी अनुमान से इसमें बहुत लम्बी-चोड़ी लागत बंटती थी।

कहा गया कि मैंने सैनिकों की शक्ति का दुरुपयोग किया। वास्तव में, इस प्रकार की परियोजना में सैनिकों से काम लेने का निर्णय मेरा नहीं था, यह तो सरकार और सेना का निर्णय था अर्थात् मेजर, तिमैया, कलवन्त सिंह और चौधरी का निर्णय था। इसलिए 'अमर' के निर्माण में सैनिक-श्रम के उपयोग करने में इन चारों बरिष्ठ अधिकारियों का समर्थन प्राप्त था।

मेरे विरुद्ध दूसरा धारोप यह था कि १९५८ में प्रतिक्षा मण्डप (डिफेंस



मैं आपका प्रति आभारी होऊँगा... यदि... अपने सवाहदाताओं के प्रति-
उत्साह के कारण हम कभी गलती कर बैठें तो पत्र का सम्पादक होने के
नाते यह मेरा कर्तव्य है कि मैं उन भूलों को तुरन्त सुधार दूँ।

आप चाहें तो अपने चीफ, जनरल तिमैया, से जिनको मैं इस पत्र की
एक प्रतिलिपि भेज रहा हूँ, मेरी सदाशयता के सम्बन्ध में सन्तुष्टि कर
लें।

(तिमैया ने २४ फरवरी १९६० को मुझे एक पत्र लिख कर सूचित किया
कि करारका की सदाशयता के सम्बन्ध में वह कोई गारण्टी नहीं दे सकते तथा
वह तो यह भी नहीं समझ पाए थे कि इस पत्र को लिखने का करारका का
उद्देश्य क्या था।)

करारका के मुझे उपर्युक्त पत्र लिखने से पहले 'करण्ट' में २६ अगस्त
१९५६, १९ नवम्बर १९५६ तथा ३० दिसम्बर १९५६ को तीन लेख छप चुके
थे और तीनों में ही मुझ पर बड़े उल्टे-सीधे आरोप लगाये गए थे।

२४ फरवरी १९६० को नई दिल्ली स्थित विज्ञान भवन में आयोजित एक
पत्रकार सम्मेलन में नेहरू ने कहा :

कुछ दिन पहले, (करण्ट में प्रकाशित) एक लेखमाला की ओर मेरा
ध्यान आकर्षित किया गया था जिसमें अपने एक सीनियर जनरल, लेपटी०
जनरल बी० एम० कौल, पर कुछ आरोप लगाये गए थे... इस प्रकार के
(प्रतिरक्षा से सम्बन्धित) व्यक्तियों पर लांछन लगाना बहुत ही अनुचित
और आपत्तिजनक है। और तब तो यह और भी खराब बात है जबकि
तथ्य भी गलत दिये जाएँ। लेपटी० जनरल कौल हमारे योग्यतम एवं
श्रेष्ठतम जनरलों में हैं... मैं नहीं चाहता कि अपनी प्रतिरक्षा सेनाओं के
विरुद्ध किसी प्रकार की राजनीतिक चर्चा, आरोप या प्रत्यारोप लगाये जाएँ।
... एक आरोप यह लगाया गया था कि इनको बिना बारी के पदोन्नति
दी गई है तथा इनको सक्रिय सेना का कोई अनुभव नहीं है... जब इस
ओर मेरा ध्यान आकर्षित किया गया तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। हम
घादमी ने गत युद्ध में बर्मा में ही युद्ध-क्षेत्र में सक्रिय सेवा नहीं की अपितु
उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में एवं कश्मीर-युद्ध में भी सक्रिय सेवा की
है। जब कश्मीर में भगड़ा शुरू हुआ तो यह वाशिगटन में हमारे सैनिक
सहचारी थे। इन्होंने वाशिगटन के आरामदायक काम को छोड़ कर
कश्मीर-युद्ध में भेजे जाने की प्रार्थना की और जब हमने अनुमति दे दी
तो यह तुरन्त मोर्चे पर पहुँच गए। इसके पहले बर्मा एवं उत्तरी
पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में भी इन्होंने युद्ध-क्षेत्र में सक्रिय भाग लिया

प्राथमिक) के निर्माण में मेने अपना सारा टिवोजन (२०,००० आदमी) लगाने दिया था। किन्तु ऐसा था नहीं, कुछ सौ सैनिकों को छोड़ कर शेष आदमियों को गैर-सैनिक था।

'करण्ट' ने लिखा कि लेफ्टी० जनरल के पद पर मेरी नियुक्ति अनौचित्यपूर्ण थी क्योंकि इस प्रथम में मैं लगभग ऐसा एक दर्जन जनरलों को फ्लॉग-पदा था जिनकी योग्यता और जिनकी सेवा का रिकार्ड मुझसे श्रेष्ठ था। किन्तु यह कथन बिल्कुल असत्य था। ठीक स्थिति मैंने पहले ही आपको बतला दी है। इस लेख में इसी प्रकार की अनेक असत्यताएँ थीं। उदाहरण के लिए, इसमें लिखा था कि मैंने अपना सैनिक जीवन कैवलरी (रिसाला) से शुरू किया था। सत्य यह है कि मैंने अपना सैनिक जीवन इन्फैंट्री (राजपूताना राइफल्स) से शुरू किया था लेकिन बाद में सैनिक सेवा कोर (आर्मी सर्विस कोर्स) में बदली हो गया था क्योंकि वहाँ उन्नति करने के अच्छे अवसर थे। जिन कारणों से विवरण हो कर मुझे अपनी बदली इस कोर में करानी पड़ी थी, उनका मैंने आरम्भ में सविस्तार उल्लेख कर दिया है। इस लेख में आगे कहा गया कि मैं 'पे कमीशन' पर था जबकि ऐसा कभी नहीं था। इसलिए, इस लेख में दिए गए सभी तथ्य अशुद्ध थे।

तिमैया ने मेनन को एक नोट (जिसकी नकल मेरे पास इस समय भी है) लिखा कि 'करण्ट' के इस लेख में सब कुछ भूठ लिखा था और इससे मेरी प्रतिष्ठा पर आँच आएगी। इस पर मेनन ने टिप्पणी लिखी : 'करण्ट के सम्पादक के विरुद्ध उचित कार्रवाई करने के लिए सरकार विचार करेगी क्योंकि सीनियर सैनिक ऑफिसरों के विरुद्ध इस प्रकार का भूठा एवं अपमानजनक प्रचार करने से सशस्त्र सेना तथा जनता के मनोबल पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।' उन्होंने सरकार से अनुमति माँगी कि वह एक प्रेस वक्तव्य द्वारा मेरी स्थिति का सही रूप प्रस्तुत कर दें। किन्तु यह अनुमति नहीं मिली क्योंकि नेहरू ने कहा कि अपने मासिक पत्रकार सम्मेलनों में वह मेरी प्रतिरक्षा में वक्तव्य दे देंगे। 'करण्ट' के सम्पादक डी० एफ० करारका ने, जिसने इस पत्र में मेरे विरुद्ध अनेक लेख छापे थे, १३ फरवरी १९६० में मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा :

...सेना मुख्यालय के एक निकटवर्ती सूत्र (शायद, प्रकाशित लेखों के लिए सामग्री भी ऐसे ही निकटवर्ती सूत्रों से प्राप्त हुई होगी) से कल मुझे पता चला कि ३० दिसम्बर १९५९ के 'करण्ट' में प्रकाशित कहानी 'सेना के लिए गधे' (ऐसिस फोर दि आर्मी) अशुद्ध थी। जहाँ तक उसमें दिये आपसे सम्बन्धित विवरण का सम्बन्ध है... यह पत्र लिख कर मैं आपको यह कहना चाहता हूँ कि हम अपनी प्रत्येक गलती को सुधारने के लिए सदा तैयार हैं और यदि आप हमें हमारी भूलों से अवगत करा दें तो

में घातका घनि घाभारी होऊंगा... यदि... अपने सवाददाताओं के प्रति-
उत्साह के कारण हम कभी गमती कर बैठें तो पत्र का सम्पादक होने के
नाते यह भंग कर्तव्य है कि मैं उन भूलों को तुरन्त मुधार दूँ ।

घाप चाहें तो अपने चीफ, जनरल तिमैया, में जिनको मैं इस पत्र की
एक प्रतिनिधि भेज रहा हूँ, मेरी सदाशयता के सम्बन्ध में सन्तुष्टि कर
लें ।

(तिमैया ने २४ फरवरी १९६० को मुझे एक पत्र लिख कर सूचित किया
कि करारका की सदाशयता के सम्बन्ध में वह कोई गारण्टी नहीं दे सकते तथा
वह तो यह भी नहीं समझ पाए थे कि इस पत्र को लिखने का करारका का
उद्देश्य क्या था ।)

करारका के मुझे उपर्युक्त पत्र लिखने से पहले 'करण्ट' में २६ अगस्त
१९५९, १८ नवम्बर १९५९ तथा ३० दिसम्बर १९५९ को तीन लेख छप चुके
थे और तीनों में ही मुझे पर बड़े उल्टे-सीधे आरोप लगाये गए थे ।

२४ फरवरी १९६० को नई दिल्ली स्थित विज्ञान भवन में आयोजित एक
पत्रकार सम्मेलन में नेहरू ने कहा :

कुछ दिन पहले, (करण्ट में प्रकाशित) एक लेखमाला की ओर मेरा
ध्यान आकर्षित किया गया था जिसमें अपने एक सीनियर जनरल, सेप्टी०
जनरल बी० एम० कौल, पर कुछ आरोप लगाये गए थे... उस प्रकार के
(प्रतिरक्षा से सम्बन्धित) व्यक्तियों पर लाछन लगाना बहुत ही अनुचित
और आपत्तिजनक है । और तब तो यह और भी सराब बात है जबकि
तथ्य भी गलत दिये जायें । सेप्टी० जनरल कौल हमारे योग्यतम एवं
श्रेष्ठतम जनरलों में हैं... मैं नहीं चाहता कि अपनी प्रतिरक्षा सेनाओं के
विरुद्ध किसी प्रकार की राजनीतिक चर्चा, आरोप या प्रत्यारोप लगाये जायें ।
... एक आरोप यह लगाया गया था कि इनको बिना बारी के पदोन्नति
दी गई है तथा इनकी सत्रिय सेना का कोई अनुभव नहीं है... जब इस
और मेरा ध्यान आकर्षित किया गया तो मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ । इस
घादमी ने गत युद्ध में बर्मा में ही युद्ध-क्षेत्र में सत्रिय सेवा नहीं की अपितु
उत्तरी पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में एव कश्मीर-युद्ध में भी सत्रिय सेवा की
है । जब कश्मीर में भगड़ा शुरू हुआ तो यह वार्शिगटन में हमारे सैनिक
गह्वारी थे । इन्होंने वार्शिगटन के आरामदायक काम को छोड़ कर
कश्मीर-युद्ध में भेजे जाने की प्रार्थना की और जब हमने अनुमति दे दी
तो यह तुरन्त मोर्चे पर पहुँच गए । इसके पहले बर्मा एवं उत्तरी
पश्चिमी सीमान्त प्रदेश में भी इन्होंने युद्ध-क्षेत्र में सत्रिय भाग लिया

भा ।...इन पर आरोप लगाया गया है कि उन्होंने कभी कमान नहीं सँभाली... उन्होंने एक पदोन्नति, एक कम्पनी, एक विंगेट तथा एक डिवीजन की कमान की है... इस लेख में इसी प्रकार के अन्य आरोप भी लगाए गए हैं जिनका कोई नव्यात्मक आधार नहीं है...।

जब इस प्रकार-सम्मेलन में एक संवाददाता ने नेहरू से पूछा कि क्या मुझे बिना वारी के पदोन्नति दी गई थी तो नेहरू ने उत्तर दिया कि वह पहले ही संसद् में स्पष्ट कर चुके थे कि सेना के उच्च पदों पर 'वारी से' पदोन्नति का प्रश्न ही नहीं उठता अन्यथा मेना मूर्खशाला में परिणत हो जाए यदि बिना वह देने-भाले कि कीन मूर्ख है या बुद्धिमान, प्रत्येक को उसकी वारी पर पदोन्नत कर दिया जाए । इसलिए, उनकी वारी पर भी यही मानदण्ड अपनाया गया । उन्होंने कहा कि मेना में पदोन्नति योग्यता के आधार पर मिलती है । जितना कोई ऊपर चढ़ेगा, उतनी ही कठोर परीक्षा में उसे उत्तीर्ण होना पड़ेगा ।

इंग्लैण्ड, अमरीका एवं रूस में भी सेना के ऊँचे पदों पर नियुक्ति योग्यता के आधार पर होती है, न कि केवल वरिष्ठता के आधार पर । १९६४ में, अमरीकी सेनाध्यक्ष जनरल जॉनसन (राष्ट्रपति जॉनसन के कोई सम्बन्धी नहीं हैं) भी लगभग चालीस ऑफिसरों, जिनमें वारह जनरल भी थे, को फलाँग कर अपनी योग्यता के बल पर इस पद पर नियुक्त हुए थे । जब मेक्सवैल टेलर वियतनाम में अमरीकी राजदूत नियुक्त हुए तो उनके स्थान पर 'चेयरमैन ऑफ़ ज्वाइण्ट चीफ़ ऑफ़ स्टॉफ़' जनरल ह्वीलर नियुक्त हुए और इस प्रक्रम में एक दर्जन से अधिक जनरल बीच में रह गए । किन्तु वहाँ इस बात पर किसी ने उँगली नहीं उठाई क्योंकि वहाँ तो यह बात सर्वस्वीकृत है कि सेना में पदोन्नति योग्यता के आधार पर होती है । (अपने समय में ऑचिनलेक और माउण्टबेटन ने भी बीसियों ऑफ़िसरों के ऊपर से छलाँग लगाई थी ।) मेघावी सैनिकों के आगे बढ़ने का मार्ग ही यही है । किन्तु १९५९-६२ के बीच भारत में इस तथ्य को मान्यता नहीं मिली । (लगता है कि उसके बाद इसे स्वीकार कर लिया गया है । किसी भी सोपानात्मक संगठन में ऊँचे पदों पर नियुक्ति वरिष्ठता के आधार पर नहीं अपितु चुनाव द्वारा होती है ।)

नेहरू ने यहाँ तक कहा कि यह विशिष्ट नियुक्ति आर्मी चीफ़ द्वारा प्रस्तुत तीन मेजर जनरलों की नामावली में से की गई थी । इस सूची में से कौल समेत के व्यक्तियों को चुन लिया गया था । बाद में तीसरे व्यक्ति (ज्ञानी) को भी पदोन्नति दे कर गज़ा में अपने सैनिकों की कमान सँभालने के लिए भेज दिया गया । (उस समय वह पदोन्नति की कसौटी पर खरे नहीं उतरे थे ।) अन्त में कहा :

कौल को एक नया काम सौंपा गया था कि वह आवास के अभाव में परेशान अपने सैनिकों के लिए आवास का प्रबन्ध करे। उन सैनिकों के लिए जो बर्दों से कश्मीर की घाटियों या नाया पहाड़ियों में पड़े हुए थे और जब लौट कर आये तो बेचारों के पास अपने बाल-बच्चों को अपने पास रखने के लिए अपेक्षित जगह नहीं थी...इसलिए यह निर्णय किया गया कि सैनिक अपने लिए घर स्वयं बनाएँ। जनरल कौल को इस प्रबन्ध का इंचार्ज नियुक्त किया गया था। सैनिकों को यह काम करने के लिए किसी ने बाध्य नहीं किया था। यह तो उन्होंने स्वेच्छा से किया था और बड़ा अच्छा काम किया था। अब यह प्रचार किया जा रहा है कि ये घर अच्छे नहीं हैं तथा घूले हैं। यह विकृत भ्रूण प्रचार है। मैंने उनका परीक्षण कराया था...कहा गया है कि इस काम के करने से सैनिकों के प्रशिक्षण में फर्क पड़ा है। किन्तु यह भी गलत है...मुझे यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि हमारे देश में एक-दूसरे की निन्दा करने की लोगों की आदत बन गई है...और ऐसा करने में हमें सुझी होती है।

तिब्बत पर विजय प्राप्त करने के बाद जब चीनियों ने वहाँ के निवासियों पर अपने सिद्धान्त थोपने चाहे तो उन्हें काफी कठिनाई का सामना करना पड़ा। इसलिए, उन्होंने सोचा कि दलाई लामा¹⁰ को त्हासा से पीकिंग पहुँचा दिया जाए ताकि तिब्बत में अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने में उन्हें सुविधा रहे। इस प्रकार का संकेत उन्होंने तिब्बत के हाई कमान को किया। इस पर दलाई लामा के अनुयायियों को इस चिन्ता ने घेरा कि त्हासा में उनका रहना उनके

१७. वर्तमान दलाई लामा अपनी परम्परा में बोद्धे हैं और इनका जन्म

जिस प्रकार चीन ने मई १९५१ में तिब्बत पर कब्जा किया और दलाई लामा से समझौते पर बलपूर्वक हस्ताक्षर कराए, उससे नेहरू बहुत अप्रसन्न थे किन्तु बेचारे कुछ कर नहीं सकते थे। इसलिए, उन्होंने चीन पर यह जोर डाला कि वह तिब्बत को प्रभु राज्य स्वीकार कर ले। १९५४ में, जब चाऊ नई दिल्ली में नेहरू से मिले थे तो उन्होंने नेहरू को बतलाया था कि तिब्बत चीन का एक प्रान्त न हो कर प्रभु राज्य था तथा चीन वहाँ पर न तो अपने सिद्धान्त थोपना चाहता था, न अपनी प्रगति के अनुरूप वहाँ प्रगति कराना चाहता था और न वहाँ के धर्म अथवा रहन-सहन को बदलना चाहता था। उन्होंने तो यहाँ तक कहा कि तिब्बत में समाजवाद लाने में पचास वर्ष लग जायेंगे।

जीवन के लिए जानक सिद्ध हो सकता था। इस बीच ल्हासा स्थित चीनी नेता के कमाण्डर ने दलाई लामा को एक पार्टी में आमन्त्रित किया और उन्हें यह कि यह अपने प्रंगरक्षकों को साथ न लाएँ। जब दलाई लामा के मित्रों से उसका पता चला तो उन्हें आशंका हुई कि कहीं दलाई लामा को पीकिय उठा कर न ले जाया जाए। इसलिए, उन्होंने एक गुप्त बैठक में यह निर्णय किया कि दलाई लामा को भारत में संरक्षण प्राप्त करना चाहिए। किन्तु ऐसा निर्णय करना एक बात थी और उसे व्यावहारिक रूप देना दूसरी बात। इसमें कई कठिनाइयाँ थीं—प्रथम, यह निर्णय अन्तिम क्षण तक गुप्त रहे तथा द्वितीय, जब दलाई लामा अपने अनुयायियों एवं सामान के साथ ल्हासा से भारत के लिए चलेंगे तो उनका कारवाँ मीलों से चीनी सैनिकों को दिखाई पड़ जाएगा और सबसे बड़ी परेशानी यह थी कि इससे दलाई लामा को काफी शारीरिक धक्का होगी।

१९५९ में एक दिन अचानक सवेरे दलाई लामा सपरिवार ल्हासा से चले पड़े। उनके साथ एक सौ घोड़सवार सैनिक भी थे। कुछ सैनिक पीछे छोड़ दिये गए ताकि यदि चीनी उनका पीछा करने का प्रयत्न करें तो कुछ देर उन्हें मोर्चा लिया जा सके। इस पिछली टुकड़ी पर चीनियों ने आक्रमण कर दिया किन्तु यह टुकड़ी उनको तब तक उलझाए रही जब तक दलाई लामा भारतीय सीमा में प्रवेश नहीं कर गए। दलाई लामा नेफा-स्थित चोथांग-नो नामक स्थान से मार्च १९५९ में भारत पहुँच गए। दलाई लामा के चले आने पर चीनियों ने बड़े व्यवस्थित रूप से उनके विम्व (इभेज) को विकृत करना शुरू कर दिया। तिब्बत में अपने खोले स्कूलों में चीनियों ने दलाई लामा को महत्वहीन सिद्ध करने वाले और अपनी सत्ता को ऊँचा दिखाने वाले पाठ पढ़ाने शुरू कर दिये। उन्होंने दलाई लामा पर आरोप लगाया कि वह तिब्बतवासियों को संकट-काल में छोड़ कर भाग गए थे। उन्होंने जनता से पूछा कि यदि दलाई लामा ईश्वर के अवतार थे तो वह इस प्रकार भयभीत होकर क्यों भाग गए? साथ ही तिब्बतवासियों को यह भी स्मरण कराते रहे कि चीन एक महान् देश था जिसमें सबको प्रगति करने के लिए समान अवसर मिलते थे और तिब्बत का हित इसी में था कि वहाँ के वासी चीन के साथ एकरूप हो जाएँ। तिब्बतियों को यह विश्वास दिलाने का वे प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करते रहे कि उनका भविष्य चीन के साथ मिल जाने पर उज्ज्वल हो सकता था और उन्हें दलाई लामा को भूल जाना चाहिए था।

चीनियों ने समस्त ज्ञात दरों पर पहरा विठा दिया था। इसके बाद भी हज़ारों की संख्या में तिब्बती भारत पहुँच गए। इनको बड़े कठिन-कठिन दरों से गुज़र कर आना पड़ा था। ये लोग दिन में छिप जाते थे और रात में यात्रा करते थे। किन्तु रात में रास्ता पता लगाने में बड़ी कठिनाई होती थी और बेचारे

कई बार भटक भी जाते थे। मार्गदर्शक नसते तो इनके पास थे नहीं, इसलिए वे नदियों से दिशा-ज्ञान करते थे। मार्ग में इन्हें अनेक तूफानों और बर्फीली घाटियों का सामना करना पड़ा किन्तु वे किसी-न किसी प्रकार भारतीय सीमा में पहुँच गए। चीनियों ने हमें सन्देश भेजा कि लोंग-जू के पास जितने तिब्बती भारत में जमा थे, वे गम्भा थे और हमें उन्हें तुरन्त चीनियों के हवाले कर देना चाहिए था। हमने उन्हें उत्तर दिया कि ये लोग धरणागत थे और धरणागत को वापस करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता था।

इसके तुरन्त बाद चीनी नेपा-स्थित लोंग-जू नामक स्थान पर हमारी सौना में प्रकट हो गए। इस पर संतु में एव उसके बाहर नेहरू से तरह-तरह के प्रश्न पूछे जाने लगे। जब नेहरू ने मुझ से इस सम्बन्ध में कुछ जानना चाहा तो मैं भी कोरा निकला। किन्तु मैंने नेहरू को सुभाष दिया कि मैं स्वयं लोंग-जू जा कर वहाँ में सुविस्तृत रिपोर्ट ला सकता था। इस सुभाष को स्वीकार करते हुए नेहरू ने काफी हर्ष प्रकट किया। और साथ ही यह भी कहा कि तिब्बतियों के अनिश्चित भविष्य से उनका हृदय बड़ा व्यथित था, इसलिए मैं लोंग-जू के रास्ते में पड़ने वाले मिमामारी नामक स्थान पर स्थापित 'तिब्बती धरणाधी शिविर' भी देखता हूँ और इस पर विचार कर्त्त कि उनके पुनर्वास का क्या प्रबन्ध हो सकता था।

अगले दिन मैंने तैयारी से उनकी अनुमति माँगी और उन्होंने आवश्यक अनुमति दे दी। मैं तीन दृष्टिकोणों से यह यात्रा कर रहा था—प्रथम, नेपा का सामान्य अध्ययन करने; द्वितीय, लोंग-जू का विशेष अध्ययन करने तथा तृतीय, नागालैण्ड का प्रशासकीय दृष्टि से अध्ययन करने क्योंकि क्वार्टरमास्टर जनरल होने के नाते यह मेरा एक कर्त्तव्य था। कुछ लोगों ने यह भी पता लगा कि लोंग-जू तरफ पहुँचने के लिए काफी भयंकर मार्ग से गुजरना पड़ता था।

दिल्ली में चल कर मैं मिमामारी पहुँचा और वहाँ मैंने तिब्बती शिविर का निरीक्षण किया। उस शिविर में १४० औरतें तथा लगभग ३,००० आदमी थे। इनमें एक आदमी कमांग (तिब्बत सरकार का मन्त्री) का सदस्य था। पता चला कि पहले तो इन लोगों ने किसी भी प्रकार का काम करना स्वीकार नहीं किया क्योंकि इसे वे अपने लिए अपमानजनक मानते थे किन्तु धीरे-धीरे इन्होंने स्थिति से समझौता कर लिया। ये लोग स्वस्थ थे, हँसमुख थे, सम्मान करते थे तथा प्रतिवादन के लिए अपूर्ति जीभ निकाल कर दिखाते थे। स्थान की दूरी को दिन के माँचों में गिनते थे तथा दिशा-ज्ञान के लिए सूर्य की छाया को आधार मानते थे। लगभग १२,००० तिब्बती तिब्बत में अपना घरबार छोड़ कर भारत आ गए थे क्योंकि कुछ को तो चीनी प्रशासन में निष्ठा नहीं थी तथा कुछ पर चीनियों ने अमानवीय अत्याचार किए थे। न मालूम कितने

निम्नलिखित भाग्य पहुँच जाने यदि उन्हें नीतियों से लड़ने के लिए सत्त्व मिल जाते तो संघर्ष के अभाव में अपना सत्त्व साफ कर के भारतीय सीमा में प्रवेश कर सकते थे।

मिसालार्थ में निम्नलिखित विवर देना चाहते हैं—नागालैण्ड प्रदेश की जनसंख्या लगभग ४२०,००० है तथा इसका क्षेत्रफल ६,६०० वर्ग मील है। इसमें तीन जिले हैं—कोहिमा, मोकोक्चोंग और तुपनसांग। इस प्रदेश में अनेक कबीले रहते हैं—ग्राप्रोस, प्रंगमीन, लोवास, कोन्वक्स और सेमास। वे लोग स्वस्थ और साहसी हैं। नेता इनका मुख्य रोजगार है। इनका अतीत कानून है। इनके त्योहार ऋतुओं के हिसाब से पड़ते हैं। वे भूत-प्रेतों में विश्वास रखते हैं और अपने पूर्वजों की पूजा करते हैं। कोहिमा एवं मोकोक्चोंग की तीस प्रतिशत जनसंख्या 'वनी हुई ईसाई' है।

अतीत में नागा स्वच्छन्द रहे हैं और इन पर किसी का प्रशासकीय नियंत्रण नहीं रहा। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद जब हमने इन्हें भारत का नागरिक कहना प्रारम्भ किया तो इन्हें बहुत खला। इनके विकास के लिए जो परिश्रम नार्णै चालू की गई, इन्होंने उन्हें तोड़ने-फोड़ने की कोशिश की और सत्त्व विद्रोह करना प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने 'स्वतन्त्र नागालैण्ड' का नारा लगाया। नागा बहुत पहले से स्वतन्त्रता की माँग कर रहे थे। १९२६ में वे लोग सर जॉन साइमन से भी इस सम्बन्ध में मिले थे। उसके बाद गाँधी ने इन्होंने वातचीत की थी।

उनका नेता था फिजो जो द्वितीय विश्व युद्ध के समय आज़ाद हिन्द फौज में सूबेदार था और जिसने युद्ध की गुरिल्ला-पद्धति सीख ली थी। १९५५ में उसने भारत के विरुद्ध घृणा-अभियान चालू किया जिसके परिणामस्वरूप तुपनसांग जिले में गड़बड़ होनी शुरु हो गई। हमने काफी समझाया कि हम सब स्वतन्त्र हैं और वे भी स्वतन्त्र हैं किन्तु जब वे नहीं माने तो १९५६ में विद्रोह हो कर हमें उनके विरुद्ध सैनिक कदम उठाना पड़ा। हमें मालूम था कि वे हमारे शत्रु नहीं थे अपितु अपने ही मतिभ्रष्ट भाई थे किन्तु उनको वापस सन्मार्ग पर लाने के लिए हमें यह कदम उठाना पड़ा।

१९५७ में प्रथम नागा सम्मेलन हुआ जिसमें वहाँ के कबीलों के प्रतिनिधियों ने बहुमत से यह निर्णय किया कि वे भारत के साथ ही रहेंगे। दूसरा सम्मेलन २२ अक्टूबर १९५६ को हुआ जिसमें वहाँ के समस्त कबीलों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया और एक स्वर से यह घोषणा की कि वे भारत के अविभाज्य अंग हैं। जब मैं कोहिमा पहुँचा तो इस सम्मेलन को हुए कुछ ही दिन बीते थे। वहाँ के गैर-सैनिक एवं सैनिक अधिकारियों से मैंने वातचीत की और वहाँ की प्रतिरक्षा का भी निरीक्षण किया। वहाँ का प्रसिद्ध समाधि-स्तंभ देखा जिसमें वे वीर विश्राम कर रहे हैं जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध में जपानियों से देश की रक्षा करने समय अपने प्राणों की आहुति चढ़ाई थी।

माधियों पर गुने मसंस्थाओं लेग भी पड़े। मणिपुर प्रदेश की राजधानी न्यारन गया जहाँ जीवन का मुख्य उद्देश्य संगीत एव नृत्य ही प्रतीत होता है। लुइर पहाड़ियों एवं भिरीयो के इस नगर में नाचप्यमयी नवयुवतियों की रग-बेरने परिधानों में नृत्य करने देतना एक धनुषम दृश्य है। मैं मोहोकनोग नीर तुएनसांग भी गया। मोहोकनोग तो एक पहाड़ी पर स्थित है। बादलों में घिरे इस प्रदेश में हेलीकोप्टर का उतारना भी एक समस्या ही थी, बड़ी दुश्कर में एक नाणे में उतरे। यहाँ मैंने 'घाम पात्री' नामक स्थान भी देखा जोर किदिमा एवं चकवामा नामक गाँवों में भी गया जिनका भारत के प्रति व्यवहार निरतापूर्ण नहीं था।

नागालैण्ड की इस यात्रा के बाद मैंने धनुभव किया कि यह राजनीतिक समस्या मेना से नहीं मुक्त पाएगी। यह ठीक है कि नागालैण्ड के प्रति हमारी नीति सगहनीय है किन्तु उसके माह करने वालों को भी तो उतनी ही निष्ठा एव सहायकता से काम लेने की आवश्यकता है। यदि नागाधों के प्रति दण्डात्मक करम उठाएँ जंगे उन्हें भूगा मारें, उनके गाँवों का घेरा^{१६} डाल लें, उनकी फसल नष्ट कर दें तो इससे उनके मन में एवं उनकी प्रियाधों में हमारे प्रति विद्रोह ही पनपेगा। यदि हम इन घातमगमनी एव धीर लोगों के दमन करने का प्रयत्न करें तो रगंग हमारे सीमान्त पर समस्या ही बढ़ेगी, लाभ कुछ नहीं होगा। यदि हम चाहते हैं कि स्थिति धीर न बिगड़े तथा सुधर जाए तो हमें 'समझा-बुझा कर रास्ते पर लाने' की नीति अपनानी चाहिए। शक्ति-प्रयोग से निष्ठावान् नागरिक नहीं मिला करने।

नागालैण्ड में मैं नेपा (उत्तरी पूर्वी सीमान्त प्रदेश) पहुँचा। यह प्रदेश भूदान, तिब्बत धीर चर्मा से घिरा हुआ है। इसका क्षेत्रफल २५,००० वर्ग मील है तथा इसकी जनसंख्या ५००,००० है। कई बातों में यह प्रदेश नागालैण्ड के समान है। इसमें पाँच जिले हैं जिनके नाम वहाँ की नदियों—कामेंग, सुबनसिरि, सिवांग, लोहित धीर तिरप—के नाम पर हैं। गाँव का प्रबन्ध सरकारी कर्मचारी के हाथ में न हो कर गाम (ग्राम प्रमुख) के हाथ में होता है। इन गामों को सरकार द्वारा मान्यता मिली होती है तथा इसके प्रमाण में एक-एक प्रमाणपत्र एव एक-एक गाल कोट मिला हुआ होता है। गाँवों का प्रशासन केवांग (परिषद्) के हाथ में होता है। इनका जीवन बड़ा मस्त है। व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एव कबीले के प्रति निष्ठा में ये लोग घखण्ड विदवास रखते हैं। स्वभाष में ये लोग सररा, ईयालदार एवं विश्वासी है तथा इनका सररा व्यवहार मौखिक वचनों पर निर्भर होता है। (हमारे सम्य जगत में मौखिक

१६. गाँवों के एक समूह के चारों ओर ऐसा घेरा डालना कि बाह्य जगत् से वहाँ के वासी कोई सम्पर्क स्थापित न कर सकें।

अने जंगलों से गुजरने के बाद हम अंधेरा होने पर पहली मंजिल पर पहुँचे। घोंघर हट रहा था और गन्ना प्यास से जल रहा था। रात को रकने के बाद प्रमत्त दिन मुझ पर फिर आया मुक कर रही। यह रास्ता और भी चक्करदार एवं टेडा-मेडा था। एक सुगी नदी में चलना पड़ा जिसमें पड़े पत्थर काफी परेशान कर रहे थे। यहाँ का जंगल भी काफी घिनका था और उसमें से गुजरना भी एक समस्या थी। कहीं चढ़ाई आ जाती, कहीं उतराई आ जाती और कहीं चट्टानों पर चढ़ने के लिए उनसे लटकी सीढ़ियों का उपयोग करना पड़ता। कोई-कोई सीढ़ी तो इतनी अधिक इस्तेमाल हो चुकी थी कि लगता था कि जैसे वह चट्टान ने अपना सम्बन्ध विच्छेद कर के हमें लिये-दिये नीचे पहुँच जायगी। एक कुली जिसके पास हमारा वायरलेस सैट था, इन सीढ़ियों में से एक से फिसल गया और पचास फुट नीचे नदी के किनारे पड़ी रेत पर ल पड़ा। सौभाग्य से उसके कुछ छोटी-मोटी खरोंचें ही आईं। कई जगह रास्ता गायब हो जाता और हम वृक्षों की शाखाओं, भाड़ियों आदि के सहारे आगे बढ़ पाते।

नेफा में भूलेनुमा पुल काफी हैं। ये वाँस के बने होते हैं और भूले की तरह हिलते रहते हैं। जब पहले पुल पर हमने पदार्पण किया तो लगा कि कुछ कसम चलने के बाद पुल में और हमारे बीच में काफी फासला हो जाएगा। किन्तु भगवान् की कृपा कि सुरक्षित दूसरी ओर पहुँच गए। दो-चार पुल पार करने के बाद तो हमारा उनसे परिचय हो गया और हमें उन्हें पार करने की कला आ गई। लट्ठों के पुलों को पार करना भी इतना ही भयानक काम था। इस किनारे से उस किनारे तक पेड़ों के कुछ मोटे तने डाल दिये गए थे। इनकी संरचना तो ढीली थी ही, साथ ही ये असुरक्षित भी थे। इन पर से गुजरते हुए कँपकँपी छूट पड़ती थी तथा नीचे देख कर तो आत्मा भी काँप जाती थी। जरा पैर फिसला और जिन्दगी से नमस्ते। इन पर से गुजरते हुए मैं तो कई बार लड़खड़ाया किन्तु मेरे मार्गदर्शक ने किसी वार तो मेरा कन्धा पकड़ लिया, किसी वार मेरा पैर पकड़ लिया, किसी वार मेरा बाजू पकड़ लिया और मुझे अकाल मृत्यु से बचाया। बीच में कुछ ऊबड़-खावड़ मैदान भी पड़ा जहाँ तिब्बत से आने वाली नदी जारिचू को सुवनसिरि में मिलने के लिए जाते देखा।

हम सुबह पाँच बजे उठते थे और चाय पी कर छः बजे चल पड़ते थे। गभग ढाई घण्टे यात्रा कर के अपना नाश्ता करते थे। उसी समय भोजन भी पार कर लिया जाता था जिसे हम अपनी खुर्जियों (सैनिकों के भोजे) में लेते थे। तीन घण्टे की निरन्तर यात्रा के बाद एक घण्टे के लिए रुकते थे भोजन कर लेते थे। इसके बाद फिर वही थकानपूर्ण यात्रा। लगभग बजे (यहाँ सूर्य इसी समय अस्त हो जाता है) रुक जाते और अपने का प्रवन्व करते। कुली वृक्षों को एवं भाड़ियों को काट कर जगह

बनाते और उस पर तिरपाल डाल कर उस स्थान को अस्थायी शिविर का रूप दे देते जिसमें हम रात्रि को विश्राम कर सकें। मूखी घास के विस्तरे पर हम सात बजे के लगभग अपना भोजन करते और अगले दिन का कार्यक्रम निर्धारित करते। इसके बाद मिट्टी के तेल के लैम्पों को जुभा कर निद्रा देवी का भाह्वान करते। निकट ही बहती हुई पहाड़ी नदी की तेज आवाज मुझे तो रात भर सोने नहीं देती थी। मैं अपने कानों में रुई आदि घुसा कर कुछ भ्रमकियाँ लेने की कोशिश करता। जैसे-जैसे हम बर्फीले प्रदेश के निकट पहुँचते गए, रातें ठण्डी होती गईं।

यह सारा रास्ता जोको, ततैयो, मधुमबिखियो और साँपो से भरा हुआ था। जोकें चिपट जाती और इसके पहले कि हम नमक डाल कर या माचिस की तीली दिखा कर उन्हें छुड़ाते, वे हमारा काफी खून चूस जाती। नमक या माचिस की तीली उनके लिए विष के समान हैं। वृक्षो एव भाडियो से लटके हुए साँपो से तो कई बार वान-बाल बचे। जगस साँय-साँय करता रहता और जगली पक्षी अपना विचित्र कोलाहल मचाते रहते। एक बार एक भाखू देवता सामने से आ गए जिन्हें हमारे थागिन कुलियो ने जान से मार दिया। काफी घने जंगलो से गुजरते समय एक विचित्र भावना मन में उठती थी।

प्रतिदिन सायंकाल हम अपने शिविर के स्थान की सूचना वायरलैस द्वारा अपने उच्च सैनिक मुख्यालय को दिया करते थे। एक दिन मैंने ब्रिगेडियर गुराया से कहा कि यदि अड़तालीस घण्टे भी हम अपनी कोई सूचना न दें तो मुख्यालय में बैठे उच्च अधिकारियों को कुछ पता नहीं लगेगा, हमारी खोज-खबर की तो बात ही दूर रही। ब्रिगेडियर को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उनका विचार था कि उच्च अधिकारियों को हमारी चिन्ता जरूर होगी और वे हमें वायरलैस मिलाएँगे या अन्य साधनों से हमारी खोज-खबर लेंगे। इस पर मैंने ब्रिगेडियर से एक रुपये की शर्त लगाई और अपना वायरलैस ४८ घण्टों तक बन्द रखा। मैं शर्त जीत गया।

भूलेनुमा पुलों या लहुँ के पुलों को पार करना, सीपी चढ़ाई या उतराई को पार करना और कई बार अपने चारों हाथ-पैरों पर चलना एक कठिन यात्रा थी। कई बार नीचे उतरते थे और फिर ऊपर चढ़ते थे। यह सब साँप-सोड़ी के खेल की तरह भायाबी था। इस सब में मेरा सिर दर्द करने लगता, हाथ-पैर द्रुटने लगते तथा द्वास-नलिका अपना काम बन्द-सा कर देती। मैं प्रतिज्ञा करता कि भविष्य में इस प्रकार की यात्रा के लिए कभी हाँ नहीं करूँगा। (अतीत में भी मैं इसी प्रकार संकड़ों वार प्रतिज्ञा कर चुका था किन्तु जैसे ही कोई कष्टसाध्य यात्रा या लक्ष्य सामने आता, मैं हाँस कर उसे गले लगाता।) धरे उन सहकर्मियों में से, जो स्वयं को काफी 'भच्छा' सैनिक मानते थे, एक ने भी कभी इस प्रकार का साहसपूर्ण अभियान स्वीकार नहीं किया था, अनि-

नेतृत्व में आसाम राइफल्स की एक टुकड़ी भेजी। दापारिजो के राजनीतिक वकील ने मुझे बताया कि जाने में पहले अधिकारी को एक लान कोट मंगाया था ताकि वह लोंग-जू में किसी जिम्मेदार घादमी को वह कोट कर उसे वहाँ 'गाय बड़ा' नियुक्त कर दे। जोरहाट में मुझे जमादार निम्बू तो लोंग-जू की लड़ाई में पहले मौजूद था) ने बताया कि लोंग-जू पहुँचने पर टैन अधिकारी ने वहाँ के एक ग्रामीण को गाय बड़ा नियुक्त कर के उसे वह लान कोट पहना दिया था। जब चीनियों को यह सूचना मिली और उन एक गदती टुकड़ी ने मिम्पीपुं (लोंग-जू के निकट ही एक स्थान) से देखा : हमारे कुछ जवान लोंग-जू में थे तो उन्हें भ्रकारण संदेह हो गया। उन्होंने जानक लोंग-जू पर घातमण कर के उंगे घपने कब्जे में कर लिया। यह गस्त १९५६ की बात है।

अधिकारी को अपेक्षाशटीस हो जाने के कारण उनके स्थान पर कैप्टेन मित्रा को भेजा गया। मित्रा को आदेश दिया गया कि वह लोंग-जू की चौकी में पुनर्हस्तगत कर लें। अपेक्षित युद्ध-सामग्री के अभाव में यह असम्भव था, सनिए इस वीर घांक्रिसर ने माजा (लोंग-जू में ६ मील दूर) पर चौकी स्थापित की।

मैं 'झीरो' से दापारिजो और वहाँ से लिमकिंग पहुँचा। सुना था कि यह जगह बड़ी कठिन थी किन्तु वास्तव में ऐसा कुछ नहीं था। लिमकिंग सुचन-घेरि नदी के किनारे दो पर्वत-श्रेणियों के मध्य में स्थित है। बिल्कुल सुनसान और एकान्त में बना है लिमकिंग।

यहाँ तक की यात्रा तो हेलीकोप्टर में ही हुई थी किन्तु इसके आगे किसी भी परिवहन का जाना सम्भव नहीं था, इसलिए हमने पैरों का सहारा लिया। हमारे कुली धागिन थे, कुलियों का नेता टायो भी धागिन था। मिची-मिची आँखों वाले ये धागिन सरल, ईमानदार और हँसमुख होते हैं। ये लोग तिरीस्व-स्वादी एवं अन्धविश्वासी होते हैं, जादूगरो की पूजा करते हैं, साँपो को कभी नहीं मारते तथा साँप के काटे का इलाज भी नहीं करते। टायो सुन्दर, स्वस्थ, फुर्तीला एवं दृढ़निश्चयी था। वह हिन्दुस्तानी साफ बोलता था तथा नेपा का भूगोल (मानचित्रीय विवरण) उमकी अँगलियों पर याद था। कठिन-से-कठिन स्थान पर भी वह तेज कदमों से चलता था। उसको यह बात समझ नहीं आती थी कि मैदानों से आने वाले हम लोग वहाँ चलने में इतनी कठिनाई का अनुभव क्यों करते हैं, जबकि उसके लिए वह वृच्चों का खेल था।

थोड़ी देर लिमकिंग में रुकने के बाद त्रिगेडियर गुरामा तथा कैप्टेन मित्रा के साथ मैं इस मायावी पथ पर आगे बढ़ा। लोंग-जू के निकटवर्ती इस प्रदेश में अभी तक कोई मोनिटर घांक्रिसर नहीं आया था। एक छोटा-सा रास्ता पार करके हम नदी के 'भूला पुल' पर पहुँचे। तीन घण्टे की थकानपूर्ण यात्रा और

पत्तन का महत्व ही कुछ नहीं है।) अपनी जमीन एवं ग्रौरतों से किसी प्रकार की श्रेष्ठता नहीं महत्त्व करते, इस पर जान की बाजी लगा देते हैं।

उनका मुख्य भोजन है—चावल, मिर्च एवं थोड़ा-सा नमक। कभी-कभी अन्नपत्ती मच्छलियाँ, गाने योग्य जड़ें या बांस के अंकुर का भी भोजन करते हैं। भांग और सूत का बहुत अभाव है। ग्रण्डे एवं चुजे तो मिलते ही नहीं, केवल वार्षिक उत्सवों पर दिखाई देते हैं। चावल या किसी मोटे अनाज को शराब पीने हैं। सामूहिक नृत्यों में पुष्प एवं स्त्री, दोनों भाग लेते हैं। किसी एक प्रमुख व्यक्ति के चारों ओर चक्राकार रूप में नृत्य किया जाता है। अनेक कबीले के आधिपत्य में जितने वन एवं जितनी नदियाँ होती हैं, उसकी सुरक्षा के प्रति जागरूक रहते हैं। दोनी पालों (सूर्य-चन्द्र का ईश्वर) की पूजा करते हैं।

बालोंग में हमारा हेलीकोप्टर बड़ी कठिनाई से नीचे उतरा। (मुझे क्या मालूम था कि दो वर्ष बाद बड़ी प्रतिकूल परिस्थितियों में मुझे यहाँ आना पड़ेगा।) वहाँ पहुँचने पर मुझे वहाँ की परम्परानुसार एक हमाल भेंट किया गया। वहाँ से मैं डिगवोर्ड, ट्रूटिंग एवं माचुका गया। अलोंग के हंसमुख राजनीतिक अधिकारी ने अपने डिप्टी डी सिल्वा की सहायता से हमारा आँद भरा। उसके आदमियों ने जब उसे भी अपने साथ काम करते देखा तो उन्होंने बड़ी फुर्ती से सारा काम निपटा दिया। इस प्रदेश में सूर्य जल्दी अस्त हो जाता है और इस समय वैसे भी दोपहरी ढल रही थी, इसलिए हमारे वायुयान-चालक फ्लाइट लेफ्टिनेंट जगजीत सिंह ने सुझाव रखा कि 'जीरो' स्थान के लिए हम अगले दिन सुबह प्रस्थान करें। किन्तु मैं अपने कार्यक्रम में किसी प्रकार की ढील नहीं चाहता हूँ, इसलिए मैंने तुरन्त चलने का आदेश दिया। अब हमारा मुँह सूर्य की ओर था, इसलिए पाइलट की आँखें चूँधिया रही थीं। हमारे पास जो वहाँ के नक्शे थे, वे शुद्ध नहीं थे, अतः हमें लगा जैसे कि हम रास्ता भूल गए हैं। हमने आँखों से काम लेना चाहा तो सूर्य देवता अस्त हो गए। इतना स्पष्ट था कि यदि हम गुप अँधेरे से पहले जीरो नहीं पहुँचे तो हमारा यान कहीं टकरा जाएगा। इंजिन में इतना ईंधन भी नहीं था कि हम वापस अलोंग पहुँच सकें। इसलिए जैसे ही जंगल में एक साफ-सी जगह नजर पड़ी तो हमने अपना हेलीकोप्टर वहाँ उतार दिया। विधि की लीला देखिए कि यह स्थान 'जीरो' ही था। पाइलट ने काफी दक्षता एवं साहस से अपना कर्त्तव्य पूरा किया था।

इसके पहले कि मैं लोंग-जू के निकट माजा की अपनी यात्रा का विवरण दूँ, यह और बता दूँ कि उसी वर्ष शुरु में हमने लोंग-जू में अपनी चौकी किस प्रकार स्थापित की थी और हमें किस प्रकार माजा तक लौटना पड़ा था। लोंग-जू हमारी सीमा में था किन्तु चीनी इस पर अपनी अधिकार मानते थे। लोंग-जू पर अपनी चौकी स्थापित करने के लिए हमने कैप्टन अधिकारी

नेतृत्व में आसाम राइफल्स की एक टुकड़ी भेजी। दापारिजो के राजनीतिक अधिकारी ने मुझे बतलाया कि जाने से पहले अधिकारी को एक लान कोट या गया था ताकि वह लोंग-जू में किसी जिम्मेदार आदमी को वह कोट कर उसे वहाँ 'गाँव बड़ा' नियुक्त कर दे। जोरहाट में मुझे जमादार लिम्बू जो लोंग-जू की लड़ाई में पहले मौजूद था) ने बताया कि लोंग-जू पहुँचने पर कैप्टेन अधिकारी ने वहाँ के एक ग्रामीण को गाँव बड़ा नियुक्त कर के उसे वह लान कोट पहना दिया था। जब चीनियों को यह सचना मिली और उन ती एक गस्ती टुकड़ी ने मिग्यीथु (लोंग-जू के निकट ही एक स्थान) से देखा कि हमारे कुछ जवान लोंग-जू में थे तो उन्हें अकारण सन्देह हो गया। उन्होंने स्वतन्त्र लोंग-जू पर आक्रमण कर के उसे अपने कब्जे में कर लिया। यह अगस्त १९५६ की बात है।

अधिकारी को अप्रैप्रीसाट्टीस हो जाने के कारण उनके स्थान पर कैप्टेन मित्रा को भेजा गया। मित्रा को आदेश दिया गया कि वह लोंग-जू की चौकी को पुनर्हस्तगत कर लें। अपेक्षित युद्ध-सामग्री के अभाव में यह असम्भव था, इसलिए इस वीर आर्किस्टर ने माजा (लोंग-जू से ६ मील दक्षर) पर चौकी स्थापित की।

मैं 'चीरो' से दापारिजों और वहाँ से लिमकिंग पहुँचा। सुना था कि यह यात्रा बड़ी कठिन थी किन्तु वास्तव में ऐसा कुछ नहीं था। लिमकिंग सुचन-सिरि नदी के किनारे दो पर्वत-श्रेणियों के मध्य में स्थित है। बिल्कुल मुनसान और एकान्त में बसा है लिमकिंग।

यहाँ तक की यात्रा तो हेसीकोप्टर में हो गई थी किन्तु इसके आगे किसी भी परिवहन का जाना सम्भव नहीं था, इसलिए हमने पैरों का सहारा लिया। हमारे बुनी पागिन थे, कुनियों का नेता टायो भी पागिन था। मिची-मिची आँगो वाले थे पागिन सरन, ईमानदार और हँसमुख होते हैं। ये लोग निरीदर-रवादी एवं मन्थविश्वासी होते हैं, जादूगरों की पूजा करते हैं, साँपों को कभी नहीं मारते तथा साँप के काटे का इलाज भी नहीं करते। टायो सुन्दर, स्वस्थ, फुर्तीला एवं दृढ़निश्चयी था। वह हिन्दुस्तानी साफ बोलता था तथा नेपा का भूगोल (भानचित्रीय विवरण) उसकी जँगलियों पर याद था। कठिन-से-कठिन स्थल पर भी वह तेज ऊँधरों से चलता था। उसको यह बात समझ नहीं आती थी कि मैदानों से जाने वाले हम लोग वहाँ चलने में इतनी कठिनाई का अनुभव क्यों करते हैं, जबकि उसके लिए वह बच्चों का खेल था।

करके हम नदी के 'भूना पुन' पर पहुँचे। तीन घण्टे की यत्रानपूर्व यात्रा और

वने अंगनों में गुजरने के बाद हम अंधेरा होने पर पहली मंजिल पर पहुँचे। अंधेरा इतना था और गन्ना प्यास से जल रहा था। रात को रकने के बाद अगले दिन गुजर फिर याना शुरू कर दी। यह रास्ता और भी चक्करदार एवं टेढ़ा-मेढ़ा था। एक सुपी नदी में चलना पड़ा जिसमें पड़े पत्थर काफी परेशान कर रहे थे। यहाँ का अंगन भी काफी धिनका था और उसमें से गुजरना भी एक समस्या थी। कहीं चढ़ाई या जाती, कहीं उतराई आ जाती और वहीं चट्टानों पर चढ़ने के लिए उनसे लटकी सीढ़ियों का उपयोग करना पड़ता। कोई-कौई सीढ़ी तो इतनी अधिक इस्तमाल हो चुकी थी कि लगता था कि जैसे वह चट्टान में अपना सम्बन्ध विच्छेद कर के हमें लिये-दिये नीचे पहुँच जायगी। एक कुली जिसके पास हमारा वायरलेस सैट था, इन सीढ़ियों में से एक से फिसल गया और पचास फुट नीचे नदी के किनारे पड़ी रेत पर आ पड़ा। सींभाय से उसके कुछ छोटी-मोटी खराँचें ही आईं। कई जगह रास्ता गायब हो जाता और हम वृक्षों की शाखाओं, झाड़ियों आदि के सहारे आगे बढ़ पाते।

नेफा में भूलेनुमा पुल काफी हैं। ये वाँस के बने होते हैं और भूले की तरह हिलते रहते हैं। जब पहले पुल पर हमने पदार्पण किया तो लगा कि कुछ कर्म चलने के बाद पुल में और हमारे बीच में काफी फासला हो जाएगा। किन्तु भगवान् की कृपा कि सुरक्षित दूसरी ओर पहुँच गए। दो-चार पुल पार करने के बाद तो हमारा उनसे परिचय हो गया और हमें उन्हें पार करने की कला आ गई। लट्ठों के पुलों को पार करना भी इतना ही भयानक काम था। इन किनारे से उस किनारे तक पेड़ों के कुछ मोटे तने डाल दिये गए थे। इतनी संरचना तो ढीली थी ही, साथ ही ये असुरक्षित भी थे। इन पर से गुजरते हुए कोंकंपी छूट पड़ती थी तथा नीचे देख कर तो आत्मा भी काँप जाती थी। जरा पैर फिसला और जिन्दगी से नमस्ते। इन पर से गुजरते हुए मैं तो कई बार लड़खड़ाया किन्तु मेरे मार्गदर्शक ने किसी बार तो मेरा कंधा पकड़ लिया, किसी बार मेरा पैर पकड़ लिया, किसी बार मेरा बाजू पकड़ लिया और मुझे अकाल मृत्यु से बचाया। बीच में कुछ ऊबड़-खाबड़ मैदान भी पड़ा जहाँ तिव्वी से आने वाली नदी जारिचू को सुबनसिरि में मिलने के लिए जाते देखा।

हम सुबह पाँच बजे उठते थे और चाय पी कर छः बजे चल पड़ते थे। लगभग ढाई घण्टे यात्रा कर के अपना नाश्ता करते थे। उसी समय भोजन भी तैयार कर लिया जाता था जिसे हम अपनी खुजियों (सैनिकों के भोले) में भर लेते थे। तीन घण्टे की निरन्तर यात्रा के बाद एक घण्टे के लिए रुकते थे और अपना भोजन कर लेते थे। इसके बाद फिर वही थकानपूर्ण यात्रा। लगभग छः चार बजे (यहाँ सूर्य इसी समय अस्त हो जाता है) रुक जाते और अगले बिर का प्रवन्ध करते। कुली वाँसों को एवं झाड़ियों को काट कर जगह

बनाने और उस पर तिरपाल डाल कर उस स्थान को अस्थायी शिविर का रूप दे देते जिसमें हम रात्रि को विश्राम कर सकें। सूखी घास के बिस्तरे पर हम सात बजे के लगभग अपना भोजन करते और अगले दिन का कार्यक्रम निर्धारित करते। इसके बाद मिट्टी के तेल के लैंपों को बुझा कर निद्रा देवी का आह्वान करते। निकट ही बहती हुई पहाड़ी नदी की तेज आवाज मुझे तो रात भर सोने नहीं देती थी। मैं अपने कानों में रुई आदि घुसा कर कुछ भयकरियाँ लेने की कोशिश करता। जैसे-जैसे हम बर्फीले प्रदेश के निकट पहुँचते गए, रातें ठण्डी होती गईं।

यह सारा रास्ता जोको, तर्तमो, मधुमक्खियों और साँपों से भरा हुआ था। जोंकें चिपट जातीं और इसके पहले कि हम नमक डाल कर या माचिस की तीली दिखा कर उन्हें छुड़ाते, वे हमारा काफी खून चूस जाती। नमक या माचिस की तीली उनके लिए विष के समान है। वृक्षों एवं भ्राडियो से लटके हुए साँपों से तो कई बार बाल-बाल बचे। जंगल साँप-साँप करता रहता और जगली पक्षी अपना विचित्र कोलाहल मचाते रहते। एक बार एक भालू देवता सामने से आ गए जिन्हें हमारे भागिन कुलियों ने जान से मार दिया। काफी घने जंगल से गुजरते समय एक विचित्र भावना मन में उठती थी।

प्रतिदिन सायंकाल हम अपने शिविर के स्थान की सूचना वायरलैस द्वारा अपने उच्च सैनिक मुख्यालय को दिया करते थे। एक दिन मैंने त्रिगेडियर गुराय्या से कहा कि यदि अड़तालीस घण्टे भी हम अपनी कोई सूचना न दें तो मुख्यालय में बैठे उच्च अधिकारियों को कुछ पता नहीं लगेगा, हमारी खोज-खबर की तो बात ही दूर रही। त्रिगेडियर को मेरी बात पर विश्वास नहीं हुआ क्योंकि उनका विचार था कि उच्च अधिकारियों को हमारी चिन्ता जरूर होगी और वे हमें वायरलैस मिलाएँगे या अन्य साधनों से हमारी खोज-खबर लेंगे। इस पर मैंने त्रिगेडियर से एक रुपये की शर्त लगाई और अपना वायरलैस ४८ घण्टों तक बन्द रखा। मैं शर्त जीत गया।

भूलेनुमा पुलों या लट्टों के पुलों को पार करना, सीधी चढ़ाई या उतारों को पार करना और कई बार अपने चारों हाथ-पैरों पर चलना एक कठिन यात्रा थी। कई बार नीचे उतरते थे और फिर ऊपर चढ़ते थे। यह सब साँप-सोड़ी के खेल की तरह भायावी था। इस सब में मेरा खिर दर्द करने लगता, हाथ-पैर टूटने लगते तथा द्वास-नलिका अपना काम बन्द-सा कर देती। मैं प्रतिज्ञा करता कि भविष्य में इस प्रकार की यात्रा के लिए कभी ही नहीं रुकूँगा। (घतौत में भी मैं इसी प्रकार संकड़ों बार प्रतिज्ञा कर चुका था किन्तु जैसे ही कोई कष्टसाध्य यात्रा या लक्ष्य सामने आता, मैं हौंस कर उसे मले लगता।) मेरे उन सहकर्मियों में से, जो स्वयं को काफी 'भ्रष्टा' सैनिक मानते थे, एक ने भी कभी इस प्रकार का साहसपूर्ण अभियान स्वीकार नहीं किया था, धमि-

यान पर जाने की बात तो दूर रही ।

उन यात्राओं के मध्य जीवन उत्तेजनाहीन होता था—न समानाचार्य, न पत्र, न फोन, न ब्रेटक और न कोई जटिल समस्या । इन सब चीजों का यहाँ कोई महत्त्व नहीं था जबकि जीवन में महत्त्वहीन लगने वाली चीजें—रस्सी, छड़ी, पानी—यहाँ सब कुछ थीं । भोजन किसी भी प्रकार का हो, बड़ा स्वादिष्ट लगता था । रात्रि की निस्तब्धता में अनेक संस्मरण मेरे मानस में तैरा करते थे ।

हमारे साथ डॉक्टर तो कोई था नहीं, इसलिए जो थोड़ी-बहुत दवाइयों हमारे पास थीं, वे ही रामबाण मालूम होती थीं ।

संकटशील परिस्थितियों में हमारा अहं हमें आगे बढ़ाता था । प्रति क्षण हमें ध्यान रहता था कि हमारे आदमियों की आंखें हमारे ऊपर लगी हैं और हमें उनके सामने एक आदर्श प्रस्तुत करना है, इसलिए हम ऊँचा मस्तक किए सधे कदमों से आगे बढ़ते रहते थे चाहे हमारा दिल भीतर-भीतर घबड़ाता रहता था ।

चौथे दिन दोपहर को एक वजे हम माजा पहुँचे । यह स्थान एक कटोरे के आकार का है और इसके चारों ओर ऊँचे-ऊँचे पहाड़ खड़े हैं । इस स्थान पर हमारी सैनिक टुकड़ी और उसका कमाण्डिंग ऑफिसर नदी के किनारे अपना डेरा डाले हुए थे । कमाण्डिंग ऑफिसर का न तो स्वास्थ्य ही ज्यादा अच्छा था और न ही उन्हें अपने चारों ओर घट रही घटनाओं का पूरा ज्ञान था । मैंने देखा कि अब तक जो रिपोर्टें वह भेजते रहे थे, वे सब अशुद्ध एवं भ्रामक थीं । उनकी रिपोर्टों की अशुद्धता की पोल इसलिए नहीं खुली थी क्योंकि सेना के किसी भी उच्च अधिकारी ने यहाँ आ कर उनकी शुद्धता को जाँचने का कष्ट नहीं उठाया था । उन सज्जन की अन्य आदतें भी कुछ विशेष अच्छी नहीं थीं ।

माजा में रसद और डाक केवल वायुयान से गिराई जाती थी और वह भी तब जब मौसम खुला हुआ हो (जो बहुत कम होता है) । यहाँ पर रहना सैनिकों के लिए काफी कष्टसाध्य था । मेरे कई बार पूछने पर उन्होंने कहा कि उनमें से कुछ को तो लम्बे समय से कोई छुट्टी नहीं मिली थी और एक-दो को उनका वकाया वेतन भी नहीं मिला था । मेरी जेब में जो रुपया उसमें से मैंने तुरन्त उनका वेतन चुकाया और दो आदमियों की छुट्टी कर दी । (उन्हें अपने साथ अगले दिन ले भी आया ।) इन दो कामों से उनको का मनोबल एकदम ऊँचा हो गया ।

मैं कुछ देर आराम करने के बाद मैं एक निकटवर्ती ऊँचे स्थान पर गे । मैंने वहाँ से अपने चारों ओर की वस्तुस्थिति का अध्ययन किया । लोंग-जू नहीं दिखालाई देना क्योंकि दोनों के बीच में एक ऊँचा टीला

है। मुझे मालूम हुआ कि चीनियों ने इसके काफी निकट तक मोटर के घाने-जाने योग्य सड़क बना ली थी। भिगीधूँ जिसे धागिन होलू कहते हैं, लोग-जू के काभी पास है और उसके घाने की पाँच चौकियाँ है—चिक्चर, तोम्चे, सूला, लाडो एव नाम्जोंन।

इस टुकड़े के कमाण्डिंग ऑफिसर की तो मैंने तुरन्त यहाँ से बदली करा दी क्योंकि मेरे विचार में यहाँ की जिम्मेदारियाँ उनकी क्षमता से ज्यादा थीं।

अपनी माजा-यात्रा की स्मृति-रक्षा के लिए मैंने यहाँ एक वृक्ष की शाखा पर कुछ लिख कर ११ नवम्बर १९४६ की तारीख डाल दी। इसके बाद मैं लिमकिंग होता हुआ मिसामारी लौट आया। समयाभाव के कारण मैं रात में बोमडीला पहुँचा तथा दोप पर्वतीय मार्ग भयंकर वर्षा में पैदल पार किया क्योंकि एक शिवालय ने सड़क बन्द कर दी थी। उसके बाद मैं घासाम की 'जबानी शिलांग'^{१६} होता हुआ वायुयान से दिल्ली पहुँचा तथा जो कुछ मैं देना था, उसकी रिपोर्ट तिमैया और नेहरू को दे दी। इस यात्रा में मुझे लगभग तीन सप्ताह लग गए।

जनवरी १९६० में फील्ड मार्शल मोण्टगुमरी दिल्ली आए। दिल्ली संघ-इन के ऑफिसरों से बातचीत करते हुए उन्होंने कहा, 'मैं शीघ्र ही चीन जाने का विचार कर रहा हूँ और इस सम्बन्ध में मैंने माघो को तिस भी दिया है। मैंने उन्हें लिख दिया है कि मुझे शुक्रवार तक जवाब मिल जाना चाहिए।' (जैसे कि माघो उनके अधीनस्थ कमाण्डर हों!) उन्होंने यह भी कहा कि राजनीतिक जीवन में घोट का महत्त्व है एक सैनिक जीवन में सफलता का और यदि उनका भाग्य-निर्णय कहीं वोटों में किया गया होता तो वह कभी के बाहर निकाल दिये गए होते।

मार्च १९६० में दिल्ली में 'वार्षिक घोड़ा प्रदर्शनी' हुई तो भारतीय सेना ने पाकिस्तान के कमाण्डर-इन-चीफ जनरल मोहम्मद भूसा को भी आमन्त्रित किया। जैसा कि मैं पहले बता चुका हूँ कि १९४६-४७ में मैं जब लेफ्टी कर्नल था तो वह मेरे स्टॉफ पर मेजर थे किन्तु अब स्थिति बदल गई थी, अब वह जनरल के पद पर थे और मैं उनसे एक कदम पीछे था। जिस दिन वह दिल्ली आए, उन्होंने मुझे भोजन पर आमन्त्रित किया। भोजन के बाद हम दोनों उनके कमरे में बैठे बहुत सारी बातें करने लगे। हम दोनों में आज भी वही मित्र-भाव था जो पहले था और हम दोनों ही इस मुलाकात से बहुत खुश थे। भाग्य की विटम्बना देखिए कि हम दोनों के ध्यवितगत सम्बन्ध दसने अपनत्वपूर्ण और जिन सेनाओं में हम दोनों थे, वे एक-दूसरे की शत्रु।

१९. इसके पहले मैं चेरापुंजी भी हो आया था जो सगर का सब से उष्ण स्थान माना जाता है और जहाँ वर्ष में ४२६ इंच औसत वर्षा होती है।

हम दोनों उस बात पर सहमत थे कि जब भारत और वर्तमान पीढ़ियाँ (जि
काफी लोग एक-दूसरे को जानते हैं तथा एक-दूसरे के साथ रहे चुके हैं)
परस्पर मित्र-भाव स्थापित नहीं कर पाईं तो आगामी पीढ़ियों (जिनका
में कोई परिचय नहीं होगा) के लिए तो ऐसा करना एकदम असम्भव होगा
और कश्मीर-समस्या जैसी अनेक उलझनों दोनों के बीच की खाई को दूर
ही जाएंगी। दुर्भाग्यवश, भारत और पाक की समस्याएँ राजनीतिक थीं और
सैनिकों की शक्ति से बाहर। इसके बाद हम दोनों पुराने दिनों की अनेक
सुखद स्मृतियों का ध्यान कर के प्रसन्न होते रहे।

जब मैंने नेहरू को मूसा के दिल्ली में होने का समाचार सुनाया तो उन्होंने
बड़े प्रेम से मूसा से बातचीत की तथा उन्हें एवं उनके दोनों पुत्रों को अनेक
दिन सुबह नाश्ते पर आमन्त्रित^{२०} किया।

मेरा दफ्तर नेहरू के दफ्तर से दूर नहीं था। एक दिन, जब मैं अपनी कार
खड़ी कर रहा था तो मैंने एक नवयुवक को नेहरू की कार के पास खड़े देखा। न
उसके तन पर ठीक कपड़े थे और न पैरों में जूते। मैंने उत्सुकतावश उससे पूछा
कि वह क्या चाहता था। उसने बताया था कि वह बंगाल के एक गाँव का
निवासी था। उसकी माँ पागल थी तथा वहन अपंग। उसके पिता की मृत्यु बहुत
पहले हो चुकी थी। वह बहुत गरीब था तथा उसकी सहायता करने वाला कोई
नहीं था। किसी ने उसे सलाह दी कि यदि वह नेहरू से मिले तो उसकी सभी
समस्याएँ हल हो जाएँगी। बंगाल से दिल्ली तक की यात्रा उसने बिना टिकट
की थी तथा उसे पेट भर कर खाना भी नसीब नहीं हुआ था। मैंने देखा कि
उसके पैर भी ठण्ड के कारण फट गए थे और उनसे खून चू रहा था। उन्हें
बड़ी दुखी आवाज़ में कहा कि इतनी लम्बी यात्रा करने के बाद जब वह यहाँ
पहुँचा तो उसे नेहरू से मिलने ही नहीं दिया गया। सैकड़ों लोग उसके पास
से गुज़र गए थे किन्तु किसी ने उसका दुःख-दर्द नहीं पूछा। मुझे उस आदमी
की सादगी पर बहुत दया आई कि वह अपनी व्यक्तिगत समस्याओं के लिए
जो उसकी दृष्टि में कितनी बड़ी क्यों न हों किन्तु भारत की राजधानी की
अपने कार्यालय में ले गया, उसके पैरों पर पट्टी बाँधवाई तथा उसे भरपूर
भोजन कराया। तब मैंने उसे समझाया कि नेहरू तो बहुत व्यस्त थे और उन
हज़ारों आदमियों से मिलने में असमर्थ थे जो उन्हें रोज़ मिलने आते थे। इ

२०. राष्ट्रपति अयूब खान के पुत्र भी मूसा के साथ थे और नेहरू ने उन्हें
भी आमन्त्रित किया था।

भाग्यहीन प्राणी को कही दुःख न हो, इसलिए मैंने कहा कि उसकी धीर से मैं नेहरू से मिल लूंगा। इसके बाद मैंने उनको दो सौ रुपये दिये और कहा कि वह नेहरू ने उसके लिए दिये थे ताकि वह अपनी माँ और बहन का इलाज करा सके। (इस बीच उसकी दृष्टि में मैं नेहरू से मिल आया था।) इससे उन्हें प्रसार हृषं हुआ क्योंकि उसका नेहरू से मिलने दिल्ली आना सफल हो गया था। मैं नहीं चाहता था कि वह इस छोटी-सी रकम से सन्तुष्ट हो कर बगान लौट जाए क्योंकि यह रकम तो कुछ ही दिन में समाप्त हो जाती, इसलिए मैंने उसे सस्ते जूते बनाने के एक प्रशिक्षण-केन्द्र में भर्ती करा दिया ताकि वह अपने गाँव जा कर इस कला के बल पर अपना गुजारा कर सके।

दोपहर का भोजन कर के मैं अपने दफ्तर लौट रहा था कि एक पदयात्री मेरी कार के सामने लुढ़क गया और बेहोश हो गया। होश में आने पर मैंने उसका परिचय पूछा। उसने बताया कि वह पंजाब में धारा एक पुरोपार्थी था तथा पहाड़गंज में फल बेचा करता था। उसे तपेदिक हो गई और इलाज कराने के लिए उसे अपनी दुकान बेचनी पड़ी। अब उसकी स्थिति इतनी बिगड़ गई थी कि उसके पास पर भी नहीं था और वह अपनी पुरानी दूकान के पास नाली के ऊपर पड़ा रहता था। इस बीच उसे कई-कई दिन भूखे रहना पड़ा था, इसलिए वह बहुत निर्बल हो गया था। इसी निर्बलता के कारण वह चलते-चलते मेरी कार के सामने गिर पड़ा था और बेहोश हो गया था। उसने मुझे डेर सारे पत्रों का एक बण्डल दिखाया जो उसने अधिकारियों को लिखे थे किन्तु किसी का कोई उत्तर नहीं आया था। मैं उसको अपने घर ले गया, उसे एक कम्बल तथा कुछ गर्म कपड़े दिये और उसे अपने साथ ही रहने का निमन्त्रण दिया। अपने दोस्तों से मैंने उसके लिए काफी पैसा इकट्ठा किया और उसका इलाज कराया। ६ महीने के नियमित इलाज और व्यक्तिगत देखभाल में वह स्वस्थ हो गया। अब मैं चाहता था कि जो दूकान उसने कुछ महीने पहले विवशता में बेच दी थी, वह मैं उसे वापस खरीद दूँ जिससे उसकी आजीविका निर्विघ्न चलती रहे। अब मैंने उस दूकान के नये मालिक से बात-चीत की तो उसने सहयोग देने से साफ इन्कार कर दिया। तब मैंने एक पुलिस अधिकारी के माध्यम से उसे समझाया-बुझाया कि वह उस दुकान को उचित लाभ ले कर उसके पुराने मालिक को बेच दे। खैर, किसी तरह यह काम भी पूरा हुआ। इस प्रकार, संयोग से बने मेरे उस मित्र को नवजीवन प्राप्त हुआ।

१९६० में त्रिगेडियर एम० एम० बादशाह ने मुझे बतलाया कि एक एम्बो-इण्डियन प्रॉक्सिमर लेपटो० कर्नल प्रिंस की जीप-दुर्घटना में मृत्यु हो गई थी तथा उनकी विधवा एव दो बच्चे काफी आर्थिक संकट में थे। एक बच्चा भ्रमण था। मुझसे जो कुछ बन सका, मैंने वह धन उस महिला को अपना सहानुभूति के रूप में भेंट किया तथा उसकी अन्य कई समस्याएँ भी हल कीं।

श्री० विद्यानन्द राय बंगाल के प्रशासन में किसी प्रकार का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करते थे तथा उनका एकाधिपति (तानाशाह) के समान अपने प्रदेश का प्रशासन चलाते थे। लोग उनका दो कारणों ने सम्मान करते थे—एक तो वह बंगाल के प्रमुख प्रेमी थे तथा दूसरे, वह गांधी के व्यक्तिगत निकटस्थ रहे थे। कृष्ण मेनन चाहते थे कि उन्हें कलकत्ता तथा बंगाल के अन्य स्थानों पर कुछ जमीन मिल जाए ताकि वह सैनिकों के लिए कुछ रहने के घर बना सकें। श्री० सी० राय इस पर सहमत नहीं हुए। इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए मेनन श्री० में कलकत्ता गए किन्तु निराश लौट आए। मेनन ने कुछ दोबारा कलकत्ता भेजा ताकि मैं किसी प्रकार श्री० सी० राय को मना सकूँ। जब मैं श्री० राय से मिला तो उन्होंने कहा कि जिस समय बंगाल को स्वतंत्र जमीन की सत्त जहरत थी तब वह किसी और को जमीन क्यों दें। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि यदि मैं एक भी उचित कारण उन्हें बतला दूँ तो वह मुझे जमीन दे देंगे। मुझे एक भी ऐसा कारण न समझ आया जिसका औचित्य मैं उन्हें समझा सकूँ, इसलिए मैंने विनोद के स्वर में कहा :

‘दो कारण ऐसे हैं कि आपको हमें जमीन दे देनी चाहिए। पहला, मैं आपका जन्म दिन था और उस खुशी में आपको कुछ देना चाहिए तथा दूसरा, अभी आपको ‘भारत रत्न’ की उपाधि मिली है और उस खुशी में भी आपको कुछ देना चाहिए।’

इस तर्क से श्री० सी० राय बड़े प्रसन्न हुए और कुछ बातचीत के बाद उन्होंने जमीन देना स्वीकार कर लिया।

सेना चण्डीगढ़ में कैम्प बनाना चाहती थी। मेनन और कैरों, दोनों इसके लिए काफी उत्सुक थे। कैरों का विचार तो यह था कि इससे चण्डीगढ़ की अर्थव्यवस्था सुधरेगी और मेनन का सोचना था कि पंजाब की राजधानी में कैम्प का होना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अनिवार्य था। मेनन चाहते थे कि यह काम अविलम्ब हो जाए। क्वार्टरमास्टर जनरल होने के नाते यह काम मुझे करना था।

पंजाब सरकार का अनुमान था कि अपेक्षित जमीन की कीमत ७० लाख रुपये थी। जब मैंने अनौपचारिक रूप से यह अनुमान वित्त मन्त्रालय को बताया तो वहाँ से पता चला कि जमीन पर ४० लाख से अधिक खर्च नहीं किया जा सकता था। कैरों से मेरा परिचय पुराना था, इसलिए मैं चण्डीगढ़ जा कर उनके मिला और उन्हें बतलाया कि जब तक वह इस अनुमान को कम करा कर ४० लाख नहीं कराते, तब तक इस प्रस्ताव के स्वीकृत होने की कोई सम्भावना नहीं थी। कैरों ने समस्या की नब्ज को पहचान लिया। जमीन की कीमत एकदम आधी करा देना कोई हँसी-मजाक तो था नहीं। किन्तु कैरों ने जमीन के मालिकों और सम्बन्धित अधिकारियों को बुला कर कहा कि वह कुछ घण्टों के

भीतर-भीतर अपने अनुमान पर फिर एक बार विचार करें। जब उन्होंने कुछ भ्रमक-सी दिखलाई तो पता नहीं कैरो ने उन्हें क्या कहा कि दिन मुँदने से पहले ही जमीन की कीमत तीस लाख रुपये कम हो गई। मैं भारत में किसी ऐसे और आदमी को नहीं जानता जो कुछ घण्टों के भीतर-भीतर यह चमत्कार करके दिया सकता हो।

१९४७ ने पहले सेना मुख्यालय में 'प्रिसिपल स्टाफ ऑफिसरस'^{११} का पद लेफ्टी० जनरल का था तथा उनका मासिक वेतन ४,००० रुपये था। देश के विभाजन के बाद जब भारतीयों ने ये पद संभाले तो उनकी कम सेवावधि तथा कम अनुभव को देखते हुए उनका पद मेजर जनरल कर दिया गया था। बारह वर्ष बाद, जब हमारा अनुभव बढ़ गया एवं सेवावधि भी काफी हो गई तो हमारे कहने-सुनने पर पद तो लेफ्टी० जनरल का कर दिया गया किन्तु वेतन ४,००० रुपये प्रतिमास की अपेक्षा ३,५०० रुपये प्रतिमास नियत किया। यह बड़ा ही असंगत एवं अनुचित निर्णय था क्योंकि दूसरी सेवाओं में इस पद के समानान्तर पदों का वेतन ४,००० रुपये प्रति मास था। निर्मैया ने इस विषय में काफी भागदौड़ की। मेहनत और नेहरू तो सहमत हो गए किन्तु तत्कालीन वित्त मंत्री मोरारजी देसाई ने इसे स्वीकार नहीं किया। उनका तर्क था कि सकल-काल में ऊँचे पदों का वेतन और ऊँचा नहीं होना चाहिए। जबकि वास्तविकता यह थी कि यहाँ वेतन बढ़वाने की बात नहीं थी अपितु पहले जितना करवाने की बात थी। जब यह बात जाने नहीं बढ़ी तो मेरे कुछ महकमियों ने मुझे कहा कि मैं यह बात नेहरू के ध्यान में लाऊँ। जब मैंने, निर्मैया की धनुरति ले कर, यह बात नेहरू से कही तो उन्होंने उत्तर दिया कि यद्यपि अधिकारी रूप से तो यह निर्णय मन्त्रि-मण्डल की प्रतिरक्षा समिति करेगी किन्तु यह इस पर पंडित पंत और मोरारजी देसाई की सलाह पहले ले लेना चाहते थे। इसलिए, उन्होंने मुझे कहा कि मैं इन दोनों को मिल कर सारी स्थिति समझाऊँ। जब मैंने पंत को सारी बात समझाई तो वह नुरन्त सहमत हो गए। किन्तु जब मैं मोरारजी देसाई से मिला (यद्यपि इस सम्बन्ध में नेहरू ने पहले ही उन्हें फोन कर दिया था और मेरे पहुँचने के बारे में बता दिया था) तो उन्होंने उत्तर दिया कि उन्होंने सारी स्थिति का अध्ययन किया था और इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि इन ऑफिसरों का वेतन नहीं बढ़ाया जा सकता। इसके बाद यह विषय चर्चा के लिए मन्त्रि-मण्डल की प्रतिरक्षा समिति में आया। उस समय मैं भी उपस्थित था। जब नेहरू ने कहा कि वह वेतन बढ़ाने

२१ सेना मुख्यालय में चीफ ऑफ जनरल स्टाफ, एक्टिंग जनरल, क्वार्टरमास्टर जनरल तथा मास्टर जनरल ऑफ ऑडिनेंस के पद पर नियुक्त ऑफिसर प्रिंसिपल स्टाफ ऑफिसर कहलाते हैं।

के पक्ष में थे तो सब मन्त्रियों ने सामूहिक रूप से उनकी बात का समर्थन किया। मोरारजी देसाई भी इन्हीं समर्थनकारों में थे। मुझे आज तक वह बात याद नहीं लगी जिसने फलस्वरूप मोरारजी देसाई ने अपना विचार बदल दिया था।

गर्मियों में, सिविल सचिवालय के समस्त अपर सचिवों (एडीशनल सचिवों) तथा उनसे उच्च पदाधिकारियों को अपने दफ्तर वातानुकूलित करने का अधिकार था। लेफटी० जनरलों को जो पद-क्रम में अपर सचिवों के एकतरफ ऊपर हैं, इस सुविधा से वंचित रखा गया। हम लोगों को यह खलता तो बहुत थी लेकिन हम कुछ कर नहीं पाते थे। कुछ सहकर्मियों ने मुझसे कहा कि क्यों कि अन्य रास्ते असफल हो गए हैं, इसलिए मैं व्यक्तिगत रूप से इस सम्बन्ध में कुछ करूँ। इस पर मैंने अपने प्रयत्न किए और प्रिंसिपल स्टॉफ ऑफिसरों के लिए भी यह सुविधा सुलभ करा दी। इस फाइल पर कृष्ण मेनन ने नोट लिखा— 'मैं आशा करता हूँ कि अब कुछ प्रिंसिपल स्टॉफ ऑफिसरों (मुझ पर व्यंग्य!) का दिमाग ठण्डा रहेगा तथा कुछ (दूसरों पर व्यंग्य!) के पैर ठण्डे नहीं होंगे।'।

इन घटनाओं के कारण लोगों में फुसफुसाहट होनी शुरू हुई कि ऊँचे क्षेत्रों में मेरी पहुँच है और इसलिए मैं सब काम करा सकता था। पहले तो ये ही सहकर्मी या मेरे उच्च पदाधिकारी स्वयं असफल होने पर मुझसे कहते कि मैं वह विशिष्ट काम करा दूँ और जब मैं भागदौड़ कर के करा देता तो अफसर उड़ाते कि उच्च क्षेत्रों में मेरी पहुँच है।

कुछ वर्षों से भारतीय सेना ऐसी सड़कों बनाने में व्यस्त थी जो हमारी प्रतिरक्षा की दृष्टि से काफी महत्त्वपूर्ण थीं। किन्तु अनेक विघ्नों—अर्थात्भाव, जटिल प्रक्रम, मशीनों एवं उपकरणों का अभाव, देखभाल करने वाले स्टॉफ का अभाव—के कारण यह काम धीमा पड़ गया था। देश के बड़े लोगों में कोई इस बात को समझने के लिए तैयार नहीं था कि युद्ध की दृष्टि से इन सड़कों का कितना महत्त्व था। सरकार की दृष्टि में, इन सड़कों में एवं अन्य साधारण सड़कों में अन्तर नहीं था।

१९६० में, हमारी सीमा में चीनियों की घुसपैठ काफी बढ़ गई थी। अब कार ने इस ओर गम्भीरता से सोचना शुरू किया। इसी प्रक्रम में सीमात्मक विकास मण्डल (बोर्डर रोड्स डेवलपमेंट बोर्ड) की स्थापना हुई जिसके नेहरू, उपाध्यक्ष मेनन तथा मन्त्रि-मण्डल, प्रतिरक्षा मन्त्रालय, परराष्ट्र मन्त्रालय एवं परिवहन मन्त्रालय के सचिव और स्थल सेना एवं वायु सेना के अधिकारी इसके सदस्य थे। मिलनसार एवं सक्षम एस० के० मुकर्जी इसके सचिव, विश्वसनीय सैनिक इंजिनियर मेजर जनरल के० एन० दुवे इसके महा-

नेदेशक नियुक्त किये गए। इस मण्डल की गतिविधियों के समन्वय करने का ज़र्यभार मुझे, मेरी व्यक्तिगत क्षमता में, सौंपा गया। सड़क-निर्माण के कार्य में प्रत्येक सम्भव उपाय से जल्दी घागे बढ़ाना इस सगठन का लक्ष्य था।

इस बोर्ड की प्रथम बैठक २६ मार्च १९६० को नेहरू के घर पर हुई। बैठक के बिल्कुल प्रारम्भ में उन्होंने कहा कि शीघ्रता से काम करना इस बोर्ड का इहेस्य था और सड़क-निर्माण के काम में प्राथमिकताएँ निर्धारित कर के नेज़ी काम शुरु कर देना चाहिए था। उनके विचार में सर्वप्रथम लद्दाल और नेफ़ा ती और ध्यान केन्द्रित होना चाहिए था। इस बैठक में यह तय हुआ कि इन सड़कों की योजना सावधानी से बना लेनी चाहिए, आवश्यक सामग्री एवं उपकरण जुटाने चाहिए, मजदूर एवं देखरेख करने वालों का प्रबन्ध करना चाहिए। साथ ही सब सीमान्त सड़कों को एक मून में बाँध देना चाहिए। नेहरू ने कहा के यदि विदेशियों की घुसपैठ बन्द हो जाए, तब भी इन सड़कों का होना प्रति-क्षा की दृष्टि से बहुत अनिवार्य था।

मेजर जनरल दुबे ने और मैंने अनुमान लगाया कि इन सड़कों के निर्माण में लगभग दो-तीन वर्ष लगेंगे (जबकि विशेषज्ञों का अनुमान पाँच वर्ष का था) तथा नयी सड़कें बनाने एवं पुरानी ४,००० मील लम्बी सड़कों की मरम्मत पर लगभग २०० करोड़ रुपये खर्च आएँगे। मोटे तौर पर एक मील लम्बी सड़क पर ४ लाख रुपये व्यय होने थे। यह प्रस्ताव स्वी रूप में स्वीकार कर लिया गया।

दक्ष एवं अदक्ष श्रमिकों का अपेक्षित सख्या में सुलभ होना एक समस्या हो गई क्योंकि सीमान्त क्षेत्रों की जनसख्या बड़ी कम थी। वैसे भी फसल के मौके पर अन्य कामों के लिए श्रमिक नहीं मिलते। मैदानों में आदमी मिलते थे, किन्तु जिनमें हमारी समस्या नहीं सुलभती थी, क्योंकि वे लोग ऊँचे स्थानों की कठिनाइयों एवं जलवायु की उग्रता को सहन करने में असमर्थ थे। ये कारण ये जेनसे हमारे काम प्रारम्भ करने में बिलम्ब हो रहा था। सड़कों का निर्माण आगर-तन से काफी ऊँचाई वाले स्थानों पर होना था जहाँ चट्टानें उड़ानी थीं, साथ की दीवारों का निर्माण करना था, पुलिया बनानी थी, पुल बनाने के एवं सड़कों के साथ-साथ पैदल चलने वालों के लिए रास्ता तैयार करना था। ये सब ही कठिन काम थे। वर्षा और बर्फ के कारण भी काम में रकावट घा जाती थी। मशीनें आयात करनी थी। अपेक्षित सख्या में ट्रेक्टरों, कम्प्रेसरों, मोटर गेजरोँ, सरलता से से जाए जाने वाली चट्टान डिल्लेँ, बर्फ हटाने वाले एब पुन बनाने वाले उपकरण, विस्फोटक तथा परिवहन गाड़ियाँ खरीदनी थी। चलते-फिरते कारखाने की स्थापना करनी थी। विदेशी मुद्रा का संकट सामने था। देखरेख करने वाले व्यक्तियों का भी अभाव था। और फिर हर आदमी में शीघ्रता के अहसस को समझने की शक्ति नहीं होती। लालपीताशाही को भी पार करना पड़ा। इन सब कठिनाइयों के बाद भी सड़क-निर्माण का काम घागे बढ़ता गया।

इस पर भी हमारे विरुद्ध सब प्रकार का प्रचार-प्रभियान चालू रहा। शायद ही किसी को इस बात का ज्ञान था कि हम कितनी कठिनाइयों से जूझ कर अनेक काम प्रायः बढ़ा रहे थे और वे कठिनाइयाँ दिन-प्रतिदिन कितनी बढ़ती जा रही थीं।^{११}

अपने ०,५०० मील लम्बे सीमान्त पर बनी जीप-योग्य सड़कों को मरम्मत कर के इस योग्य बनाया गया कि उन पर भारी गाड़ियाँ चल सकें। इनमें पर्वतीय प्रदेश की सड़कों भी थीं। नेफा में डिरोंग जॉंग से लें ला होते हुए तोवांग वाली सड़क तथा कश्मीर में जोजीला होते हुए कारगिल एवं लेह वाली सड़कों का भी उद्धार किया गया। इनमें से अधिकांश सड़कों को सीधा किया गया और यह काफी जटिल काम था।

सीमान्त सड़कों के विविध पक्षों के सम्बन्ध में नेहरू से बात करने का मुझे अनेक बार अवसर मिला, विशेषतः जब समन्वय की दृष्टि से प्रदेशों के मुख्य मन्त्रियों एवं केन्द्रीय मन्त्रि-मण्डल के विविध मन्त्रियों के सहयोग की अपेक्षा होती। मैंने नेहरू को सदा सहानुभूतिपूर्ण पाया यद्यपि कुछ अवसरों पर वह अधिक दृढ़ कदम नहीं उठा पाए। इस सम्बन्ध में मुझे पन्त से भी काम पड़ा और उन्हें मैंने सदा सहायता के लिए तत्पर पाया।

पन्त एक कुशल प्रशासक थे जिन्होंने भारत की अपूर्व सेवा की। वह बहुत व्यवहारकुशल थे किन्तु अवसर आने पर सख्त भी हो जाते थे। यदि वह किसी विषय को टालना चाहते तो इसके लिए भी उनके पास अपने तरीके थे। कुशल बुद्धि पन्त आदमी को पहचानने में बहुत अनुभवी थे। नेहरू उन पर बहुत निर्भर करते थे।

(६ मार्च १९६१ को पन्त का देहावसान हो गया। उनकी मृत्यु से भारत का एक महान् प्रशासक चला गया जिसका राजनीतिक मामलों का ज्ञान अपूर्ण था। पुराने लोगों में से वही बचे थे, जिनके जाने से नेहरू का एक पक्का सन्तर्भक चला गया। पन्त और नेहरू पुराने साथी थे। नाजुक मामलों में नेहरू पन्त की सलाह लेते थे। पन्त के होने से नेहरू को शक्ति मिलती थी। उनकी मृत्यु के बाद राजनीतिक अखाड़े में नेहरू अकेले पड़े गए और उनके विरोधियों की संख्या बढ़ती चली गई।)

कृष्ण मेनन ने सीमान्त सड़क संगठन को आदेश दिया कि लारियों से चाहे कितनी ही कमी क्यों न हो, मर्सीडीज-वेन्ज लारियाँ न खरीदी जाएँ और इस कमी को जापानी लारियों या अन्य देशी लारियों से पूरा किया जाए।

२२. इंजिनियरों ने रात-दिन काम कर के बड़ी कुशलता के साथ इन सड़कों में सराहनीय सुधार किया। किन्तु अक्टूबर १९६२ में जब चीन ने भारत पर आक्रमण किया था तो यह काम अधूरा ही था क्योंकि यथार्थ में, काम १९६१ में ही प्रारम्भ हो पाया था।

जबकि स्थिति यह थी कि न तो जापानी तारियाँ ही तुरन्त मुम्बयी घोर न देसी तारियाँ ही, किन्तु कुछ मर्सीडीज-बेन्ज तारियाँ जम्मु तथा कश्मीर सरकार के पान पालतू थी जिन्हें तुरन्त खरीदा जा सकता था। कृष्ण मेनन के आदेश के अनुसार इनका खरीदना वज्रित था। इन बीच तारियों के अभाव के कारण सोमानाने-नेह मड़क के निर्माण एवं मरम्मत का काम ठप्प पड़ गया। जम्मु तथा कश्मीर सरकार ने मुभाव रखा कि हम उगने मर्सीडीज-बेन्ज तारियाँ खरीद कर ट्रम मड़क का काम चालू करें। क्योंकि इन मुभाव में समझदारी थी, इसलिए मैंने कृष्ण मेनन के आदेश को अवरुद्धना कर के सीमान्त सड़कों के महानिदेशक को निर्देश किया कि वह कश्मीर सरकार में मर्सीडीज-बेन्ज तारियाँ खरीद लें। दो दिन बाद, श्रीनगर में आयोजित एक भोज^{११} में मुझे पता लगा कि मेरे इन कदम की सूचना प्रतिरक्षा मन्त्री को पहुँच गई थी।

बाद में जब कृष्ण मेनन ने मुझसे पूछा कि मैंने उनके आदेश को अवरुद्ध क्यों की थी, तो मैंने उत्तर दिया कि जिस समय तारियों के अभाव में हमारी एक महत्वपूर्ण सीमान्त मड़क का निर्माण-कार्य रूका हुआ था और मर्सीडीज-बेन्ज तारियाँ उपलब्ध थीं, तब उनको न खरीद कर अपना काम ठप्प रखने में मुझे कोई सगुना नहीं मउर आई और मैंने उन तारियों को खरीदने का आदेश दे दिया।

भूटान का क्षेत्रफल लगभग १८,००० वर्ग मील है तथा इसकी जनसंख्या ६,००,००० है। भारत और तिब्बत के बीच में स्थित यह एक स्वतन्त्र प्रदेश है तथा इसकी राजधानी पारो (थिम्पू) है। यहाँ के लगभग २५ प्रतिशत निवासी नेपाली वंशज हैं। इसमें तीन नदियाँ—रायदक, संकोश, मानस—गुजरती हैं। इसमें अनेक पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई हैं जो ५,००० फुट की ऊँचाई में लेकर २४,००० फुट की ऊँचाई तक हैं। इसके जंगल बहुत घिनके हैं तथा यहाँ काफी वर्षा होती है।

भूटानी सरल एवं भावुक लोग हैं। कभी-कभी हमारे साथ व्यवहार करते समय वे आग्रही प्रवृत्ति का गुट उसमें मिला देते हैं ताकि हम परस्पर सम्बन्धों में अपना प्रभुत्व प्रदर्शित करना न प्रारम्भ कर दें।

१९४७ के पहले तक, भूटान के परराष्ट्र-सम्बन्ध दिल्ली सरकार के माध्यम से होते थे। १९४९ में भूटान ने हमसे एक संधि की जिसके अनुसार १९४७ के पहले की स्थिति पुनः लागू हो गई।

२३. कश्मीर के भोजों में मैंने एक बात यह देखी कि भारत की मदिरा-निषेध नीति के सम्मानार्थ वहाँ सार्वजनिक रूप से तो मदिरा-पान मना था किन्तु भवन में पीछे की ओर 'बार' खुला रहता था और महत्वपूर्ण अतिथियों को थोड़े-थोड़े समय बाद वे 'गुप्त' संकेत मिलते रहते थे कि उनके लिए 'ट्रंक फाल' आई है और इस बराने भीतर जा कर वे अपनी तृप्ति कर आते थे।

१९६१ में भूटान की कुल आय ३० लाख रुपये थी। इसका अधिकांश भाग तो शासक एवं विहारों पर व्यय हो जाता था। शेष आय से इस प्रदेश का गुजारा होना सम्भव नहीं था, इसलिए विदेशी सहायता लेना इसके लिए अनिवार्य था।

नेहरू ने यह बात काफी जोर दे कर समझा दी थी कि हमें भूटान के आन्तरिक झगड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। (उनका विचार था कि हमारे ऐंसा करने से चीन या कोई अन्य विदेशी सत्ता भूटान में अपनी टांग अड़ाने का बहाना ढूँढ़ सकती है।)

फरवरी १९६१ में भूटान के शासक अपने प्रधान मन्त्री जिग्मी दोरजी के साथ दिल्ली पवारे। उनकी यात्रा का लक्ष्य था—अपने प्रदेश के विकास के लिए भारत से आर्थिक सहायता प्राप्त करना (जो कई करोड़ रुपये थी)। नेहरू से बातचीत करने के बाद, जिग्मी दोरजी कृष्ण मेनन से बात करते गए। इस गोष्ठी से पहले में किसी काम से मिलने नेहरू के पास गया था तो उन्होंने मुझे बतलाया था कि भूटान हमारे सीमान्त पर स्थित प्रदेश है, इसलिए उन्हें अपनी मंत्री को सुदृढ़ बनाये रखना हमारे लिए बहुत जरूरी था तथा हमें उसकी हर सम्भव सहायता करनी चाहिए थी। उन्होंने यह भी कहा कि भूटान जैसे छोटे राज्यों से व्यवहार करते समय हमें उन्हें अपने समान मानना चाहिए तथा इस बात का भूल से भी संकेत नहीं देना चाहिए कि उन्हें सम्य बनाने का श्रेय हमें है। इस गोष्ठी में मेजर जनरल के० एन० दुवे भी उपस्थित थे। जिग्मी दोरजी ने मेनन से कहा कि हमें भूटान की प्रतिरक्षा के पुनर्गठन के साथ-साथ उनके आवागमन के साधनों के विकास में भी उनकी सहायता करनी चाहिए। उन्होंने पूछा कि भारतीय सीमा से पूर्वी भूटान में स्थित ताशी गोंग ड्ज़ोंग तक सड़क बनाने में सीमान्त सड़क संगठन को कितना समय लगेगा। दुवे से परामर्श कर के मैंने उत्तर दिया कि यह सड़क दो वर्ष में तैयार हो सकती थी। इस पर जिग्मी ने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा कि इस प्रकार की भविष्यवाणियाँ तो अनेक भारतीय अधिकारियों ने की थीं किन्तु वह शर्त लगाने को तैयार थे कि यह एक अव्यावहारिक भविष्यवाणी थी। मैंने इसे अपने देश का अपमान समझा और तुरन्त चोट की : 'शायद अधिक विश्वसनीय भविष्यवाणी के लिए आप किसी और के पास जाएँगे.....।' मेरे इतना कहते ही वहाँ श्मशान जैसी शान्ति छा गई। शायद मैं कुछ आवेश^{२४} में आ गया था किन्तु अपने देश का अपमान होते भी तो नहीं देख सकता था।

२४. सड़क-निर्माण के काम के प्रगति करने पर जिग्मी का व्यवहार दुवे के एवं मेरे साथ काफी मित्रवत् हो गया। हमने उसका इतना विश्वास प्राप्त कर लिया कि इस सम्बन्ध में हमारे परराष्ट्र कार्यालय को पत्र भेजते समय उन्होंने उस पत्र

जिग्मी ने पूछा, 'इन मड़कों के निर्माण के लिए आप पूर्वी भूटान की भूमि का प्रारम्भिक निरीक्षण कब प्रारम्भ करेंगे ?'

मैंने उत्तर दिया, 'कल ।'

जिग्मी ने कहा, 'ईश्वर के लिए, कल नहीं ! सम्बन्धित व्यक्तियों को आपके पहुँचने की सूचना हम कल तक नहीं दे सकते ।'

मैंने कहा, 'मेरा विचार था कि आपको बहुत जल्दी है ।'

कुछ दिन बाद मैं दिल्ली ने गोहाटी पहुँचा और वहाँ से 'ग्रॉटर' ले कर दोपहर के तीन बजे भारत-भूटान की सीमा पर स्थित दारंग स्थान के फुटबाल के मैदान में उतरा । भूटान के कमिश्नर को मेरे पहुँचने की कोई सूचना न थी क्योंकि शायद तब भूटान के कुछ क्षेत्रों में तार भी डालिये ही पैदान ले जाया करते थे । हमने उनको उनके प्रधान मन्त्री की स्वीकृति की बात मौखिक रूप से बतला दी । जल्दी के कारण मैं वहाँ केवल आधा घण्टा ही ठहरा और उसके बाद पैदल आगे चल पड़ा । अनेक नाले पार कर के मेजर जनरल दुबे और मैं बिना किसी प्रवेश-पत्र के, भूटान के भीतर प्रविष्ट हो गए और काफी रात तक वहाँ की पहाड़ियों पर घूमते रहे । सड़क-निर्माण के विविध पक्षों से सम्बन्धित विवरणों का अध्ययन कर के तथा अन्य तकनीकी बातों की दृष्टि में वहाँ का पर्यवेक्षण कर के दुबे और मैं दिल्ली लौट आए ।

हमने अपना काम काफी तेजी से प्रारम्भ कर दिया । यह देख कर हमें काफी उत्साह मिलता था कि भूटान सरकार अपने सड़क विकास के कार्य को सीधता एवं कुशलता से पूरा कराने में राष्ट्रीय गौरव का अनुभव करती थी । मजदूरों का उन्होंने प्रबन्ध कर दिया तथा अपने लोगों में उन्होंने उत्साह एवं चेतना की भावना फूँक दी ।^{१२}

(१९६१-६२ की अवधि में मैं जिग्मी दोरजी के काफी घनिष्ठ सम्पर्क में रहा । मैंने देखा कि जहाँ वह सवेदनापूर्ण एवं प्रगतिशील थे, वहाँ परम्परावादी भी थे; भूटान में अपनी स्थिति^{१३} के प्रति सदा शंकाशील रहते थे । वह बहुधा कहा करते थे कि अनेक चीनी पड़्यन्त्रों के बावजूद भी भारत और भूटान एक-दूसरे के काफी निकट घा जाएँगे ।)

का आरूप भी हमसे तैयार करने को कहा । इस मंत्री के लिए श्रेय हमारे उत्साही एवं सुयोग्य पोलिटिकल एजेण्ट अण्णा पन्त को है । जिग्मी को जब भी समय मिलता, वह दुबे से और मुझसे मिलते थे तथा परस्पर उपहार एवं आतिथ्य का आदान-प्रदान होता ।

२५. इन सड़कों का निर्माण-कार्य १९६२ तक अपने पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार चलता रहा और उसके बाद भी इसकी प्रगति सन्तोषजनक ही रही ।

२६ १९६४ में उनके ही एक स्वदेशवासी ने उनकी हत्या कर दी ।

कश्मीर में ले कर नेपाल तक की सीमान्त सड़क संगठन की गतिविधियों के समन्वय का काम मुझे बड़ा रोचक प्रतीत हुआ ।

सिक्किम—ट्रेन में जॉंग—चावल की घाटी—भारत का एक रक्षित राज्य है। १९४९ की संधि के अनुसार सिक्किम के परराष्ट्र सम्बन्धों, उसकी प्रतिक्रिया एवं उसके संचार-परिवहन का दायित्व भारत पर है। इसका क्षेत्रफल ३,००० वर्गमील है तथा १,५०,००० की इसकी जनसंख्या में दो-तिहाई नेपाली वंश हैं। अधिकांश सिक्किमवासी बौद्ध हैं तथा बड़े प्यारे लोग हैं। इसके मुख्य सम्प्रदाय हैं—लेप्चा, तिब्बत के भूटिया तथा नेपाली। इसकी राजधानी गंगटोक है। नेपाल और भूटान के बीच में फँसे हुए छोटे-से राज्य को कभी नेपाल ने आक्रमण सहन करना पड़ा है और कभी भूटान का। आर्थिक दृष्टि में इतने भारत और तिब्बत के बीच मध्यस्थ का काम किया है।

वर्तमान महाराज, चोग्याल पालडेन थोण्डुप नामग्याल, लेप्चा वंश के हैं तथा ४ अप्रैल १९६५ को सिंहासन पर बैठे थे। वह एक चतुर एवं प्रबुद्ध शासक हैं। उनको सब से बड़ी आशंका इस बात की है कि कहीं एक दिन बहुसंख्यक नेपाली अल्पसंख्यक लेप्चाओं का सफाया न कर दें। वह सिक्किम को स्वतंत्र राज्य बनाये रखना चाहते हैं किन्तु यह भी जानते हैं कि भारत से सहायता लिये बिना वह कुछ नहीं कर सकते। नेहरू का विचार यह था कि सिक्किम की जनता एवं उसके शासक के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखना तथा उस राज्य को सुदृढ़ एवं समृद्ध बनाना भारत के अपने हित में है। इस राज्य की प्रतिरक्षा को दृढ़ करना केवल सन्धि की धारा का पालन करना नहीं है अपितु हमारे लिए काफी महत्त्वपूर्ण है। मैं समझता हूँ कि महाराज नामग्याल अपने राज्य में लोकतान्त्रिक सुधारों के प्रवेश में अधिक शीघ्रता नहीं करेंगे जिससे वहाँ अस्थिरता या आन्तरिक विघटन की आशंका हो जाए।

भूटान एवं सिक्किम की जनता तथा वहाँ के शासकों के साथ नेहरू को विशेष स्नेह था। वह उनसे व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित कर के उन्हें भारत के निकट लाने का प्रयत्न करते रहे। नेहरू की नीतियों के पालन करने में भारत के कुछ प्रतिनिधियों ने इतना अधिक उत्साह दिखाया कि उससे भूटान एवं सिक्किम के राजपरिवारों की संवेदनशीलता को चोट लगी।

चीन भूटान एवं सिक्किम को काफी फुसलाता रहा है कि ये दोनों राज्य उसके प्रभाव में पहुँच जाएँ। इसलिए, यह हमारे लिए बहुत जरूरी था कि हम अपने वचनों एवं कर्मों से उनको यह विश्वास दिलाएँ कि उनकी सीमा पर हमारी गूढ़-दृष्टि नहीं है।

१९६० में, मैं तिमैया से अनुमति ले कर सिक्किम की यात्रा पर निकल

पड़ा। रास्ते में मैं दार्जिलिंग रका घोर 'टाइगर हिल' देखने गया। वहाँ लड़े हो कर मैंने बूढ़ाकार कंचनजंगा एव 'माउण्ट एवरेस्ट' के अनुगम सौन्दर्य का आस्वादन किया। इस प्रपूर्व दृश्य को देख कर मैं मन्त्र-मुग्ध सा लड़ा रह गया घोर इस मुमवत्तर की प्राप्ति पर मैंने अपने भाग्य की सराहना की। भोर से पूर्व तारक-दत्त के प्रकाश में यह दृश्य रग बदलता प्रतीत होता है और सूर्योदय पर लगता है कि जैसे इस घोर कही घाग लग गई हो। बिना देखे इस दृश्य पर विश्वास नहीं होता।

गंगटोक जाते हुए मुझे दार्जिलिंग के निकट कलिमपोंग नामक पर्वतीय प्रदेश में रात बितानी थी। वहाँ के स्थानीय कमाण्डर ने मेरे ठहरने का प्रबन्ध तारी दोरजी^{११} के मन्त्र निवासस्थान पर, जो कौण्ट के निकट ही था, कर दिया। भोजनोपरान्त वार्ता के मध्य उन्होंने (तारी दोरजी ने) कहा कि भूटान चीन और भारत, दो विशाल देशों के बीच में होने के कारण दोनों से भयभीत है। यह ठीक बात है कि भारत ने उनकी कुछ सहायता की है किन्तु भूटान शंका-शील है। भारत के प्रति उनका दृष्टिकोण सन्तुष्ट था तथा उन्होंने मुझसे पूछा कि मेरे विचार ने भूटान के लिए कौन-सा मार्ग अपनाया धेदस्कर था—पृथक्, अविकसित एवं विदेशी हस्तक्षेप से मुक्त रहना अथवा विदेशी सहायता प्राप्त करके सन्ध बनना। मैंने उत्तर दिया कि उनके देश को निश्चित रूप में विदेशों से महायुद्ध से कर जीवन के विविध क्षेत्रों में विकास करने के साथ-साथ सन्ध बनना चाहिए। जहाँ तक यह प्रश्न था कि भूटान को किस देश में सहायता लेनी चाहिए, यह भूटान के सोचने की बात थी किन्तु उसकी भौगोलिक स्थिति एवं विचारधारा को देखते हुए यह देश उसका पड़ोसी भारत ही हो सकता था। अन्त में मैंने कहा कि भूटान को भारत की सदासयता एव सद्भावना के प्रति किसी प्रकार का सन्देह नहीं करना चाहिए तथा नेहरू का इस देश के प्रति स्नेह निश्चल एव सद्भावनापूर्ण था, उसमें अन्य कुछ उद्देश्य नहीं था। उनसे अन्ती बातें करते हुए यह तथ्य मुझे स्पष्टतः मालूम था कि भारत के प्रति उनका दृष्टिकोण एकांगिक एव अनौचित्यपूर्ण था।

अगले दिन मैं गंगटोक पहुँच गया तथा वहाँ के शासक, उनकी दो पुत्रियों एवं महाराजकुमार से मिला। उमके बाद मैं केन्द्रीय सिविकम में स्थित कौण्डाला स्थान के लिए चल पड़ा जहाँ पहुँचने के लिए १६,००० फुट ऊँचे दर्रे से गुजरना होता था। मेरे साथ मेरी दोनों पुत्रियाँ भी थीं। इस क्षेत्र की प्रतिरक्षा

२०. फरवरी १९६५ में वह भूटान से भाग कर काठमाण्डू चली आई थीं ताकि उन अन्य भूटानियों से सम्पर्क रख सकें जिन्होंने भूटान के शासक के विरुद्ध पकड़पन्ना रचा था और असफल होने पर नेपाल में राजनीतिक संरक्षण प्राप्त किया था।

के विमानदार विनेश्वर भगवतीसिंह, लेफ्टी० कर्नल चार, मेजर अमरिन्द्र
नाथ क प्रेमसिंह तथा (अफ्टर) कैप्टेन गांधी भी हमारे दल के सदस्य थे।
प्रारम्भिक यात्रा तो बहुत सुखद रही किन्तु जैसे-जैसे ऊँचाई बढ़ती गई, अण
भी ठण्डापाय हो गई।

प्रथम उड़ाई के पहले हमने १५,६०० फुट की ऊँचाई पर पड़ाव जता।
दिन भर की थकान के कारण सोने की इच्छा हो रही थी किन्तु नींद नहीं आ
रही थी। पहले तो मैंने सोचा कि जलवायु से अनन्यस्त होने के कारण यह
बेवैधी थी और शीघ्र ही हम पहली जैसी अवस्था में आ जाएंगे। किन्तु अ
रात्रि के समय मेरी दोनों पुत्रियों ने जो अब तक ६,००० फुट की ऊँचाई पर
ऊपर नहीं चढ़ी थीं, सिर दर्द की शिकायत की और कहा कि उन्हें कुछ अच्छा
नहीं लग रहा था। बग़र के तैम में सोये डॉ० गांधी को जब मैंने प्रश्न
की तो उन्होंने उत्तर दिया कि तबियत तो उनकी भी ठीक नहीं थी किन्तु
जल्दी आने का प्रयत्न करेंगे। कुछ मिनट बाद लड़कड़ाते हुए डॉ० गांधी
हमारे खेम में आए और उन्होंने निदान किया कि दोनों लड़कियाँ पर्वतीय रोग
से ग्रस्त थीं और रोग काफी बढ़ चुका था।

अगले दिन हमें १६,५०० फुट की ऊँचाई तक जाना था। जब हम चलने
लगे तो मैं सोचने लगा कि दोनों लड़कियों को साथ ले जाऊँ या उन्हें
किसी के संरक्षण में छोड़ जाऊँ। कुछ देर सोचने के बाद मैंने उन्हीं को
उचित समझा। यह जान कर मुझे सुखद आश्चर्य हुआ कि उन्होंने हमारे साथ
कोगड़ा-ला जाने का निर्णय किया था। काफी कठिन चढ़ाईयाँ पार कर
मध्याह्न में हम अपने गन्तव्य पर पहुँच गए। निकटवर्ती पर्वत-श्रेणियाँ २२०००
फुट ऊँची थीं, इसलिए हम ठण्डे की अधिकता के कारण जमे जा रहे थे।
देर रुकने के बाद हम अपने शिविर को लौट आए। अपने लक्ष्य में सफल होने
के कारण दोनों लड़कियों को काफी आत्म-तोष हुआ। लगभग १५ दिन के
बाद हम अपने प्रारम्भिक स्थान पर वापस आ गए।

संघर्षरत सीमा-प्रदेश नागालैंड में कानून की मर्यादा बनाये रखने में तिवि
सरकार की सहायता करने के लिए दूरस्थ पर्वतीय क्षेत्रों में अनेक सैनिक
चौकियों की स्थापना की गई थी। इन्हीं चौकियों में एक है पर १६। यह चौकी
अपने निकटस्थ मुख्यालय से आठ मील दूर है जो पर्वतीय मार्ग की कठिनाइयाँ
को देखते हुए बहुत अधिक दूरी है। इस चौकी तक पहुँचने के रास्ते में एक तेज
घारा वाली पर्वतीय नदी पड़ती है जिस पर एक लकड़ी का पुल बना हुआ था।

२८. हमारी इस चौकी पर लगभग ९० आदमी थे।



राजपूताना राइफल्स में सैक्रेड लेफ्टिनेण्ट के पद पर लेखक (१८३५)



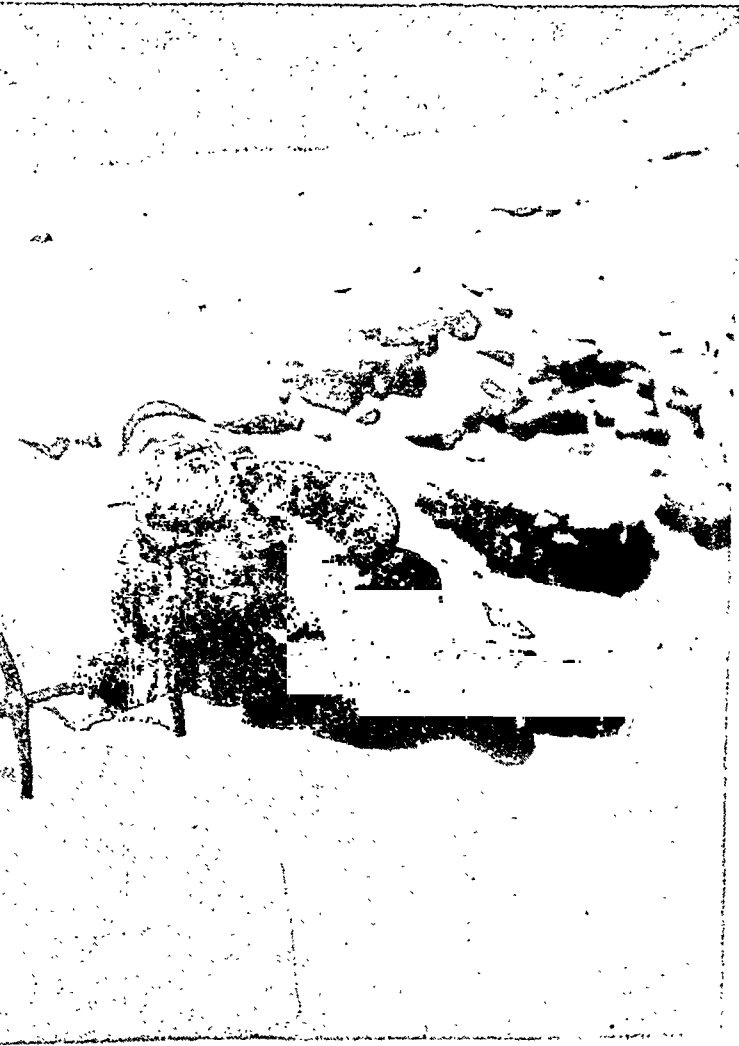
वाशिंगटन में भारतीय राजदूत श्री. लेखक (१५ अगस्त १९४७)



सुरक्षा-परिषद् में कश्मीर समस्या पर चर्चा के समय श्रोमिको, शेख अब्दुल्ला और लेखक (१९४८)



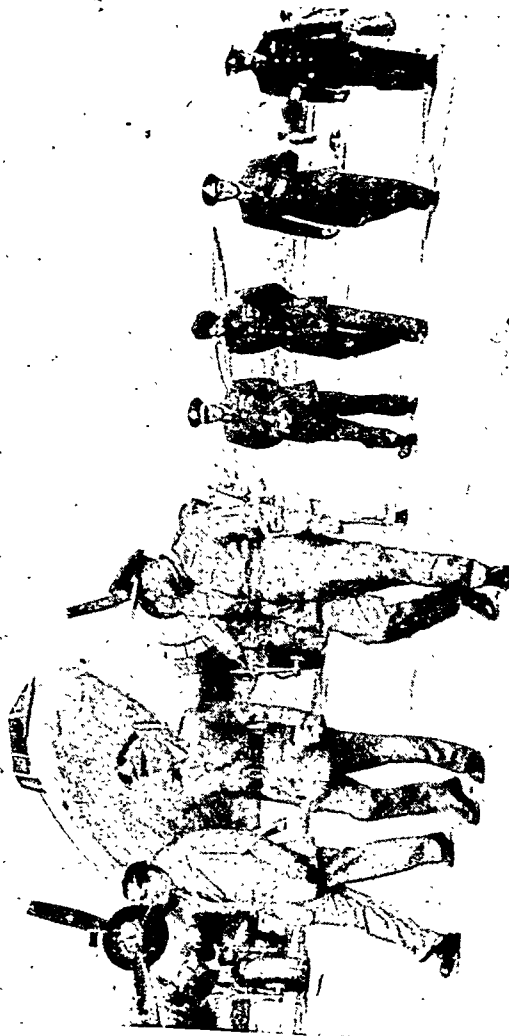
कोरिया में सैनिकों के साथ



रोहतांग दर्रे के निकट परित्राण अभियान पर लेखक (१९५५)



सड़क वाणिज्य से सहाय्य करने के लिए सड़क (१९५८)



सीधे से जाएँ : एयर मार्शल मुकर्जी, लेफ्ट और प्रतिरक्षा मन्त्रालय के सरीन



अजल के० एल० तिमिया तथा लेखक और पृष्ठभूमि मे बरशी गुलाम मोहम्मद
(१९५६)



पंडित नेहरू, कृष्ण मेनन श्रीर लिखक (१९५५)

नेहरू और लेखक की पत्नी (१९५९)





नेहरू और लेखक की दो पुत्रियाँ (१९५६)



दूर दूर की दो मुर्तियाँ (१९५६)



बोग-जू जाने समय यागिन कबायलियों के साथ लेखक (१९५६)



लदाख में किसी स्थान पर एयर वायस मार्शल पिण्टो तथा लेखक (१९६०)



गुजरात में भारतीय नायक (कार)

(१९६१)



एक दिन कानून मन्त्री तथा वेंकट (१९५१)



भीमती अकलीव कंवेरी, राजदूत वेलेपेय और उनकी पत्नी तथा वेलेक की पुत्री (१९५१)



(१९५१)



कश्मीर में किसी स्थान पर मेजर दुवे और लेखक (१९६२ की ग्रीष्म ऋतु)

२६ अगस्त १९६० को भ्रल्ल सवेरे लगभग ५०० स्वतन्त्रतावादी सशस्त्र विद्रोही नागाओं ने इस चौकी पर आक्रमण कर दिया। इसके पहले उन्होंने नदी के ऊपर बने पुल को गट कर इस चौकी को बिल्कुल एकाकी बना दिया था। इस चौकी तक रसद और युद्धास्त्र पहुँचाने का काम एक सिविल वायुयान एवं दो सौपा हुआ था। नागाओं से मोर्चा लेते हुए हमारी चौकी के सैनिकों ने प्रतिवैक से काम लिया और ज्यादा गोली-बाहद शुरू में ही खर्च कर दिया। अब उन्होंने रेडियो-ग्रामील की कि गोली-बाहद एवं पानी का जतके पास सरत मनाव था, इसलिए सैनिक सहायता भेजने के साथ-साथ ये दो चीजें उन्हें हवाई प्रवाह से भेजी जाएं। इस भय में कि सिविल वायुयानों को तो ये नागा मार गिराएँ, यह काम ब्रह्मपुत्र घाटी में अवस्थित भारतीय वायु सेना के वायु परिवहन पक्ष को सौपा गया। फलतः सूर्य की प्रथम किरण के साथ दो वायुयान इस अभियान पर चल पड़े। एक वायुयान को नागाओं ने गोली मार दी और उसे विवश होकर पर के निकट तेजू नदी के किनारे घात के एक नेत में उतरना पड़ा। इसके सदस्यों को नागाओं ने तुरन्त बन्दी बना लिया। दूसरे वायुयान के कन्टेनर में विवैक से काम लिया और विना भयना अभियान पूर्ण रूपे से सौपा जाने में ही भयना कल्याण समझी। इसी बीच जो सैनिक डकड़ी घरायता के लिए भेजी गई थी, वह दूटे पुल पर जा कर एक गई और सारा दिन वहीं कैदी रही। इस प्रकार २६ अगस्त को पर की चौकी पर कोई सहायता न पहुँच सकी। किन्तु विद्रोहियों ने भी उन दिन और ऊपम नहीं मचाया और हमारी चौकी नहीं उड़ाई। मां तो उन्होंने यह मोचा कि स्थिति पर वनशा पूर्ण नियन्त्रण था और वे जब चाहें तब भगला कदम उठा सकते थे या उन्हें यह मान्य नहीं था कि हमारी चौकी पर अधिक विरोध करने की सामर्थी नहीं बची थी। ए० प्रो० सी-इन-सी० एघर वाइस मार्शल के ए० ए० गंधी ने विद्रोही नागाओं पर हवाई हमला करने की अनुमति मांगी थी किन्तु धनक राजनैतिक उत्तमते के बीच में होने के कारण दिल्ली में एक एक सम्बन्ध से कोई निर्णय नहीं कर पाई थी। २७ अगस्त १९६० की प्रातःकाल एक वायुयान से संधी गए और पर की चौकी पर रसद एवं अन्य सामर्थी माल कर आए। नागाओं ने इस वायुयान को भी मार गिराने का कारी प्रयत्न किया किन्तु सौपा बान-बास बच गए। इस अभियान में गंधी का अभिमान घटने पर पतित पराभयों का उल्लाह बहाना था।

दिल्ली में इस स्थिति का अध्ययन करने एवं घटने घातियों को नागाओं के कथन में मुक्त कराने के उपाय सोचने के लिए नेहरू को भावना से एक संधी हुई। जब विवेचना में यह मुद्दा पेश किया कि हम नागाओं के शस्त्र मुक्ति-उत्त करना चाहिए तो नेहरू भयक पड़े कि घातित मना में बरत तो ऐसा बंद बार था किन्तु कर के कभी नहीं दिलाया। उन्होंने कहा कि हम भय से



इस और तैसक (१९६२ की शील चरु)

ज्यादा करने हैं और काम कम ।

मेहनत और नेहरू, दोनों ने सुभाव रखा कि मैं परं जा कर वहाँ की स्थिति का स्वयं अध्ययन करूँ, विशेषतः व्यूह-रचना की दृष्टि से । जिस समय मैं दिल्ली में उमड़म पहुँचा, वहाँ मौसम बहुत खराब था । एअर कोमोडोर माल्से मुझे आगे ले जाने के लिए तैयार खड़े थे । भयंकर वर्षा में हमारा वायुयान मानिस की भाँति धँस-उधँस उछल रहा था । ऊपर पहुँचने पर गरजते बादलों ने हमें चारों ओर से घेर लिया । इस तूफान से अपने डकोटा को सुरक्षित निकाल ले जाना काफ़ी परिश्रम का काम था । इस मौसम में वर्षा और बादल बड़ा परेशान करते हैं और हमारे वायुयानों के अपने गन्तव्य तक पहुँचने में काफ़ी विघ्न डालते हैं । एअर कोमोडोर माल्से की प्रयुत्पन्नमति, अनुभव एवं कुशल चालन ने कई बार हमें मृत्यु का ग्रास बनने से बचाया । जोरहाट से आगे हमें हेलीकोप्टर ले गया कि शायद परं में उतर सकें । किन्तु वहाँ पहुँचने पर देखा कि वह स्थान घने बादलों से छिपा हुआ था । जब हम 'परं' से कुछ दूरी पर स्थित दूसरी चौकी 'फेक' के ऊपर गुज़र रहे थे तो नागालैंड में हमारी सशस्त्र सेना के तत्कालीन कमाण्डर मेजर जनरल 'डिनी' मिश्रा ने, जो उस समय फेक में ही उपस्थित थे, वायरलैस सन्देश द्वारा हमें सुभाव दिया कि हम वहाँ न उतरें (जैसा कि हम प्रयत्न कर रहे थे) क्योंकि उनके अनुमान से थोड़ी-बहुत देर में उस चौकी पर आक्रमण होने वाला था । किन्तु मैंने अपने चालक से कहा कि वह निश्चिन्त हो कर हेलीकॉप्टर वहाँ उतार दे और उसने वैसा ही किया । यह चौकी कोहिमा से तीस मील दूर चकसांग क्षेत्र में थी ।

लेफटी० जनरल उमरावसिंह, जिन्होंने तभी ३३ कोर की कमान संभाली थी, और मिश्रा मुझे वहाँ मिले । मैं तुरन्त ही ऊबड़-खावड़ एवं घातक मार्गों को पार कर के एक निकटवर्ती पहाड़ी पर चढ़ गया और वहाँ से मैंने चारों ओर की स्थिति का निरीक्षण किया । जब वहाँ से मैंने इस चौकी के प्रतिरक्षात्मक प्रबन्ध का निरीक्षण किया तो पता लगा कि इस चौकी के कमाण्डर ने बड़े अव्यवस्थित रूप में यह काम किया था । उसने एक छोटी तोप को तो युद्ध-क्षेत्र में रखा हुआ था किन्तु उसकी बारूद वहाँ से तीस मील पीछे पड़ी हुई थी । इस स्थिति में सुधार करने के बाद हमने नागाओं के आशंकित आक्रमण को संभालने की तैयारियाँ कीं । किन्तु उस रात कोई आक्रमण नहीं हुआ और अगले दिन प्रातःकाल मैं वहाँ से चल पड़ा ।

हमारे जिन साथियों को विद्रोही नागाओं ने डकोटा से बन्दी बना लिया था, उन्हें छुड़ाने के हमने कई प्रयत्न किये किन्तु नागा हमें हर बार कोई-न-कोई घात दे जाते । इन साथियों में फ्लाइट लेफटीनेंट सिंहा भी थे । नागा हमारे साथ आँख-मिचौली का खेल खेलते रहे, जब हम उनका पीछा करते तो वह बर्मा की सीमा में घुस जाते । उनका कि । कि ।

सीमा का उल्लंघन करेंगे नहीं, इसलिए उनमें अपने साथियों को नहीं छोड़ा पाएँ। तब था कर हमने फैसला किया कि अगली बार हम उन्हें कहीं भी नहीं छोड़ेंगे और इसके लिए हमने आवश्यक अनुमति भी प्राप्त कर ली। जब नागाप्रॉ ने हमें वहाँ की सीमा में घुसते देखा तो उन्होंने घबड़ा कर हमारे आदमियों को छोड़ दिया। इसके बाद हम अपनी सीमा में वापस आ गए।

नागालैण्ड और अपने पूर्वी सीमान्त का पर्यवेक्षण करने के बाद मैं दिन में दो बजे तेजपुर पहुँचा। मेरी इच्छा थी कि मैं उसी रात कलकत्ते में दिल्ली के लिए गैर-सैनिक वायुयान पकड़ लूँ। इसके लिए एक ही मार्ग था कि मैं तेजपुर से वायु सेना के लड़ाकू वायुयान में कलकत्ता पहुँचूँ अन्यथा इतने कम समय में यह यात्रा असम्भव थी। साथ ही मौसम भी बड़ा तूफानी एवं बादलों से भरा हुआ था। वायु सेना स्टेशन के कमाण्डर ने मुभाव दिया कि मैं वहाँ से अपने दिन यात्रा करूँ किन्तु मैं विलम्ब स्वीकार करने को तैयार नहीं था। स्तुएडन लीडर सुरिन्दर सिंह को जब यह पता लगा कि जिस जेट में हम लोग जाना करने वाले थे, उसकी ईंधन की टकी ख़र रही थी, तो उन्होंने स्वयं उसे ठोक दिया। पौने तीन बजे हम तेजपुर से चल पड़े। मौसम और बिगड़ता चला गया तथा सिलीगुड़ी के पास हमें ३०,००० फुट की ऊँचाई तक ऊपर जाना पड़ा। मरल मार्ग की खोज में चालक महोदय को दिमा-भ्रम हो गया और हम 'माइण्ट एवरेस्ट' की ओर बढ़ने लगे। इस समय मुझे अपनी साँस रुकी-सी लगी। जब मैंने चालक से यह बात कही तो उन्होंने उत्तर दिया कि हमारी घोंसलीजन-टंकी में कहीं कुछ सराबी आ गई थी। कुछ मिनट बाद यह रोग दूर हो गया और साँस ठीक होने लगा। मुँघलका होते-होते हम डमडम पहुँच गए। वहाँ मैंने एक गैर-सैनिक वायुयान द्वारा मजदूर रात्रि के निकट दिल्ली आ पहुँचा।

अगले दिन रात में एक गोष्ठी थी। गोष्ठी के बीच मैं मुझे ऐसा लगा जैसे कि मेरे शरीर का दायाँ भाग सुन्न पड़ गया हो। पहले तो मैंने सोचा कि यह मेरे मन का भ्रम था किन्तु सनमनाहट मिटी ही नहीं तो मैंने मुविश्यात चिकित्सक को दिनाया। उन्होंने बतलाया कि बिना घोंसलीजन के अधिक ऊँचाई पर रहने से तथा अधिक काम करने से रक्त-प्रवाह में बाधा पड़ जाती है और रक्त का घावमण हो जाता है। इस सम्भावना से कुछ घण्टे तो मैं शारीर चिन्तित रहा। दो दिन तक तो प्रतिक्षण मुझे ऐसा लगता कि रक्त प्रवाह का घावमण हुआ। तीसरे दिन सुबह जब मैं सो कर उठा तो मैंने रक्त को सामान्य स्थिति में पाया।

शरीर में पहले तो प्रभाव चिन्त के पथ पर बढ़ा कर बिना और फिर तदात में एवं अन्य स्थानों पर हुआगी सीमा की कृत्रिम पुरु कर दिया, इस-लिए अपनी प्रतिक्षा में हमें भी अपने नई सैनिक शक्ति की स्थापना

पड़ी। अब हमें काफी संख्या में मजबूत हेलीकॉप्टरों की आवश्यकता अनुभव हुई ताकि दुर्घटनाओं में ग्रस्त वायलों एवं शवों को कठिन पर्वतीय भूखण्ड से उठा कर लाया जा सके। साथ ही आवश्यक सामग्री, गोला-बारूद, दवाइयाँ आदि इन चौकियों को पहुँचायी जा सकें एवं भूमि का पर्यवेक्षण किया जा सके।

वायु सेना के अधिकारियों ने १९६० में काफी पर्यवेक्षण किया और यह निष्कर्ष निकाला कि अमरीकी, रूसी एवं फ्रांसीसी हेलीकॉप्टर हमारे काम के लिए ठीक थे। रूसी हेलीकॉप्टर दो प्रकार के थे—एक नवीनतम मॉडल के और एक कुछ पुराने—किन्तु रूस ने नवीनतम मॉडल के हेलीकॉप्टरों के लिए यह कह दिया कि वे उपलब्ध नहीं थे। रूसी हेलीकॉप्टर सस्ते थे तथा अपेक्षित संख्या में मिल सकते थे। साथ ही इनका भुगतान भी हमें भारतीय मुद्रा में ही करना था।

प्रतिरक्षा मन्त्री कृष्ण मेनन ने अपने वैज्ञानिक एवं दूसरे परामर्शदाताओं के साथ मिल कर प्रत्येक हेलीकॉप्टर के विवरण का गहराई से अध्ययन किया था। अमरीकी एवं फ्रांसीसी हेलीकॉप्टर तो गिनती के मँगाये गए किन्तु अधिक संख्या में खरीदने के लिए रूसी हेलीकॉप्टरों को चुना गया। जिन परिस्थितियों में इस मशीन का दिल्ली के आसपास परीक्षण किया गया था, उनके विषय में हम लोगों का विचार था कि वे यथार्थ परिस्थितियाँ नहीं थीं; जब कि दूसरे हेलीकॉप्टरों को काफी कड़ी परीक्षा से गुज़रना पड़ा था। हम लोगों का विचार यह था कि इस रूसी हेलीकॉप्टर को भी काफी ऊँचाई एवं पर्वतीय प्रदेशों पर उड़ाया जाए जहाँ कि इसे यथार्थ में काम में लेना था। कृष्ण मेनन ने दिल्ली के परीक्षण को पर्याप्त समझा और रूसियों को सूचना दे दी कि हम उनसे हेलीकॉप्टर खरीदने को तैयार थे।

वायु सेना के कुछ विशेषज्ञों का विचार था कि फ्रांसीसी हेलीकॉप्टर का प्रदर्शन श्रेष्ठ था। साथ ही हमारा अतीत का अनुभव यह कहता था कि रूसी समय पर माल नहीं देते, सड़क-निर्माण के समय भी यही अनुभव हुआ था। मेरा विचार यह था कि हेलीकॉप्टर भी इसी प्रकार समय पर नहीं मिल पाएँगे (और बाद में यह बात ठीक निकली)। इसी समय मेनन को भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ जाना पड़ गया।

यद्यपि मैं हेलीकॉप्टरों का विशेषज्ञ नहीं था किन्तु यह तथ्य मेरी आत्मा को कचोट रहा था कि हम बिना पूरी परीक्षा लिये एक नयी मशीन को खरीदने वाले थे। सीमान्त क्षेत्रों में ऊँचे स्थानों पर इन मशीनों द्वारा यात्रा करना हमारे चालकों के लिए काफी कठिनाईपूर्ण काम होगा। मेरे इस विचार से पश्चिमी वायु कमान के ए० ओ० सी-इन-सी, एअर वाइस मार्शल पिण्टो एवं अन्य अनेक ऑफिसर भी सहमत थे।

हम में से कुछ की स्थिति बड़ी उलझनपूर्ण थी। क्या हम सरकार के निर्णय को प्राप्त बन्द कर के स्वीकार कर लें या बात धीमे बढ़ाएँ? किन्तु मेरे सामने एक बात दर्पणवन् स्पष्ट थी कि हमें अपने वायुयान-चालको का जीवन अनावश्यक रूप से खतरे में नहीं डालना चाहिए था। इसलिए, मैंने इस विषय को धीमे बढ़ाने का निर्णय किया। यद्यपि मैं वायु सेना में नहीं था। मैंने एअर वाइन मार्शल पिण्टो से कहा कि वह एक रूसी हेलीकॉप्टर मुझे दे दें ताकि मैं लडाख में उसका परीक्षण कर सकूँ। मैंने यह भी कह दिया कि यद्यपि यह मेरा काम नहीं था किन्तु परिस्थितियाँ मुझे इसके लिए विवश कर रही थीं। पिण्टो ने उत्तर दिया कि यद्यपि चिन्तित तो वे भी समान रूप से थे परन्तु न्यूयॉर्क जाने से पहले कृष्ण मेनन सख्त आदेश दे गए थे कि इस मशीन की और परीक्षा न की जाए। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि उस मौसम में लडाख के क्षेत्र में हेलीकॉप्टर की उड़ान भरना काफी कष्टसाध्य रहेगा। मेरा तर्क यह था कि परीक्षण तो ऊँचे स्थानों एवं उमी जलवायु में करना चाहिए जहाँ कि इस मशीन को काम में लेना था। थोड़ा समझाने-बुझाने के बाद पिण्टो सहमत हो गए और हम दोनों ने ही इस उड़ान में भाग लेने का निर्णय किया। यह दिसम्बर १९६० की घटना है।

दिल्ली से जम्मू तो पिण्टो और मैं डकोटा से पहुँचे। रूसी हेलीकॉप्टर को अगले दिन सुबह लेह में मिलने के लिए पिण्टो ने आदेश दे दिया था। अगले दिन सुबह पिण्टो ने मुझे बतलाया कि रूसी चालक ने सन्देश भेजा था कि तापमान के कम होने के कारण उसकी मशीन का तेल जम गया था और इसलिए श्रीनगर से लेह की उड़ान भरनी उसके लिए असम्भव थी। बड़ा विचित्र सन्देश था, जो चीख जम सकती थी, वह इस विज्ञान के युग में पिघल नहीं सकती थी! इस सन्देश पर पिण्टो और मैं, दोनों ही बड़े अप्रसन्न हुए और हमने श्रीनगर आदेश भेजा कि इस विघ्न को दूर कर के हेलीकॉप्टर तुरन्त लेह पहुँचे। जब हम लेह पहुँचे तो मौसम खुला हुआ था, धूप निकल रही थी और ठण्ठी हवा का घासपास भी पता नहीं था। रूसी हेलीकॉप्टर भी, अपने जमे तेल को पिघला कर, लेह पहुँच चुका था। पिण्टो और मैं, दोनों इस उड़ान पर साथ जाना चाहते थे किन्तु रूसी चालक ने कहा कि वह एक से अधिक व्यक्ति नहीं ले जाएगा।

क्योंकि मैं इस यात्रा के लिए बहुत उत्सुक था, इसलिए पिण्टो ने मुझे जाने के लिए कहा। मेरे प्रतिरिपत हेलीकॉप्टर में एक रूसी एवं दो भारतीय चालक भी थे। जैसे ही हम लेह में उड़ कर करानुरंम दर्रे की ओर बढ़े तो हमें बिरब के सर्वाञ्च शिखर (२८,००० फुट ऊँचे) के किनारे-किनारे धीमे बढ़ना पड़ा। हिमाच्छादित शिखरों का भव्य दृश्य कर के हमारे नेत्र तृप्त हो गए। मैंने रूसी चालक को निदेश किया कि वह करानुरंम दर्रे के निकट हो

स्थित भारतीय चौकी पर उतर जाए। उसने चारों ओर देखा, अपने नक्शे का अध्ययन किया और उत्तर दिया कि वह वहाँ उतरने के लिए तैयार नहीं था क्योंकि एक तो वह स्थान चीनी सीमा के बहुत निकट था तथा दूसरे, वहाँ उतरने के लिए स्थान भी उपयुक्त नहीं था। मैंने उसे कहा कि यह देखना मेरा काम था कि हम चीनी सीमा के निकट उतर रहे थे या दूर और जहाँ तक उतरने के स्थान का सम्बन्ध था, मुझे तो वह उपयुक्त लगता था। उसने उत्तर दिया कि युद्ध एवं शान्ति काल में मिला कर वह कई हजार घण्टे उड़ान भर चुका था तथा जो कुछ कह रहा था, अपने अनुभव के बल पर कह रहा था। उसके विचार से वह स्थान ढलवाँ था और हेलीकॉप्टर के लिए उपयुक्त नहीं था। वास्तव में, उसने यह सोचा था कि मूर्खतापूर्ण उतराई में कहीं हेलीकॉप्टर खराब न हो जाए। मैंने उससे कहा कि मैं उस विशिष्ट स्थान पर उतरना चाहता था और यदि उसका हेलीकॉप्टर वहाँ नहीं उतर सकता था तो मैं यह कहूँगा कि वह अपने परीक्षण में अनुत्तीर्ण हो गया था। इससे चालक महोदय घबड़ा गए क्योंकि एक राजनयिक सौदे को तोड़ने का दायित्व वह अपने सिर नहीं लेना चाहते थे। मैंने विनोद के स्वर में यह भी कहा कि जब रूसी चाँद पर उतरने का दावा करते थे तो इस स्थान पर उतरते हुए उन्हें क्या घबड़ाहट हो रही थी। इसके बाद तो एक क्षण भी नहीं लगा और विना किसी दुर्घटना के वह हेलीकॉप्टर नीचे उतर गया।

अभी मैं अपने कैमरे से कुछ फोटो खींच रहा था और वहाँ की भूमि की भौगोलिक स्थिति का अध्ययन कर रहा था कि रूसी चालक ने मुझे कहा कि इससे पहले की उसकी मशीन का इंजिन जम जाए, हमें वहाँ से चल पड़ना चाहिए। एक-दो बार खर-खर कर के इंजिन चल पड़ा और हम लेह की ओर लौटने लगे।

अभी हम २१,००० फुट ऊँचाई पर थे और मैं कुछ ऊँघ-सा रहा था कि अपने एक चालक की आवाज़ ने मुझे जगा दिया : 'यहाँ से लेह कुछ ही मिनटों की दूरी पर है किन्तु हमारा ईंधन और हमारी ऑक्सीजन समाप्त-से हो गए हैं। इंजिन भी ठीक से नहीं चल रहा है। किसी भी क्षण हमें उतरना पड़ेगा। इतनी ही आशा है कि किसी प्रकार ये पहाड़, जिन पर हम उड़ रहे हैं, त हो जाएँ और हम घाटी में उतर जाएँ।' उस दिन हिमाच्छादित पर्वत पर सूर्य-रश्मियाँ बड़े प्रेम से क्रीड़ा कर रही थीं और ऐसे दिन करना मुझे बड़ा अप्रिय-सा लग रहा था। धीरे-धीरे हेलीकॉप्टर खोता गया। किसी भी क्षण दुर्घटना हो सकती थी। किन्तु हम बल निकला और हम किसी प्रकार उस घाटी में उतरने में सफल हुए। स्थान तोइजे नामक हमारी सैनिक चौकी से दूर नहीं था। हेलीकॉप्टर ऊपर से नीचे आ रहा था, लगता था कि हमें आकाश से

पृथो पर फेंक दिया गया था और हम सीधे गिरते जा रहे थे। हेलीकॉप्टर के रजिस्ट्रार की जाँच की गई किन्तु जब उसने सहयोग करने से साफ इन्कार कर दिया तो हमने एयर वाइस मार्शल पिण्टो को वायरलेस में अपनी स्थिति का ज्ञान कराते हुए कहा कि यदि सम्भव हो तो वह हमारी सहायता करें। उन्होंने हमें साहस रखने को कहा और आश्वासन दिया कि वह अविनम्य कुछ करेंगे। लगभग एक घण्टे बाद हमें ऊपर वायुयान की आवाज सुनाई पड़ी और हमने पिण्टो को यान से उतरते देखा। नदी के पास एक स्थान पर यान उतार कर उन्होंने काफी खतरा मोल लिया था।

पिण्टो ने कहा कि अंधेरा होने से पहले ही हमें चल पड़ना चाहिए। MI-4 हेलीकॉप्टर को वही छोड़ दिया गया तथा तीनों चालक और मैं उनके यान में बैठ गए। उतरते समय डकोटा के एक पहिये में कुछ गन्धक आ गई थी, जिसे शीघ्रता से ठीक कर के हम चला पड़े। कुछ मिनट बाद हम लेह पहुँच गए। रात को लेह में आराम कर के अगले दिन मुंबई हम दिल्ली पहुँच गए।

परीक्षण-उड़ान से कुछ दिन पहले की घटना है। यह हेलीकॉप्टर पालम हवाई-घाट पर खड़ा था कि एक मूर्ख भारतीय ने इनमें हवाई गैस के बदले मिट्टी का तेल भर दिया। इस भयंकर भूल के लिए उसे भयंकर दण्ड दिया गया था। इसके बाद इन मशीनों की पूरी मरम्मत की गई और लेह जाने में पहले इसने कई सौ मील की उड़ान निर्विघ्न पूरी कर ली थी। किन्तु रजिस्ट्रार ने कहा कि क्योंकि हमने उस हेलीकॉप्टर में हवाई गैस के बदले मिट्टी का तेल भर दिया था, इसलिए वह अपनी उड़ान पूरी न कर सका और उसे लेह के निकट उतरना पड़ा। समझ नहीं आता कि जब मशीन जानती थी कि मिट्टी का तेल पड़ने से उनकी यह मशीन कुछ निरर्थक पड़ गई थी तो उन्होंने लगातार की उड़ान के लिए दूसरा हेलीकॉप्टर क्यों नहीं भेजा (जबकि उभी प्रकार के और हेलीकॉप्टर यहाँ मौजूद थे)। उनके हेलीकॉप्टर का सफ़टन करना हमारा मध्य नहीं था, हम तो इसका परीक्षण कर के अपनी मन्तुष्टि कर रहे थे। मेरा दुःस्वप्न में लौटने के बाद मैंने आइसल में नोट लिखा कि सभी हेलीकॉप्टर को खरीदने से पहले इसकी अनुभूतता एवं उपयुक्तता का धोर परीक्षण किया जाए तथा पर्वतीय भू-स्थल में ऊँचाई पर इससे धोर उड़ान भरा कर देनी जरूर।

कुछ दिन बाद वृष्ण मेहनत समुद्र राफ्ट सभ में नोट आया। जब उनको यह घटना का पता चला तो उन्होंने मुझे बुला कर पूछा कि उनके मना करने के बाद भी मैंने यह उड़ान क्यों भरी। उन्होंने कहा कि यह एक खयाल था कि यह हेलीकॉप्टर रास्ते में रुक गया और हमने कोई निश्चय नहीं निकाला या उड़ाना। साथ ही यह भी कहा कि मैंने अर्थ में मिट्टी के तेल से हाथ धो दिया था। अन्त में उन्होंने कहा कि उपकरण बुझाना सरकार का काम है और हमें खतरा को टालना नहीं पड़ता चाहिए। अनुभव से मैंने उतरे हुए कि

क्या सरकार में राजनीतिज्ञों के साथ-साथ सैनिक नहीं आते और जिस मशीन की पूरी-पूरी परीक्षा नहीं ली गई, उसको खरीदते समय में चुप कैसे रह सकता था जबकि उससे हमारे वायुयान-चालकों का जीवन खतरे में पड़ सकता था।

कुछ दिन बाद संसद में इस विषय पर चर्चा हुई। प्रतिपक्षी-दल ने पूछा कि लद्दाख के ऊपर उड़ान भरते समय में अपने साथ एक हसी चालक को क्यों ले गया था। इस प्रश्न पर सरकार ने मेरी प्रतिरक्षा में कहा कि इस हेलीकॉप्टर का परीक्षण लद्दाख में ही करना था जहाँ वास्तव में इनका उपयोग किया जाएगा और हसी चालक इसलिए साथ गया था क्योंकि हमारे चालकों को अभी इस मशीन के नियन्त्रण का पूरा ज्ञान नहीं था। देश-हित में किए गए मेरे इस काम को भी जनता के सामने दूसरे ही रूप में प्रस्तुत किया गया। किन्तु इस मामले में मैं क्या कर सकता था, मैं तो विवश था।

२६ जनवरी १९६१ को मुझे 'विशिष्ट सेवा मैडल प्रथम श्रेणी' मिला। उसी दिन मेरी बड़ी पुत्री अनुराधा का विवाह हुआ। मुझे मिले गौरव का महत्त्व कम करने के लिए कुछ लोगों ने यह अफवाह उड़ा दी कि मकान बनाने के उपलक्ष्य में मुझे यह मैडल दिया गया था। किन्तु इस पर लिखे शब्दों^६ से यह स्पष्ट हो जाएगा कि मुझे यह मैडल क्यों प्रदान किया गया था।

इस अवसर पर लेफटी० जनरल जे० एन० चौधरी ने मुझे लिखा कि यह मैडल तो देश-सेवा के लिए मुझे मिलने वाली अनेक उपाधियों का पूर्वसूचक था। (किन्तु मेरी निवृत्ति के समय उन्होंने नेहरू को जो गोपनीय रिपोर्ट भेजी, उसमें इससे विरोधी भावनाएँ व्यक्त कीं।)

एक वर्ष बाद एक विशिष्ट समारोह में राष्ट्रपति ने मुझे इस मैडल से सम्लंकृत किया। यह क्षण मेरे लिए बहुत गौरव का क्षण था। इस समय बम्बई के 'करण्ट' ने व्यंग्यपूर्ण भाषा में पूछा कि क्या मुझे यह मैडल 'एस्प्रेसो कॉफी की मशीन' बनाने के उपलक्ष्य में दिया गया था? यह एक निराधार आरोप था क्योंकि प्रतिरक्षा मन्त्रालय के उत्पादन पक्ष से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था। 'करण्ट' ने अब तक मेरे विरुद्ध इतना भूठा प्रचार किया था कि अब मैं इसके

२९. मैडल पर लिखा था : लेफटी जनरल बी० एम० कौल को १९३३ में कमीशन मिला। इन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण पदों पर काम किया है : सचिव, सशस्त्र सेना राष्ट्रीयकरण समिति; अमरीका में सैनिक सहचारी, सेना मुख्यालय में संगठन निदेशक, चीफ ऑफ स्टॉफ, तटस्थ राष्ट्र स्वदेशागमन आयोग, कोरिया; कमाण्डर, इन्फेण्ट्री डिबीजन; (इसके पहले साढ़े तीन वर्ष तक मैं एक इन्फेण्ट्री त्रिग्रेड की भी संभाल चुका था); क्वार्टरमास्टर जनरल; (अब चीफ ऑफ जनरल)। इन पदों पर इन्होंने विशिष्ट योग्यता, नेतृत्व एवं साहस के साथ काम है।

विरुद्ध कानूनी कार्रवाई करने की सोचने लगा। किन्तु नेहरू ने निम्नलिखित दो कारण दे कर मुझे ऐसा करने से रोका :

(घ) सेना के किमी जनरल का मुकदमेवाजी में फँसना वह अच्छा नहीं समझते,

(घा) मेरे प्रतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति का सार्वजनिक रूप में मेरे बचाव में कुछ कहना अधिक अच्छा रहेगा। यह उन्होंने स्वयं किया। (प्रतीत में भी उन्होंने मेरे बचाव में काफी कहा था और भविष्य में भी उन्होंने कई अवसरों पर मेरे पक्ष में काफी कहा।)

तिमेंया को मार्च १९६१^{३०} में आर्मी चीफ के पद से निवृत्त (रिटायर) होना था, इसलिए उनके उत्तराधिकारी का प्रश्न उठा। इस पद के लिए दो प्रत्याशी थे। थापर तथा थोरट : दोनों की सेवा का रिकार्ड बहुत अच्छा था किन्तु थापर थोरट से सीनियर थे। जैसे ही इस पद के लिए थापर का चुनाव हुआ, वह मेरे घर आए और उन्होंने मुझसे कहा कि वह मुझे अपना चीफ ऑफ जनरल स्टाफ बनाना चाहते थे। यह मेरे लिए बड़े गौरव का विषय था क्योंकि प्रत्येक सैनिक एक दिन इस पद पर पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा रखता है। इस पद पर प्रतिष्ठित व्यक्ति का काम है राष्ट्र की युद्ध करने वाली शक्ति का समन्वय करना।

मार्च १९६१ में जब मैंने इस पद का कार्यभार^{३१} संभाला तब आर्मी चीफ तिमेंया ही थे। (तिमेंया के छुट्टी जाने पर थापर को कार्यभार संभालना था।) अभी मैं अपने नये काम को समझ ही रहा था कि मेरे समकालीन विरोधियों ने फिर मेरे विरुद्ध भूटा प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस बार यह प्रचार किया गया कि 'पर्याप्त योग्यता के अभाव' में भी नेहरू और मेनन मुझे पदोन्नति देने जा रहे थे और इस प्रकार योग्य एवं अधिकारी व्यक्तियों को अनुचित तरीके से पीछे छोड़ दिया गया था। इससे बड़ा मनगढ़न्त प्रचार और क्या हो सकता था !

११ अप्रैल १९६१ को लोक सभा में 'प्रतिरक्षा बृहत्' होनी थी। अपने कुछ साधियों के साथ मैं भी गया। सदन टसाटस भरा हुआ था और वातावरण में

३०. यह निवृत्ति-पूर्व अवकाश लेने वाले थे। यह गप उड़ा दी गई कि तिमेंया और थोरट को मेनन ने समय से पहले सेवा-निवृत्त कर दिया था। जबकि सत्य यह है कि वे दोनों अपनी पूरी पदावधि के बाद सेवा-निवृत्त हुए थे।

३१. प्रारम्भ में मैंने यह पद कार्यवाही क्षमता संभाला था और बाद में इसे परका किया गया था।

तनाव था। दर्शक गैलरी में बैवल खड़े होने का स्थान था। सुप्रसिद्ध और अनुभवी नेता कृपलानी ने यह सिद्ध करने के लिए कि भारत की प्रतिरक्षा का प्रबन्ध अयोग्य व्यक्तियों के हाथ में था, नेहरू, मेनन तथा मुक्त पर बड़ा उग्र प्रहार करना प्रारम्भ किया। मेनन पर उन्होंने पाँच अभियोग लगाए: सेना में गुटबन्दी पैदा करना, सैनिकों के मनोबल को नीचे गिराना, राष्ट्र के धन का अपव्यय करना, देश की प्रतिरक्षा की उपेक्षा करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एकदलवादी साम्राज्यों का समर्थन करना। उन्होंने माँग की कि इस स्थिति की जाँच करने के लिए या तो संसद् की समिति विठायी जाए या राष्ट्रपति द्वारा किसी आयोग का गठन किया जाए।

कृपलानी ने व्यंग्य में कहा कि मेनन के नेतृत्व में हमारी सेना इतनी शक्तिशाली हो गई थी इसने बिना किसी चीं-चपड़ के चीनियों को १२,००० वर्गमील भूमि पर कब्जा कर लेने दिया। इसके बाद कृपलानी ने कहा कि एक रूसी को अपने सीमान्त पर उड़ान भरने का मौका दे कर हमने बड़ा अविवेकपूर्ण काम किया था क्योंकि सम्भव था कि उस रूसी ने हमारी व्यूह-रचना से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ चीनियों को दे दी हों। मेरे साथ रूसी वायुयान-चालक के जाने पर भी उन्होंने आपत्ति प्रकट की। मुझे बार-बार यह इच्छा हुई कि यदि कृपलानी—एक देशभक्त के नाते जिनका मेरे मन में काफी आदर है—से मेरा परिचय होता तो मैं अपने से सम्बन्धित सारे तथ्य उनके सामने रखता और कहता कि वह अपना उग्र आक्रमण कुछ अन्य लोगों पर करें जो कभी उनका विरोध नहीं कर पाएँगे क्योंकि तब कृपलानी के आक्रमण का आधार तथ्य होते। उस समय मुझे गालिव का निम्नलिखित शेर स्मरण हो आया:

हम आह भी भरते हैं
तो हो जाते हैं बदनाम
वो कत्ल भी करते हैं
तो चर्चा नहीं होता

कृपलानी ने आगे कहा^{३२} कि सरकार ने वर्तमान सी० जी० एस० (अर्थात् मैं) की नियुक्ति करते समय कुछ अधिक योग्य ऑफिसरों की उपेक्षा की है। अप्रत्यक्ष रूप से उनका संकेत लेफ्टी० जनरल वर्मा की ओर था लिनके ऊपर दो जनरल (लेफ्टी० जनरल दौलतसिंह तथा लेफ्टी० जनरल सेन) और भी पदोन्नत हो गए थे। कृपलानी ने कहा कि इसलिए इस ऑफिसर ने समय से

३२. 'वर्तमान सी० जी० एस०' से उनका अभिप्राय मुझसे था।

पहने ही निवृत्त कर दिये जाने की प्रार्थना की थी। अन्त में कृपलानी ने मेनन पर प्रहार किया, 'मुझे प्रसन्नता है कि प्रतिरक्षा मन्त्री यही हैं। मुझे आशा है कि बिना डँग से उन्होंने देश की रक्षा की है, उससे अच्छे डँग से वह अपनी रक्षा कर पाएँगे।'

अपने उत्तर में मेनन ने कहा कि शत्रु द्वारा अपनी सीमा का बार-बार परिचय किये जाने के कारण हमें अपने सैनिक दस्तों को सीमा की घोर रक्षा करना पड़ा था। हमारे पास न तो चीन जितनी विशालसम्पन्नता थी घोर न उनके जैसे युद्धास्त्र। हमारा किसी देश से कोई सैनिक सम्बन्ध नहीं था, इसलिए अपनी प्रतिरक्षा का प्रबन्ध हमें स्वयं करना था। साथ ही मेनन ने यह भी कहा कि यदि चीनियों ने हमारी सीमा में पुसर्पठ करने की कोशिश की तो उन्हें हमारे सुप्रशिक्षित जवानों से मोर्चा लेना होगा।

जहाँ तक हमारी सेना के मनोबल का सम्बन्ध था, मेनन ने कहा कि इस समय वह पहले से बहुत ऊँचा था। मेनन ने कहा कि जो लोग मेना में हुई पदोन्नतियों को अधिलयन (फालगना, मुपरसंधन) बतला रहे थे, वे भूल कर रहे थे क्योंकि सेना में लेफ्टी० कर्नल के बाद प्रत्येक पदोन्नति के लिए चुनाव होता था, वह कोई 'पूर्वजन्म अधिकार' नहीं था, इसलिए अधिलयन का प्रदान ही नहीं पड़ा होता था। वरिष्ठता तो केवल एक तत्त्व था।

मेनन ने धीमे कहा, 'आचार्य कृपलानी को सेना का कोई ज्ञान नहीं है, वह मेना के निकट कभी नहीं गए। और उनको सेना के निकट जाने भी नहीं दिया जाएगा।' मेनन ने कहा ऐसा रगना था जैसे सेना के कुछ अधिकारियों ने कुछ सम्बन्धों में इस सम्बन्ध में बातचीत की थी। तब उन्होंने मेरी पदोन्नति (लेफ्टी० जनरल के पद पर) को ग्यासगत टहराते हुए कुछ अधिक प्रस्तुत किए : २२६ मेजर लेफ्टी० कर्नल बने और इस प्रथम में उन्होंने ४८१ मेजरो को फर्माया, ७० लेफ्टी० कर्नल कर्नल बने और इस प्रथम में उन्होंने ८३ मेजरो कर्नलों को फर्माया, ३६ कर्नल डिप्टीमेजर बने और इस प्रथम में उन्होंने १७ कर्नलों को फर्माया, ७ डिप्टीमेजर मेजर जनरल बने और इस प्रथम में उन्होंने १७ डिप्टीमेजरो को फर्माया, ४ मेजर जनरल लेफ्टी० जनरल बने और इस प्रथम में उन्होंने १ मेजर जनरलों को फर्माया। मेनन ने कहा कि अधिलयन तो सेना में मामान्य बात थी। जनरल निर्माणा ने भी धार्मी पीठ के पद पर उन्नति पाये समय तीन या चार सहायियों को फर्माया था।

मेनन ने कहा कि कृपलानी का यह कथन कि सेना के धनेक अधिकारियों ने धानधन दे दिये थे, एकदम सत्य था। यारविका का यह भी कि बका एक अधिकार ने समय से पूर्व रिटायर होने की इच्छा व्यक्त की थी।

उस लोक मना सच के लिए उठी तो नेहरू ने मुझे अपने न्याय-कार्य में ले कर कहा कि मैं अपनी सेवा में सम्बन्धित तत्त्व सत्य व निष्ठा कर उन्हें

हूँ ताकि वह संसद् को वास्तविकता से परिचित करा सकें। अपेक्षित सूचना मैंने अविधायक लिख कर नेहरू को दे दी और यह सुझाव दिया कि वह उन तथ्यों की सत्यता की जाँच करा लें। नेहरू ने मेरा सुझाव मान कर ऐसा ही किया।

नेहरू ने कहा कि कृपलानी तानाशाह की तरह बोलते हैं। उन्होंने कहा कि कृपलानी के निर्णय का गलत होना एक बात है किन्तु उनके तथ्यों का गलत होना दूसरी बात। नेहरू ने कहा कि कुछ लोगों का यह कहना कि मैं^{३३} (कौल) इन्फैण्ट्री ऑफिसर नहीं था, सरासर गलत था और केवल कुछ वर्षों के अतिरिक्त शेष समय मैंने इन्फैण्ट्री में ही बिताया था। नेहरू ने कहा कि यदि उन लोगों का मुझसे परिचय होता तो वे मुझे ठीक से समझ पाते। आगे उन्होंने कहा :

लेफ्टी० जनरल कौल हमारी सेना के योग्यतम एवं श्रेष्ठतम ऑफिसरों में हैं। ऐसा मैं पूर्ण विश्वास के साथ कह सकता हूँ। इसका मुझे पूरा निश्चय है कि यदि कृपलानी का उनसे परिचय होता तो उनकी (कृपलानी की) भी उनके (कौल के) बारे में यही राय होती। सेना के विषय में लोगों को इस प्रकार की बेकार बातें करते देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। हमारे पास एक अच्छी सेना और योग्य ऑफिसर हैं।

कृपलानी के इस आरोप के उत्तर में कि हमने एक रूसी को अपनी सीमा के ऊपर उड़ने का अवसर दिया था, मेनन ने कहा कि हम रूसी हेलीकॉप्टर खरीद रहे थे और इसके लिए हमें उस स्थान पर उन हेलीकॉप्टरों का परीक्षण करना था जहाँ कि वाद में उनसे काम लेना था। हमारे वायुयान-चालकों के लिए अभी यह मशीन नयी थी, इसलिए वे उस रूसी वायुयान-चालक से इस मशीन को सँभालने में शिक्षा ले रहे थे। इस विशिष्ट उड़ान पर कोई कैमरा नहीं ले जाया गया था और उड़ान भरने वालों में एक रूसी वायुयान-चालक, दो हमारे वायुयान-चालक तथा हमारा क्वार्टरमास्टर जनरल (अर्थात् मैं) थे। उन्होंने कहा कि २०,००० फुट ऊँची इस उड़ान पर जाने के लिए शायद ही कोई और व्यक्ति तैयार था।

इस गर्मागर्म बहस के बाद मेनन और कृपलानी ने आपस में हाथ मिलाये तथा इकट्ठे चाय पी। इस समय दोनों ने ही कहा कि उनके मन में एक-दूसरे के लिए किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं था।

३३. वास्तव में, उन्होंने तो 'चीफ ऑफ जनरल स्टाफ' कहा था जिससे अर्थ स्पष्ट था।

२३ अप्रैल १९६१ को 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' ने मेरा पक्ष लिया और निम्न :

कुछ महीने पहले, कड़कती सर्दों में एक रुमी हेलीकॉप्टर की परीक्षा लेने के लिए उसे लद्दाख के ऊपर उड़ाया गया था। इसके चालक एक रुमी विशेषज्ञ थे। अभी उड़ान पूरी होने में काफी देर थी कि इसके चालक ने इसके एकाकी यात्री को सूचना दी कि इसका ईंधन समाप्त हो गया था और नीचे उतरने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं था। पर्वतीय प्रदेश में एक प्लाने के आकार के स्थान पर हेलीकॉप्टर को नीचे उतारा गया। इसके यात्री थे लेफ्टी जनरल बी० एम० कौल जो अब चीफ ऑफ जनरल स्टाफ हैं। कौल को इस उड़ान पर जाने का आदेश नहीं दिया गया था। उन्होंने तो स्वेच्छा से इस भ्रमसर को गले लगाया था जिसे अनेक लोग एक जाननेवा उड़ान समझ कर टालने का प्रयत्न करते। किन्तु कौल नहीं, वह तो सख्त मिट्टी के बने हैं और उन्हें स्वरक्षा का कोई ध्यान नहीं.....वह इस बात का स्वयं जा कर सन्तोष करना चाहते थे कि यह रुसी हेलीकॉप्टर हमारे उत्तरी पूर्वी सीमान्त के लिए उपयुक्त मशीन रहेगी या नहीं। इस परीक्षण में उन्होंने जीवन की बाजी लगा दी। किन्तु यही तो कौल की विशिष्टता है.....दृढ़ स्वभाव के एव सुगठित शरीर के कौल हंसमुख व्यक्ति हैं किन्तु मूर्खों को महन नहीं

विशेषता रखते हैं। उनके जीवन का कुछ लक्ष्य है और वह लक्ष्य दैनिक जीवन की आवश्यकताओं तक ही सीमित नहीं है।...निर्णय करने में एक क्षण का विलम्ब नहीं लगाते तथा हर काम अविलम्ब पूरा करना चाहते हैं, उनके साथ कदम मिला कर चलना सरल काम नहीं है.....।

इस प्रकार की प्रशंसा तो मेरी कम ही होती किन्तु प्रहार मुझ पर अधिक होने.....धायद मेहन से मेरा सम्पर्क होने के कारण। यदि कुछ लोग मेहन के प्रतिरक्षा मन्त्री बनने से अप्रसन्न थे तो कम-से-कम मैंने तो उन्हें प्रतिरक्षा मन्त्री बनाया नहीं था। यदि कुछ लोग सोचते थे कि मैं मेहन की हर बात के सामने सिर झुका देता था चाहे वह सेना के हित के विरुद्ध ही क्यों न हो तो यह उनका एक भ्रम था, मैंने कभी ऐसा नहीं किया जंसा कि पाटको को इस पुस्तक के समाप्त होने पर स्वयं ज्ञात हो जाएगा। मेहन के प्रतिरक्षा मन्त्री होने के कारण मेरी कोई पदोन्नति नहीं हुई, मेरी पदोन्नति तो मेरी

सेवा के रिकार्ड के बल पर हुई और तब हुई जब मेरे सैनिक उच्चाधिकारियों ने उसके लिए सिफारिश की। मेहनत का और मेरा सम्बन्ध वह नहीं था जो कि बतलाया गया है। मैंने इस जटिल व्यक्तित्व का बड़ी दृढ़ता से मुकाबला किया और सेना के हित को सदा सर्वोपरि माना।

कुछ दिन पहले मुझे एक विश्वसनीय रिपोर्ट मिली थी कि बर्फ के पिघलने पर चीनी वाराहोटी (केन्द्रीय क्षेत्र में एक स्थान) पर अपनी सैनिक चौकी स्थापित करने का विचार कर रहे थे। जब मैंने तिमैया से इसकी चर्चा की तो उन्होंने मेरे इस विचार का समर्थन किया कि हमें चीनियों से पहले वहाँ अपनी चौकी स्थापित कर देनी चाहिए।

जब मैंने पूर्वी कमान के मुख्यालय से कहा कि वह सैनिकों की एक टुकड़ी वाराहोटी भेज कर वहाँ अपनी चौकी की स्थापना कर ले तो वहाँ से कुछ ढीला-सा उत्तर मिला कि यदि उन्होंने ऐसा कदम उठाया तो चीनी भी चुप नहीं बैठेंगे और वाद की स्थिति को संभालने के लिए उनके पास पर्याप्त संख्या में सैनिक नहीं थे। इस विषय पर उन लोगों से तर्क करने के बदले मैंने तिमैया से अनुमति ले कर यह काम अपने जिम्मे ले लिया। इसके कुछ समय पहले कुछ सैनिक कश्मीर में ऊँचाई पर लड़ाई करने का प्रशिक्षण ले कर लौटे थे, मैंने उनकी कमान प्रसिद्ध पर्वतारोही कैप्टेन (अब लेफ्टी० कर्नल) एन० कुमार को सौंप कर उन्हें इस अभियान का महत्त्व समझाया।

मैं चाहता था कि यह दल बर्फ पिघलने से पहले वाराहोटी पहुँच जाए और चीनियों से पहले वहाँ अपनी चौकी की स्थापना कर ले। इसलिए, मैंने कुमार को कहा कि जो व्यक्ति (अर्थात् कुमार) २५,००० फुट ऊँचे 'माउण्ट एवरेस्ट' पर चढ़ सकता था, उसके लिए १५,००० फुट ऊँची वाराहोटी पर पहुँचना कोई कठिन काम नहीं था। रास्ते में पड़ी बर्फ उन्हें नहीं घबड़ा सकती थी क्योंकि हिमालय पर बर्फ से उनका गहरा परिचय हो चुका था। अन्त में, मैंने उनसे कहा कि मुझे इस बात का पूरा विश्वास था कि देश ने जो दायित्व उन्हें सौंपा था, वह उसे निश्चित रूप से पूरा कर देंगे। इसके बाद मैंने उनकी सफल यात्रा के प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट कीं और उन्हें रवाना कर दिया।

वाराहोटी में अभी शरद ऋतु के समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कुमार ने जो-जो सुविधाएँ चाहीं थीं, वे मैंने उनको सुलभ करा दी थीं। उस उद्यमी एवं दृढ़निश्चयी नेता ने अपने जैसे पुरुषार्थी व्यक्तियों का दल पा कर अनेक निराशावादी व्यक्तियों की भविष्यवाणियों को असफल कर दिया और चीनियों से बहुत पहले वाराहोटी पठार में भारतीय तिरंगा लहरा दिया।

मैंने भी इस चौकी का काफी ध्यान रखा और वायु-मार्ग द्वारा रसद एवं

पन्च सामग्री पहुँचाने में कोई कसर न आने दी। वहाँ मैंने स्थायी छात्रास का भी निर्माण करा दिया ताकि ये लोग पूरे वर्ष वहाँ रह सकें। साथ ही वहाँ तक पक्की सड़क बनाने का काम मैंने लेपटी० कर्नल भाकें वेल्लेट्टिगरस जैसे उद्यमी एवं माहमी ऑफिसर को सौंप दिया।

घरान १९६१ में थापर ने ग्रामी चीफ का पद संभाल लिया।^{३६} वह एक विवेकशील, सुयोग्य एवं निष्पक्ष ऑफिसर थे; अपने पेशे के प्रति ईमानदार, सेवा के हितों के प्रति जागरूक एवं अपनी आस्थाओं के प्रति निष्ठावान थे। वह अपने विचारों की सहज अभिव्यक्ति में विद्वान्मय रहते थे तथा मत्स्य-कथन में, चाहे वह कितना भी कट्ट वयों न हो, अपने उच्चाधिकारियों के सामने भी नहीं हिचकते थे। ग्रामी चीफ के पद पर उनकी नियुक्ति के सम्बन्ध में घनेक भूँडे प्रचार किये गए और कहा गया कि नेहरू (और मेनन) सदा डिप्टी-कमिश्नरियों पर 'घनत' आक्षेपों की नियुक्ति करते रहते थे।

दिल्ली में जिन लोगों के साथ मुझे व्यवहार करना पड़ा उनमें लेपटी० बनन बशानिया (डिप्टी चीफ ऑफ ग्रामी स्टाफ), लेपटी० जनरल पी० पी० कुमांगमगलम् (एड्जुटेंट जनरल) तथा लेपटी० जनरल थार० जे० कोण्डू (क्वार्टरमास्टर जनरल) भी थे। उस समय मेजर जनरल मोंतीनागर पदोन्नतियों एवं पदस्थापनाओं के इंचार्ज सैनिक सचिव थे और उनके गहायक थे सिग्रेडियर एम० एम० बाइसाह। मोती और मैं कॉलेज में एक साथ थे तथा ईस्ट गेटे रेजीमेंट में भी उन्होंने मेरा अनुसरण किया था। घनती के वार्षिक में हुए कई बार साथ रहे थे तथा मैंने और लेपटी० जनरल घोषणे की ओर में क्रमशः ४ एवं २७ डिपोजिने

। १९५४ में, जब सिग्रेडियर, जनरल ममन उनका सहायक बन रहा था, एशिया में मैंने उनसे पूछा कि तुम्हारे स्विकार कर ली थी।

। ये। यहाँ वह कोण्डू (एड्जुटेंट जनरल) के घनती के वार्षिक में मेरा अनुसरण कर रहे हुए थे। भाग्य-

पाक सीमा पर एक इन्फैण्ट्री त्रिगेड के कमाण्डर के रूप में भी उन्होंने काफी प्रशंसनीय काम किया था।^{३५} बाद में, जब मैं क्वार्टरमास्टर जनरल के पद पर था, तो वह मेरे स्टॉफ पर थे और उन्होंने काफी सराहनीय काम किया था।

ओ० पुल्ला रैड्डी प्रतिरक्षा सचिव थे। एच० सी० सरिन संयुक्त सचिव (जी) थे और सैनिक ब्यूह-रचना, आसूचना, सीनियर ऑफिसरों की पदोन्नति तथा सेनाओं के विज्ञापन का कार्यभार उनके पास था। वह भारतीय सिविल सेवा के वरिष्ठ अधिकारियों में थे तथा अपने काम को बखूबी जानते थे। उत्तेजना से उनका परिचय नहीं था किन्तु किसी अनुचित काम को होते हुए देख कर शान्त भी नहीं बैठ सकते थे और उसका तुरन्त विरोध करते थे। मेनन के स्टॉफ पर एक और संयुक्त सचिव थे जॉन लाल जो सिविकम एवं भूदान के मामलों पर विशेषज्ञ थे। एडमिरल डी० शंकर प्रतिरक्षा उत्पादन के महानियन्त्रक थे। उन्होंने अनेक नये एवं महत्त्वपूर्ण संस्थापनों^{३६} की नींव डाली। प्रतिरक्षा मन्त्रालय के वित्तीय परामर्शदाता थे जयशंकर जो वित्त मन्त्री मोरारजी देसाई और प्रतिरक्षा मन्त्री कृष्ण मेनन, दो-दो स्वामियों की हाथरी देते थे। वह बड़े नम्र स्वभाव के एवं तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति थे।

विश्वनाथन गृह सचिव थे। उनके काम में कभी गलती नहीं होती थी। वी० एन० मल्लिक गृह मन्त्रालय में आसूचना विभाग के निदेशक थे। अपने सीमान्त से एवं विदेशों से आसूचना इकट्ठी करने का काम उनका था। वह प्रधान मन्त्री के पास किसी भी समय बेरोक-टोक जा सकते थे। वह देशभक्त एवं धर्मशील थे। उनके एवं मेरे काम में सदा एकरूपता रही। हम दोनों परस्पर मिल कर महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बन्धित अपनी-अपनी आसूचनाएँ एक-दूसरे के सामने रखते थे और उन पर विचार-विमर्श किया करते थे। उनके सहायक हूजा एक योग्य एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति थे तथा उनका व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली एवं आकर्षक था। एम० जे० देसाई, भूतलिंगम् एवं एस० एस० खेरा क्रमशः परराष्ट्र, वित्त एवं मन्त्रिमण्डल सचिव थे।

मेजर जनरल जे० एस० डिल्लन मेरे सहायक थे। इस पद पर मैंने उन्हें दो कारणों से चुना था—एक तो मेरा उन पर पूरा विश्वास था और दूसरे, वह इस पद के लिए पूर्णतः उपयुक्त थे। वह इम्पीरियल डिफेंस कॉलेज का पाठ्यक्रम पूरा कर चुके थे, जम्मू तथा कश्मीर में एक इन्फैण्ट्री डिवीजन की

३५. हुसैनीवाला में पाकिस्तानी सैनिकों को करारी पराजय देने का श्रेय उन्हें को है। इसके फलस्वरूप पाकिस्तानी त्रिगेड के त्रिगेडियर को दण्डित होना पड़ा था।

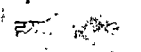
३६. जिनका फल आज मिल रहा है किन्तु दुर्भाग्यवश इसका श्रेय उनको नहीं दिया जा रहा।

कमान सँभाल चुके थे तथा सँपर ऑफिसर थे जो अपने में एक अतिरिक्त योग्यता थी ।

त्रिगेडियर टी० बी० चोपड़ा सैनिक कार्रवाई (मिलिटरी ऑपरेशन्स) के निदेशक थे । जब कुछ दिन बाद उनकी पदोन्नति हो गई तो कई कारणों पर विचार कर के मैंने त्रिगेडियर 'मोण्टी' पालित को इस पद पर नियुक्त कर दिया । वह एक मेधावी ऑफिसर थे और उनका भविष्य बड़ा उज्ज्वल था । सैनिक विषयो पर उन्होंने कुछ पुरतकें लिखी थी जिनका प्रकाशन विदेशों में हुआ था और उनकी काफी प्रशंसा हुई थी । जब ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन की कमान मेरे हाथ में थी तब उन्होंने मेरे अधीन एक ब्रिगेड की कमान की थी और तब मैं उनकी सैनिक योग्यता से बहुत प्रभावित हुआ था । अपने पेशे के प्रति वह बहुत खेतन थे तथा उसमें सम्बन्धित समस्त आवश्यक जानकारी रखते थे । त्रिगेडियर वीरेन्द्रसिंह 'डायरेक्टर ऑफ स्टॉफ इयूटीज' थे तथा वह एक निस्स्वार्थी एवं सभ्य ऑफिसर थे । कुछ महीने बाद उन्होंने घरेलू कारणों से सेना से अवकाश ले लिया था । (बाद में वह एन० सी० सी० के डायरेक्टर नियुक्त कर दिये गए थे ।) त्रिगेडियर 'जगू' सतारावाना ने उनसे कार्यभार सँभाला था । वह आकर्षक व्यक्तित्व के उद्यमी ऑफिसर थे तथा उन्होंने मेना मुख्यालय के समस्त डायरेक्टरों के काम का बड़े सुचारु रूप से समन्वय किया । मेजर जनरल टी० सी० मिथ सैनिक प्रसिध्दण के निदेशक थे और उन्होंने अपना काम बड़ी कुशलता, निष्ठा एवं लगन से किया । मेजर जनरल के० एन० दुवे सीमान्त मण्डल के महानिदेशक थे । निष्कलक चरित्र के दुवे बड़े सुशील एवं कुशल ऑफिसर थे । शस्त्र एवं उपकरण (वैपन्स एण्ड इकुइपमेंट) के निदेशक त्रिगेडियर आण्टिया परोपकारी प्रवृत्ति के व्यक्ति थे । सीमान्त सेना के कर्नल बी० एन० खन्ना मेरे विश्वासपात्रों में से थे । मेरे स्टॉफ पर अनेक सुयोग्य लेफ्टी० कर्नल एवं मेजर थे । लेफ्टी० कर्नल डी० एस० राव, बी० एन० खन्ना, टी० बी० कपूर और उज्जलसिंह बड़े निष्ठावान एवं परिश्रमी ऑफिसर थे । लेफ्टी० कर्नल तिलक मल्होत्रा मेरे सुयोग्य सैनिक सहायक (मिलिटरी असिस्टेंट) थे । त्रिगेडियर किम यादव 'जंगल वारफेयर स्कूल' के प्रसिद्ध कमाण्डेण्ट थे । स्वामी, गोविन्द एवं बबेजा मेरे सुयोग्य स्टेनोग्राफर थे तथा जोशू एवं हजारासिंह मेरे परिश्रमी चपरासी थे । कुल मिला कर मेरे स्टॉफ में काफी अच्छे आदमी थे ।

मेरा विचार है कि यहाँ मैं अपनी उस समय की दिनचर्या के विषय में भी कुछ बतलाऊँ । छत्तीस वर्ष पहले, जिस दिन टी० डब्लू० रीस ने मुझे 'जीवन में कठोर परिश्रम' का महत्त्व समझाया था, उसी दिन से मैंने प्रातःकाल जल्दी उठना और रात्रि को देर से सोना प्रारम्भ कर दिया था । मैं किसी आदत का गुलाम नहीं था, विस्तरे में मैंने धायद ही कभी चाय पी ही, दूध एवं फलों का

हल्का नाश्ता करता था, बिना विश्राम किये रात तक काम करता था और कई बार तो दोपहर का भोजन भी नहीं कर पाता था। इतने व्यस्त कार्यक्रम के साथ-साथ सामाजिक उत्सवों में भाग लेने, इतिहास, साहित्य, कविता एवं नाटक का अध्ययन करने, नाटक देखने तथा पर्वतारोहण के लिए भी समय निकाल लेता था। दिन में लगभग अठारह घण्टे काम करता था और अर्द्ध रात्रि के बाद ही शय्या पर लेटता था। काम कितना भी ज्यादा क्यों न हो, रोज़ का काम रोज़ निपटाना और अगले दिन के लिए कुछ बाकी न छोड़ना मेरा स्वभाव बन गया था। रोज़ की डाक का रोज़ जवाब देता था। जो कोई भी कुछ आशा ले कर मेरे पास आता, मैं उसकी बात बड़े ध्यान से सुनता और उसकी यथा-शक्ति सहायता करता। इतनी व्यस्त दिनचर्या में सोने के लिए जो थोड़ा-बहुत समय मिलता, उसका सदुपयोग करता। मेरा सिद्धान्त था कि दिन में काम अधिक है और उसको पूरा करने के लिए दिन में घण्टे कम हैं। लिफ्ट का उपयोग मैंने शायद ही कभी किया हो बल्कि सीढ़ियाँ चढ़ कर अपने कार्यालय में पहुँच जाता था। सदा तेज़ कदम रखता और जीवन के सब क्षेत्रों में मुझे तेज़ी ही पसन्द थी। सौभाग्य से मेरा स्वास्थ्य अच्छा था, इसलिए मैं इस समस्त शारीरिक एवं मानसिक श्रम को सहज रूप से वहन कर गया। सैनिक दस्तों की कमान करते समय या कठिन एवं भयंकर स्थानों पर घूमते समय भी मैं इसी दिनचर्या का पालन करता। इसलिए जब कुछ सहकर्मियों को मैं 'अधिक काम' की शिकायत करते सुनता तो मुझे हँसी आ जाती कि वे लोग मजदूर संघों द्वारा निर्धारित घण्टे तो काम करते और उसमें भी शायद ही कभी कोई कठोर काम करते तथा गोल्फ़, पोलो, अन्य मनोरंजन एवं गप के अपने कार्यक्रम में व्यतिक्रम न आने देते और फिर भी 'काम की अधिकता' का नारा लगाते। मुखौं से मुझे सख्त घृणा थी। काम मैं सबसे पूरा लेता था, काम में किसी प्रकार का बिलम्ब या कोई बहाना मुझे बिल्कुल भी स्वीकार न था। 'शिष्टाचार' के नाम पर अपने उच्चाधिकारियों से व्यर्थ में डरना मेरे स्वभाव के विरुद्ध था। अनेक राष्ट्रीय नेताओं को जो उस समय महत्त्वपूर्ण पदों पर प्रतिष्ठित थे, मैं वर्तमान सरकार के बनने के पहले से जानता था जिस समय मेरे कुछ सहकर्मी उनके पास जाने से भी कतराते थे कि कहीं उन्हें अंग्रेज़ों के क्रोध का शिकार न बनना पड़े।

चीफ़ ऑफ़ जनरल स्टॉफ़ का पद सँभालने के बाद मैंने देखा कि हमारे सीमान्त पर चारों ओर खतरे के बादल मँडरा रहे थे। लद्दाख़ से ले कर नेफ़ा तक पाकिस्तान और चीन की गृद्ध-भ्रुष्टि लगी हुई थी, नागा शरारत कर रहे थे तथा गोआ की समस्या अलग सामने थी। हमें सबसे बड़ा खतरा पाकिस्तान एवं चीन के अपावन संश्रय से था। इन दोनों देशों की सेनाएँ जिस प्रकार  पर जमा हो रही थीं एवं रोज़ कोई-न-कोई छेड़छाड़ कर रही

ची, उससे एक बात स्पष्ट थी कि ये हमें धक्काना चाहती थी। मुझे यह अनुमान नहीं लग पा रहा था कि ये देश हमारे विरुद्ध कब युद्ध छेड़ेंगे और कब तक हमें मनोवैज्ञानिक धमकी देंगे। किन्तु एक बात मैंने ठीक प्रकार से समझ ली कि हमें प्रत्येक क्षण सतर्क रहना चाहिए था तथा प्रत्येक स्थिति का मामला करने के लिए तैयार रहना चाहिए था। नैहरू और उनके सहयोगियों का अब भी यही विचार था कि इन देशों के माथ जो हमारी समस्याएँ थी, वे शान्ति से सुलभ जाएँगी।

यह प्रथम धक्का था जबकि मैंने भारत की प्रतिरक्षा से सम्बन्धित इतना महत्वपूर्ण पद संभाला था। अब तक मैंने इन मामलों को अप्रत्यक्ष रूप से धमकाने का प्रयास किया था। किन्तु अब मी० जी० एस० होने के कारण मैंने यह पता लगाने की योजना बनाई कि क्या भारतीय सेना अपने तन्त्रात्मक रूप से इन विदेशी धमकियों का मुकाबला करने की स्थिति में थी। यदि वह इस स्थिति में नहीं थी तो इसमें सुधार करने के लिए कौन-कौन से कदम उठाने चाहिए थे। साथ ही मैंने यह भी आवश्यकता अनुभव की कि एक बार मुझे स्वयं जा कर सीमान्त का निरीक्षण करना चाहिए। इसलिए लद्दाख में ले कर नेपा एवं नागालैण्ड तक फँसे हुए २,५०० मील लम्बे सीमान्त पर स्थित सैनिक चौकियों एवं महत्वपूर्ण स्थानों का मैंने स्वयं निरीक्षण किया और कुछ स्थानों का तो कई-कई बार निरीक्षण किया। किसी स्थान का फाइन में विवरण पढ़ने प्रथम उबे नक्शे में देखने की अपेक्षा स्वयं जा कर उसका निरीक्षण करना कुछ और ही चीज है। साथ ही, अपने सीनियर ऑफिसर को अपने बीच में देख कर सैनिकों का भी मनोबल बढ़ता है। इस काम में कई महोत्सव भी हुए।

इन स्थानों का निरीक्षण-अध्ययन करने पर एक बात मुझे स्पष्ट हो गई कि हमारे पास सैनिकों की संख्या^{३०} भी कम थी तथा युद्धास्त्र भी कम थे। इस स्थिति को सुधारने के मेरे प्रयत्न तालपीतासाही के सागर में डूब गए और मुझे बड़ी निराशा हुई।

जहाँ तक सैनिक प्रशिक्षण (मिलिटरी इन्स्टीट्यूट) का सम्बन्ध था, मुझे पता लगा कि विदेशी सेनाओं से सम्बन्धित प्रशिक्षण इकट्ठी करने का काम बृहन्नायक के प्रशिक्षण विभाग के पास था। किन्तु उनके पास पूरे साधन नहीं थे, इसलिए वे पूरी प्रशिक्षण इकट्ठी नहीं कर पाते थे और जो कुछ प्रशिक्षण वे जुटा पाते थे, वह सीमान्त में डूबी हुई सेना को मिल नहीं पाता था। (यदि प्रशिक्षण विभाग या सेना की ओर में अधिक धन या अधिक योग्य स्टाफ या अधिक साधनों की माँग की जाती थी तो उन्हें मिल सकता था।)

३०. सैनिकों के साथ-साथ हमारे पास दुर्लभ ऑफिसरों का भी दुर्लभ संख्या थी।

अभाविव वता कर अस्वीकृत कर दिया जाता था ।)

जहाँ तक मेना के प्रशिक्षण का सम्बन्ध था, उसमें हमें पुराने एवं दोषपूर्ण हथियारों का उपयोग करना पड़ता था क्योंकि आधुनिक हथियार हमारे पास पर्याप्त संख्या में नहीं थे । प्रशिक्षण के लिए 'क्षेत्र' भी हमारे पास थे और जो थे वे काफी-काफी दूरी पर थे । इस सम्बन्ध में सरकार से कई बार प्रार्थनाएँ की गईं किन्तु उसका कोई फल नहीं निकला । जिन स्थानों पर एवं जितनी मात्रा में हमें जमीन चाहिए थी, सरकार उसे हमें देने में असमर्थ थी क्योंकि वहाँ उद्योग एवं कृषि का विकास किया जा रहा था । इस महत्त्वपूर्ण समस्या को किसी-न-किसी प्रकार हल करना चाहिए था ।

जहाँ तक युद्ध-कौशल का सम्बन्ध था, हम लोगों को चीन की युद्ध-पद्धति का अच्छी तरह अध्ययन करना चाहिए था तथा उसके प्रत्युत्तर में सम्यक् युद्ध-पद्धति खोजनी चाहिए थी । इसके लिए सरकार को दोषी नहीं ठहराया जा सकता क्योंकि यह तो सेना के सीनियर सैनिक ऑफिसरों का दायित्व था और उन्होंने इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया । इसकी ओर तो जनरल स्टाफ तथा कोर एवं डिवीजन के कमाण्डरों को अधिक ध्यान देना चाहिए था । इस दिशा में कदम उठाने के लिए जनरलों को किसी की अनुमति की आवश्यकता नहीं थी । यदि उनके सामने कुछ कठिनाई थी तो उन्हें यह बात उच्चाधिकारियों के सामने रखनी चाहिए थी । हम में से किसी ने भी इस ओर ध्यान नहीं दिया । न तो गुरिल्ला युद्ध-पद्धति का कोई विशेष प्रशिक्षण दिया गया और न अन्य उपाय खोजे गए अन्यथा सैनिकों की संख्या की कमी तथा आधुनिक हथियारों की कमी कुछ पूरी हो जाती । इस भूल की ज़िम्मेदारी सेना के सब जनरलों पर है । १९६१-६२ में जब मैं चीफ ऑफ जनरल स्टाफ था तो अन्य जनरलों के साथ यह ज़िम्मेदारी मेरी भी थी और इसे पूरा न करने के लिए मैं भी अन्य जनरलों के साथ-साथ समान रूप में ज़िम्मेदार हूँ ।^{३८}

सैनिकों को पहाड़ों की ठण्डी जलवायु का अभ्यस्त बनाना, वहाँ हथियारों एवं टैंक-तोपों से काम लेना, वहाँ हवाई-अड्डे बनाना तथा वहाँ सैनिकों एवं युद्ध-सामग्री के लिए स्थान निर्मित करना आदि जटिल प्रश्नों की ओर मैंने अपना ध्यान केन्द्रित किया ।

भूटान एवं नेपाल जैसे भावुक क्षेत्रों से लगने वाले हमारे सीमान्त पर सैनिक समस्या में राजनीति मिली हुई थी । नेपाल, जो कि भारत में अंग्रेजी राज्य के

३८. इस भूल के लिए न तो किसी एक जनरल को दोषी ठहराया जा सकता है और न किसी एक जनरल को निर्दोष सिद्ध किया जा सकता है ।

समय नाम के लिए स्वतन्त्र था, के साथ मित्रता के सम्बन्ध बनाये रखना हमारे लिए कितना जरूरी था। जब भारत स्वाधीन हुआ तो उगने नेपाल की स्वाधीनता एवं प्रभुसत्ता का सम्मान किया और साथ ही वहाँ की लोकतान्त्रिक शक्ति नेपाली कांग्रेस के साथ भी सहानुभूति रखी। (नेपाली कांग्रेस वहाँ से राजाओं को उखाड़ना चाहती थी।) राजा नेपाल के वशानुगत शासक थे तथा गदा वहाँ के प्रधान मन्त्री पद पर प्रतिष्ठित रहते थे। सकट काल में वहाँ के राजा को उरप दे कर हमने उन्हें अपना छाभारी बना लिया। साथ ही नेपाली कांग्रेस और वहाँ की जनता की भी हमने सहानुभूति प्राप्त कर ली (क्योंकि हमें उनके लक्ष्य से सहानुभूति थी)।

कुछ समय पहले तक नेपाल मध्य युग में जी रहा था। वहाँ न अच्छी सड़कें थीं, न कोई रेल थी और केवल एक हवाई अड्डा था। नेपाली कांग्रेस के नेताओं ने यह सब सुधार एक रात में करना चाहा और इन प्रक्रम में राजा को प्रसन्न कर दिया। जब भारत की सहानुभूति नेपाली कांग्रेस से बनी रही तो राजा भारत से भी प्रसन्न हो गया। (इसलिए, नेपाल और भारत के सम्बन्ध बिगड़ते चले गए। हाँ, बाद में जा कर फिर सुधरे।) चीन जो भारत और नेपाल, दोनों के लिए खतरा बना हुआ है, ऐसे प्रत्येक अवसर का लाभ उठा कर दोनों देशों के बीच भ्रामक धारणाएँ (गन्तफहमियाँ) फैलाता रहता है ताकि उसका अपना स्वार्थ सिद्ध हो सके।

भारत और चीन के सम्बन्ध कुछ दिनों में बिगड़ते जा रहे थे। हमारी सीमा पर चीनियों की घुमपैठ बढ़ गई थी। भारत ने चीन को कई विरोध-पत्र भेजे किन्तु उनका कोई फल न निकला। चीनियों का खेल यह था कि वे अग्रिम क्षेत्रों में, विशेषतः लद्दाख में, जहाँ हम न दिखाई देते, अपनी चौकियाँ स्थापित

ये तो चीनियों को अपनी सीमा से बाहर खदेड़ने के लिए तैयार थे किन्तु नेहरू एव मेनन उन्हें ऐसा नहीं करने देते थे। ये केवल बीगें थी। सचार्ड यह भी कि जब कुछ वर्ष पहले परराष्ट्र मन्त्रालय के एक विशेषज्ञ ने यह प्रस्ताव रखा था कि हमें भी, चीन की भाँति, लद्दाख में ले कर नेफा तक अपनी सीमा पर अपने अधिकार की प्रतीकात्मक चौकियाँ स्थापित कर देनी चाहिएँ तो सैनिक हाई कमान ने साधनों का अभाव बता कर एव ऐसी चौकियों को सैनिक दृष्टि में निर्जन बता कर, इस प्रस्ताव को स्वीकार करने से मना कर दिया था। इसके साथ-साथ हमारी सरकार ने भी साधनों की इस कमी को पूरा करने का कोई

टोस कदम नहीं उठाया। परिणाम यह हुआ कि चीन बिना किसी रोक-टोक के हमारी सीमा में अपनी चौकियाँ स्थापित करता रहा। जनता को जब इन घुसपैठों का पता चलता तो वह सरकार से चीन के विरुद्ध सख्त कदम उठाने का आग्रह करती।

इस बीच सीमान्त प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए नेहरू ने मुझे कई बार बुलाया। मैंने उनके सामने स्थिति रखते हुए कहा कि क्योंकि सरकार ने सशस्त्र सेना के बार-बार कहने पर भी उसको शक्तिशाली नहीं बनाया, इसलिए आज वह चीन की सेना से फलप्रद मोर्चा लेने में असमर्थ थी। मेरा यह तर्क नेहरू को कभी अच्छा नहीं लगा।

लोक सभा के कुछ प्रतिपक्षी नेताओं एवं नेहरू की परराष्ट्र मन्त्रालय में एक गुप्त बैठक हुई जिसमें प्रतिरक्षा मन्त्री, आर्मी चीफ और मैं भी उपस्थित थे। इस बैठक में नेहरू ने अपने सीमान्त की सैनिक स्थिति की रूपरेखा सबके सामने रखी। किन्तु नेहरू के स्पष्टीकरण का किसी प्रतिपक्षी नेता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उनमें से एक ने कुछ इस प्रकार की बात कही : 'इन्सान को दो चीज प्यारी हैं : ज़मीन और स्त्री। आपने चीनियों को १२,००० वर्ग मील ज़मीन तो दे दी, क्या अब हमारी स्त्रियाँ भी उनको देने का इरादा है?' इस पर नेहरू का मुख तमतमा गया किन्तु उन्होंने कहा एक शब्द नहीं।

इस सम्बन्ध में जनता द्वारा की जाने वाली आलोचना से नेहरू पूर्णतः परिचित थे और साथ ही अपनी सशस्त्र सेना की सीमा का भी उन्हें ज्ञान था। इसलिए नेहरू किसी ऐसे मध्य मार्ग की खोज में थे जिसे युद्ध भी न कहा जा सके और जिससे जनता भी सन्तुष्ट हो जाय। १९६१ के शिशिर में नेहरू^{३६} ने अपने कमरे में एक गोष्ठी बुलाई जिसमें मेहनत, थापर और मैं उपस्थित थे। पहले तो उन्होंने मानचित्र पर उन स्थानों को देखा जहाँ चीन ने तभी घुसपैठ की थी। इसके बाद उन्होंने कहा कि सीमान्त क्षेत्र में जो पहले सैनिक चौकियाँ (चाहे प्रतीकात्मक ही) स्थापित कर लेगा, उस स्थान पर वह अपने अधिकार का दावा करेगा और 'कब्ज़ा सच्चा, भगड़ा भूठा' वाली कहावत चरितार्थ होगी। उन्होंने पूछा कि जब वहाँ चीनी अपनी चौकियाँ स्थापित कर सकते थे तो हम क्यों नहीं कर सकते थे? हमने कहा कि सेना कम होने के कारण तथा कुछ अन्य युद्ध-कौशल सम्बन्धी बातों के कारण इस दौड़ में हम चीनियों का मुकाबला नहीं कर सकते थे। यदि हम चौकियों की स्थापना भी कर लेते तो उनका

३९. अपनी सीमा पर चीन या किसी देश द्वारा किए गए प्रत्येक अतिक्रमण की सूचना नेहरू को तुरन्त दी जाती थी। इस सम्बन्ध में समय-समय पर वह मुझसे विचार-विमर्श भी करते रहते थे। १९६१ के शिशिर तक, यद्यपि चीन की बढ़ती हुई घुसपैठ से वह कुछ चिन्तित तो हो उठे थे, उन्होंने प्रत्याक्रमण की बात नहीं सोची थी यद्यपि शब्दों में वह चीन को कई बार धमकी दे चुके थे।

पोरण करना हमारे लिए बहुत कठिन था। साथ ही चीन के पाग धाधुनिक युद्धत्व थे और वह हमारी इन चौकियों का दो दिन टिकना मुश्किल कर देता। वैसे हमने भी कुछ थोड़ी-नी चौकियाँ स्थापित कर ली थीं किन्तु उनका पोषा करने में जितनी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, वह हम ही जानते थे।

उसके बाद जो विचार-विमर्श हुआ, उसका निष्कर्ष (जहाँ तक मैं समझा) यह था कि क्योंकि चीन के भारत से युद्ध छेड़ने की तो कोई सम्भावना थी नहीं, इसलिए जहाँ तक चौकियों की स्थापना का सम्बन्ध था, हम भी क्यों न उस स्तर-स्तर के खेल में अपनी बुद्धि-उन्मत्त में भाग लें। दूसरे शब्दों में, हम भी जहाँ अपनी सीमा मानते हो, उम क्षेत्र में अपनी प्रतीकात्मक चौकियाँ स्थापित करनी प्रारम्भ कर दें। हमारे इन प्रतिरक्षात्मक कदम से अधिक-से-अधिक चीन मुँह बनाएगा और कुछ नहीं करेगा। अपने सीमान्त के सम्बन्ध में हमने यह नयी नीति निर्धारित की थी (जिसे कुछ ने 'अग्रगामी' नीति या 'फारवर्ड' पॉलिसी का नाम दिया था)। वर्ष के समाप्त होते-होते लद्दाख और नेफा में लगभग पचास में अधिक ऐसी चौकियाँ हमने स्थापित कर दी और अपनी भारतीय सीमा के २,००० वर्ग मील स्थान पर अपना कब्जा कर लिया। इन चौकियों को प्रशासन की दृष्टि में स्थापित नहीं किया गया था क्योंकि वहाँ कोई रहना तो था नहीं अपितु ये तो इसलिए स्थापित की गई थी ताकि चीन 'अक्सार्ड चीन' की घटना को न दोहरा सके। मेरे विचार में नेहरू ने यह नीति समझ एव जनता को सन्तुष्ट करने के लिए निर्धारित की थी। हो सकता है कि उन्होंने चीन को उसी की धान से मात देने की सोची हो। उन्होंने यह नीति तब अपनाई जब भारत और चीन नित प्रति दिन बिगड़ते जा रहे थे। इसमें उन्होंने अपने आलोचकों का मुँह बन्द करने की सोची थी। सीमान्त स्थिति को संभालने के सम्बन्ध में ससद् में प्रतिपक्षी दलों द्वारा अपनी गैर-यथार्थवादी एव रोज-रोज की आलोचना से तग घा कर उन्होंने यह नीति अपनाई थी। (किन्तु बाद की घटनाओं ने ऐसा उग्र रूप धारण किया कि १९६२ में भारत एवं चीन में युद्ध छिड़ गया जिसकी किसी भारतवासी को आशंका नहीं थी)।

शार० के० नेहरू ने १९६१ में जयप्रकाश नारायण को और मुझे भोजन के लिए आमन्त्रित किया। उस समय हमने अनेक विषयों पर चर्चा की जिनमें अपनी सीमा पर चीन की धमकियाँ भी शामिल थी। ६४ वर्षीय जयप्रकाश नारायण का लोकप्रिय नाम है ज० पी०। वह विनम्र है, उदार है एव सन्त जैसा जीवन व्यतीत करते हैं। प्रसिद्धि की उन्हें कोई चाह नहीं है। अंग्रेजी शासन में वह

ख्याति-प्राप्त क्रान्तिकारी थे। इस अवसर पर मुझे उनके असंख्य त्याग स्मरण हो आए जो उन्होंने अपने क्रान्तिकारी जीवन में स्वदेश के लिए किये थे। उनके अनेक स्वप्न अधूरे रह गए। अंग्रेजों की अवज्ञा करने के फलस्वरूप उन्हें वर्षों जेल में रखा गया तथा उन पर असंख्य अत्याचार दाये गए किन्तु इन सब से उनका साहस नहीं टूटा। एक समय सरकार ने उनके सिर पर काफी बड़ा पुरस्कार घोषित किया था। १९४२ के आन्दोलन में उनके साहसपूर्ण कृत्यों से तो एक स्वतन्त्र पुराण तैयार हो सकती है। एक बार लगातार पचास दिन और रात पुलिस ने उनसे पूछताछ की और जब थकान के कारण उन्हें नींद आ गई तो पुलिस ने उनके मुँह पर थप्पड़ मारा। एक बार उन्हें लगातार सोलह महीने तक एक छोटी-सी कौठरी में रखा गया (क्योंकि इससे पहले वह एक बार पुलिस के हाथों से निकल गए थे)।

१९४६ में उन्हें जेल से छोड़ा गया। इसके बाद वह जब दिल्ली आए तो मैं और शाहनवाज़ उनसे प्रायः मिला करते थे। जे० पी० से मुझे सदा लगाव रहा है और मैं उनको नेहरू का सम्भावित उत्तराधिकारी मानता था। १९४९-५० में मैं उनसे जालंधर में भी मिला था। वहाँ उनके सार्वजनिक भाषण को सुनने के लिए मैं और मेरी पत्नी, दोनों गए थे। उनकी सत्यनिष्ठा एवं देश-भक्ति का मैं सदा प्रशंसक रहा हूँ। अच्छा होता यदि उन्होंने सक्रिय राजनीति से संन्यास न लिया होता। यद्यपि वह कभी किसी सरकारी पद पर नहीं रहे, किन्तु उन्होंने अपना प्रत्येक क्षण देश सेवा में व्यतीत किया है। वह सुशिक्षित हैं, प्रभावशाली व्यक्तित्व के अधिकारी हैं एवं आत्म-सम्मान से जीना पसन्द करते हैं। वह धैर्यवान्, कुशल एवं शान्त प्रकृति के हैं। हमारी समस्याओं को उन्होंने देश एवं विदेश में, उनके ठीक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। अब इस विडम्बना को क्या कहा जाए कि जब भी वह भारत, कश्मीर, नागालैण्ड या पाकिस्तान के बीच मधुर सम्बन्धों पर बल देते हैं तो लोग उनकी देशभक्ति या सत्यनिष्ठा में सन्देह करना प्रारम्भ कर देते हैं। लोग भूल जाते हैं कि जे० पी० ने देशसेवा में ही अपना सम्पूर्ण जीवन उत्सर्ग कर दिया है और बहुत कम लोग ऐसे हैं जिन्होंने देश के लिए उनसे अधिक त्याग किये हों। किन्तु जब और लोग इन्हीं मधुर सम्बन्धों की बात करते हैं तो उनकी प्रशंसा की जाती है। आज हम में से अनेक लोग उनके सद्भाव के प्रति शंका प्रकट करते हैं जैसे कि उनके सद्भाव के प्रति कभी शंका प्रकट की जा सकती हो।

मेजर जनरल हरिचन्द बधवार से मेरी प्रथम भेंट १९४६ में हुई थी और तब से हम दोनों के सम्बन्ध गाढ़े ही हुए थे। द्वितीय विश्व युद्ध में, जब वह जापानियों के बन्दी थे, उन पर अनेक अत्याचार दाये गए किन्तु उस वीर ऑफिसर

ने घाना मुँह न खोला । इसके लिए उन्हें एम० बी० ई० की उपाधि से सम्मलन किया गया । उन पर हमारी सेना को गर्व था । १९६१ में पता लगा कि उनको फेरुडे का कैम्पर हो गया था और वह कुछ ही दिन के मेहमान थे । इन्हे ही मुझे यह दुःखद सूचना मिली, मैं उनमें मिलने चम्बई गया । वह बड़े पैमाने पर इस स्थिति का मुकाबला कर रहे थे किन्तु उन्हें अपने परिवार के विषय में चिन्ता थी । उन्होंने मुझमें कहा कि एक बार अमरीका के प्रसिद्ध कैम्पर विशेषज्ञ डॉ० पैक को यह दिखलाना चाहते थे । शायद डॉ० पैक उनके जीवन की प्रवृत्ति को कुछ बढ़ा दें ।

दिल्ली लौट कर मैंने व्यक्तिगत रूप में धन का इकट्ठा करना शुरू कर दिया ताकि हरि अमरीका जा कर अपना इलाज करा सके । पहले मैंने अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार कुछ धन रखा और फिर बक्तवन्द कोर (हरि का मूल पय) के सम्बद्ध ऑफिसरों से यथासक्ति सहायता करने को कहा किन्तु उन्होंने कोई-कोई बहाना बना कर मुझे टाल दिया । वैसे ये ऑफिसर अपनी कोर के प्रति अपने प्रेम की लम्बी-चौड़ी डींगें हाँका करते थे किन्तु इस समय किसी ने एक पैसा न दिया । इसी बीच हरि को अमरीकी राजदूत गैलब्रेथ से सहायता का आश्वासन मिल गया ।

मुझे लगा कि इस स्थिति में एक विदेशी सरकार का सहायता करना हमारे लिए गौरव की बात नहीं थी । इस समय तो अपनी सरकार को आगे बढ़ना चाहिए था । इसलिए, मैंने (जनरल थापर की सहमति से) मेहनत एवं नेहरू से अनौपचारिक रूप से बात की । उन्होंने उत्तर दिया कि इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की आर्थिक सहायता देना सरकार के लिए इसलिए सम्भव नहीं था क्योंकि ऐसा करने से भविष्य के लिए एक गलत दृष्टान्त (मिसाल) स्थिर हो जाता । कितनी विचित्र बात है कि एक छोटे तो एक व्यक्ति के

हैं । मैंने नेहरू से पूछा कि क्या मैं इस सम्बन्ध में अपनी व्यक्तिगत क्षमता से अमरीकी राजदूतावास से इस सम्बन्ध में बात कर सकता था । इसके लिए कुछ खिन्न मन में नेहरू ने सहमति दे दी । सयोग की बात कि घगले दिन चैस्टर वाउल्स दिल्ली आ पहुँचे । मैं हरि के सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए गैलब्रेथ के पास गया तो वहाँ चैस्टर वाउल्स से भी मुलाकात हो गई । मैंने उनसे प्रार्थना की कि जब तीन दिन बाद वह अमरीका लौटें तो हरि एवं उसकी पत्नी को भी अपने साथ अपने वायुयान में ले जाएँ क्योंकि हरि के पास अमरीका जाने के लिए वायुयान का भाड़ा नहीं था । मेरी इस प्रार्थना को चैस्टर वाउल्स ने सहर्ष स्वीकार कर लिया । हरि और उसकी पत्नी समय पर दिल्ली पहुँच गए । जब मैं उन दोनों को हवाई-अड्डे पर विदा करने गया

तो यह देख कर मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ कि भारतीय सेना या वक्तरवन्द कोर का उनका कोई भी साथी उन्हें इस यात्रा पर शुभ कामनाएँ प्रकट करने नहीं आया जिससे कि वह शायद न भी लौटते। (क्या उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह अमरीका जा रहे थे ?) हरि को अपने प्रति बरती गई इस उपेक्षा से काफी चोट लगी।

वाद में मुझे दिल्ली-स्थित अमरीकी सैनिक सहचारी कर्नल सी० ए० कर्टिस से पता चला कि अमरीकी सैनिक सचिव एल्विस जे० स्टार जूनियर ने अमरीका सरकार से यह अनुमति प्राप्त कर ली थी कि अमरीका में हरि का मुपत इलाज हो जाए। यह एक बहुत बड़ी सुविधा थी जो अमरीका ने हरि को प्रदान की थी। मेरा विचार यह है कि हरि को यह सुविधा चैस्टर वाउल्स के प्रयत्नों के फलस्वरूप मिली थी जिन्होंने राष्ट्रपति कैंनेडी से मिल कर इसका प्रवन्ध किया था। मैं तो चैस्टर वाउल्स की इस उदारता का चिर प्रशंसक रहूँगा।

न्यूयार्क में डॉ० पैक ने हरि का इलाज किया। चैस्टर वाउल्स समेत जितने व्यक्ति हरि के सम्पर्क में आये, वे सब उनके साहस को देख कर बड़े प्रभावित हुए। इस अवधि में उनकी पत्नी ने भी काफी तपस्यामय जीवन बिताया। कुछ महीनों में इलाज के बाद हरि की स्थिति कुछ सुधर गई और वह नवम्बर में भारत लौट आए। उनके लौटने पर सशस्त्र सेना चिकित्सा विज्ञान के महानिदेशक लेफ्टी० जनरल शिव भाटिया और मैं उनसे मिलने गए। उनका जीवन बचाने के लिए हम लोगों ने काफी भागदौड़ की किन्तु भाग्य से कौन लड़ पाया है। कुछ दिनों बाद उनको कुछ ठण्ड हो गई और भाग्य की विडम्बना देखिए कि कैंसर का रोगी ब्रॉकाइटिस के रोग से मर गया।

मेरी पुत्री अनुराधा और उसके पति 'हनीमून' के लिए कलकत्ता गए। उनको गए कठिनाई से एक सप्ताह बीता होगा कि नागालैण्ड में लड़ाई छिड़ गई। अजय सप्रू का लड़ाकू स्कुएड्रन इस समय नेफा में था, इसलिए उन्होंने इस संकट काल में अपनी सेवाएँ स्वेच्छा से अर्पित कर दीं। अगले दिन उन्हें पूर्वी सीमान्त पर कहीं भेज दिया गया। जैसा कि स्वाभाविक था, इस स्थिति से (नववधू) अनु काफी घबड़ा गई। कुछ दिन बाद वह हमारे पास रहने के लिए आ गई। उसकी अस्त-व्यस्त स्थिति को देख कर हमने उसे डॉक्टर को दिखलाया। डॉक्टर ने निदान किया कि उसके दो काफी बड़ी रसूलियाँ थीं जिनको अविलम्ब निकलवाना अनिवार्य था। बड़े ऑपरेशन के लिए हम उसे वम्बई ले गए। ऑपरेशन के समय मैं और बन्नो (मेरी पत्नी) काफी चिन्तित रहे और अनु के स्वास्थ्य-लाभ के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते रहे। अभी अनु की तरह ठीक भी नहीं हो पाई थी कि सूचना मिली कि अजय का दायरा

केरड़ा सिथिल पड़ गया था। मैं उसको तुरन्त शोध ले गया जहाँ सुविख्यात सर्जन कर्नल चक ने उसका ऑपरेशन किया और फेफड़े का कुछ भाग काट दिया। घ्रजय की बीमारी का अनु पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और वह धीरे-धीरे पुनती गई तथा छाया मात्र रह गई। एक दिन वह मूर्च्छित हो गई, डॉक्टरों ने निदान किया कि उसे सग्निपात का आक्रमण हुआ था। यह बहुत बड़ा आघात था। उसको इस दशा में देख कर हमारा हृदय रो उठता था।

दुर्भाग्य की छाया मेरे ऊपर सघन होती जा रही थी। मैं इस समय अपने को बहुत एकाकी अनुभव कर रहा था। मुझे अपने प्रति यह एक बहुत बड़ा धन्याय लग रहा था। इस समय मैंने वाशिंगटन ग्लेडन की इन पक्तियों में सान्त्वना प्राप्त की :

✓ And fierce though fiends may fight, long though
angels hide,
I know that truth and right have the universe on
their side.*

कुछ क्षणों में यह प्रचार हुआ कि शायद नेहरू का उत्तराधिकार मुझे प्राप्त हो। उदाहरण के लिए, 'करण्ट' के सम्पादक डी० एफ० करारका ने ७ अक्टूबर १९६१ के अंक में लिखा :

नेहरू को जनरल कौल पर बहुत अधिक विस्वास है और कौल के होने हुए उन्हें सेना में कितने प्रकार की अनुशासनहीनता की या लोकतन्त्र में कितनी प्रकार के विघटन की कोई आशंका नहीं है..... यदि नेहरू ने कभी अपने उत्तराधिकारी का नाम बताने की सोची तो वह सम्भव है कि वह समस्त पुराने परिचित कांग्रेसी नामों को छोड़ कर जनरल कौल का नाम लें।

इस नेत्र में धारण कहा गया था :

यदि कौल कभी मुँह खोलते हैं तो वे बन आदेश देने के लिए और जब तक वह आदेश देने की स्थिति में नहीं होते, तब तक शान्त रहना पसन्द करते हैं। कौल हर चीज पर नजर रखते हैं। वह वे बन आशंका के पीछे ही नहीं बनेंगे अपितु एक दिन भारत के प्रथम मन्त्री भी बन सकेंगे हैं.....

✓*(चाहे कौल कितना ही भयंकर युद्ध करें और देशद्रोही की लम्बी शक्ति तक शक्ति न रहना पड़े किन्तु मैं जानता हूँ कि अन्त में विजय सरत और ईमानदारी की होगी।)

इसलिए कुछ राजनीतियों तथा सैनिकों ने, ईर्ष्यावश, जनता में मेरे विम्ब (इमेज) को प्रत्येक सम्भव उपाय से विकृत करना प्रारम्भ कर दिया।

ब्रिटेन के प्रतिरक्षा प्रमुख लार्ड लुई माउण्टबेटन (एडमिरल ग्रॉफ दि फ्लीट) द्वारा आयोजित सैनिक व्यायाम देखने के लिए अगस्त १९६१ में थापर और मैं इंग्लैण्ड गये। अनु की अस्वस्थता के कारण मैंने एक बार न जाने की सोची किन्तु मेरी पत्नी धन्नो ने मुझे आश्वासन दिलाया कि वह अकेली ही अनु की देख-भाल कर लेंगी और मुझे सैनिक कर्तव्य को पूरा करना चाहिए। अनु को इस दशा में छोड़ने को मन नहीं करता था किन्तु धन्नो के अधिक कहने-मुनने पर मैं इंग्लैण्ड चला गया। गजा और बेरूट होते हुए हम लन्दन पहुँचे। वहाँ पहुँच कर पता चला कि अनु की तबियत वैसी ही थी। दोनों (माँ-बेटी) की पीड़ा की कल्पना कर मेरा मन सिहर उठता था। कोई माँ अपने बच्चे को इतने कष्ट में नहीं देखना चाहती !

मैं २८ वर्ष बाद इंग्लैण्ड गया था। इस बीच वहाँ बहुत कुछ बदल गया था। न अब भारत ब्रिटेन के अधीन था और न ही अब ब्रिटेन ही विश्व की एक बड़ी शक्ति थी।

लन्दन में हमारा अच्छा स्वागत हुआ। सैनिक व्यायाम का आयोजन कैम्बरले में किया गया और लार्ड लुई माउण्टबेटन के निदेशन में यह सफल रहा। माउण्टबेटन ने थापर को बधाइयाँ दीं। मेजर जनरल याह्या खान से, जो उस समय पाकिस्तान में मेरे प्रतिरूप (काउण्टरपार्ट) थे और अब वहाँ के कमाण्डर-इन-चीफ हैं, कैम्बरले में मेरी काफी बातचीत हुई। माउण्टबेटन के कहने पर मैंने चुने हुए ऑफिसरों के सामने वार ऑफिस में एक भाषण दिया जिसमें भारतीय सेना की समस्याओं को सामने रखा। वहाँ मैं वार ऑफिस इण्टेलीजैन्स के अध्यक्ष मेजर जनरल स्ट्रांग, चीफ ऑफ इम्पीरियल जनरल स्टॉफ और उनके डिप्युटी जनरल सर जॉन एण्डरसन (?) से भी मिला।

ब्रिटिश ऑफिसरों ने तो शुरू में यह भविष्यवाणी की थी कि उनके बिना भारतीय सेना चल ही नहीं पाएगी। इसलिए थापर को और मुझे इतने ऊँचे पदों पर देख कर उन्हें विश्वास नहीं हो रहा था कि हम सचमुच इन पदों पर आसीन थे। बार-बार वे सन्देहशील दृष्टि हमारी ओर डालते और चुप रह जाते। कुछ ऑफिसर जरूर ऐसे थे जो हमें समृद्ध देख कर सचमुच हर्षित हुए थे।

जब मैं कैम्बरले से लन्दन लौटा तो वहाँ रहने वाले जॉट रेजीमैण्ट के अवकाश-प्राप्त ब्रिटिश ऑफिसरों ने मुझे निमन्त्रित किया। अनेक पुराने मित्रों से मिल कर मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। इनमें ब्रिगेडियर मैक्फरसन भी थे जिनकी

ब्रिगेड में मैं सवाल्टर्न रह चुका था ।

पॉक्सफोर्ड में मैं अपने भतीजे विनीत हक्सर से मिलने गया । विनीत वहाँ शिक्षक था । उसने मुझे पूरा विश्वविद्यालय दिखलाया और एक कहानी सुनाई जो कुछ समय पहले एक अन्य शिक्षक ने सुनाई थी :

I am a Master at the Balliol College

And what I don't know is not knowledge.

एक रविवार को मैं ब्राइटन गया तथा एक को कॉम्ब्रिज । फार्नबरो में मैंने 'हवाई प्रदर्शन' देखा । बाद में मैंने वह फ़ैक्टरी भी देखी जहाँ हमारे 'विकस' टक बनते थे ।

लन्दन में, वर्मा शैल के स्वामी सिन्वलेयर ने मुझे अपने यहाँ निमन्त्रित किया । वहाँ मैं 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' के सुयोग्य सवाददाता जी० वं० रैडी एवं उनकी गुणवती पत्नी कान्ता से, अबकाश-पत्र मेजर जनरल पी० एस० चौधरी एवं उनकी सुन्दर पत्नी त्रिपट से तथा अन्य लोगों से मिला । एक दिन के लिए ड्यूटी पर पेरिस गया तथा दो दिन की छुट्टी ले कर १५ सितम्बर १९६१ को बर्लिन पहुँचा ।

बर्लिन के हवाई-ब्रिड्ज पर, नगर के लोकप्रिय वर्गोमास्टर (मेयर, नगरपति) विल्ली ब्राण्ड्ट के एक प्रतिनिधि ने मेरा स्वागत किया तथा उनकी ओर से एक पुष्पगुच्छ एवं एक पत्र भेंट किया । पत्र में मेयर महोदय ने स्वयं उपस्थित न होने का कारण देते हुए कि उस दिन नगर में चुनाव थे और वह उसमें व्यस्त थे, इसके लिए क्षमा माँगी थी । पत्र में उन्होंने लिखा था :

'आपकी यात्रा ने हम बहुत हर्षित हैं...मुझे विश्वास है कि इस नगर की स्थिति अपने नेत्रों से देखने के बाद आप अपनी सरकार को यहाँ की वास्तविक स्थिति से अच्छी तरह अवगत करा पाएँगे । बर्लिन में अधिक किसी नगर को दान्ति में प्रेम नहीं हो सकता क्योंकि युद्ध की विभीषिकाओं में आज भी हम मुक्त नहीं हो पाए हैं । इसके बाद भी आज हम अपने मूल अधिकारों के लिए संघर्षरत हैं । हम मानवीय अधिकारों की माँग करते हैं, न इससे अधिक और न इससे कम...'

उस दिन सन्ध्या को हेर ब्राण्ड्ट से मेरी भेंट हुई । वह एक प्रभावशाली, सत्पनिष्ठ एवं उद्यमी नेता थे ।

इसके पहले मैं जब बर्लिन गया था तो वहाँ हिटलर का साम्राज्य था । उसके बाद बर्लिन ने अनेक यातनाएँ सही किन्तु अपनी अपराधीय आत्मा के

कारण वह आज भी जीवित था। जर्मनों ने अपने को दुबारा समृद्ध बनाने के लिए अनथक परिश्रम किया था। जिस शीघ्रता से उन्होंने स्वयं को फिर से ऊपर उठाया था, उसकी सराहना सम्पूर्ण विश्व करता था।

एक महीने पहले पूर्वी एवं पश्चिमी वालिन के बीच एक दीवार खड़ी कर दी गई थी तथा नगर को चार क्षेत्रों—रूसी, अमरीकी, ब्रिटिश एवं फ्रांसीसी—में विभाजित कर दिया था। कुछ जर्मनों से बातचीत करने पर पता चला कि इस दीवार के प्रति सबके हृदय में अपार घृणा थी। कुछ जर्मनों ने अपने विचारों को न व्यक्त करना ही श्रेयस्कर समझा तथा कुछ ने इस अमानवीय कृत्य का खुल कर विरोध किया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि यह उनके देश पर सबसे बड़ा कलंक था।

उस सन्ध्या की बात है, होटल के अपने कमरे में मैं बैठा हुआ था। अतु के स्वास्थ्य का कोई समाचार न मिलने के कारण मेरा चित्त बड़ा उदास था। विदेश आने पर मैं पछता रहा था और बार-बार मन यह कहता कि उस समय मुझे अपनी बेटी की परिचर्या में होना चाहिए था। जिस समय उसको मेरी सख्त ज़रूरत थी, उस समय मैं वालिन में बैठा हुआ था। इन्हीं विचारों में भटकता मेरा मन अपनी विवशता पर दुखी हो रहा था कि इस दुनिया की कठोरता का स्मरण हो आया।

मुझे यह सोच कर कितना क्लेश हुआ कि पिछले कुछ वर्षों में मेरे कुछ विरोधियों और समसामयिकों ने मेरी प्रगति से चिढ़ कर मुझे अपमानित करने, मेरे प्रयासों को महत्त्वहीन सिद्ध करने तथा मेरे विम्ब को विकृत करने में कुछ उठा नहीं रखा। मुझे सब से अधिक दुःख तब हुआ जब उन्होंने मेरी व्यावसायिक क्षमता में शंका प्रकट की। मेरे प्रति घृणा पैदा करने के लिए ईर्ष्यावश अनेक झूठी बातों का प्रचार किया गया। मेरी देशभक्ति और आत्म-सम्मान की भावनाओं पर चोट की गई तो अपने निन्दकों की निर्लज्जता पर मैं आश्चर्य-चकित रह गया। मुझे लगा कि मेरे आलोचकों ने मेरे प्रति उचित न्याय नहीं किया। मेरे पास ऐसा कोई मंच नहीं था जहाँ से मैं अपना बचाव कर सकता या तथ्यों को प्रकाश में ला सकता। अपने कष्टसाध्य दायित्वों को पूरा करते हुए भी, जब मुझपर इस प्रकार कीचड़ उछाली गई तो मुझे बहुत क्लेश हुआ और लगा कि यह संसार दुष्टों से पूर्ण है। काफी समय तक मैं इसे चुपचाप सहन करता रहा, किन्तु मैं कोई अतिमानव तो था नहीं, मेरी सहनशक्ति की सीमा तो थी ही। मैंने अनुभव किया कि मनुष्य को दुष्टों का सामना साहस से करना चाहिए तथा व्यर्थ में खिन्न नहीं होना चाहिए। किन्तु क्या कोई ऐसा व्यक्ति है जिसके जीवन में ऐसा क्षण न आया हो जब वह प्रतिकूल परिस्थितियों में घबड़ा न गया हो? सत्य तो यह है कि अधिकांश व्यक्ति—चाहे वे कितने

हो शक्तिशाली क्यों न हो—किसी-न-किसी क्षण अपनी निर्बलताओं को व्यक्त करते ही हैं; हाँ, वे इसे स्वीकार करने में सकोच करते हैं। मेरे जीवन में वह स्थिति घा गई थी जब मैं पूर्णतः ऊब चुका था और मुझे किसी चीज की रस्ती भर चिन्ता नहीं रह गई।

मूर्ध्न्य ग्रस्त हो चुका था। कमरे में मैं बिल्कुल अकेला था। कहीं दूर में विपादपूर्ण संगीत मेरे कानों में पड़ रहा था। मेरा गला हँध गया, धोठो पर पपड़ी जम गई। मेरी कनपटी गर्म हो गई, नाड़ी तेज हो गई और हृद्गति (हृदय की धड़कन) बढ़ गई। मेरा दिल डूबने लगा, मुझ पर उदासी छा गई। इस विषम स्थिति में, विस्तर पर निर्जीव-सा पड़ा, मैं सोच रहा था कि क्या कभी विपाद की यह छाया मुझ पर से हटेगी, क्या कभी मैं सुख की साँस ले पाऊँगा। हृदय में आशा की एक किरण फूटी कि मुझे साहस से काम लेना चाहिए, पुरुष के समान इन मुसीबतों एवं दुश्चिन्ताओं पर विजय पानी चाहिए। और तब मैंने अपनी समस्त शक्ति को केन्द्रित कर स्वयं को सँभाला।

इस मानसिक तनाव के फलस्वरूप कुछ समय तो मैं ढीला-ढाला पड़ा रहा। उसके बाद मैं दिल्ली आ गया। यहाँ आ कर देखा कि मेरी पुत्री एवं जामाता (दामाद) अभी पूर्णरूपेण स्वस्थ नहीं थे और इस बीच उन्होंने बहुत अधिक कष्ट सहन किया था। उनकी इस स्थिति को देख कर मेरा हृदय रो उठा।

गोम्रा पर की गई सैनिक कार्रवाई के यहाँ वर्णन करने से मेरा अभिप्राय यह दिखलाना नहीं है कि वह हमारे लिए कोई बहुत बड़ी सांघ्रामिक विजय थी अपितु उसकी लघुता का मुझे पूरा-पूरा ज्ञान है। इस घटना के वर्णन में मेरा अभिप्राय केवल यह दिखलाना है कि स्वतन्त्रता-पूर्व जो हम सब देशवासियों ने एक शपथ ली थी कि अपनी प्रत्येक इंच भूमि को हम विदेशी पजे में छोड़ देंगे, स्वतन्त्रता के बाद हमने उस शपथ को किस प्रकार पूरा किया।

लगभग चार सौ वर्ष पहले पुर्तगालियों ने दिउ, दमन और गोम्रा पर अपना कब्जा कर लिया था। जब तक भारत में ब्रिटिश राज रहा, हम इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कर पाए। किन्तु जब हम १९४७ में स्वाधीन हो गए तो हमारा पहला धर्म यह था कि हम अपनी मातृभूमि के संप्र भाग को भी फासीसी एवं पुर्तगालियों के पजे से मुक्त करें और हम इस धर्म-पालन में प्रयत्नशील रहे। फाँसीसी तो घग्घेजों की भाँति शान्तिपूर्वक चले गए किन्तु पुर्तगालियों ने यहाँ डटे रहने की सोची। हमने परस्पर बातचीत के द्वारा इस समस्या को सुनभाने का प्रयत्न किया किन्तु पुर्तगाल ने हमारी ओर कान ही नहीं दिया।

दिउ, दमन और गोम्रा में गोम्राणियों पर काफी भ्रष्टाचार राये जा रहे थे। यहाँ कुछ कॉन्वोर्निया गोरों के लिए रिजर्व भी जिनमें गोम्राणियों का प्रवेश

वर्जित था। यदि गोप्रानी अपने अधिकारों की मांग करते या स्वाधीन होने के लिए संघर्ष करते तो उनके साथ काफी बर्बरता का व्यवहार किया जाता, उन्हें जेलों में ठूस दिया जाता और उन्हें तरह-तरह की पीड़ा पहुँचाई जाती। उनके प्रति पुर्तगालियों का ऐसा नृशंस व्यवहार देख कर भारतीय जनता और विशेषतः नेहरू काफी अशान्त थे। बिना इस भाग के स्वाधीन हुए हमारी स्वाधीनता अधूरी थी। कुछ देश यह चाहते थे कि यह समस्या उलभी रहे क्योंकि इसके सुलभने से हमारी एक समस्या कम हो जाती थी और फिर हम उनकी स्वार्थमय प्रवृत्ति को कुचलने में अधिक सक्षम हो जाते थे। १९६० में अफ्रीकास्थित पुर्तगाली उपनिवेशों—अँगोला एवं मोज़म्बीक—ने भी विद्रोह कर दिया था। इन दोनों पुर्तगाली उपनिवेशों ने भारत से अपील की कि यदि भारत पुर्तगाल को अपनी भूमि से भगा दे तो उनको भी स्वाधीनता देने में सरलता रहेगी।

इस विषय पर हमारे नेताओं में मतभेद था। कुछ (जिनमें नेहरू^{४०} भी थे) तो इस पक्ष में थे कि हमें पुर्तगालियों से अपनी भूमि को बन्धनमुक्त कराने के लिए हर साधन अपनाना उचित था जबकि कुछ (जिनमें मोरारजी देसाई भी थे) इस पक्ष में थे कि हमें शान्तिपूर्ण मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए। मोरारजी देसाई ने तो, जब वह वम्बई के मुख्य मन्त्री थे, १९५६ में अपनी सीमा पर पुलिस तैनात कर दी थी ताकि अपने निहत्थे स्वयंसेवक भी गोआ में न घुस सकें।

१९६० में तथा १९६१ के प्रारम्भ में गोआ के राष्ट्रवादी नेताओं ने हमारी सरकार पर जोर डालना शुरू कर दिया था कि इस सम्बन्ध में पुर्तगालियों के विरुद्ध ठोस कदम उठाया जाए।

नवम्बर १९६० में नेहरू ने 'गोपी' हाँडू को, जा लगभग दस वर्ष से हमारे सुरक्षा प्रमुख (सीक्योरिटी चीफ) थे, अपनी सीमान्त सेना का इंस्पेक्टर जनरल ऑफ पुलिस नियुक्त कर के वम्बई भेज दिया। उन्होंने ६ महीने के भीतर भीतर गोआ में अपना सम्पर्क स्थापित करके महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ एकत्र कर लीं। थोड़े दिनों में वह गोआ के सम्बन्ध में विशेषज्ञ बन गए। १९६१ के उत्तरार्द्ध में मिली सूचनाओं से इतना स्पष्ट था कि गोआ के राष्ट्रवादी नेताओं के विरुद्ध पुर्तगालियों के अत्याचार बहुत बढ़ गए थे।

२३ अक्टूबर १९६१ को या उसके निकट नेहरू ने (इंग्लैंड और अमरीका के समय) वम्बई में एक सार्वजनिक भाषण दिया जिसमें निम्नलिखित बातें थीं :

४०. १९५५ में, स्वतन्त्रता दिवस पर लाल किले से बोलते हुए नेहरू ने लगभग पाँच लाख लोगों के सामने गोआ को मुक्त कराने की बात कही थी।

- (प्र) गोम्रा के सम्बन्ध में बातचीत करने और इस समस्या को शान्ति से सुलझाने के लिए हमने पुर्तगालियों से कई बार कहा है किन्तु उन्होंने हर बार हमारा अपमान किया है,
- (घा) इसलिए, यदि अब पुर्तगाली गोम्रा के राष्ट्रवादियों के साथ सद्-व्यवहार नहीं करते और शान्तिपूर्वक नहीं चले जाते तो उनके विरुद्ध कदम उठाने में अब हम नहीं चूकेंगे,
- (र) अब वह विदेश जा रहे थे तथा पुर्तगालियों को एक अवसर और देंगे कि वह इस सम्बन्ध में शान्तिपूर्वक बातचीत कर लें,
- (ई) विश्व के समक्ष हमने यह सिद्ध कर दिया है कि हमारी दृष्टि में गोम्रा भी शेष भारतीयों के समान इसी राष्ट्र के निवासी है और उनमें कोई भेद नहीं है। इसका एक प्रमाण तो यही है कि बम्बई में रोमन कैथॉलिक कार्डिनल है तथा भारत के सात विशपों में पाँच गोम्रा के हैं। दूसरी ओर पुर्तगालियों ने गोम्रा में भी किसी गोम्रा के बिशप नहीं बनाया है।

२८ अक्टूबर १९६१ को लेफटी० जनरल जे० एन० चौधरी और मैं पहमदावाद में बक्तरखन्द कोर सम्मेलन में भाग ले कर एक साथ पूना लौट रहे थे। उस समय उन्होंने मुझसे कहा कि मैं ठीक स्यात पर ठीक व्यक्तियों से यह सिफारिश कर दूँ कि यदि गोम्रा के सम्बन्ध में कुछ सैनिक कार्रवाई की जाए तो उसका पूरा दायित्व उन्हें सौंपा जाए (और इसमें किसी का साझा न हो)। दिल्ली लौट कर जब मैंने यह वार्तालाप अपने चीफ थापर को सुनाया तो वे मुस्करा दिए।

२५ नवम्बर को प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में एक गोष्ठी हुई जिसमें प्रतिरक्षा मन्त्री के प्रतिरिक्त तीनो सेनाओं के चीफ, हाइड्र और मैं थे। मेनन ने बताया कि उन्हें निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त हुई थी :

- (घ) सीटो (दक्षिणी पूर्वी एशिया सन्धि संगठन) के वार्षिक 'जलसेना व्यायाम' मारमागो बन्दरगाह से १५० मील दूर अरब सागर में १८ से २५ नवम्बर तक हो रहे थे। इस व्यायाम में पाकिस्तानी, ब्रिटिश, अमरीकी, तुर्की एवं ईरानी पोत भाग ले रहे थे। इस समय सालाजार ने सोचा कि भारत से छेड़छाड़ करके कोई दुर्घटना कर दी जाए ताकि अमरीका, ब्रिटेन एवं पाकिस्तान को प्रतिक्रिया का अनुमान लग सके। इसलिए, पुर्तगालियों ने १८

४१. उन्होंने ये सूचनाएँ कई मागों से प्राप्त की थी जिनमें आसूचना विभाग एवं हाइड्र भी थे।

नवम्बर को बम्बई से कोचीन जाने वाले हमारे एक व्यापारी जहाज 'सावरमती' पर बिना वात के गोलियाँ बरसाईं और एक इंजिनियर की यांत्रिक को घायल कर दिया। यह घटना तब घटी जब हमारा जलपोत ५०० गज चौड़े उस जलमार्ग से जा रहा था जो हमारे कारवार बन्दरगाह एवं अंजदीव नामक पुर्तगाली द्वीप को अलग-अलग करता है। (इसलिए, यह जलपोत हमारी ही सीमा में था।)

(आ) जब इस दुर्घटना पर भारत ने कोई ध्यान नहीं दिया तो पुर्तगालियों ने २१ नवम्बर को राजाराम नाम के एक भारतीय मछियारे की हत्या कर दी। यह मछियारा भी अपनी ही सीमा में उसी स्थान पर मछलियाँ पकड़ रहा था। यह समाचार बम्बई तो अवि-लम्ब पहुँच गया किन्तु दिल्ली २४ नवम्बर को पहुँचा।

पुर्तगाली प्रधान मन्त्री सालाज़र को इस वात का विश्वास नहीं था कि भारत एवं पुर्तगाल के बीच संघर्ष छिड़ने पर अमरीका एवं ब्रिटेन उसकी मदद करेंगे या नहीं। उन्होंने सोचा था कि अमरीका के राष्ट्रपति कैनेडी रोमन कैथॉलिक थे और इंग्लैण्ड के प्रधान मन्त्री अनुदार (कंज़रवेटिव) मैक्सिमलन थे, इसलिए अमरीका एवं इंग्लैण्ड उनकी सहायता करेंगे।

पुर्तगाल ने सोचा था कि यदि भारत कोई सैनिक कार्रवाई कर देता तो जब तक उसकी सेना गोआ आती तब तक सीटो के युद्धपोत वहाँ पहुँच जाएँगे। इसके बाद वह गोआ के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र में ले जाएगा और अपने उपनिवेशों को सुरक्षित रख सकेगा।

गोष्ठी में यह सुझाव रखा गया कि पुर्तगाल के कुकृत्यों की प्रतिक्रियास्वरूप उसके अंजदीव द्वीप^{१९} पर कब्ज़ा कर लिया जाए। हाँडू ने ऐसा न करने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि पुर्तगाली यही तो चाहते थे कि हम कोई ऐसा कदम उठाएँ और वे संयुक्त राष्ट्र संघ में पहुँच जाएँ। उन्होंने यह सुझाव दिया कि हमें भारत स्थित समस्त पुर्तगाली उपनिवेशों पर अपना अधिकार एक साथ करना चाहिए।

थोड़ी देर के बाद-विवाद के बाद यह निष्कर्ष निकला कि उस समय हमें चुपचाप रहना चाहिए तथा भारतीय जलसेना को यह निदेश देना चाहिए कि वह कारवार होते हुए बम्बई से कोचीन तक अपनी गश्त थोड़ी अधिक कर दे और भारतीय तिरंगे को थोड़ा ऊँचा फहराये ताकि भारतीय मछियारों को ढाढ़स बँधा रहे क्योंकि ये गरीब लोग काफी आतंकित थे और भय के कारण अपनी जीविका कमाने अर्थात् मछली पकड़ने के लिए भी घर से बाहर नहीं निकलते थे।

४२. जिसका क्षेत्रफल केवल डेढ़ मील × डेढ़ मील है।

बाबु सेना के अध्यक्ष एमर भासंत इजिनीयर ने बताया कि हमारा एक ईन्बर बाबुयान ६०० मील प्रति घण्टे की गति से कियो काम पर जा रहा था और अपनी गोमा के भीतर था कि उसके धानक ने अपने रेडार पर (रेडार स्क्रीन) पर देखा कि एक सुपरसोनिक जेट लगभग दुगनी गति में उभरना पीछा कर रहा था। इस पर वह केनबरा तुरन्त नीचे उतर आया। इस घटना को सुन कर हम अभन में पड़ गए। यह किसका बाबुयान हो सकता था जिसकी गति लगभग १५०० मील प्रति घण्टा थी? क्या पुर्तगालियों के पास डबोलिम/रोमा में इतने शीघ्रगामी बाबुयान थे? या पुर्तगाल का कोई मित्र देश उसकी सहायता कर रहा था? यदि ऐसा था, तो वह मित्र देश कौन था? किन्तु इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं मिला। उनके कुछ दिन बाद हीट्ज़ से रिपोर्टें मिली कि वेरेंसोन द्वीप, सायन्तवाड़ी एवं दानदेनी के निकट जगल में पुर्तगालियों ने हमारी गश्ती टुकड़ियों पर गोशियाँ चलाईं। गोशाना राष्ट्रवादियों के प्रति भी पुर्तगालियों के प्रत्याचार बढ़ते जा रहे थे। हीट्ज़ ने कुछ सम्बन्धित फोटो भी भेजे।

विश्वस्त सूत्रों से यह सूचना भी मिली कि पाकिस्तान इस स्थिति का अनुचित लाभ उठाना चाहता था। उनसे अपनी सेना हमारे पंजाब सीमान्त पर इकट्ठी करनी पुरु कर दी। वहाँ उन्होंने एक बृहदाकार व्यायाम का आयोजन किया। कुछ घंटों से प्राकृतिक एवं सैनिकों के परिवारों को हटा दिया गया। सैनिकों की छुट्टियाँ रद्द कर दी गईं। इन रिपोर्टों से यह बात पक्की हो गई कि पुर्तगाल एवं पाकिस्तान ने आपस में कुछ संपादन सौंठगांठ कर ली थी। मेनन ने इस सही स्थिति से नेहरू को अवगत कराया। नेहरू और मेनन, दोनों की यह इच्छा थी कि गोमा की समस्या को सान्ति में हल किया जाए। किन्तु पुर्तगाल उन्हें विवश कर रहा था कि वे कोई ठोस कदम उठाएँ।

नेहरू की सहमति ले कर २८ नवम्बर की बैठक में मेनन ने तीनों मेनामों के चीफों को आदेश दिया कि वह भारत में पुर्तगाली उपनिवेशों को मुक्त कराने के लिए सैनिक कार्रवाई की योजना बनाएँ। इसके बाद तीनों चीफों ने इस नयी दृष्टि से स्थिति का अध्ययन किया।

हीट्ज़ ने सुभाव दिया कि हमें जो कुछ करना था, वह जल्दी करना चाहिए अन्यथा पुर्तगाल समुक्त राष्ट्र संधि में पहुँच कर हमारी गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगवा देगा। उन्होंने यह भी बताया कि उस समय गोमा में पुर्तगाली सैनिकों की संख्या ४,५०० (३,००० पुर्तगाली एवं १,५०० गोशानी) और दिउ एवं दमन में १,५०० थी अर्थात् कुल मिला कर ६,००० सैनिक थे। उनके पास कुछ बक्तरबन्द गाड़ियाँ, मशीनगनों एवं कुछ तोपें भी थीं। (बाद में, गोमा में पहुँचने पर हमें पता लगा कि ये सख्याएँ बिल्कुल ठीक थीं।) इसलिए, हमने निर्णय किया कि हम एक इन्फैंट्री डिवीजन से दो ब्रिगेड ले लें, एक पैराशूट ब्रिगेड ले लें तथा कुछ इन्फैंट्री, बक्तरबन्द, तोप-

खाना एवं इंजिनियर ले लें और इन्हें बेलगाँव के आसपास इकट्ठा कर लें। साथ ही यह निर्णय भी किया कि एक बक्तरवन्द डिवीजन किसी केन्द्रीय स्थान से अपने उत्तरी पश्चिमी सीमान्त पर भेज दें ताकि पाकिस्तान की बमकी का मुकाबला किया जा सके।

ऐसा निर्णय करने के लिए हमें पुर्तगालियों ने विवश किया था। पुर्तगालियों को हम यह समझा देना चाहते थे कि अपनी सीमा की पवित्रता की रक्षा के लिए हम सब कुछ करने को तैयार थे, वहाँ भुक्ने का कोई प्रश्न नहीं था। यदि वह ताकत के जोर पर हमारी भूमि पर डटे रहना चाहते थे तो हम उनको उखाड़ने में किसी प्रकार की कमी नहीं रखेंगे।

उच्चाधिकारियों से मैंने पूछा कि हमें अपनी सेना कब तक वहाँ इकट्ठी करनी थी। थापर ने मुझे पन्द्रह दिन की अवधि दी और मैंने हाँ कर दी। इस पर लेफ्टी० जनरल चौधरी ने टिप्पणी की कि इतने कम समय में यह सब प्रबन्ध असम्भव था।

बैठक से लौटते समय मेरे सामने एक पावन उद्देश्य था कि हम अपनी मातृभूमि के आखिरी भाग को भी विदेशी दासता के बन्धन से मुक्त करने के लिए आगे बढ़ रहे थे।

अपने सैनिक कार्रवाई के निदेशक (डायरेक्टर ऑफ ऑपरेशन्स) ब्रिगेडियर पालित से परामर्श कर के मैंने इस कार्रवाई का नाम 'विजय' रखा। जब यह सांकेतिक नाम आर्मी चीफ और सरकार ने स्वीकार कर लिया तो मैंने यह सूचना चौधरी को भेज दी।

मेजर जनरल 'उन्नी' केनडथ को डिवीजन कमाण्डर नियुक्त किया गया। कमान-शृंखला में वह चौधरी के अधीन थे क्योंकि चौधरी उस क्षेत्र के उच्च सैन्य कमाण्डर थे और चौधरी आर्मी चीफ थापर के अधीन थे। किसी एक व्यक्ति को इस सैनिक कार्रवाई का श्रेय नहीं दिया जा सकता। यह तो कमाण्डरों और सैनिकों के संयुक्त प्रयत्नों का फल था। यह तो पुर्तगाल के विरुद्ध भारत की विजय थी और इसमें तीनों सेनाओं के चीफों ने यथाशक्ति सहयोग दिया था।

हमारे अनुदेश के आधार पर चौधरी ने अपनी विस्तृत सांग्रामिक योजना भेजी जिस पर पालित ने काफी बुद्धिमत्तापूर्ण टिप्पणियाँ कीं। २ दिसम्बर से मैंने बेलगाँव और उत्तरी पश्चिमी सीमान्त, दोनों ओर सैनिक एवं सामग्री भेजनी प्रारम्भ कर दी ताकि पुर्तगाल एवं पाकिस्तान को मुँह-तोड़ उत्तर दिया जा सके। दो विरोधी दिशाओं में जाने वाले सैनिकों एवं सामान के संचलन का समन्वय बड़ा जटिल काम था। और फिर दोनों में ही काफी लम्बी यात्राएँ थीं, इसलिए समस्याएँ और भी बढ़ गईं। मैंने अपने डिप्युटी, ल जे० एस० डिल्लन की यह ड्यूटी लगा दी कि वह मेरे प्रत्येक

भाषेय का तुरन्त पालन कराते रहे ।

हॉडू ने मुझे पहले ही सचेत कर दिया था कि हमें गोआ में अनेक दूटे हुए पुल और दूटी-फूटी सड़कें मिलेंगी, इसलिए मैंने सारे भारत के इंजिनियर इकट्ठे कर के बेलगाँव भेजने शुरू कर दिए ताकि अक्सर आने पर मार्ग की कमस्त बाधाएँ प्रविलम्ब पार की जा सकें ।

जब यह सब काम हो रहा था तो एक दिन चौधरी मुझे मिलने के लिए मेरे दफ्तर में आए । उस समय हॉडू भी वहीं बठे हुए थे । उन्होंने पूछा कि जब वह स्वयं सारा दायित्व संभालने में समर्थ थे तब हम इस सैनिक कार्रवाई के लिए डिवीजनल कमाण्डर^{४३} क्यों नियुक्त कर रहे थे । मैंने हँसते हुए उत्तर दिया कि हम डिवीजनल कमाण्डर इसलिए नियुक्त कर रहे थे ताकि वह आगे जा कर नष्ट नहो सकें । इसके बाद उन्होंने अपनी पहले वाली भविष्यवाणी दोहराई कि मैं अपने वचन के अनुसार अपेक्षित सैनिक एवं सामग्री वहाँ ११ दिसम्बर तक नहीं पहुँचा पाऊँगा । साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि उन्हें युद्ध का काफी अनुभव था और वह इस बात से परिचित थे कि इन चीजों में समय लगा करता है । मैं उनके इस उपदेश को शान्त भाव से ग्रहण न कर सका । इसलिए मैंने व्यात्मक स्वर में कहा कि यदि उन्हें युद्ध का अनुभव था तो दूसरों को भी युद्ध का अनुभव था और उन्हें दूसरों को उनके काम की शिक्षा नहीं देनी चाहिए । मैंने उनसे कहा कि उनकी इन प्रतिकूल भविष्यवाणियों के बाद भी मैंने सरकार को और उन्हें विश्वास दिलाया था कि अपेक्षित सैनिक एवं युद्ध-सामग्री बेलगाँव के पास ११ दिसम्बर तक इकट्ठे हो जाएँगे, इसलिए उन्हें निश्चित रहना चाहिए । इस पर चौधरी क्षीघ्रता से मेरे कमरे में चले गए और हॉडू ने मुझसे हाथ मिलाया ।

मैंने इस बात का दृढ़ निश्चय कर लिया था कि संचलन (मूवमेंट्स) का काम कम-से-कम समय ले ताकि शत्रु को सचेत होने के लिए अधिक समय न मिले । इस काम में मैंने रेलवे बोर्ड के अध्यक्ष कर्नलसिंह की सहायता माँगी कि वह ऐसा प्रबन्ध कर दें जिससे हमारी 'मिनिटरी स्पेशलों' को प्रत्येक गाड़ी में प्राथमिकता मिले, उनके इंजिन बदलने में कम-से-कम समय लगे, उनकी पत्रि तेज हो तथा उनको रास्ते में कम-से-कम रोका जाए । कर्नलसिंह भी काम करने में विश्वास करते थे, इसलिए उन्होंने मेरी बात तुरन्त मान ली और तदनुसार काम शुरू कर दिया ।^{४४} परिणामतः, मैं अपेक्षित सेना और

४३. कर्नलसिंह ने १७ डिवीजन की कमान ५ दिसम्बर को जा कर संभाल ली ।

४४. समय की महत्ता को समझ कर बेलगाँव की मुख्य लाइन पर गैर-सैनिक आवागमन रोक दिया गया । केवल डाकगाड़ियाँ चल रही थीं और उनको भी 'मिनिटरी स्पेशलों' के लिए रकना पड़ता था । इस प्रक्रम में कुछ प्रतिष्ठित गैर-सैनिक

१०,००० टन युद्ध-सामग्री निश्चित तिथि तक बेलगाँव पहुँचाने में सफल हो गया ।^{१५}

इस काम में क्वार्टरमास्टर जनरल लेपटी० जनरल कोछड़, स्टाफ इयूटीज के डायरेक्टर त्रिगेडियर सतारावाला, संचलन निदेशक त्रिगेडियर पचनन्दा तथा रेलवे सम्पर्क अधिकारी शिव किशोर ने प्रशंसनीय सहयोग दिया था ।

हमारे पास सैनिकों एवं सामग्री की बहुत कमी थी । (अगले वर्ष, चीनी आक्रमण के समय भी यह कमी मौजूद थी ।) कुछ युद्ध-सामग्री तो उन यूनितों से ले ली थी जो इस कार्रवाई में भाग नहीं ले रहे थे तथा कुछ सामान बाजार से खरीद लिया था । किन्तु कुछ चीजें ऐसी थीं जिनकी कमी पूरी न हो पाई । (सौभाग्य से, इस समय हमारा शत्रु निर्वल था ।) एक डिवीजन से भी कम सेना में हमारे पास ये चीजें नहीं थीं—२,००० बैट्रियाँ, १४,००० युद्ध-क्षेत्रीय पट्टियाँ (फ्रील्ड ड्रैसिंग), लगभग ६० वायरलैस सैट, सौ मील से ऊपर के लिए संचार केबल, ४६० राइफल, २४० स्टेन कारवाइन, एवं कुछ तोपें । सुरंग पता लगाने वाले यन्त्रों की तो बात ही क्या कहूँ, उनकी तो बहुत कमी थी । एक बटालियन में ४०० जोड़ी फ़ुट-वेअरों की कमी थी, इसलिए वे सैनिक पी० टी० के जूते पहन कर मोर्चे पर गए ।

अगले कुछ दिनों में अनेक प्रारम्भिक तैयारियाँ पूरी की गईं । सब का मनोबल ऊँचा था क्योंकि उन्हें पता था कि वे एक सत्कार्य के लिए आगे बढ़ रहे थे । इस बीच पुर्तगालियों ने अपनी शरारतें चालू रखीं—हमारे देशवासियों को प्रताड़ित करना, सैनिक तैयारियाँ करना तथा हमारे शत्रु देशों से साँठ-गाँठ करना । पाकिस्तान के कुछ काम तो स्पष्टतः पुर्तगालियों से मिलीभगत के परिणाम थे ।

हमारी सरकार में कुछ विभीषण रहे होंगे जो हमारे प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कदम से पुर्तगालियों को परिचित करा देते थे । हमारे 'आक्रमण दिवस' की सूचना भी सालाजार को मिल गई और उसने गोआ के गवर्नर जनरल डी'

व्यक्तियों को परेशानी उठानी पड़ी । उन्होंने नेहरू से जा कर शिकायत की और मरे, नेहरू के सामने पेशी हो गई । नेहरू ने मुझसे पूछा कि क्या मुझे इस शिकायत के विषय में कुछ पता था । मैंने स्पष्ट स्वीकार कर लिया कि यह कदम मरे कहने पर उठाया गया था और मैंने देश-हित में संचलन को गति प्रदान करने के लिए ऐसा कहा था । नेहरू ने पूछा कि क्या ऐसा करने के लिए मेरे पास सरकारी अधिकार था । स्पष्ट है कि ऐसा कोई अधिकार मेरे पास नहीं था । थोड़ी देर तो नेहरू लाल-पीले होते रहे और उसके बाद शान्त हो गए ।

४५. अपनी निवृत्तता के क्षण में चौधरी ने (एक और अफ्रिसर की उपस्थिति में) यह स्वीकार किया कि इस सैनिक कार्रवाई के समय सैनिकों एवं सामग्री के संचलन में मैंने मानवीय डाइनेमो की भाँति काम किया था ।

मिल्वा को तार द्वारा सचेत किया कि भारत गोप्रा पर १५ दिसम्बर को आक्रमण करेगा। (१३ तारीख को यह सूचना बिल्कुल ठीक थी।) यह सूचना भवस्य दिल्ली के सरकारी स्रोतों से बाहर निकली होगी। बाद में 'आक्रमण दिवस' १८ दिसम्बर कर दिया गया। धन्य है सुरक्षा के प्रति हमारी असावधानी, कुछ ऑफिसरों एवं अन्य पदाधिकारियों ने 'आक्रमण दिवस' की सूचना अपने निजी पत्रों में लिख कर खाना कर दी। ऐसे कुछ पत्रों को सेना-मुख्यालय के संस्तर ने रोका था।

दक्षिणी अमरीका के राजदूत ने पुर्तगाल की ओर से हमारे परराष्ट्र कार्यालय में विरोध प्रकट किया। नेहरू को राष्ट्रपति कैनेडी एवं ब्रिटिश प्रधान मंत्री के सन्देश भी उनके राजदूतों द्वारा प्राप्त हुए जिसमें उन्होंने इस सम्बन्ध में चिन्ता प्रकट की थी। इसी प्रकार का एक सन्देश उन्हें समुक्त राष्ट्र सभ के महासचिव ऊ चाँ से भी मिला। इन सब सन्देशों का सार यही था कि सम्पूर्ण विश्व नेहरू को शान्ति-दूत मानता था और गोप्रा के विरुद्ध की गई सैनिक कार्रवाई उनके उपदेशों के अनुरूप नहीं होगी। इन पत्रों में नेहरू को सलाह दी गई थी कि वह शान्ति से काम लें और शक्ति का उपयोग न करें। अतीत में इन लोगों ने इस समस्या को सुलभाने की दिशा में कोई कदम नहीं उठाया था और अब हमें शान्ति का पाठ पढा रहे थे। यदि ये लोग भी हमारी स्थिति में होते तो यही कदम उठाते जो हम उठा रहे थे। किन्तु 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे'। नेहरू पर इन सन्देशों का बहुत प्रभाव पड़ा और वैसे भी विदेशी घालोचना के प्रति वह सदा भावुक रहते थे। ऊ चाँ के पत्र ने उनको सबसे अधिक विचलित किया। ऊ चाँ केवल एक विश्व सस्था के अध्यक्ष ही नहीं थे अपितु एक सुविख्यात अपने एशियावासी बन्धु भी थे। इस सब मामले पर पुनर्विचार करने के लिए नेहरू ने 'आक्रमण दिवस' को दो बार पीछे हटा दिया था।

यह तो मुझे पता नहीं कि इस समय नेहरू ने मेनन, थापर या अन्य लोगों से कितनी बार विचार-विमर्श किया किन्तु मुझे इतना मालूम है कि एक दिन मुझे बुला कर उन्होंने कहा कि गोप्रा के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने के अपने निर्णय से वह प्रसन्न नहीं थे। विदेशों से प्राप्त सन्देशों के बारे में बतला कर उन्होंने कहा 'कि इतने समुक्त विश्व मत को भ्रष्ट करने करना उनके लिए कठिन था। इसके बाद उन्होंने मुझसे पूछा कि यदि गोप्रा में सैनिक कार्रवाई न की जाए तो इसकी क्या प्रतिक्रिया होगी। मैंने कहा कि इसमें देशवासियों को घायल पर कुठाराघात होगा और वह अपने वचन का पालन न करने के कारण अपयश के भागी बनेंगे। गोप्रा को मुक्त कराने के लिए उन्होंने अपने सार्वजनिक भाषणों में कई बार प्रतिज्ञा की थी और इस समय सैनिक उस प्रतिज्ञा को पूरा करने के लिए तैयार खड़े थे। 'आक्रमण दिवस' पहले ही दो बार पीछे हटाया जा चुका था और अब यदि फिर पीछे हटाया गया या बिल्कुल

ही गया था तो इससे सैनिकों के मनोबल पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। ये इस निर्णय का उपहास उड़ाएँगे और सरकार एवं नेहरू के इस विनिर्णयन के कारण सैनिक एवं राजनीतिक नेतृत्व को शैथिल्यपूर्ण मानेंगे। किन्तु मेरा कर के हम उन देशवासियों को क्या मुँह दिखाएँगे जिनसे हम सदा प्रतिज्ञा करते रहे थे कि एक दिन गोआ को दासता की जंजीरों से मुक्त करा के छोड़ेंगे। और फिर हम किसी देश पर आक्रमण तो नहीं कर रहे थे, अपनी परेल्स समस्या को ही सुलभा रहे थे। इसमें किसी विदेशी सत्ता को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। यदि हम किसी देश को उसके आन्तरिक मामलों पर परामर्श दें तो वह कितना बुरा मनाएगा। अन्त में, मैंने नेहरू से कहा कि जिस कदम को हमने काफी सोच-विचार कर उठाया था, उस पर अब किसी विदेशी टिप्पणी के भय से पुनर्विचार करने की आवश्यकता नहीं थी।

नेहरू बड़ी द्विविधा में थे। कमरे में चहलकदमी करने और सिगरेट में कश लगाने के उनके ढंग से उनका मानसिक द्वन्द्व स्पष्ट था। देशवासी चाहते थे कि वह इस दिशा में सख्त कदम उठाएँ जबकि विश्व के अनेक महत्त्वपूर्ण देश उनके इस कदम की आलोचना कर रहे थे। वैसे स्वयं भी वह शक्ति-प्रयोग को अच्छा नहीं मानते थे। वह इन दो विरोधी विचारधाराओं में फँसे हुए थे जैसा कि सरकारों के प्रमुख सामान्यतः फँस जाया करते हैं। कुछ देर विचार करने के बाद उन्होंने खिन्न मन से कहा कि हम आगे बढ़ें। ऐसा निर्णय करते समय उनके मन में यही विचार प्रवल रहा होगा कि देश इस समय गोआ को मुक्त कराना चाहता है और यदि इस अवसर पर उन्होंने देशवासियों की भावना का सम्मान नहीं किया तो जनता एवं सशस्त्र सेना का उन पर से विश्वास उठ जाएगा।

मैंने अमरीकी राजदूत गैल्ब्रेथ एवं ब्रिटिश हाई कमिश्नर गोर-बूथ को १८ दिसम्बर की संध्या के भोजन पर आमन्त्रित किया हुआ था। उपर्युक्त निर्णय के फलस्वरूप मुझे वह निमन्त्रण वापस लेना पड़ा। मेरा विचार है कि अमरीकी एवं ब्रिटिश राजनयज्ञ इससे कुछ भाँप गए।

देश में तनावपूर्ण वातावरण था, तरह-तरह की अफवाहें उड़ रही थीं। किन्तु हमारे सैनिक बड़ी व्यग्रता से १८ तारीख की प्रतीक्षा कर रहे थे।

मेरे लिए यह एक ऐतिहासिक अवसर था। इस सैनिक कार्रवाई के विनियोजन में भाग लेने के बाद अब मेरी इच्छा थी कि मैं इसके निष्पादन में भी लूँ। इसके लिए थापर ने मुझे अनुमति दे दी। १७ तारीख को मैं वेलिंग्टन और लेफ्टी० जनरल जे० एन० चौधरी से मिला। जब उनको यह कि मेरा विचार अपनी सेना के अगले भाग के साथ आगे बढ़ने का था। मैंने कहा कि स्थानीय कमाण्डर होने के नाते उन्हें इस बात में कोई तत्त्व-पक्ष पड़ता। इस पर मैंने उन्हें अनेक दृष्टान्त दिए जिनमें सीनियर

बनरल अपनी सेना के अग्रिम भाग में रह कर आगे बढ़े थे। जब मैंने उन्हें भी साथ चलने का निमन्त्रण दिया तो उन्होंने उत्तर दिया कि उन्हें इस पद-यात्रा को कोई आवश्यकता नहीं दिखाई देती जबकि वह सेना के विजय कर लेने पर हेन्रीकोण्टर द्वारा वहाँ पहुँच सकते थे। जिस समय चौधरी की और मेरी बात-चीत हो रही थी, हाँडू भी पास ही बँठे हुए थे। इस वाद-विवाद को बढ़ाना व्यर्थ समझ और चौधरी के कथन की उपेक्षा कर के मैं एक 'आर्टर' में बैठ कर अपनी सेना के डिवीजनल हेडक्वार्टर में पहुँच गया जो वहाँ से काफी मील दूर था।

हमने गोद्या पर तीन ओर से—उत्तर, दक्षिण और पूर्व—चढ़ाई की तथा चौथी ओर—पश्चिम में—हमारी जल सेना थी ही। मैंने पूर्व की ओर से बढ़ने वाली प्रगली टुकड़ी के साथ रहने का निर्णय किया। शान्त स्वभाव के सक्षम कमाण्डर कैनडथ में मिलने के बाद मैं जीप द्वारा त्रिगेड हेडक्वार्टर में पहुँचा जहाँ मुझे पूर्व परिचित त्रिगेडियर कलवन्तसिंह^{५६} मिले। बिना अधिक समय नष्ट किए कलवन्तसिंह और मैं आगे जाने वाली सिविल बटालियन के हेडक्वार्टर में पहुँच गए। अभी रात बीत चुकी थी और वह बटालियन प्रस्थान-रेखा (स्टार्ट लाइन) पर खड़ी थी। मोर-पूर्व अन्वकार की गहन नीरवता का चतुर्दिक साम्राज्य और प्रस्थान करने के लिए तैयार बटालियन, वातावरण में मूक उत्साह फैला हुआ था। लोग आपस में फुसफुसा कर बात कर रहे थे ताकि उनकी आवाज न सुनाई पड़ जाए। टाचों को हाथ से ठक लिया गया था। कमाण्डरों ने अपने बाशू पर सफेद पट्टी बांधी हुई थी ताकि उन्हें दूर से पहचाना जा सके। हम बार-बार अपनी घड़ियाँ देख रहे थे कि अभी 'प्रस्थान क्षण' में कितना समय और था। मन में सोच रहे थे कि सघर्ष होगा या टहलने हुए गोद्या पहुँच जाएंगे। सेना के अग्रदल के आगे बढ़ते ही मैं, त्रिगेडियर कलवन्तसिंह तथा दिल्ली से मेरे साथ आये लेफ्टी० कर्नल सजीव राव एवं मेजर मनहोत्रा आगे बढ़ चले। हवा में शीतलता थी। लगता था कि जैसे हम प्रातःकालीन भ्रमण के लिए निकले हो किन्तु इस भ्रमण में मृत्यु का भय भी था।

बटालियन डबल मार्च करती आगे बढ़ी। रास्ते में सुरंगें बिछी हुई थीं तथा पुल एवं पुनिया टूटे पड़े थे। जब तक इनको ठीक नहीं किया गया, हमारा तोपखाना एवं अन्य मुड-गाड़ियाँ आगे न बढ़ सकीं। इन बाधाओं को हमने धैर्य कर पार किया। सैनिकों के पाय मुड एवं साथ मामूली पदार्थ थी, इसलिए उनके हाँगले बड़े हुए थे। सुरंगों की बिन्ना किए बिना हम आगे बढ़े गए। हम वजे के लगभग हम मोल्नम कस्बे में पहुँचे। फस्ता जनशून्य था और

^{५६} इस सैनिक कार्रवाई में उन्होंने बड़ा अच्छा काम किया किन्तु पदोन्नति पीछे रह गए।

ही हटा दिया गया तो उसमें सैनिकों के मनोबल पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। वे उस निर्णय का उपहास उड़ाएंगे और सरकार एवं नेहरू के इस द्विदिग्गमन के कारण सैनिक एवं राजनीतिक नेतृत्व को शैथिल्यपूर्ण मानेंगे। किन्तु ऐसा कर के हम उन देशवासियों को क्या मुँह दिखाएंगे जिनसे हम सदा प्रतिज्ञा करते रहे थे कि एक दिन गोआ को दासता की जंजीरों से मुक्त करा के छोड़ेंगे। और फिर हम किसी देश पर आक्रमण तो नहीं कर रहे थे, अपनी घरेलू समस्या को ही सल्लाह रहे थे। इसमें किसी विदेशी सत्ता को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं था। यदि हम किसी देश को उसके आन्तरिक मामलों पर परामर्श दें तो वह कितना बुरा मनाएगा। अन्त में, मैंने नेहरू से कहा कि जिस कदम को हमने काफी सोच-विचार कर उठाया था, उस पर अब किसी विदेशी टिप्पणी के भय से पुनर्विचार करने की आवश्यकता नहीं थी।

नेहरू बड़ी द्विविधा में थे। कमरे में चहलकदमी करने और सिगरेट में कश लगाने के उनके ढंग से उनका मानसिक द्वन्द्व स्पष्ट था। देशवासी चाहते थे कि वह इस दिशा में सख्त कदम उठाएँ जबकि विश्व के अनेक महत्त्वपूर्ण देश उनके इस कदम की आलोचना कर रहे थे। वैसे स्वयं भी वह शक्ति-प्रयोग को अच्छा नहीं मानते थे। वह इन दो विरोधी विचारधाराओं में फँसे हुए थे जैसा कि सरकारों के प्रमुख सामान्यतः फँस जाया करते हैं। कुछ देर विचार करने के बाद उन्होंने खिन्न मन से कहा कि हम आगे बढ़ें। ऐसा निर्णय करते समय उनके मन में यही विचार प्रबल रहा होगा कि देश इस समय गोआ को मुक्त कराना चाहता है और यदि इस अवसर पर उन्होंने देशवासियों की भावना का सम्मान नहीं किया तो जनता एवं सशस्त्र सेना का उन पर से विश्वास उठ जाएगा।

मैंने अमरीकी राजदूत गैलब्रेथ एवं ब्रिटिश हाई कमिश्नर गोर-बूथ को १८ दिसम्बर की संध्या के भोजन पर आमन्त्रित किया हुआ था। उपर्युक्त निर्णय के फलस्वरूप मुझे वह निमन्त्रण वापस लेना पड़ा। मेरा विचार अमरीकी एवं ब्रिटिश राजनयज्ञ इससे कुछ भाँप गए।

देश में तनावपूर्ण वातावरण था, तरह-तरह की किन्तु हमारे सैनिक बड़ी व्यसता से १८ तारीख

मेरे लिए यह एक ऐतिहासिक अवसर था। योजन में भाग लेने के बाद अब मेरी इच्छा भाग लूँ। इसके लिए थापर ने मुझे अनुमति गाँव पहुँचा और लेफ्टी० जनरल जे० एन० पता चला कि मेरा विचार अपनी सेना के तो उन्होंने कहा कि स्थानीय कमाण्डर होने नहीं दिखाई पड़ता। इस पर मैंने उन्हें

समर्पण करने का अधिकार नहीं था अपितु इसके लिए, चौधरी को वास्को डी गामा जा कर गवर्नर जनरल डी' सिल्वा से बात करनी चाहिए। लेकिन वास्को डी गामा के घासपास अभी छोटी-मोटी लड़ाई चल रही थी, इसलिए चौधरी बिना समर्पण लिये ही घसने घड़े पर (बेलगाँव) लौट आए।

भाग्य का चमत्कार देविए कि कुछ घण्टे बाद ६३ दिग्गज के कमाण्डर, रिगेडियर कनवल्लमिह ने चौधरी को वायरलेस द्वारा सूचना दी कि पुर्तगाली गवर्नर जनरल डी' सिल्वा^{१८} जीप द्वारा सफेद पताका फहराने हुए उनके पास पहुँच गए थे और प्रार्थना कर रहे थे कि वह वास्को डी गामा पहुँच कर राजनीतिक समर्पण स्वीकार कर लें। हाँडू ने परामर्श दिया कि समर्पण बिना किसी शर्त के होना चाहिए और ऐसा ही करने के लिए कलवल्ल को कहा गया।

कुछ दिन बाद, जब हाँडू पुर्तगाली गवर्नर जनरल से मिले तो डी' सिल्वा ने निम्नलिखित बयान दिये :

- (अ) उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि भारत सैनिक कारंवाई कर बैठेगा,
- (आ) जब सैनिक कारंवाई की गई तो उन्होंने यह कभी नहीं सोचा था कि हम इतनी जल्दी पाँचों नदियाँ पार कर जाएँगे क्योंकि उन्होंने (सैपर होने के नाते) पुल विनष्ट कराने का काम अपनी देखरेख में कराया था,
- (इ) उन्होंने कल्पना भी नहीं की थी कि उनकी सेना इतनी जल्दी पीछे हट जाएगी तथा उनकी 'प्रजा' में इतने राजशाह निकलेंगे,
- (ई) यदि हमने सामान्य गति अपनायी होती और सीमा पर तीन दिन एव जल-बाधा को पार करने में दस-पन्द्रह दिन लगाये होते तो वह संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील कर के युद्ध-विराम के द्वारा हमारा आगे बढ़ना रोक देते।

इस अभियान में हमारी जलसेना एव वायु सेना ने हमें अपूर्व सहयोग दिया था। केवल एक बार उनमें भूल हो गई थी जब उनमें मापुका की ओर बढ़ने वाली २ सिक्ख लाइट इन्फैण्ट्री की सहायता करने को कहा गया तो हमारे वायुमानों ने भूल में हमी पर बम गिरा दिये थे जिससे हमारे तोपखाने को कुछ मामूली नुकसान हो गया था।

संवाददाताओं को हमारी सेना के साथ जाने की अनुमति नहीं दी गई थी।

४८. वह स्वयं तथा अनेक पुर्तगाली अधिकारी इस आशा से वास्को डी गामा भाग गए थे कि वहाँ से 'अल्वुकर्क' युद्ध-पोत द्वारा वे पुर्तगाल भाग जाएँगे किन्तु हमारी जलसेना ने उनके इस पोत को बेकार कर के उनकी आशाओं पर तुपाराघात कर दिया था।

यह एक भूल थी। हमारे पास छिपाने के लिए तो कुछ था नहीं। इसलिए, उन्होंने वेल्गॉव वैंटे-वैंटे ही मेना की प्रगति से सम्बन्धित समाचार भेजे जिनमें से कुछ सही^{४९} नहीं थे। किन्तु कुछ विदेशी संवाददाता न मालूम किस प्रकार हमारे पहुँचने से पहले ही गोआ में पहुँच चुके थे।

इस सैनिक कार्रवाई के मध्य गोआनियों ने सेना में तथा अन्य सेवाओं में बड़ी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। उदाहरण के लिए, एअर वाइस मार्शल पिण्टो के चाचा डॉक्टर रोसारियो डी' पिण्टो मापुका के मेयर थे, किन्तु वीर पिण्टो ने पहला हवाई आक्रमण गोआ पर ही किया और दामवोलिम के वायरलेस ट्रांसमिटर को नष्ट कर दिया (और इस आक्रमण में उनके अनेक सम्बन्धी भी मृत्यु के मुख में जा सकते थे)।

पुर्तगालियों ने लड़ाई करने की कोई इच्छा प्रकट नहीं की। दिउ और दमन में तो उन्होंने कुछ हाथ-पैर मारे किन्तु बाद में वे ढीले पड़ गए। साथ ही जिस गति से हमने अपनी सेना और युद्ध-सामग्री वेल्गॉव में इकट्ठी की तथा जिस गति से हमने मार्च किया, वह प्रशंसनीय थी। वहाँ की स्थानीय जनता ने हमारी सेना का स्वागत किया। हमारी मातृभूमि का जो भाग ४५१ वर्ष से पुर्तगालियों के चंगुल में था, हमने उसे ३६ घण्टे में मुक्त करा लिया।

पुर्तगाली कैदियों के साथ हमने बड़ा अच्छा व्यवहार किया। पुर्तगाली गवर्नर जनरल एवं उनकी पत्नी को सुविधापूर्वक रखा तथा उनके पूर्व पद के अनुरूप उन्हें सम्मान दिया। उनकी पत्नी को पुर्तगाल वापस भेज दिया क्योंकि उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं था। पुर्तगाली बन्दियों के साथ हमारा व्यवहार बड़ा सदय था, उन्हें हमने अपने सैनिकों से अधिक सुविधाएँ दीं, अच्छा भोजन दिया, अच्छी जगह टहराया तथा अन्य सुविधाएँ भी दीं। उनको हमने छत के नीचे सोने दिया जबकि हमारे विजेता सैनिक खुले आकाश के नीचे सोये। इससे अधिक सहृदयता हम क्या दिखलाते। अन्तर्राष्ट्रीय रेड क्रॉस ने यह सब प्रबन्ध देखा था। पुर्तगाली बन्दियों को इकट्ठा कर के मैंने उनसे पूछा भी था कि हम उनके लिए और क्या कर सकते थे। कुछ अन्य सुविधाओं के साथ उन्होंने एक सुविधा यह भी चाही कि हम उन्हें पत्र-व्यवहार करने दें जिसकी हमने उन्हें अनुमति दे दी।

दिल्ली लौटने पर मैंने पाया कि चारों ओर हमारी सेना, पुलिस और कार की प्रशंसा हो रही थी कि उन्होंने समय की माँग को पहचान कर एक वृत्त कदम उठाया था।

४९. इस सैनिक कार्रवाई में तोपखाने का विल्कुल उपयोग नहीं किया गया संवाददाताओं ने अपनी कल्पना का चमत्कार दिखलाया "तोपों और आकाश प्रज्ज्वलित हो रहा था..."

कुछ दिन बाद, शक्तिशाली अधिकारियों के दल के साथ मैं जलमार्ग से गोघ्रा गया। सरकार ने गोघ्रा में सैनिक प्रशासन स्थापित करने का निर्णय किया था और कैनडथ को वहाँ का सैनिक राज्यपाल (मिलिटरी गवर्नर) नियुक्त किया था और हॉइडू को उनका विशेष परामर्शदाता। कैनडथ ने डम पर पर बड़ा प्रशंसनीय कार्य किया। अब कैनडथ उसी भवन में रहते थे जहाँ से कभी पुर्तगाली गवर्नर जनरल इन उपनिवेशों पर राज्य करता था। अब इस भवन पर पुर्तगाली भण्डे के बदले भारतीय तिरगा लहरा रहा था। मैंने ही हम इस विशाल भवन में घुसे, एक सुविधायत गोघ्रानी राष्ट्रवादी जिनेने स्वतन्त्रता-संग्राम में काफी सफल किया था, हॉइडू से मिलने आया। सर्वप्रथम उसने भावावेश में आ कर इस भवन के फर्श को चूमा और उसके बाद उसने हॉइडू को और मुझे वे अगणित यातनाएँ बतलाई जो उसको पिछले कुछ वर्षों में सहन करनी पड़ी थी। इसके बाद उसने कहा कि क्योंकि अब गोघ्रा दासता के बन्धन से मुक्त हो चुका था, इसलिए अब उसका गोघ्रा में कोई काम नहीं था और वह गोघ्रा से विदा ले रहा था।

गैर-सैनिक जिम्मेदारियों को पूरा करने में हमारे प्रशासकों एवं हमारी पुलिस ने भी प्रशंसनीय कार्य किया। वहाँ तक रेल-मार्ग भी शीघ्र बना दिया गया। और इधर सेना ने भी अपने कर्तव्य-पालन में कोई कमी न माने दी।

गोघ्रा में की गई हमारी इस सैनिक कार्रवाई पर विश्व में भीति-भीति की प्रतिक्रिया हुई। कुछ हमारे पक्ष में थी और कुछ विपक्ष में। कुछ ने कहा कि भारत ने गोघ्रा में सैनिक कार्रवाई करने के लिए स्वयं ही छेड़छाड़ की थी। जबकि सत्य यह है कि १५ एवं २२ नवम्बर १९६१ को पुर्तगालियों ने हमारे नागरिकों के साथ छेड़छाड़ की और एक को मृत्यु के घाट उतार दिया। हमारे पानोचक एक मूल बात यह भूल गए कि हमने केवल अपनी उस भूमि को वापस लिया था जिस पर पुर्तगाली संकड़ों वर्षों में अनपिठृत रूप में जम बैठे थे।

कुछ लोगों ने यह भी कहा था कि यह सब नाटक मेनन का रचा हुआ था क्योंकि दो महीने बाद होने वाले आम चुनावों में मेनन बम्बई से चुनाव लड़ने वाले थे। यह मैं यहाँ स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि यह सत्य नहीं था। उन्होंने इन सम्बन्ध में जो कुछ भी निर्णय किया, उसकी पूर्ण अनुमति नेहरू से ले ली थी और इस कदम को उठाने के लिए परिस्थितियों ने विवश कर दिया था।

गोघ्रा के सम्बन्ध में कोई कदम उठाने में पहले हमारी सरकार तो द्विषक रही थी किन्तु परिस्थितियों ने जब उसे बहुत विवश किया तब उसे यह कदम उठाना पड़ा। करने की भाँति में सम्बन्धित समस्याओं की और सरकार का प्रतिरूप

में से न कोई हिला और न कोई बोला । इस समय कांग्रेस के जो ऊँचे-ऊँचे लोग बैठे हुए थे, वे काफी प्रभावित हुए । जन-समूह पर अपना इतना प्रभाव देना न केवल अपने में असीम आत्म-विश्वास का अनुभव करते थे । उनको इसका बड़ा विस्वासा था कि वह अपार जन-समूह पर नियन्त्रण कर सकते थे तथा उसमें मनमानी कर सकते थे । इससे उनके शुभेच्छुओं को प्रसन्नता होती थी किन्तु विरोधियों को ईर्ष्या ।

एक दूसरे कांग्रेस अधिवेशन की बात है । अधिवेशन के कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल नेहरू एक विशिष्ट मार्ग से जाते थे । उस मार्ग के दोनों ओर जन-समूह इकट्ठा हो जाता था ताकि उनकी एक झलक देख सकें । एक दिन उस मार्ग में कोई रुकावट आ गई, इसलिए पुलिस ने उनकी गाड़ी एक ओर मार्ग से निकाल दी । जब नेहरू ने देखा कि उनकी गाड़ी जन-समुदाय से दूर होती जा रही थी तो उन्होंने तुरन्त कार रुकवाने के लिए गोपी हाँड़^{५२} को आदेश दिया । और गाड़ी से कूद कर अपने दर्शनाभिलाषी नर-नारियों के चीखते-चिल्लाते समूह में जा मिले । उस रात नहा-धो कर, भोजन करने से पहले, उन्होंने गोपी को आदेश दिया कि भविष्य में जनता की कभी अवहेलना न की जाए । गोपी ने कहा कि भीड़ की तो कोई बात नहीं थी किन्तु उस दिन सुबह जब नेहरू भीड़ में जा मिले (और गोपी भी उनके साथ था) तो किसी ने गोपी की जेब काट ली और उसमें रखा रुपया एवं वापसी हवाई टिकट मार लिया । इस बात को सुन कर नेहरू हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए ।

नेहरू अपने जन-सम्पर्क के प्रति विशेष जागरूक रहते थे । एक बार एक कांग्रेस अधिवेशन में जिस मंच से उन्हें भाषण देना था, वह उसका पूर्व निरीक्षण कर रहे थे । उन्होंने अपने निकट खड़े लोगों को निदेश किया कि वे मंच की ऊँचाई में कुछ परिवर्तन करें, इसकी लाइटों को ठीक से लगाएँ और कुछ अन्य सूक्ष्म परिवर्तन करें । अभी वे निदेश कर ही रहे थे कि कोई^{५३} बोल पड़ा कि भाषणकर्ता का मंच रंगमंच बन जाएगा । इस पर नेहरू ने गुस्से में कहा, 'यह ठीक है । यह रंगमंच बन जाएगा । और मैं वह प्रमुख नर्तकी हूँ जिसे कल सारा दिन इस पर नृत्य करना है.....!'

कुछ चीजों की ओर से नेहरू आँख बन्द कर लेते थे । जहाँ सुविख्यात वैज्ञानिकों, कलाकारों एवं खिलाड़ियों को उनका संरक्षण प्राप्त था, वहाँ सामान्य स्तर एवं द्वितीय श्रेणी के लोग जिनका न कोई व्यक्तित्व था, न चरित्र था और न जो कार्यक्षम थे, भी उनके पास थे । यदि वह अपने किसी साथी

५२. उनके मुख्य सुरक्षाधिकारी ।

५३. गोपी हाँड़ ।

श्री अक्षय पाने तो उसमे छुटकारा पाने में हितकित्वाते^{१४} । यदि किसी प्रसिद्ध शार्जजिक व्यक्ति के विरुद्ध किसी प्रकार का आक्षेप सुनने तो उन्हें विश्वास नहीं होना और आश्चर्यचकित हो कर सोचते कि किसी के विरुद्ध आरोप क्यों लाए जाने हैं । (वास्तविकता यह थी कि वह ऐसी किसी स्थिति में फँसना ही चाहते थे ।) बाद में वह ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कोई सरल कदम उठाने कतरते । एक अवसर पर मैंने उनमे पूछा कि वह अक्षय, वेईमान या बातूनी गों को सहन क्यों करते थे तथा उनके विरुद्ध कोई सरल कदम क्यों नहीं लेते थे ? इनका उन्होंने जो उत्तर दिया, उसका भाव निम्नलिखित अनुच्छेद दिया हुआ है ।

उन्होंने मुझे सविस्तार समझाया कि प्रधान मन्त्री बनने के पहले उनका वही विचार था कि समस्याओं को चुटकी बजाते सुलभानिया करेंगे किन्तु गीत होने के बाद जब उन्होंने समस्याओं के आकार-प्रकार को देखा तो अपने पूर्व विचार में सुधार करना पडा । उन्होंने कहा कि काफी नम्ये । तक विदेशी शासन के अधीन रहने के फलस्वरूप अपने देशवासियों में : अशुभ पनप गए हैं, अनेक निर्वलताएँ घर कर गई हैं । उनमें मुक्त होने ए आवश्यकता है जागरूकता की, दायित्व-भावना के विकास की, उद्देश्य की की तथा दलबद्ध हो कर काम करने की । इस सब में गमय लगेगा, इसका डोटा रास्ता नहीं है । अपनी निर्वलताओं के निवारण के लिए यदि हमने कदम उठाए तो उनसे लाभ के साथ-साथ हानि होने की भी आशंका है । मे तो उनमे फल मिलता दिखालाई पडे किन्तु बाद में देग में समन्तोप आया, विपत्त की स्थिति आ जाएगी । और एक विकासशील देश में का होना किन्ना अधिक हानिकारक होगा । और फिर कठोर कदम ने एकदलवाद पनपता है जो हमारे जैसे सरल एव लोकतान्त्रिक लोगों नहीं हो सकना । अपने में सुधार करने के लिए हम अपना चरित्र नाना चाहिए जिसका दूसरे अनुसरण करें । हम चाहे कोई भी कदम लनु हमें अपने देशवासियों के साथ सौम्य व्यवहार करना चाहिए जैसे बालको के साथ करते हैं । श्रीपनिवेशिक शासन में जो एक गहरी तन्त्रा आ गई थी, हम उसमें मुक्त हो कर जाग रहे हैं और हमने हमें जन्नी भी चाहिए । (जो कुछ नेहरू ने कहा, यदि गिदगान. वह ठीक है समझता है कि व्यवहार में उन्हें थोड़ा सरल कदम उठाना चाहिए था ।)

१. जब मैंने एक बार उनसे पूछा कि इन मामलों में वह कुछ करते क्यों त्वर में उन्होंने एक कोड़े का उदाहरण दिया । मैंने ही कोड़े कोड़ा पर चढ़वा है । एक-दो बार तो तुम पैर फटक कर उसे हटा दोगे । मैंने फिर भी नहीं मानता और तुम्हारे पैर पर चढ़ना चाहु रहता है तो तुम ही फटकते रहोगे. धुप हो कर स्थिति तो समझोता कर लगे ।

रुख था। उदाहरण के लिए, कश्मीर को लीजिए जिसके कारण १९४७ से आज तक चैन की नींद नहीं सो पाए हैं। सीमान्त-सम्बन्धी कोई-कोई समस्या कभी काफ़ी उलझ जाती है और कश्मीर की समस्या भी ऐसी ही है।

हमारे लिए केवल इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि (अ) कश्मीर पर चर्चा नहीं की जा सकती और यह भारत का अभिन्न अंग है (मद्रास, उत्तर प्रदेश और राजस्थान की भाँति) तथा (आ) कश्मीर की कोई समस्या ही नहीं है।

सत्य यह है कि कश्मीर-विषयक तथ्यों को हम समझना नहीं चाहते। इस प्रदेश में इतना अधिक कुप्रशासन देखने के बाद भी हमने आज तक देश के दूसरे भागों से कर्तव्यनिष्ठ, सक्षम एवं ईमानदार प्रशासक कश्मीर नहीं भेजे जिन पर स्थानीय रंग नहीं चढ़ता और वे यहाँ की स्थिति को सुधार देते। इस प्रदेश से सम्बन्धित अनेक मामलों पर हमने कई वर्षों तक इसलिए कोई निर्णय नहीं किया कि कहीं उसका कुछ लोग विरोध न करें। इस शिथिल नीति के फलस्वरूप वहाँ की स्थिति और बिगड़ती चली गई। आवश्यकता इस बात की थी कि हम वहाँ अधिक दृढ़ता से काम लेते। भारत एवं पाक के बीच दरार का प्रमुख कारण है कश्मीर। किन्तु हम यह आशा करते रहे कि कश्मीर की समस्या एक दिन स्वयं सुलभ जाएगी। ऐसे चमत्कार बहुत कम होते हैं।

शेख अब्दुल्ला की राजनीतिक पृष्ठभूमि से परिचित होने के बाद भी हमने उन्हें ऊँचा उठाया, कश्मीर की वागडोर उन्हें सँभलवाई, १९५३ में उन्हें गिरफ्तार किया, नज़रबन्द रखा और १९५८ में मुक्त कर दिया, कुछ महीने बाद फिर गिरफ्तार किया और उनके मुकदमे को वर्षों तक घसीटते रहे।^{१०} यह ढुलमुलपन नहीं तो क्या है।

आज तक हमने कश्मीर में अपनी नीतियों को दृढ़ता से लागू नहीं किया। जब तक यह नहीं होगा, तब तक हमें वहाँ कठिनाइयों का सामना करना ही पड़ेगा।

नेहरू के घनिष्ठ सम्पर्क में रहने के कारण मुझे यहाँ अपने प्रथम प्रधान मन्त्री एवं लोकतन्त्र भारत के शिल्पी का मूल्यांकन प्रस्तुत करना चाहिए। नेहरू में अनेक ऐसे विरले गुण थे जिनके सामान्यतः दर्शन होना दुर्लभ है। भय एवं घृणा की भावनाओं से जितने नेहरू मुक्त थे, उतना शायद ही कोई और व्यक्ति रहा हो। मैं उनको अद्वितीय देशभक्त मानता हूँ। उनके गुणों के विषय में तो अनेक राजनीतिज्ञों, चिन्तकों और पत्रकारों ने प्रचुरता से लिखा

५०. उन्हें १९६४ में फिर छोड़ा गया, १९६५ में फिर गिरफ्तार किया गया और अब तक उन्हें विना मुकदमा चलाए नज़रबन्द कर रखा है।

है। इसलिए, मैं केवल उनके चरित्र की उन निबंलताओं का संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत करूँगा जो उनके सत्तासीन होने के बाद अधिक विकसित हो गई थीं तथा उनके विकसित होने की सम्भावित व्याख्या प्रस्तुत करूँगा।

नेहरू के ग्रहंवादी एवं दर्पी रूप के लिए डिम्बेदार है घटनाओं की वह शृंगारा जिसने उनकी तरफ प्रवृत्ता में ही उनके ग्रहं को उद्दीप्त किया था। वह एक प्रतिभावान, पनी, दयालु एवं सफल पिता—राजा जैने एव प्रभावशाली व्यक्तित्व के मोतीलाल नेहरू—के अकेले पुत्र थे जिन्हें जवाहरलाल के दोषों का ज्ञान ही नहीं था और जो यह मानते थे कि उनका पुत्र कभी गलत काम कर ही नहीं सकता। इस लाडल्यार के फलस्वरूप जवाहरलाल में ग्रहंमन्यता की भावना का विकसित होना स्वाभाविक था। उन्हें इस बात पर गर्व था कि उनके पिता उनके विषय में इतने ऊँचे विचार रखते थे।

कार्गम के सदस्य बनने के बाद जवाहरलाल गांधी के सम्मोहक प्रभाव में आए और उन्होंने स्वदेश के लिए अनेक उत्सर्ग करने प्रारम्भ कर दिए। अपने पुत्र के उत्सर्गशील कार्य में प्रभावित हो कर जब मोतीलाल भी कांग्रेस में आ गए (घोर बाद में उनके परिवार^{५१} के सभी सदस्य आ गए) तो जवाहरलाल ने उसे अपनी व्यक्तिगत विजय समझा। अपने अभिजात-वर्गीय एव सुविख्यात पिता को 'बन्धुत्ववाद' की ओर खींच लाने से एव गांधी द्वारा कांग्रेसी सिंहासन का उत्तराधिकारी घोषित किमें जाने से नेहरू का ग्रहं और प्रदीप्त हो गया।

१९४७ में, जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो गांधी के बाद नेहरू का स्थान था। उनकी लोकप्रियता इतनी बढ़ गई थी कि लोग उन्हें अपना रोमानी नायक—त्याग का प्रतीक एव करोड़ों दलितों का प्रतिनिधि—मानते थे। इस लोकप्रियता ने उन्हें असीम शक्ति प्रदान की और वह यह मानने लगे कि यदि वह चाहे तो सम्पूर्ण विश्व पर विजय प्राप्त कर सकते थे और उनके सामने खड़े होने का साहस कोई नहीं जुटा पाएगा।

एक कांग्रेस अधिवेशन में, जहाँ कि कांग्रेस के अन्य प्रसिद्ध नेता भी थे, नेहरू ने अत्यंत भीड़ को सम्बोधित कर माइक पर कहा, 'महिलाओं एव बच्चों, जो मैं कहता हूँ, वह करो। मैं मंच से उतर कर आप लोगों के बैठने की पिछली लाइन तक जाऊँगा और फिर मंच तक वापस आऊँगा। मेरे लिए रास्ता छोड़ दो और शान्तिपूर्वक खड़े हो जाओ। इस बीच न हिलो, न दूँलो और न शोर करो। यदि कोई हिला या किमी ने शत की तो मैं यहाँ से चला जाऊँगा।' उनके इतना कहते ही जन-समूह में श्मशान जैसी शान्ति छा गई। नेहरू मंच से उतरे, पीछे तक गए और लौट कर आए किन्तु जन-समूह

^{५१} उन्हें अपने परिवार के सदस्यों से बहुत प्रेम था किन्तु इन्दिरा से सबसे अधिक।

में से न कोई हिला और न कोई बोला। इस समय कांग्रेस के जो ऊँचे-ऊँचे लोग बैठे हुए थे, वे काफी प्रभावित हुए। जन-समूह पर अपना इतना प्रभाव देव्य कर नेहरू अपने में असीम आत्म-विश्वास का अनुभव करते थे। उनको उसका वृद्ध विश्वास था कि वह अपार जन-समूह पर नियन्त्रण कर सकते थे तथा उसमें मनमानी करा सकते थे। इससे उनके शुभेच्छुओं को प्रसन्नता होती थी किन्तु विरोधियों को ईर्ष्या।

एक दूसरे कांग्रेस अधिवेशन की बात है। अधिवेशन के कार्यक्रमों में भाग लेने के लिए प्रतिदिन प्रातःकाल नेहरू एक विशिष्ट मार्ग से जाते थे। उस मार्ग के दोनों ओर जन-समूह इकट्ठा हो जाता था ताकि उनकी एक झलक देख सके। एक दिन उस मार्ग में कोई रूकावट आ गई, इसलिए पुलिस ने उनकी गाड़ी एक ओर मार्ग से निकाल दी। जब नेहरू ने देखा कि उनकी गाड़ी जन-समुदाय से दूर होती जा रही थी तो उन्होंने तुरन्त कार रूकवाने के लिए गोपी हाँड़^{५२} को आदेश दिया। और गाड़ी से कूद कर अपने दर्शनाभिलाषी नर-नारियों के चीखते-चिल्लाते समूह में जा मिले। उस रात नहा-धो कर, भोजन करने से पहले, उन्होंने गोपी को आदेश दिया कि भविष्य में जनता की कभी अवहेलना न की जाए। गोपी ने कहा कि भीड़ की तो कोई बात नहीं थी किन्तु उस दिन सुबह जब नेहरू भीड़ में जा मिले (और गोपी भी उनके साथ था) तो किसी ने गोपी की जेब काट ली और उसमें रखा रुपया एवं वापसी हवाई टिकट मार लिया। इस बात को सुन कर नेहरू हँसते-हँसते लोट-पोट हो गए।

नेहरू अपने जन-सम्पर्क के प्रति विशेष जागरूक रहते थे। एक बार एक कांग्रेस अधिवेशन में जिस मंच से उन्हें भाषण देना था, वह उसका पूर्व निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने अपने निकट खड़े लोगों को निदेश किया कि वे मंच की ऊँचाई में कुछ परिवर्तन करें, इसकी लाइटों को ठीक से लगाएँ और कुछ अन्य सूक्ष्म परिवर्तन करें। अभी वे निदेश कर ही रहे थे कि कोई^{५३} बोल पड़ा कि भाषणकर्ता का मंच रंगमंच बन जाएगा। इस पर नेहरू ने गुस्से में कहा, 'यह ठीक है। यह रंगमंच बन जाएगा। और मैं वह प्रमुख नर्तकी हूँ जिसे कल सारा दिन इस पर नृत्य करना है.....!'

कुछ चीजों की ओर से नेहरू आँख बन्द कर लेते थे। जहाँ सुविख्यात वैज्ञानिकों, कलाकारों एवं खिलाड़ियों को उनका संरक्षण प्राप्त था, वहाँ सामान्य स्तर एवं द्वितीय श्रेणी के लोग जिनका न कोई व्यक्तित्व था, न चरित्र था और न जो कार्यक्षम थे, भी उनके पास थे। यदि वह अपने किसी साथी

५२. उनके मुख्य सुरक्षाधिकारी।

५३. गोपी हाँड़।

को भ्रम पाने तो उससे छुटकारा पाने में हिचकिचाते^{१५} । यदि किसी प्रतिष्ठित गार्जनीक व्यक्ति के विरुद्ध किसी प्रकार का आक्षेप मुनने तो उन्हें विश्वास नहीं होता और आश्चर्यचकित हो कर सोचते कि किसी के विरुद्ध आरोप क्यों लगाए जाते हैं । (वास्तविकता यह थी कि वह ऐसी किसी स्थिति में फँसना नहीं चाहते थे ।) वाद में वह ऐसे व्यक्ति के विरुद्ध कोई सख्त कदम उठाने में कतराते । एक अवसर पर मैंने उनसे पूछा कि वह प्रक्षम, बेईमान या वातूनी लोगों को सहन क्यों करते थे तथा उनके विरुद्ध कोई सख्त कदम क्यों नहीं उठाते थे ? इसका उन्होंने जो उत्तर दिया, उसका भाव निम्नलिखित अनुच्छेद में दिया हुआ है ।

उन्होंने मुझे सविस्तार समझाया कि प्रधान मन्त्री बनने के पहले उनका भी यही विचार था कि समस्याओं को चुटकी बजाने सुलभा लिया करेंगे किन्तु पराधीन होने के बाद जब उन्होंने समस्याओं के आकार-प्रकार को देखा तो उन्हें अपने पूर्व विचार में सुधार करना पड़ा । उन्होंने कहा कि काफी मध्ये समय तक विदेशी शासन के अधीन रहने के फलस्वरूप अपने देशवासियों में प्रेरक अवगुण पनप गए हैं, अनेक निर्बलताएँ घर कर गई हैं । उनमें मुक्त होने के लिए आवश्यकता है जागरूकता की, दायित्व-भावना के विकास की, उद्देश्य की एकता की तथा दलबद्ध हो कर काम करने की । इस राय में समय लगेगा, इसका कोई छोटा रास्ता नहीं है । अपनी निर्बलताओं के निवारण के लिए यदि हमने बड़े कदम उठाए तो उनसे लाभ के साथ-साथ हानि होने की भी आशंका है । प्रारम्भ में तो उनसे फल मिलना दिखलाई पड़े किन्तु बाद में देश में घतन्तांग के आगम, विपटन की स्थिति आ जाएगी । और एक विकासशील देश में इस गव का होना किना अधिक हानिकारक होगा । और फिर बड़े कदम उठाने से एकदलवाद पनपता है जो हमारे जैसे सरल एवं लोकतान्त्रिक लोगों में अफल नहीं हो सकता । अपने में सुधार करने के लिए हम अपना परिचय प्रदर्श बनाना चाहिए जिसका दूसरे अनुसरण करें । हम चाहे कोई भी कदम उठाएँ किन्तु हमें अपने देशवासियों के साथ सौम्य व्यवहार करना चाहिए जैसे कि छोटे बालकों के साथ करते हैं । औपनिवेशिक शासन में जो एक गहरी तन्त्रा रूप पर छा गई थी, हम उसमें मुक्त हो कर जाग रहे हैं और इसमें हमें जल्दी नहीं करना चाहिए । (जो कुछ नेहरू ने कहा, यद्यपि मिदगन्तव्य, वह ठीक है किन्तु मैं समझता हूँ कि व्यवहार में उन्हें थोड़ा सख्त कदम उठाना चाहिए था ।)

१४. जब मैंने एक बार उनसे पूछा कि इन भावनों में वह कुछ करते क्यों नहीं तो उत्तर में उन्होंने एक कोड़े का उदाहरण दिया । मान लो कोई कोड़ा कुत्ते के पैर पर चढ़ता है । एक-दो बार तो तुम पैर हटक कर उसे हटा दोगे । मन्त्र की कि वह फिर भी नहीं मानता और तुम्हारे पैर पर चढ़ना चालू रखता है तो तुम बस वक़्त पैर हटकते रहोगे, चुप हो कर स्थिति से समझौता कर लोगे ।

नेहरू लोगों को दण्ड देने में क्यों हिचकिचाते थे, इसका एक और विश्लेषण भी है। १९४६ में जब उन्होंने अन्तरिम सरकार बनाई तो देश में उनका अप्रतिम सम्मान था, उनके साथियों का उन्हें पूरा समर्थन प्राप्त था। इसलिए उन्होंने सम्पूर्ण सत्ता अपने हाथों में न रख कर उसको अपने साथियों में विकेंद्रित कर दिया, स्वयं केवल अन्तर्राष्ट्रीय मामलों एवं महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय मामलों पर ही ध्यान दिया। इस समय सरदार पटेल—जिनकी उनसे कम वनती थी—उनके लिए शक्ति-स्रोत थे जिन्होंने उप-प्रधान मन्त्री का पद संभाल कर देश की अनेक भयंकर समस्याओं को मिनटों में सुलझा दिया, सब रियासतों को भारत में मिला लिया एवं अन्य महत्त्वपूर्ण मामलों को भी असाधारण योग्यता से निपटाया। उनकी मृत्यु से देश की न पूरी होने वाली क्षति हुई। नेहरू वन्दन में विश्वास नहीं रखते थे, इसलिए उन्होंने अपने साथियों को भी उनके क्षेत्रों में काम करने की पूरी स्वतन्त्रता दे दी। किन्तु बाद में नेहरू ने देखा कि इनमें से कुछ संकुचित विचारधारा के, अक्षम, साम्प्रदायिक भावना के पोषक एवं भ्रष्ट थे तथा अपनी नयी मिली सत्ता का दुरुपयोग कर रहे थे। इससे नेहरू की बदनामी होने लगी। जब नेहरू ने उनसे यह सत्ता वापस ले ली तो उन्होंने नेहरू के विरुद्ध कुमन्त्रणा करना एवं विश्वासघात करना प्रारम्भ कर दिया। नेहरू को अपने साथियों का यह रूप देख कर बड़ा दुःख हुआ और धीरे-धीरे उन्हें इस संसार से विरति होने लगी। साथियों के विश्वासघात ने उन्हें सनकी बना दिया। किसी भी समस्या के समाधान में अब उन्हें सैकड़ों बाधाएँ दिखाई पड़तीं, फलतः उन्होंने सब प्रकार के समाधानों-सुझावों का मध्य मार्ग खोजना प्रारम्भ कर दिया जिससे उनका प्रशासन सुचारु रूप से चलता रहे (जो उद्देश्य शायद ही पूरा हुआ हो)।

आज़ाद, किदवई, वी० सी० राय, पन्त एवं अन्य विश्वस्त साथियों की मृत्यु के बाद उन्हें सत्परामर्श देने वाला कोई न रहा। अब नेहरू को यह नहीं सूझता था कि वह किस पर विश्वास करें और किस पर नहीं, इससे उनका आत्म-विश्वास डिगने लगा। फलतः, उन्होंने किसी के प्रति सख्त कदम न उठा कर सबको सन्तुष्ट करने की नीति अपना ली। कांग्रेस दल, प्रतिपक्षी दलों तथा अन्य लोगों की संवेदना को वह चोट नहीं पहुँचाना चाहते थे। इस क्रम में उनकी दृढ़ता तो मिट गई और उनमें शिथिलता (डुलमुलपन) आ गई, अनिश्चय आ गया और फलतः उन्होंने कई गलतियाँ भी कीं।

यद्यपि नेहरू को गुस्सा जल्दी आता था किन्तु उतर भी जल्दी जाता था। वह काफी विनोदप्रिय^{५५} थे। यदि किसी वार्ता के मध्य नेहरू उत्तेजित हो जाते

५५. उदाहरण के लिए, किसी ने उनसे पूछा कि वह सिर के बल क्यों खड़े तो उन्होंने उत्तर दिया कि उल्टी दुनिया को देखने-समझने के लिए यही एक था।

या विरोधी विचार व्यक्त करते तो तभी जब वह अपने किसी सुपरिचित से बातें कर रहे होते थे। यदि वे सुपरिचित किसी बात पर जिद करते तो नेहरू उनकी प्रोर ध्यान ही न देते क्योंकि उनके साथ ऐसा व्यवहार करना वह अपने स्वभाव के कारण अन्यथा न मानते थे।

नेहरू का व्यक्तिगत आचरण बहुत ऊँचा था। लोग उनका भयमिश्रित आदर करते थे। उनके पास असीम सत्ता थी जिसका उपयोग वह शायद ही कभी करते थे। उनके माथी कुछ करने से पहले उनकी प्रोर से पहल होने की प्रतीक्षा करते रहते थे। नेहरू के सामने तो वे बड़ा उत्साह दिखाते, बड़ी निष्ठा प्रकट करते और यह सिद्ध करना चाहते कि वे दलबद्ध हो कर काम करते थे जबकि यथार्थ में वे असंगठित थे, उनके उद्देश्य अस्पष्ट थे एवं अतगत थे। अनेक समस्याओं एवं जटिलताओं से पूर्ण अपने दल एव समाज का वे प्रतिबिम्ब मानते थे। किसी सकट-काल में वे संगठित हो जाते अन्यथा सदा विभाजित एवं असंगठित रहते। नेहरू चाहते थे कि वे समाज की प्रतिष्ठाया न हो कर समाज का नेतृत्व करें किन्तु इसमें नेहरू को निराशा होना पड़ा। उन्होंने प्रतिभासम्पन्न एवं मेधावी व्यक्तियों का कोई दल प्रसिद्ध नहीं किया जिसमें से उनका उत्तराधिकारी लोजा जा सकता। दूसरे शब्दों में वह समाज को नेता देने में असफल रहे। उनका कहना था कि नेता पहले से तैयार नहीं किये जाते अपितु सकट-काल में स्वयं उभर आते हैं। यह ठीक है कि लोकतन्त्र में सरकार के प्रमुख पदों में ही नियुक्त नहीं किये जा सकते क्योंकि यह कोई बदानुगत पद नहीं है किन्तु यह भी उतना ही ठीक है कि हम लोकतन्त्र की वागडोर किसी भी प्रयोगवश उभरे नेता को नहीं सौंप सकते।

अनेक समस्याओं का सैद्धान्तिक समाधान तो नेहरू के पास था किन्तु उनकी व्यावहारिक रूप देने की दृढ़ता उनमें नहीं थी। अनेक मामलों में उन्होंने काफी ठोस नीतियाँ प्रतिपादित की थी किन्तु उनको उतने ही ठोस रूप में वे लागू नहीं करा पाए। उनके अनेक प्रतिनिधियों ने उनकी इस सिधिलता का लाभ उठाया और उनके कहने के बावजूद भी कई चीजों को व्यावहारिक रूप नहीं दिया। जब नेहरू को पता लगता तो वे कुछ इधर-उधर के बहाने लगा कर दण्ड पाने में बच जाते। इन प्रवृत्तियों के कारण हमारी काफी हानि हुई और नेहरू को काफी अपयश मिला। नेहरू एक महान् मानव थे किन्तु एक महान् प्रशासक नहीं।^{१६}

नेहरू की एक आदत यह भी कि वह महत्त्वपूर्ण घरेलू एव अन्तर्राष्ट्रीय

^{१६} कुछ ने तो नेहरू की निष्ठापूर्वक सेवा की तथा कुछ ने उनके साथ विश्वासघात किया। पहले वर्ग में आते हैं एस० पी० खन्ना, सेठान एव कपूर जो उनके निजी स्टाफ पर थे तथा जिन्होंने उनकी वर्षों तक निस्स्वार्थ भाव से अनुपस्थित की।

मामलों पर सार्वजनिक रूप से अपने विचार व्यक्त कर देते थे। इससे अनेक लोग उनके शत्रु हो गए और कुछ क्षेत्रों में उनकी लोकप्रियता काफी घट गई। इन सार्वजनिक वक्तव्यों में और उनके कामों में कई बार काफी भिन्नता पाई जाती। जब उन्होंने क्यूबा, स्वेज, कांगो, वियतनाम एवं अल्जीरिया में फ्रांसीसी उपनिवेशों आदि के सम्बन्ध में ऐसे विचार व्यक्त किए जो कुछ देशों के पक्ष में नहीं थे तो कुछ क्षेत्रों में इस पर काफी अप्रसन्नता प्रकट की गई। यदि वह शान्त रहते तो ऐसी कोई समस्या न खड़ी होती। क्योंकि नेहरू ने उनकी आलोचना की (शायद सद् कारणों से), इसलिए उन्होंने कश्मीर एवं नागा समस्याओं पर हमसे बदला लिया।

वह अपनी शक्ति अनेक व्यर्थ की बातों में खर्च कर देते। दिन में अनेक ऐसे लोगों से मिलते जिनसे न मिलने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता था, अनेक ऐसी महत्त्वहीन बातों पर ध्यान देते जिनकी वह अवहेलना कर सकते थे। उनके पास दूसरा काम इतना था कि इन महत्त्वहीन बातों पर ध्यान न देना अधिक लाभदायक रहता। इस अधिक व्यवस्ता का फल यह होता कि रात्रि के भोजन के समय तक वह थक कर चूर-चूर हो जाते यद्यपि नाश्ते के समय वह प्रायः कहा करते थे, 'अब मुझमें चाबी भर गई है और अब मैं दिन भर काम करता रहूंगा।' इसलिए, रात्रि के भोजन के बाद महत्त्वपूर्ण वार्ता के मध्य उनको ऊँघते हुए देखा जा सकता था। मुझे ऐसे कई उदाहरण स्मरण हैं। १९४६ में, अन्तरिम सरकार बनने के तुरन्त बाद उन्होंने एक दिन रात को दस बजे मुझे अपने यहाँ बुलाया। हम दोनों किसी (गैर-सैनिक) मामले पर बात कर रहे थे। इस बीच उन्होंने मुझे एक फ़ाइल पढ़ने के लिए दी। मैं तो फ़ाइल पढ़ने लगा और वह अपनी कुर्सी पर आराम से टिक कर बैठ गए। थोड़ी देर बाद क्या देखता हूँ कि वह गहरी नींद में सो रहे थे। १९४६ से १९६२ की अवधि में मैंने उन्हें कई अवसरों पर, महत्त्वपूर्ण वार्ता के मध्य सोता देखा है (अधिकांशतः रात्रि के भोजन के बाद)। दिन भर अधिक काम करने के कारण वह इतने थक जाते थे कि ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

प्रधान मन्त्री बनने के दस वर्ष पूर्व, नवम्बर १९३७ के 'माडर्न रिव्यू' में ने 'चाणक्य' साहित्यिक उपनाम से 'राष्ट्रपति' शीर्षक लेख के माध्यम से ने आत्म-विश्लेषण प्रस्तुत किया था, उसके कुछ अंश मैं यहाँ उद्धृत कर रहा हूँ :

उसको फिर देखो। एक विशाल जुलूस निकल रहा है और उसकी कार के चारों ओर लाखों आदमी इकट्ठे हैं जो भावोन्मत्त हो कर उसकी जय-जयकार कर रहे हैं। वह अपनी कार की सीट पर खड़ा है, संतुलित और सीधा, देवता के समान गम्भीर एवं संयत, उत्तेजित जन-समूह से

व्यक्तिने विचार व्यक्त करते तो तभी जब वह अपने किसी सुपरिचित से
कॉन्फ्रेंस होते थे। यदि वे सुपरिचित किसी बात पर जिद करते तो नेहरू
जबो मोर ध्यान ही न देते क्योंकि उनके साथ ऐसा व्यवहार करना वह
भाव के कारण अन्यथा न मानते थे।

नेहरू का व्यक्तिगत आचरण बहुत ऊँचा था। लोग उनका भयमिथित
भरते थे। उनके पास असीम सत्ता थी जिसका उपयोग वह शायद ही
करो करते थे। उनके साथी कुछ करने से पहले उनकी ओर से पहल होने की
प्रतीक्षा करने लगे थे। नेहरू के सामने तो वे बड़ा उत्साह दिखाते, बड़ी निष्ठा
गट करते और यह निश्चय करना चाहते कि वे दलबद्ध हो कर काम करते थे।
सर्वेकार्य में वे अग्रगण्य थे, उनके उद्देश्य अस्पष्ट थे एवं असंगत थे।
अनेक समस्याओं एवं जटिलताओं में पूर्ण अपने दम एवं समाज का वे प्रतिबिम्ब
मात्र थे। अज्ञेय संकट-काल में वे संगठित हो जाते अन्यथा सदा विभाजित एवं
असंगठित रहते। नेहरू चाहते थे कि वे समाज की प्रतिष्ठाया न हो कर समाज
का नेतृत्व करें किन्तु इनमें नेहरू को निराश होना पड़ा। उन्होंने प्रतिभासम्पन्न
एवं मेधावी व्यक्तियों का कोई दल प्रतिष्ठित नहीं किया जिसमें से उनका उत्तरा-
धिकारी घोषा जा सकता। दूसरे शब्दों में वह समाज को नेता देने में असफल
रहें। सफल करना था कि नेता पहले से तैयार नहीं किये जाते अपितु संकट-
काल में उभर उभर पाते हैं। यह ठीक है कि लोकतन्त्र में सरकार के प्रमुख
पदों में ही नियुक्त नहीं किये जा सकते क्योंकि यह कोई वगानुगत पद नहीं
है किन्तु यह भी उठना ही ठीक है कि हम लोकतन्त्र की वागडोर किसी भी
अल्पकाल उभरे नेता को नहीं सौंप सकते।

अनेक समस्याओं का सैद्धान्तिक समाधान तो नेहरू के पास था किन्तु उनकी
कार्यात्मक दृष्टि देने की दृष्टता उनमें नहीं थी। अनेक मामलों में उन्होंने काफी
दोषपूर्ण प्रतीपापिन की थीं किन्तु उनकी उठने ही टोरा रूप में वे लागू
नहीं कर पाए। उनके अनेक प्रतिनिधियों ने उनकी इस दिव्यता का लाभ
उठाया और उनके रहने के बावजूद भी कई दलों की व्यावहारिक रूप नहीं
लेना। यह नेहरू की दया सगता तो वे उधर के बहाने कर
रहते थे उन शक्तों। इन प्रवृत्तियों के कारण ही
उनके अनेक अज्ञान मित्र।

प्रारम्भ

मानव

राष्ट्रीय

उनके सार
एव कथन
यदि न भय

मामलों पर मार्गजनिक रूप से अपने विचार व्यक्त कर देते थे। इससे अनेक लोग उनके शत्रु हो गए और कुछ क्षेत्रों में उनकी लोकप्रियता काफी घट गई। इन सार्वजनिक वक्तव्यों में और उनके कामों में कई बार काफी भिन्नता पाई जाती। जब उन्होंने क्यूबा, स्वेज, कांगो, वियतनाम एवं अल्जीरिया में फ्रांसीसी उपनिवेशों आदि के सम्बन्ध में ऐसे विचार व्यक्त किए जो कुछ देशों के पक्ष में नहीं थे तो कुछ क्षेत्रों में इस पर काफी अप्रसन्नता प्रकट की गई। यदि वह शान्त रहते तो ऐसी कोई समस्या न खड़ी होती। क्योंकि नेहरू ने उनकी आलोचना की (शायद सद् कारणों से), इसलिए उन्होंने कश्मीर एवं नागा समस्याओं पर हमसे बदला लिया।

वह अपनी शक्ति अनेक व्यर्थ की बातों में खर्च कर देते। दिन में अनेक ऐसे लोगों से मिलते जिनसे न मिलने पर भी कोई अन्तर नहीं पड़ता था, अनेक ऐसी महत्त्वहीन बातों पर ध्यान देते जिनकी वह अवहेलना कर सकते थे। उनके पास दूसरा काम इतना था कि इन महत्त्वहीन बातों पर ध्यान न देना अधिक लाभदायक रहता। इस अधिक व्यवस्ता का फल यह होता कि रात्रि के भोजन के समय तक वह थक कर चूर-चूर हो जाते यद्यपि नाश्ते के समय वह प्रायः कहा करते थे, 'अब मुझमें चावी भर गई है और अब मैं दिन भर काम करता रहूँगा।' इसलिए, रात्रि के भोजन के बाद महत्त्वपूर्ण वार्ता के मध्य उनको ऊँघते हुए देखा जा सकता था। मुझे ऐसे कई उदाहरण स्मरण हैं। १९४६ में, अन्तरिम सरकार बनने के तुरन्त बाद उन्होंने एक दिन रात को दस बजे मुझे अपने यहाँ बुलाया। हम दोनों किसी (गैर-सैनिक) मामले पर बात कर रहे थे। इस बीच उन्होंने मुझे एक फ़ाइल पढ़ने के लिए दी। मैं तो फ़ाइल पढ़ने लगा और वह अपनी कुर्सी पर आराम से टिक कर बैठ गए। थोड़ी देर बाद क्या देखता हूँ कि वह गहरी नींद में सो रहे थे। १९४६ से १९६२ की अवधि में मैंने उन्हें कई अवसरों पर, महत्त्वपूर्ण वार्ता के मध्य सोता देखा है (अधिकांशतः रात्रि के भोजन के बाद)। दिन भर अधिक काम करने के कारण वह इतने थक जाते थे कि ऐसा होना स्वाभाविक ही था।

प्रधान मन्त्री बनने के दस वर्ष पूर्व, नवम्बर १९३७ के 'भाडन रिब्यू' में नेहरू ने 'चाणक्य' साहित्यिक उपनाम से 'राष्ट्रपति' शीर्षक लेख के माध्यम से जो 'आत्म-विश्लेषण' प्रस्तुत किया था, उसके कुछ अंश मैं यहाँ उद्धृत कर

उसको फिर देखो। एक विशाल जुलूस निकल रहा है और उसकी के चारों ओर लाखों आदमी इकट्ठे हैं जो भावोन्मत्त हो कर उसकी अजयकार कर रहे हैं। वह अपनी कार की सीट पर खड़ा है, संतुलित र सीधा, देवता के समान गम्भीर एवं संयत, उत्तेजित जन-समूह से

अप्रभावित । अचानक उसके घोठों पर मुस्कराहट आ जाती है या वह हँस पड़ता है.....तनाव मिट जाता है और लोग उसके साथ हँस पड़ते हैं, बिना यह समझे हुए कि वे किस लिए हँस रहे हैं । अब वह देवता का रूप छोड़ कर सामान्य मानव बन गया है, अपने चारों ओर इकट्ठे जन-समूह का एक अंग, जन-समुदाय भी उसे अपना समझने लगा है.....मुद्गर उत्तर से कन्या कुमारी तक वह विजेता सीजर के समान घूम आया है, उसने पीछे लोगों के मानस पर उसकी छवि अंकित है और उस पर अनेक कहानियाँ चल पड़ी हैं । क्या यह उसकी सत्ता प्राप्त करने की आकांक्षा है जिसकी वह अपनी आत्मकथा में चर्चा करता है जो उसको भीड़ से दूर ले जा कर उसके कान में फुसफुसाती है :

‘मैंने इन लोगों को अपनी मुट्ठी में कर लिया है और अपनी इच्छा सब पर व्यक्त कर दी है ।’ जवाहरलाल न सिद्धान्त से अधिनायकवादी है और न स्वभाव से । उसके कुलीन होने के कारण अधिनायकवाद की पक्षिष्टता एवं अदलीलता उसका स्पर्श नहीं कर सकती । (यह उन्होंने १९२७ में तब कहा था कि जब हिटलर की सत्ता का उका बज रहा था ।) उसका चेहरा और उसके शब्द बताते हैं :

‘निजी चेहरे सार्वजनिक स्थानों पर मुन्दर एव अच्छे लगते हैं अपेक्षा-हृत सार्वजनिक चेहरे के निजी स्थानों पर ।’.....उसे यह ज्ञात होना चाहिए कि उसने जो मार्ग चुना है, उसमें विश्राम करने का कोई स्थान नहीं है और गन्तव्य पर पहुँचने के बाद तो जिम्मेदारियाँ और बढ़ जाएँगी । जैसा कि लारेंस ने अरबों से कहा था, ‘वान्ति में विश्राम नहीं होता, सफलता पर मुख नहीं होता ।’

सुख चाहे उसको न मिले किन्तु यदि भाग्य कृपानु रहा तो सुख से बड़ी चीज उसे मिलेगी—जीवन के लक्ष्य की सिद्धि.....इस प्रान्तिकारी युगारम्भ में सीजरवाद की सदा आसका रहती है और क्या यह सम्भव नहीं कि जवाहरलाल अपने को सीजर समझने लगे ? उसमें जवाहरलाल और भारत, दोनों के लिए खतरा है । क्योंकि भारत को स्वाधीनता सीजरवाद से नहीं मिलेगी.....ऊँची-ऊँची बातें करने के बावजूद भी जवाहरलाल क्लान्त एवं नीरस है और यदि वह अधिक दिन (कांग्रेस वा) राष्ट्रपति रहा तो धीरे-धीरे गिरता चला जाएगा । विश्राम वह कर नहीं सकता क्योंकि जो बाध पर चढ़ जाता है, वह उतर नहीं पाता । किन्तु हम उसे अधिक जिम्मेदारियों के भार से दब कर पथभ्रष्ट होने एवं मानसिक पतन से तो बचा सकते हैं । भविष्य में उत्तरे अच्छे काम होने की आशा है । उसकी अधिक खुशामद एव प्रशंसा कर के हमें उसे बिगाड़ना नहीं चाहिए, भविष्य की आशा पर पानी नहीं फेरना चाहिए । उसका

और हमें काफी सहयोग दिया। इस सम्बन्ध में जी० ओ० सी० ३३ कोर ने कुछ कठिनाइयों बतलाई तो फरवरी १९६२ में मैं गोहाटी पहुँचा और नेफ्रा के इस प्रश्न में सम्बन्धित सैनिक एवं गैर-सैनिक ऑफिसरों की एक बैठक बुलाई। चौकियों की स्थापना के महत्त्व को समझा कर मैंने उनसे कहा कि उस काम में यदि हम चूक गए तो वहाँ चीनी अपनी चौकियाँ स्थापित कर लेंगे। सैनिकों की कम संख्या, श्रमिकों का सरलता से न मिलना, रसद पहुँचाने के साधनों का अभाव और कुछ क्षेत्रों तक पहुँचने में अनेक कठिनाइयों का होना आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनके फलस्वरूप, ३३ कोर के कमाण्डर लेफ्टी० जनरल के० उमरावसिंह ने कहा कि इस नीति को पूरी तरह लागू करना कठिन होगा। हम सबने निर्णय किया कि राष्ट्र-हित को देखते हुए नेफ्रा सीमा के साथ-साथ अधिकतम चौकियाँ स्थापित की जाएँ।

३६० × ६० मील के क्षेत्रफल वाले नेफ्रा में काफी पहाड़ी इलाका है। विशेषतः भारतीय-तिब्बती सीमा के पास तो यह क्षेत्र इतना जटिल है कि वहाँ तब तक चौकियाँ स्थापित नहीं की जा सकती थीं जब तक कि गर्मियाँ न आ जाएँ और बर्फ न पिघल जाए। इसलिए, ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन के कमाण्डर ने आसाम राइफल्स की अनेक टुकड़ियाँ इस काम को पूरा करने के लिए भेजीं और प्रत्येक टुकड़ी का नेतृत्व एक नियमित ऑफिसर को सौंपा। इनमें से एक टुकड़ी ने, जिसके नेता १ सिक्ख के कैप्टेन महावीरप्रसाद एम० सी० थे, त्रिसंगम (ट्राई-जंक्शन)^{५८} क्षेत्र के निकट ढोला (नेफ्रा) में अपनी चौकी की स्थापना की। भारतीय-तिब्बती सीमा पर अपनी ओर हमने ऐसी अनेक चौकियाँ स्थापित कीं। चीनियों ने हमारे इस कदम से भ्रल्ला कर अक्टूबर १९६२ में हम पर आक्रमण कर दिया। (इसका विवरण मैं आगे दूँगा।)

नवम्बर १९६१ में प्रधान मन्त्री नेहरू को अमरीका जाने का निमन्त्रण मिला। इस सम्बन्ध में अपनी सरकार से परामर्श करने के लिए वाशिंगटन-स्थित हमारे राजदूत वी० के० नेहरू दिल्ली आए। स्वतन्त्रता के बाद अमरीका में हमारे जितने राजदूत गए, वी० के० नेहरू उनमें सबसे सफल राजदूत थे। प्रभावशाली व्यक्तित्व के वी० के० नेहरू बृहदार-कुशल^{५९} एवं मेधावी राजनयज्ञ हैं। प्रातःकाल उठ कर विस्तरे में चाय पीते हैं और दैनिक समाचारों का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, तनावपूर्ण स्थिति में भी शान्त रहते हैं और

५८. जहाँ भारत, भूटान और तिब्बत की सीमाएँ मिलती हैं।

५९. आवश्यकता पड़ने पर वह सरल कदम उठाने में भी समर्थ हैं।

यात्माभिमान पहले ही दुर्घर्ष रूप धारण कर चुका है। इसे र चाहिए। हमें सीजरो की आवश्यकता नहीं है।

उपयुक्त लेख की ध्वनि यह है कि नेहरू को भारत में अपूर्व लोकप्रियता प्राप्त थी, उन पर काफी जिम्मेदारियाँ थीं, वह क्लान्त एवं नीरस हो गए थे तथा उनके श्रीर गिरने की सम्भावना थी, अधिक खुशामद एवं प्रशंसा से उनको विगाड़ना नहीं चाहिए, उनका अहं पहले ही काफी प्रदीप्त हो चुका था और वह सम्भवतः सीजर बन चुके थे। ये सब बातें वर्षों बाद भी खरी उतरी अतिरिक्त इसके कि वह गत्यात्मक एवं सीजर अपनी युवावस्था में ही रहे और गाँधी के सम्पर्क में आने के बाद उनमें कोमलता एवं सौम्यता आ गई थी। प्रधान मन्त्री बनने के बाद उन्होंने अपनी इन चारित्रिक विशेषताओं को सुरक्षित रखने का प्रयत्न किया किन्तु उनके सामने इतनी अधिक संख्या में जटिलता पूर्ण समस्याएँ आ गई कि धीरे-धीरे वह मध्यमार्गी एवं अनिश्चित से हो गए। दृढ़ता से शासन चलाने के प्रति उनकी खिन्नता से अन्य क्षेत्रों में उनकी महानता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यह कहना अधिक संगत रहेगा कि प्रधान मन्त्री बनने से उनका गौरव तो अधिक नहीं बढ़ा, हाँ प्रधान मन्त्री पद का गौरव निश्चित रूप से बढ़ गया। उन्होंने कभी प्रधान मन्त्री बनने की इच्छा प्रकट नहीं की, प्रधान मन्त्रित्व उन पर थोप दिया गया। स्थिति को देखते हुए यह ठीक ही था कि स्वतन्त्रता-संघर्ष में नेहरू के त्याग एवं उत्सर्ग को देख कर उन्हें स्वतन्त्र भारत का प्रथम नेता माना जाता किन्तु प्रशासन की दृष्टि से उनका प्रधान मन्त्री बनना विशेष लाभकारी सिद्ध नहीं हुआ (यद्यपि सिद्धान्ततः यह काफी बड़ी सफलता थी)। वह आदर्शवादी एवं कुलीन थे, तथा उन्होंने स्वतन्त्र भारत का निर्माण किया था किन्तु अधिक श्रेयस्कर होता यदि उन्हें सरकार का प्रमुख न बना कर राष्ट्र का प्रमुख बनाया जाता। प्रथम भूमिका में उन्हें संघर्ष करना पड़ा जबकि दूसरी भूमिका में वह अद्वितीय सिद्ध होते। वह भारत के प्रथम नागरिक पद के लिए सर्वोपयुक्त थे तथा भारत के राष्ट्रपति के रूप में उन्होंने विश्व के समक्ष स्वदेश का सुन्दरतम एवं श्रेष्ठतम विम्ब अंकित किया होता। (अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में भी जब वह अपने गिरते स्वास्थ्य की चिन्ता किये बिना देश के प्रति अपना कर्तव्य पालन करते रहे तो कुछ लोगों ने उनके प्रति सौजन्य न दिखला कर उनसे पद त्याग करने के लिए कहा। लेकिन, रूजवेल्ट एवं आइज़नहाँवर भी अस्वस्थ हुए थे किन्तु उनके देशवासियों ने उनके साथ ऐसा निर्मम व्यवहार नहीं किया था और नेहरू थे जिन्होंने अशोक या अकबर के बाद स्वदेश के लिए सबसे अधिक काम किया था, जिन्होंने अपने जीवन की समस्त सुविधाएँ देश पर न्योछावर थीं किन्तु उनके देशवासियों ने उनका अनादर किया !)

अपनी सेना के कुछ सीनियर ऑफिसरों का यह स्वभाव बन गया था कि वे अपने राष्ट्रीय नेताओं की तो निन्दा करते तथा अपने (उन ऑफिसरों के) भ्रूणभ्रंश गौरव प्रभुओं की प्रशंसा में पुल बांध देते। कभी-कभी वे यह सुभाव भी देते कि तत्कालीन विपन्न परिस्थिति से मुक्ति पाने का केवल एक ही मार्ग था और वह था तानाशाही शासन। (शायद उनको यह नहीं मालूम था कि शासन चाहे तानाशाही हो या कोई और हो, वह तब तक सफल नहीं होगा जब तक कि उसका नेतृत्व सत्यनिष्ठ, सुयोग्य एवं दृढ़निश्चयी व्यक्तियों के हाथ में न हो और ऐसे लोग कहीं भी प्रचुरता में नहीं मिलते।) विदेशियों में अपनी लोकप्रियता अर्जित करने के लिए, कॉकटेल पार्टियों में या अन्य स्थानों पर वे कई बार काफी निम्न स्तर की अक्षयमित बातें करते और अपने देश का उपहास करते। बस किन्हीं विदेशी निष्पत्तियों के पूछने की देर होती कि वे महत्त्वपूर्ण महत्त्वपूर्ण रहस्य का पूरा विवरण उगल देते। इस प्रकार हमारी काफी गोपनीय सूचनाएँ विदेशियों के अधिकार में पहुँच गईं।^{५०}

एक बार मुझे ऐसी विनिष्ट घटना की सूचना मिली जिसमें हमारे सीनियर ऑफिसरों ने विदेशियों की उपस्थिति में कुछ राष्ट्र-विरोधी एवं अविवेकपूर्ण बातें कही थीं। इसलिए, मैंने इस सम्बन्ध में एक लिखित रिपोर्ट जनरल पी० एन० पापर को दी जिन्होंने यह प्रतिरक्षा मन्त्री मेनन को भेज दी और उन्होंने प्रधान मन्त्री नेहरू को। नेहरू ने इस मामले में जाँच-पड़ताल करा के एक ऑफिसर के विरुद्ध तो कुछ अप्रशंसात्मक टिप्पणी लिखी तथा दूसरों की अदा-सवो जाँच का आदेश दे दिया। अदालत ने उनके आचरण को आपत्तिजनक ठहराते हुए उन्हें दोषमुक्त कर दिया। सरकार ने, नेहरू की सहमति से, इस ऑफिसर को अपनी अप्रसन्नता व्यक्त कर दी। किन्तु इस आपत्तिजनक आचरण को नुस्त कर उसी सरकार ने कुछ समय बाद उस ऑफिसर की पदोन्नति कर दी।

अपवादों नॉनि (आरयडं पॉलिसी) के अनुसार हमने लद्दाख एव नेका में सैनिक चौकियाँ स्थापित करने का आदेश दे दिया। इस काम में गृह मन्त्रालय के बी० एन० मल्लिक और हूजा ने हमें काफी महत्त्वपूर्ण आंकड़े सुलभ कराये

५३. उदाहरण के लिए, कुछ अल्प पहले मुझे एक पत्रकार ने सूचना दी कि एक विशिष्ट प्रलेख (दस्तावेज़) नेहरू के कार्यालय से निकल कर दिल्ली-स्थित एक विदेशी सरफा में पहुँच गया था। जब मैंने नेहरू को यह बात बतलाई तो उन्हें विश्वास नहीं हुआ। किन्तु जब उन्होंने अपने कार्यालय में उस प्रलेख की खोज कराई तो वह यथार्थ में वहाँ से गायब था।

और हमें काफी सहयोग दिया। इस सम्बन्ध में जी० ओ० सी० ३३ कोर ने कुछ कठिनाइयाँ बतलाई तो फरवरी १९६२ में मैं गोहाटी पहुँचा और नेफ्रा के इस प्रश्न में सम्बन्धित सैनिक एवं गैर-सैनिक ऑफिसरों की एक बैठक बुलाई। चौकियों की स्थापना के महत्त्व को समझा कर मैंने उनसे कहा कि इस काम में यदि हम चूक गए तो वहाँ चीनी अपनी चौकियाँ स्थापित कर लेंगे। सैनिकों की कम संख्या, श्रमिकों का सरलता से न मिलना, रसद पहुँचाने के साधनों का अभाव और कुछ क्षेत्रों तक पहुँचने में अनेक कठिनाइयों का होना आदि कुछ ऐसे कारण थे जिनके फलस्वरूप, ३३ कोर के कमाण्डर लेफ्टी० जनरल के० उमरावसिंह ने कहा कि इस नीति को पूरी तरह लागू करना कठिन होगा। हम सबने निर्णय किया कि राष्ट्र-हित को देखते हुए नेफ्रा सीमा के साथ-साथ अधिकतम चौकियाँ स्थापित की जाएँ।

३६० × ६० मील के क्षेत्रफल वाले नेफ्रा में काफी पहाड़ी इलाका है। विशेषतः भारतीय-तिब्बती सीमा के पास तो यह क्षेत्र इतना जटिल है कि वहाँ तक चौकियाँ स्थापित नहीं की जा सकती थीं जब तक कि गर्मियाँ न आ जाएँ और बर्फ न पिघल जाए। इसलिए, ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन के कमाण्डर ने आसाम राइफल्स की अनेक टुकड़ियाँ इस काम को पूरा करने के लिए भेजीं और प्रत्येक टुकड़ी का नेतृत्व एक नियमित ऑफिसर को सौंपा। इनमें से एक टुकड़ी ने, जिसके नेता १ सिक्ख के कैप्टेन महावीरप्रसाद एम० सी० थे, त्रिसंगम (ट्राई-जंक्शन)^{५८} क्षेत्र के निकट ढोला (नेफ्रा) में अपनी चौकी की स्थापना की। भारतीय-तिब्बती सीमा पर अपनी ओर हमने ऐसी अनेक चौकियाँ स्थापित कीं। चीनियों ने हमारे इस कदम से भ्रमला कर अक्टूबर १९६२ में हम पर आक्रमण कर दिया। (इसका विवरण मैं आगे दूँगा।)

नवम्बर १९६१ में प्रधान मन्त्री नेहरू को अमरीका जाने का निमन्त्रण मिला। इस सम्बन्ध में अपनी सरकार से परामर्श करने के लिए वाशिंगटन-स्थित हमारे राजदूत बी० के० नेहरू दिल्ली आए। स्वतन्त्रता के बाद अमरीका में हमारे जितने राजदूत गए, बी० के० नेहरू उनमें सबसे सफल राजदूत थे। प्रभावशाली व्यक्तित्व के बी० के० नेहरू बृहदार-कुशल^{५९} एवं मेधावी राजनयज्ञ हैं। प्रातःकाल उठ कर विस्तरे में चाय पीते हैं और दैनिक समाचारों का अध्ययन-विश्लेषण करते हैं, तनावपूर्ण स्थिति में भी शान्त रहते हैं और

५८. जहाँ भारत, भूटान और तिब्बत की सीमाएँ मिलती हैं।

५९. आवश्यकता पड़ने पर वह सरल कदम उठाने में भी समर्थ हैं।

एसा व बाद की वही दस्तावेज काज बहुत धीरे धीरे विरत होत है । अतः-
 एसाव ही अविश्वसनीयता की वजहसे अविश्वसनीय ही वी० क० नेहल और कभी
 बिने ही अविश्वसनीयता की वजह, बिने ही अविश्वसनीयता की वजह । अतः
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल

उसके बाद ही अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल
 ही व अविश्वसनीयता की वजह ही वी० क० नेहल का ही वी० क० नेहल

एक बार वी० क० नेहल ने और मीने प्रतिपत्ता में मानविकता के एक विषयों
 पर बातचीत की । मीने उक्त बातचीत कि हमारे पास एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही
 एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही एसा ही

मनन का विचार था कि हम गुरुनामपी आयात नहीं करनी चाहिए और
 यदि करनी भी पड़ेगी मुझे विधिष्ट देना ही ही ही । मेरे विचार में
 यह कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं थी । अब भाग्य के गामने सच ही था तो हमें
 अनेक सम्भव उपाय में धरने की अनिवार्यता घमाना चाहिए था, जो भी देना
 हमारी सहायता के लिए धारण करें, हमें उसकी सहायता स्वीकार कर लेनी
 चाहिए थी, ही धरने गुरु-रक्षण का ध्यान रखते हुए । हमें जीवन का वरण
 करना था, न कि मृत्यु का । अब वी० क० नेहल ने बतलाया कि अमरीका
 हमारी सहायता करने को तैयार था तो मीने कहा कि हमें उसकी सहायता को
 स्वीकार कर लेना चाहिए था ।

इस सम्बन्ध में वी० क० नेहल ने और मीने प्रधान मन्त्री में अलग-अलग
 बातचीत की । उन्होंने हम दोनों को लगभग एक-सा ही उत्तर दिया । उनके
 उत्तर में मनन की तर्क-वदति भूलक रही थी कि यदि हमने सेना के लिए
 गुरुनामपी आयात की ता हमें विदेशी मुद्रा खर्च करनी पड़ेगी जिसका हमारे

पास पहले ही बहुत अभाव था और प्रतिरक्षा पर इतना अधिक खर्च^{६०} करने से जो हमें आर्थिक धक्का लगेगा, उसे हम सहन करने की स्थिति में नहीं थे। इसलिए हमें युद्ध-सामग्री के देशी उत्पादन पर निर्भर करना चाहिए और वैसे भी इसका अन्तिम समाधान यही था। अन्त में नेहरू ने कहा कि हमें अपने पैरों पर खड़े होना चाहिए क्योंकि दूसरे देशों का क्या विश्वास कि वे कब महायत्ना देना कम कर दें या थिलगुल बन्द कर दें।

मैंने नेहरू से कहा कि उनकी 'अन्तिम समाधान' वाली बात से तो मैं सहमत था किन्तु मेरा कहना यह था कि चीन एवं पाकिस्तान की धमकी को देखते हुए कुछ महत्वपूर्ण सामग्री का तो हमें तुरन्त आयात कर लेना चाहिए था। मैंने यह भी तर्क दिया कि यदि हमें किसी युद्ध में मुँह की खानी पड़ी तो भी हमारी आर्थिक-सामाजिक व्यवस्था असन्तुलित हो जाएगी। इसलिए क्या यह उचित नहीं था कि हम उस मार्ग को अपनाएँ जिसमें कम हानि की सम्भावना थी। मैंने दूसरे मार्ग को अपनाने की सलाह दी। नेहरू ने पूरी बात सुन कर कहा कि वह मेरी बात से सहमत नहीं थे। तथा मैं या अन्य जनरल स्थिति को पूरी तरह समझ नहीं पा रहे थे। नेहरू का विश्वास था कि अपनी आन्तरिक समस्याओं के कारण चीन (या पाकिस्तान) हमारे साथ युद्ध नहीं छेड़ सकता था।

जब वी० के० नेहरू अमरीका लौट गए तो वहाँ एक टेलीविजन-इंटरव्यू में उनसे पूछा गया कि क्या वह इस तथ्य से परिचित थे कि अमरीका में मेनन अलोकप्रिय थे और उन्होंने इसका 'हाँ' में उत्तर दे दिया। भारत में इस उत्तर पर काफी आपत्ति उठाई गई। कुछ का कहना था कि एक केन्द्रीय मन्त्री के विषय में उन्हें ऐसा नहीं कहना चाहिए था। नेहरू ने संसद् में कहा^{६१} कि हमारे राजदूत को इस प्रश्न का उत्तर दूसरे शब्दों में देना चाहिए था। वी० के० नेहरू का कहना था कि उन्होंने केवल वही स्वीकार किया था जो सच था। कुछ सप्ताह बाद जब मेनन वी० के० नेहरू से मिले तो दोनों में काफी गर्मगर्म बहस हुई। मेनन का विचार था कि वह अमरीका में लोकप्रिय थे और उन्होंने इसके पक्ष में कुछ उदाहरण दिए। वी० के० नेहरू ने उत्तर दिया कि अमरीका में भारतीय राजदूत होने के नाते इसका पता रखना उनका धर्म था

६०. सेना ने जितनी युद्ध-सामग्री की माँग की थी, उसके एक नगण्य भाग के आयात करने के लिए थोड़ी-सी राशि मंजूर की गई थी।

६१. जब राष्ट्रपति कर्नेडी ने यह घटना सुनी तो उन्होंने कहा कि यद्यपि वी० के० नेहरू से उन्हें सहानुभूति थी किन्तु प्रत्येक सरकार के प्रमुख का यह धर्म वह जनता के सामने अपने मन्त्रि-मण्डल के सदस्य का पक्ष ले और नेहरू ने भारतीय संसद् में कहा था, इसी धर्म या नीति का पालन करते हुए कहा था।

कि वहाँ क्या हो रहा था घोर यदि वह प्रेम-बहरे नहीं थे तो यह बात उन्हें ऐक्य-प्रीति मायूम थी कि मेनन घमरीका में लोकप्रिय नहीं थे।

जो समय 'एंकुघावर' में मेनन पर एक लेख प्रकाशित हुआ जिसका शीर्षक था कि 'नोस्ट्रेंडिश् रिगोमेंट' (यह राजनयन जिनसे सब में अधिक पूणा की जाती है) जिसमें नेबट नाथ द्वारा मेनन के विषय में कही गई कुछ अच्छी बातें भी निम्नो हुई थी। इसमें नेहरू प्रभावित हुए घोर मेनन में जो हवा भर गई।

एक बार जब मेनन राष्ट्रपति कॅनेडी को मंगुवन राष्ट्र सभ में दिये गए उनके भाषण के लिए बगार्द दे रहे थे तो कॅनेडी ने विष्टावाचक कह दिया कि वह उनके कभी मिलें। मेनन ने द्वादश हाउस स्थित राष्ट्रपति के सचिव से सीधा सम्पर्क स्थापित कर के बातचीत के लिए समय नियत कर लिया। ऐसा उन्होंने अपने राजदूत के माध्यम से नहीं किया जैसी कि परम्परा है। इस-लिए जब राष्ट्रपति के स्टारु ने बी० के० नेहरू में पूछा कि मेनन राष्ट्रपति ने किन सम्बन्ध में मिलना चाहते थे तो बी० के० नेहरू ने मेनन से पूछा। (मेनन उनको पतनाना नहीं चाहते थे), इसलिए उन्होंने यह दिया कि बात-चीत के लिए कोई विविष्ट रिषय नहीं था। बी० के० नेहरू ने यही उत्तर राष्ट्रपति कॅनेडी के स्टार्क को दे दिया तो राष्ट्रपति कॅनेडी के आदेश पर यह मुनासत घस्वीकृत कर दी गई। कॅनेडी ने सोचा होगा कि जब मेनन को किसी विविष्ट रिषय पर बातचीत नहीं करनी थी तो एक राष्ट्र के प्रमुख होने के नाने इस स्थरव्यु पर समय नष्ट करना उनके लिए उचित नहीं था घोर वह भी एक ऐसे व्यक्ति के साथ जो निश्चिन्त रूप में घमरीका का मित्र नहीं था। जब मेनन को इसकी सूचना दी गई तो वह भटक उठे। किन्तु चुप रहने के अति-रिक्त वेचारे कर भी क्या सकते थे, इसलिए चुप रह गए।

जब नवम्बर १९६१ में नेहरू घमरीका गए तो मेनन ने उनसे सिकायत की कि अपने राजदूत ने उनका अपमान कराया था। बी० के० नेहरू ने इस आरोप का खण्डन करने हुए तारी यस्तुस्थिति नेहरू के सामने रख दी। जब नेहरू कॅनेडी से मिले तो उन्होंने संकेत में राष्ट्रपति से कहा कि वह किसी समय मेनन से मिलें। मेनन कॅनेडी ने अकेले मिलना चाहते थे किन्तु प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट कह दिया कि उन्हें विष्टाचार (प्रोटोकॉल) का पालन करना होगा घोर कॅनेडी में उनकी भेंट के समय अपने राजदूत बी० के० नेहरू वहाँ उपस्थित रहेंगे। मेनन ने यही अनिच्छा से इस प्रवन्ध को स्वीकार किया। यह भेंट हुई किन्तु इसके फलस्वरूप न तो मेनन के सम्बन्ध में कॅनेडी के विचारों में कोई सुधार हुआ घोर न घमरीका के सम्बन्ध में मेनन के विचारों में। बार्ता के मध्य मेनन ने कुछ ऐसी बातें भी कही जिनसे राष्ट्रपति कॅनेडी कुछ अधिक प्रगन्न नहीं हुए। इस घटना में वाणिज्यटन के राजनयिक क्षेत्रों में कुछ प्रगन्न यह गई।

१९५९ में, जब से मैं मेना के मुख्यालय में पहुँचा था, अधिक ऊँचाई पर स्थित अपनी चौकियों के सैनिकों की समस्याओं से व्यक्तिगत परिचय प्राप्त करने के लिए मैंने उन चौकियों की कई बार यात्रा की। एक बार मैं लद्दाख में चुसूल के निकट पांगोंग भील के पास स्थित अपनी चौकी पर गया। क्योंकि इस भील को नाव द्वारा पार करना कठिन था, इसलिए मैं हेलीकॉप्टर से गया। यूला के निकट अपनी चौकी को खोजते-खोजते हम खुरनाक फोर्ट और सिरिजप की ओर निकल गए। वापसी पर जब चालक एक चौकी के पास अपने हेलीकॉप्टर को नीचे उतार रहा था तो उसने पास ही में मंगोली मुखाकृतियाँ देखीं और वह चिल्ला उठा 'हं भगवान् ! हम तो चीनी चौकी के पास उतर रहे थे !' किन्तु पास से देखने पर मालूम हुआ कि जिनको हम चीनी समझ रहे थे, वे वास्तव में हमारे ही गोरखा थे।

१९६२ की ग्रीष्म ऋतु में मेरी छोटी लड़की चित्रलेखा का विवाह विनय वल्ली से हुआ। इसके तुरन्त बाद सूचना मिली कि चीनियों ने लद्दाख में दौलत बेग श्रीलडी के उत्तर में स्थित हमारी एक चौकी के चारों ओर घेरा डाल दिया था। यह चौकी १५,००० फुट की ऊँचाई पर थी। इस सूचना की पुष्टि के लिए मैं थोड़ेसे होते हुए वहाँ के लिए चल पड़ा। रात हमने थोड़ेसे में गुजारी। (स्वर्गीय) एग्रर वाइस मार्शल पिण्टो, जिनको मेरा हेलीकॉप्टर उड़ा कर ले जाना था, अगले दिन सुबह ठीक चार बजे मेरे पास पहुँच गए क्योंकि हमने सुबह सवेरे चल पड़ने का कार्यक्रम बनाया था। उन्होंने कहा कि मौसम गन्दा था और आकाश पर बादल छाये हुए थे, इसलिए हमें अपनी उड़ान स्थगित करनी पड़ेगी। एक घण्टे बाद जब बादल जरा खुल गए और आँधी जरा कम पड़ गई तो हम भगवान् का नाम ले कर थोड़ेसे से चल पड़े। किन्तु जब हम साप्तेर ब्रांगसा घाटी पर पहुँचे तो हमें एक भयानक तूफान ने घेर लिया। तूफान इतने जोर का था कि हमारा हेलीकॉप्टर हवा में डगमगाने लगा और चालक को इसका संतुलन बनाये रखना कठिन हो गया। कई बार तूफान के थपेड़ों ने हमारे हेलीकॉप्टर को शटल-काँक की तरह चट्टानों की ओर फेंक दिया और हम सौभाग्य से ही बच पाए। आसपास के कुछ पहाड़ २३,००० फुट ऊँचे थे। दौलत बेग श्रीलडी^{६६} पर कुछ समय ठहरने के बाद मैं अपने गन्तव्य (कराकुरम दर्रे के निकट ही) की ओर बढ़ चला और बड़ी कठिनाई से वहाँ हमारा हेलीकॉप्टर उतर पाया। १७,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित इस चौकी के चारों ओर विल्कुल इमशान जैसी नीरवता थी। सभ्यता का यहाँ कोई चिह्न न था। इस चौकी का कमाण्डर 'जम्मू एण्ड कश्मीर मिलिशिया' का एक जे०

सौ० प्रो० था। जब मैंने उससे पूछा कि पहले दिन चीनी उसकी चौकी के पास कैसे आए थे और कैसे चले गए तो उसने अपनी बीरता जताने के लिए पूर्वतापूर्ण उत्तर दिया कि चीनियों के निकट आने पर उसने उनकी ओर लाल झाला हिला दिया था और उस पर चीनी लौट कर चले गए। लौटते समय मैंने एयर वाइस मार्शल पिण्डो से कहा कि वह अपनी दूसरी चौकी से जो देपमाग के निकट थी, होने हुए चले। चलने के लिए तो उन्होंने हाँ कर ली किन्तु साथ ही मुझे चेतावनी भी दी, 'मौसम गन्दा है। हेलीकोप्टर का ईंधन किसी भी समय समाप्त हो सकता है। इत ऊँचाई पर और पशुतापूर्ण वातावरण में अधिक घूमना हानिकारक सिद्ध हो सकता है। आज ही दिन में कई बार मृत्यु के मुख में जाते-जाते बचे हैं। मेरी सलाह तो यह है कि मौत को अधिक न छेड़ा जाए।'।

मैंने उनकी सलाह तो मान ली किन्तु कुछ सशोधन कर के अर्थात् उस चौकी को, गर्म पानी के भरनों को तथा एक-दो बिदेशी पिकेटों को देस कर मैं वापस लौट आया।

मैंना मुख्यालय को सूचना मिली कि १० जुलाई १९६२ को चीनियों ने लद्दाख में गलवान नामक स्थान पर हमारी एक गोरखा चौकी को घेराबन्दी कर ली थी। इस सम्बन्ध में विचार-विमर्श करने के लिए घाम्मी चीफ ने मुझे अपने घर बुलाया। चीनियों का यह उत्तेजक कदम कुछ नया सकेत कर रहा था। अब तक उनकी आक्रामक-पद्धति यह थी कि वे चुपचाप हमारी सीमा में घुम आते थे तथा अपनी चौकियाँ स्थापित कर लेते थे। पिछले कुछ दिनों से उनकी कार्य-पद्धति बदल गई थी और उन्होंने अधिक आक्रामक कदम उठाने प्रारम्भ कर दिये थे और अब उन्होंने हमारी एक चौकी का घेरा डाल दिया था। हम बड़ी धममजस की स्थिति में थे। यदि हम इस दुर्घटना का उत्तर नहीं दें तो चीनियों का साहस खुलता था और यदि हम कुछ कदम उठाते थे तो उसकी प्रतिव्रिया को संभालने के लिए हमारे पास पर्याप्त साधन नहीं थे। अन्त में, हमने निर्णय किया कि हमें कुछ कदम तो उठाना ही चाहिए, इसलिए हमने अपने परराष्ट्र मन्त्रालय द्वारा दिल्ली-स्थित चीनी राजदूत को चेतावनी दिलवा दी कि यदि उन्होंने लद्दाख-जैमा अपना व्यवहार चालू रखा तो हमें विवश हो कर उनके विरुद्ध कोई गंभीर कदम उठाना पड़ेगा। दूसरी ओर, हमने वायु-मार्ग द्वारा इन चौकी को रमद आदि पहुँचानी चालू रखी। इस चौकी पर और सैनिक भेजना व्यावहारिक नहीं था।

चीनियों ने इस चौकी के हमारे सैनिकों को डराने-धमकाने की पूरी कोशिश की। उन्होंने अपने नेपाली दुर्भाषियों के माध्यम में हमारे गोरखा सैनिकों को यह कहलवाया कि भारत और नेपाल मित्र देश नहीं थे (भारत एवं नेपाल के तत्कालीन त्रिगङ्गा सम्बन्धों का भी सन्दर्भ दिया) और चीन उनका

इसलिए नेपाली भारतीयों की ओर मे चीनियों से क्यों लड़ रहे थे ? उन्होंने आतंकित करने का भी प्रयास किया, वे हमारे सैनिकों के बिल्कुल निकट चले आए ताकि हमारे सैनिक उनकी अधिक संख्या से आतंकित हो कर आत्म-समर्पण कर दें। हमारे सैनिक संख्या में केवल चालीस थे। किन्तु इस चीकी के सैनिकों ने अपने वीर कमाण्डर (एक जे० सी० ओ०) के नेतृत्व में अद्वितीय साहस एवं वीरता का परिचय दिया और अपनी चीकी पर डटे रहे। कुछ समय बाद बड़ी कठिनाई से हम १/८ गोरखा टुकड़ी को वहाँ से हटा कर उसके स्थान पर एक जाट टुकड़ी को भेज पाए। (क्योंकि गोरखा टुकड़ी ने चीनियों द्वारा काफी मानसिक प्रताड़ना सहन की थी।) — (चीनियों ने इस चीकी पर से अपना घेरा तब तक नहीं उठाया जब तक कि उन्होंने अक्टूबर-नवम्बर १९६२ में लद्दाख-नेफ्रा की कई चौकियों के साथ इस पर अपना अधिकार नहीं कर लिया।)

इसके बाद मैंने लद्दाख और नेफ्रा की कई यात्राएँ कीं और कहीं हेली-कॉप्टर द्वारा तथा कहीं पैदल चल कर इस ऊँचाई पर डटे हुए अपने सैनिकों की समस्याओं को समझने का प्रयास किया।

नागालैण्ड, नेफ्रा एवं अन्य वन-प्रदेशों (जंगलों) में हमें काफी मोर्चा लेना था, इसलिए मैंने सोचा कि हमें एक 'जंगल वारफ़ेअर स्कूल' की सख्त जरूरत थी। इसलिए मैंने एक ऐसे स्कूल की स्थापना देहरादून में कराई और उसकी कमान त्रिगेडियर एच० एस० (किम) यादव को सौंपी। 'किम' यादव इन्फ़ैण्ट्री स्कूल में प्रशिक्षक भी रह चुके थे तथा उन्होंने मेरे अधीन ४ इन्फ़ैण्ट्री बटालियन की कमान भी की थी। १९४८ में कश्मीर में भी वह मेरे साथ थे। वह शरीर से स्वस्थ, मानसिक रूप से सजग एवं असाधारण योग्यता के ऑफ़िसर थे। मैंने उन्हें विदेश भी भिजवाया था जहाँ वह जंगल एवं गुरिल्ला युद्ध तकनीकों का प्रशिक्षण ले कर आए थे। मैंने उनके अधीन भी अच्छा स्टाफ़ दिया जिसमें मेजर (अब लेफ्टी० कर्नल) टी० एस० ओवराय जैसे कर्तव्यपरायण ऑफ़िसर भी थे। नागालैण्ड जाने से पहले इन्फ़ैण्ट्री बटालियनों इस स्कूल में प्रशिक्षण लेती थीं और वहाँ काफी अच्छा काम करती थीं। इस^{६३} दृष्टि से इस स्कूल ने इस क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान किया।

१९६१ में जाटों के तत्कालीन कर्नल, त्रिगेडियर हरभजनसिंह ने मुझसे कहा कि जाट ग्रुप के समस्त कमाण्डिंग ऑफ़िसरों की यह संयुक्त प्रार्थना थी कि मैं उनकी कर्नेली सँभालूँ। इसलिए, मैंने इस गौरव को सिर-माथे लगाया। अब जाटों के लिए अधिक-से-अधिक सुविधाएँ जुटाना मेरा धर्म था। उनके युद्ध-रिकार्ड से मुझे पता चला कि अन्य रेजीमैण्टों की अपेक्षा उनकी बटालियनों

६३. जैसे ही मैंने सेना से अवकाश लिया, इस स्कूल को जनरल जे० एन० के आदेश से तोड़ कर इन्फ़ैण्ट्री स्कूल में मिला दिया गया।

ने युद्ध-क्षेत्र में कम भाग लिया था। इसलिए, मैंने कुछ और जाट इन्फैंट्री बटालियनों का संगठन किया तथा तत्कालीन बटालियनों में से कुछ को कटिन मोर्चों पर भेजा ताकि वे देश की अधिक सेवा कर के अधिक यश अर्जित कर सकें। १९६२ में ५ जाट को लद्दाख में भेजते समय मैंने उन्हें सम्बोधित करते हुए दो बातें कही थीं—प्रथम, उनकी रेजीमेंट का कर्नल एव मेना का सी० जी० एन० होने के नाते मैंने उन्हें लद्दाख जैसे कटिन क्षेत्र में भेजने का निर्णय इसलिए किया था ताकि वे वहाँ जा कर अपनी शूरवीरता का परिचय दे सकें एव यश कमा सकें तथा द्वितीय, पिछले महायुद्ध में उन्होंने जिस प्रकार जर्मनी एव जापानियों से टक्कर ले कर उनका दाँत खट्टे कर दिए थे, इसी प्रकार वे इस बार चीनियों को भी अपनी सीमा से बाहर लदेड़ दें।

बनवाया, कुछ को प्रशिक्षण स्कूलों में प्रशिक्षक नियुक्त कराया तथा कुछ को अन्य महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त कराया। भारतीय सैनिक अकादमी के कैंडिडेटों को सम्बोधित करते हुए मैंने जाटों के वीरतापूर्ण रिकार्डों की प्रशंसा की और आशा प्रकट की कि उन कैंडिडेटों में से अधिकांश कैंडिडेट इन वीर योद्धाओं की रेजीमेंट को चुनेंगे। संक्षेप में, जाटों के कर्नल होने के नाते उनके लिए मैं जो कुछ भी कर सकता था, वह मैंने किया।

पुनः मैं कुछ पीछे की घटनाओं को संक्षेप में प्रस्तुत कर रहा हूँ। सरकार को इस बात का स्पष्ट संकेत करना चाहिए कि विशिष्ट क्षेत्रों में अपने शक्तिशाली शत्रुओं से हमें किस प्रकार के व्यवहार की आशा है। साथ ही मेना को भी हम नीति का स्पष्ट निदेश होना चाहिए कि महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में, विशेषतः सीमान्त क्षेत्रों में, उनकी क्या जिम्मेदारियाँ हैं। सेना ने इस सम्बन्ध में सरकार से कई बार पूछा और स्पष्ट उत्तर न मिलने की स्थिति में जो उचित समझा, वह कदम उठाया। सैनिक ब्यूरो-कौशल के निदेशक, त्रिगेडियर पार्लियामेंट ने भविष्य की आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर अपनी सभ्यतापूर्ण धारणाओं का एक विस्तृत विवरण तैयार किया। इसने पता चला कि हमारी सेना की सख्या बहुत कम थी, आधुनिक अस्त्रों का लगभग अभाव था, अन्य आधुनिक युद्ध-सामग्री एव गाड़ियों की बहुत कमी थी। सेना की आवश्यकताओं की यह सूची मैंने आर्मी चीफ, जनरल जी० एन० थापर के सामने रखी जिन्होंने इस विषय पर कुछ सोचा-विचार और यह सूची थोड़ी-थोड़ी कर के मेनन के सामने रखी। इस सूची में मैंने सेना के कई अतिरिक्त द्विवीरों की भाँव की है।

(१९६३ में जनरल चौधरी ने इसी सूची को नया रूप दे कर सेना के विस्तार की मांग की थी जिसे चह्लाण ने संसद् में नये साम्राज्य की 'जोर-शोर से तैयारी' के उदाहरण में प्रस्तुत किया था।) मैंने, आयुद्ध-विभाग (आर्डनैस) के मास्टर जनरल, सैनिक व्यूह-कोशल के निदेशक (डायरेक्टर ऑफ मिलिटरी ऑपरेशन्स) तथा शस्त्र एवं सामग्री के निदेशक (डायरेक्टर ऑफ वैनस एण्ड इकुइपमेंट) त्रिगेडियर ग्रंटिया^{६४} ने इस सम्बन्ध में परस्पर वातचीत की और फिर आर्मी चीफ गे विचार-विमर्श किया। इधर तो हमारे सीमान्त पर स्थिति नाजुक होती जा रही थी और उधर सरकार हमारी मांगों की ओर से कान बन्द किये बैठी थी, इसलिए थापर समेत हम सबने यह निर्णय किया कि हम स्थिति की भयंकरता को लिखित रूप में सरकार के सामने रखें।

मैंने और आयुध विभाग (आर्डनैस) के मास्टर जनरल ने मिल कर नवम्बर १९६१ से जून १९६२ तक आठ पत्र लिखे और आर्मी चीफ थापर से हस्ताक्षर करा के प्रतिरक्षा मन्त्री के पास भेजे। इन पत्रों में हमने सेना की कमियों का सविस्तार वर्णन किया था और सरकार से प्रार्थना की थी कि वह इस ओर तुरन्त ध्यान दे और सेना को शक्तिशाली बनाए—सेना में कुछ डिवीजन बढ़ाए, आधुनिक शस्त्र एवं अन्य युद्ध-सामग्री सुलभ कराए और यदि भारत में तुरन्त उत्पादन सम्भव न हो तो विदेशों से आयात करे—क्योंकि ऐसा करना बहुत अनिवार्य था अन्यथा किसी आक्रान्ता से अधिक समय तक टक्कर लेना हमारी सेना के लिए सम्भव नहीं होगा।

उपरिलिखित आवश्यकताओं को पूरा करने में हमारे अनुमान से ४५६ करोड़ रुपये व्यय होने थे। कुछ सामग्री का मूल्य इसमें नहीं जोड़ा गया था। अपनी कमियों का सविस्तार विवरण प्रस्तुत करते हुए हमने सरकार को लिखा था कि इस सामान के अभाव में हमारी सेना युद्ध का पूरा प्रशिक्षण प्राप्त नहीं कर पा रही थी। कपड़ों की कमी के सम्बन्ध में हमने सुझाव दिया था कि क्योंकि हमारी प्रतिरक्षा फ़ैक्टरियाँ अन्य सामान बनाने में व्यस्त थीं, इसलिए यह काम निजी क्षेत्र (प्राइवेट सैक्टर) को सौंप दिया जाए। प्रतिरक्षा मन्त्री महोदय को इस तथ्य का भी स्मरण कराया गया कि यद्यपि १९५६ के बाद हमारी सेना का आकार तो काफी बढ़ गया था किन्तु शस्त्र एवं अन्य युद्ध-उपकरण उस अनुपात में नहीं बढ़े थे। इस समय हमारी स्थिति बड़ी विपम थी—एक ओर तो हमें शक्तिशाली शत्रुओं से अपनी सीमा की रक्षा करनी थी और दूसरी ओर हमारे पास आधुनिक शस्त्रों एवं अन्य युद्ध-उपकरणों का नितान्त अभाव था। यदि हम इस सामान के अपनी प्रतिरक्षा फ़ैक्टरियों में

६४. उनकी राजभक्ति सी० जी० एस० और एम० जी० ओ०, दोनों में है।

व्यतिरिक्त होने तक प्रतीक्षा करो तो सिर पर सड़े घातु में टक्कर किस प्रकार मरे। यह स्थिति इतनी गम्भीर थी कि जरा-सी चूक के बहुत भयकर परिणाम निकल सकते थे।

इनमें से कई पत्रों में हमने इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया था कि मेना को घोर ध्यान न देने में स्थिति काफी विस्ताजनक रूप धारण कर सकती थी। स्थिति की भयकरता को देखते हुए हमने प्रतिरक्षा मन्त्री को यह सुभाव दिया था कि वह इस सम्पूर्ण स्थिति को मन्त्रि-मण्डलीय प्रतिरक्षा समिति (डिफेंस कमिटी ऑफ दि कॅबिनेट) के सामने रखें। किन्तु इन घाट पत्रों में से सरकार या मेनन ने एक का भी विगित उत्तर नहीं दिया। मेनन के साथ घनेक बैठकें हुईं किन्तु जो कुछ हमने इन पत्रों में लिखा था, उसकी ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

दिल्ली में बायी उत्तेजना फैली हुई थी। दिल्ली सरकार के सामने घनेक सेंटिन समस्याएँ मुँह बांधे सड़ी थीं किन्तु मन्त्रि-मण्डल में ऐसे मन्त्री बहुत कम थे जो उनको ठीक से सुसभा सकें। समस्याओं को व्यवस्थित रूप से सुनभाने की उनके सामने कोई योजना नहीं थी। होता यह था कि जिस समस्या ने अधिक उप रूप धारण किया, उसके समाधान के लिए हाथ-पैर नारने शुरू कर दिये जाने। मन्त्रियों ने समस्याओं का कोई प्राथमिकता-क्रम निर्धारित नहीं किया था, उन्हें यही मालूम नहीं था कि किस समस्या को पहले सुनभाना है और किसको बाद में। न ही राजनयिक, प्रतिरक्षात्मक, आर्थिक और वित्तीय मामलों में कोई समन्वय था।

जहाँ तक प्रतिरक्षा का सम्बन्ध था, न तो नेहरू ने घोर न उनके मन्त्रि-मण्डल के किसी सदस्य ने सर्वतोमुखी प्रतिरक्षा नीति का निर्धारण किया था यहाँ हमारे सम्भाव्य घातु कौन-कौन से थे, हमारी तुलना में उनकी सैनिक शक्ति कितनी थी तथा हमें क्या-क्या सैनिक एवं राजनयिक कदम उठाने चाहिए थे जिससे हमें कोई हानि न उठानी पड़ती। वास्तविकता यह है कि हमने युद्ध के प्रश्न को, जो हमारे सामने महाकाय धारण किये सड़ा था, बड़े ही अव्यवस्थित ढंग से सुनभाने का प्रयत्न किया। हमारी सरकार में एक-दो को छोड़ कर किसी को अविलम्बिता (प्ररजेगती) का ध्यान नहीं था। न तो वे दल्पद्व हो कर काम करते थे और न ही उन्होंने इस समस्या पर पूरा विचार किया था। हमारा मन्त्रि-मण्डल साधारण दिनचर्या में विश्वास रखता था। यदि कोई नयी समस्या सामने आ जाती तो सब धबड़ा जाते क्योंकि उसके लिए हम पहले से तो तैयार होते नहीं थे और आखिरी मिनट पर हमारे सरकारी कर्मचारी दधर-से-उधर भागते-दौड़ते फिरते एवं जरूरी में जो हल निकल आता, उससे सन्तुष्ट हो जाते। इस प्रश्न के फलस्वरूप हम अपनी सैनिक शक्ति को युद्ध के उपयुक्त नहीं बना पाए और किसी सकृष्ट-काल के लिए तैयार नहीं थे।

तत्कालीन कुर्सीधारी यह नहीं कह सकते कि उन्हें वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं था। सचाई यह है कि उन्हें समस्याएँ तो सब मालूम थीं किन्तु उनका हल नहीं मालूम था। मुझे मालूम है कि कुछ जनरल और दूसरे लोग इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री एवं अन्य राजनीतिज्ञों से समय-समय पर मिलते थे और अनौपचारिक रूप में अपनी सेना एवं प्रतिरक्षा की सही स्थिति का पूरा चिट्ठा उनके सामने रखते थे। मान लो कि यदि सरकार ने इस दिशा में कोई उपयुक्त कदम नहीं उठाया था तो उन राजनीतिज्ञों ने क्यों नहीं सरकार को इसके लिए विवश किया कि वह इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाए। लम्बी-चौड़ी बातें तो सब करते थे किन्तु ठोस काम किसी ने नहीं किया। अब मैं आपके सामने इस बात का एक चित्र प्रस्तुत करूँगा कि उस समय वित्त एवं प्रतिरक्षा मन्त्रालयों के बीच इस सम्बन्ध में क्या कुछ घट रहा था।

वित्त मन्त्रालय में प्रत्येक स्तर पर बाल की खाल निकालने वाले लोग थे। एक-दो अपवादों को छोड़ कर शेष लोग तर्कप्रिय थे और हम जितनी धन-राशि की माँग करते, वे उसका एक छोटा-सा भाग स्वीकृत करते। लम्बी-चौड़ी बैठकें होतीं, व्यर्थ के तर्क-वितर्क होते, फ़ाइलों पर अनेक नोट्स लिखे जाते किन्तु फल कुछ न निकलता। गैर-यथार्थवादी दृष्टि से वे हमारे प्रस्तावों का परीक्षण करते और हर बार कोई-न-कोई नयी बात खड़ी कर देते। इस कारण बहुत अधिक समय नष्ट हो जाता (जिसका राष्ट्र की प्रतिरक्षा पर काफ़ी प्रतिकूल प्रभाव पड़ा)। विना सैनिक मामलों को समझे हुए ये वित्तीय पंडित तकनीकी बातों में उलझ जाते और वित्तीय दृष्टिकोण को प्रमुखता देते। सांग्रामिक पक्ष का उनकी दृष्टि में सब से कम महत्त्व था। 'विदेशी मुद्रा की कमी' उनका ब्रह्मास्त्र था। सेना के लिए जिस सामग्री की एकदम ज़रूरत थी, उस पर भी उन्होंने इस ब्रह्मास्त्र का प्रयोग किया। हाँ, जिस सामान के लिए विदेशी मुद्रा की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी, उसके लिए अन्य तर्क प्रस्तुत कर दिए। जब इन 'विशेषज्ञों' को हमने व्यावहारिक कारण बतलाए तो इन्होंने उनकी सार्थकता को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया और इस प्रश्न पर (देश की प्रतिरक्षा जैसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर) अनासक्त योगी जैसा आचरण किया, खेदजनक निरपेक्षता बरती।

सुना था कि प्रत्यक्ष को प्रमाण की आवश्यकता नहीं पड़ती किन्तु इन विशेषज्ञों ने प्रत्यक्ष को भी स्वीकार करने से मना कर दिया। इनका आचरण बहुत कुछ लन्दन की उस महिला के आचरण के समान था जिसको जब उसके मित्र ने बतलाया कि जिराफ पशु की गरदन बहुत लम्बी होती है, लगभग वृक्ष के समान लम्बी तो उसने विश्वास करने से इन्कार कर दिया। उसके मित्र ने डिंडियाघर चलने के लिए निमन्त्रित किया कि वह स्वयं चल कर जिराफ को

देश ले और उसके कथन की सत्यता का परीक्षण कर ले। जब उस महिला ने विडियावर में सीमचों के पीछे लड़े जिराफ की अत्यधिक मन्धो गर्दन देखी तो पहले तो वह जड़बत् रह गई किन्तु फिर चित्ला कर बोली, 'मैं जो कुछ देख रही हूँ, मुझे उस पर विश्वास नहीं होता।'

इन वित्त विशेषज्ञों का काम चलती गाड़ी में रोडा अटकाना था। इसका एक विशिष्ट उदाहरण मैं यहाँ प्रस्तुत करता हूँ। आदिम युग की २०३ राइफलों के बदले ग्रैंड-स्वचल (सैमी-ऑटोमेटिक) राइफलों के सेना में प्रवेश पर लगभग दस करोड़ रुपये के व्यय का अनुमान था। वित्त मन्त्रालय ने काफी मन्धे-बाड़े बाद-बिवाद के बाद इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया जिसका देश की प्रतिरक्षा की दृष्टि से बहुत अधिक महत्त्व था। वित्तीय अधिकारियों की इस बुद्धिहीन प्रवृत्ति के कारण १९६२ में हुए लड़ाई एवं नेफा के युद्ध में भारतीय सेना को निम्न स्तरीय हथियारों से चीनियों से टक्कर लेनी पड़ी थी।

जैसा कि सब को पता है, प्रतिरक्षा मन्त्री कृष्ण मेनन और वित्त मन्त्री मोरारजी देसाई की प्राप्ति में बनती नहीं थी। प्रतिरक्षा मन्त्रालय के अनेक प्रस्तावों को वित्त मन्त्रालय द्वारा इसलिए ठुकरा दिया जाता था क्योंकि दोनों के स्वामियों में एक-दूसरे से तनी रहती थी। युद्ध के लिए जो हमारी सेना पूरी तरह तैयार न हो पाई, इसकी जिम्मेदारी वित्त मन्त्रालय की भी है। किन्तु इस स्थिति में मेनन का कर्तव्य था कि वह सारी स्थिति वित्त मन्त्री, प्रधान मन्त्री या मन्त्रिमण्डल के सामने रखते और उन्हें इसके भयंकर परिणामों से परिचित कराते किन्तु जिन कारणों से उन्होंने ऐसा करना उचित नहीं समझा, उनका उन्हीं को पता है। (क्या इसलिए कि कही उनके इस कदम से नेहरू या मन्त्रिमण्डल के अन्य सदस्य उनसे अप्रसन्न न हो जाएँ?) कितनी असामान्य स्थिति थी!

इस समय मैंने सोचा कि मैं अपने चार बरिष्ठ एवं प्रभावशाली सिविल सेवकों को सेना की समस्याओं से, विशेषतः इसकी कमियों से, परिचित कराऊँ। मैं चार सिविल सेवक थे—गृह मन्त्रालय के सचिव विद्वनाथन, परराष्ट्र मन्त्रालय के सचिव एम० जे० देसाई, वित्त मन्त्रालय के सचिव भूतलिंगम तथा घासूचना विभाग के निदेशक मल्लिक। मुझे घाशा थी कि मैं चारों सज्जन अपने महत्त्वपूर्ण पदों एवं प्रभावशाली व्यक्तित्वों के कारण सरकार के शक्ति-सामन्तों का इस घोर ध्यान आकषिप्त कर सकेंगे और देश के लिए प्रति महत्त्वपूर्ण इस समस्या का समाधान करा पाएँगे। हम पाँचों परराष्ट्र सचिव के कमरे में मिले और मैंने उन्हें इस गम्भीर स्थिति का सविस्तार परिचय दिया कि घन-राशि के अभाव में सेना की तैयारी अधूरी थी, उसके पास महत्त्वपूर्ण मुद्र-सामग्री की बहुत कमी थी और सीमा पर हमारी स्थिति बड़ी चिन्ताजनक थी। मैंने उन्हें बहुत स्पष्ट शब्दों में यह बात समझाई कि जिस स्थिति में सेना उन समय थी,

उस स्थिति में वह भारतीय सीमान्त की आक्रान्ताओं से रक्षा करने में असमर्थ थी। साथ ही मैंने उन्हें वह अनुमानित राशि भी बतला दी जिसके मिल जाने पर सेना का कायाकल्प हो सकता था।

भूतलिंगम ने कहा कि यदि भारत इतना विशाल प्रतिरक्षा कार्यक्रम अपनाएगा तो उसे अपनी पंचवर्षीय योजना में कटौती करनी पड़ेगी। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि उस समय भारत के पास विदेशी मुद्रा भी उतनी ही थी जिससे देश की अर्थव्यवस्था असंतुलित होने से बची रह सके। अन्त में उन्होंने यह सुझाव दिया कि हम सेना की आवश्यकताओं के लिए अपेक्षित राशि तथा वह कितनी अवधि में किस प्रकार व्यय करनी थी, आदि चीजों का विवरण उच्च सैनिक स्तर पर तैयार कर के सरकार को भिजवा दें। इस सुझाव के अनुसार मैंने ऐसा विवरण अविलम्ब तैयार कराया, उस पर आर्मी चीफ थापर के हस्ताक्षर कराए तथा प्रतिरक्षा मन्त्री मेनन को भिजवा दिया। इस विवरण में सेना की तत्कालीन आवश्यकताओं का स्पष्ट उल्लेख था तथा उसकी अनुमानित लागत भी दी गई थी। प्रतिरक्षा मन्त्री से प्रार्थना की गई थी कि वह इस विवरण को मन्त्रिमण्डल की प्रतिरक्षा समिति के सामने रख दें। मेनन को यह विवरण तो मिल गया था किन्तु उन्होंने इसे मन्त्रिमण्डल की प्रतिरक्षा समिति के सामने रखा या नहीं, इसे वह ही बता सकते हैं। इसके विषय में कोई सूचना न तो हमें उनसे मिली और न उनके किसी सहकर्मी से। मुझे आज तक यह मालूम नहीं कि उस विवरण का हुआ क्या।

सेना की इस चिन्ताजनक स्थिति के विषय में कृष्ण मेनन के अतिरिक्त मोरारजी देसाई को भी कम-से-कम दो सूत्रों से पता लगा होगा। प्रथम, उनके (प्रतिरक्षा के) वित्तीय परामर्शदाता ने उन्हें पूरी स्थिति बतलाई होगी तथा द्वितीय, उनके सचिव भूतलिंगम ने उन्हें वह सारी बात बतलाई होगी जो मैंने उन्हें परराष्ट्र मन्त्रालय के सचिव के कमरे में बतलाई थी। यदि कृष्ण मेनन ने उन्हें सारी स्थिति का ज्ञान नहीं कराया था तो मन्त्रिमण्डल के एक जिम्मेदार मन्त्री होने के नाते (वैसे तो वित्त मन्त्री होने के नाते भी) उन्हें चाहिए था कि वह इस गम्भीर समस्या को मन्त्रिमण्डल की बैठक में रखते ताकि इस पर कुछ ठोस कदम उठाया जाता। इस निष्क्रियता का चाहे कोई भी कारण रहा हो, इसके लिए चाहे एक मन्त्री की जिम्मेदारी रही हो चाहे एक से अधिक^{६५} की, किन्तु यह तथ्य अपनी जगह अटल है कि अपनी सीमा पर चारों ओर

६५. तत्कालीन मन्त्रिमण्डल के कुछ सदस्य यह दावा किया करते थे कि उन्हें सशस्त्र सेना की आन्तरिक स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान था। उन्होंने मन्त्रिमण्डल की बैठकों में सेना के लिए कुछ क्यों नहीं कराया? मेरा अपना विचार यह पहल करने से सब घबड़ाते थे।

भावनाओं के होने पर भी हमारी सक्तिशाली सरकार ने अपनी सेना की आवश्यकताओं की धोर ध्यान नहीं दिया।

यहाँ मैं एक बात धोर स्पष्ट कर दूँ। अनेक जनरलों ने यह डींग हाँकी है (जो दूसरों ने उन्हें इनका ध्येय दिया है) कि उन्होंने सेना की आवश्यकताओं से एव उनके पूरा न होने की स्थिति में उनके गम्भीर परिणामों से समय-समय पर सरकार को परिचित कराया था। क्या कोई सार्वजनिक रूप से इस पर प्रकाश डालेगा कि वे जनरल (या सिविल सेपक) कौन थे और उन्होंने कब एव क्या सरकार को बतलाया था? क्या उन्होंने लिख कर बतलाया था? क्या उन्होंने इतनी सशक्त एव बर्गोद्धृत सन्दावली में सरकार के सामने कोई समस्या प्रस्तुत की थी जितनी कि धापर ने और मैने? और इसका क्या प्रमाण है कि उन्होंने ऐसा किया था?

यहाँ मैं दो रोचक घटनाओं का वर्णन कर रहा हूँ (जो मैंने १९६२ के बाद सुनी थीं)। १९५९ में एडमिरल डी० शंकर जापान गए थे। वहाँ उनकी नोट उनके पूर्व परिचित एवं बहुज्ञ (जो सब जानकारी रखते हों) जापानी अधिकारी से हुई। वार्ता के मध्य उन जापानी सज्जन ने सरोद कहा कि यद्यपि भारत एवं जापान मित्र थे किन्तु न मानूम आपस में खुल कर बातचीत क्यों नहीं करने थे जिसके फलस्वरूप अनेक महत्वपूर्ण सूचनाएँ एक-दूसरे को नहीं दे पाने थे। उन्होंने यह भी कहा कि एशिया में महत्वपूर्ण तीन ही देश थे—चीन, भारत एवं जापान। एक फोरमोसावासी चीनी ने उन्हें बतलाया था (और इस पर विश्वास करने के उनके पास कई कारण और भी थे) कि चीन एवं रूस के बढ़ते संपर्क के फलस्वरूप चीन को रूस से तेल मिलना बन्द हो जाएगा। इसलिए, चीन तेल की खोज किसी अन्य स्थान पर करेगा। उनका विचार था कि निकट भविष्य में चीन इन दो क्षेत्रों^{११} पर अपना अधिकार जताएगा और इससे सकट सड़ा होगा। चीन इन दोनों क्षेत्रों पर गूढ़-दृष्टि लगाये हुए था और इनको धीरे-धीरे कृतरता जाएगा। इन क्षेत्रों पर वह अपना अधिकार भवदय करेगा चाहे इसके लिए उसे सशस्त्र संपर्क क्यों न करना पड़े। चीनियों को गूढ़-दृष्टि आसाम के तेल पर भी थी और वे बंगाल की खाड़ी से आवा-गमन का मार्ग भी चाहते थे। क्योंकि यहाँ तक पहुँचने के लिए चीन को अधिक हाथ-पैर मारने पड़ेंगे, इसलिए स्वभाव से धैर्यवान् होने के कारण चीनी इस समस्या को कुछ समय बाद सुलभाना चाहेंगे।

भारत लौटने पर शंकर ने यह बात अपने आसन्न उच्चाधिकारी (इमिडियेट सुपीरियर) मेजर जनरल पी० नारायण को, जो उस समय प्रतिरक्षा उत्पादन

६६. शंकर ने पढ़ा था कि एक अंग्रेज इजिप्शियन ने १८८१ में यह कहा था कि लद्दाख और नेफा, दोनों क्षेत्रों में बहुत तेल था।

के महानियन्त्रक थे, बतलाई। प्रतिरक्षा उत्पादन पर शंकर ने एक सुविस्तृत लेख भी लिखा था जिसमें उन्होंने कहा था कि प्रतिरक्षा उत्पादन अभी इस स्थिति में नहीं था कि संकट-काल के समय सेना की आवश्यकताओं को पूरा कर सके। इस लेख में निम्नलिखित बातें कही गई थीं :

(अ) किसी भी देश को अपनी सेना की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए केवल अपनी शस्त्रशाला पर ही निर्भर नहीं करना चाहिए (जैसा कि उस समय हम कर रहे थे), प्रतिरक्षा मन्त्रालय सशस्त्र सेनाओं की आवश्यकताओं का केवल पन्द्रह प्रतिशत भाग ही उत्पादित कर पाता था। इसलिए भारत को अपनी कुल औद्योगिक शक्ति का उपयोग करना चाहिए।

(आ) क्योंकि एक उद्योग को विकसित होने में कई वर्ष लग जाते हैं, इसलिए हमें अभी से निर्णय कर के इस दिशा में कदम उठाना चाहिए (वर्तमान परिस्थितियों को दृष्टि में रख कर)।

(इ) हमें इस बात का भी अभी निर्णय करना चाहिए कि हमें किस प्रकार के शस्त्रों एवं अन्य उपकरणों की आवश्यकता होगी क्योंकि एक शस्त्र को तैयार करने की स्थिति में आने के लिए लगभग पाँच वर्ष लग जाते हैं।

(ई) शस्त्रों एवं उपकरणों के उत्पादन के साथ-साथ हमें पर्याप्त रिजर्व भी रखना चाहिए (अप्रत्याशित परिस्थितियों के लिए)।

मेनन इस मूल अवधारणा से ही सहमत नहीं थे कि सशस्त्र सेनाओं की आवश्यकताओं के उत्पादन का काम निजी क्षेत्र को भी सौंपना चाहिए। इस बात के कहते ही वह लाल-पीले हो जाया करते थे।

१९६१ में तीनों सेनाओं के चीफों ने अपने शस्त्रास्त्रों की माँग सरकार के सामने रखी। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रतिरक्षा उत्पादन संगठन का प्रसार होना अनिवार्य था। एक राइफल की फैक्टरी के आधुनिकीकरण के लिए एक करोड़ रुपये की आवश्यकता थी। जब मेनन ने यह प्रस्ताव मोरारजी देसाई के सामने रखा तो उन्होंने वित्तीय आधार पर इसे वापस कर दिया। किन्तु १९६२ में सेनाओं के पीछे हटने के बाद, जब चह्माण ने एक राइफल

६७. प्रतिरक्षा उत्पादन के महानियन्त्रक एडमिरल शंकर एक सुयोग्य एवं धर्मशील व्यक्ति थे जिन्हें मेनन एवं सेनाओं, दोनों की आलोचना का शिकार बनना पड़ता था। किन्तु यह में जानता हूँ कि वह किन कठिन परिस्थितियों में काम कर थे।

कैंटरी के आधुनिकीकरण के लिए मोरारजी देसाई से दो करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा की माँग की तो मोरारजी देसाई ने हवा का रस पहचान कर एक नहीं, बल्कि दो कैंटरियों के आधुनिकीकरण के लिए धन मुलभ कर दिया। इस सम्बन्ध में बातचीत करने के लिए उन्होंने (मोरारजी देसाई ने) सह-सचिव शरीन, मेजर जनरल मयप्पा और रियर एडमिरल शंकर को बुलाया। बातचीत के दौरान उन्होंने शंकर से व्यंग्यपूर्वक पूछा, 'कहाँ गया आपका (मर्यान् मेनन का) वह प्रतिरक्षा उत्पादन जिसकी बड़ी धूम मची थी?'

'सर, उसमें राजनीति घुस गई' शंकर ने उत्तर दिया।

'क्या कहा?' मोरारजी देसाई ने गरज कर हुए पूछा।

'कुछ नहीं, सर, कुछ नहीं', शंकर ने फुसफुसाते उत्तर दिया।

'जरा फिर से कहना', मोरारजी चीखे।

'मैंने कहा कि प्रतिरक्षा उत्पादन को ले कर काफी राजनीति थी', शंकर ने बिना उत्तेजित हुए अनिच्छा से उत्तर दिया।

(मेनन एवं मोरारजी के इस व्यक्ति-संघर्ष के कारण प्रतिरक्षा मन्त्रालय और वित्त मन्त्रालय सदा एक-दूसरे का गला काटने को तैयार रहते थे जिसके फलस्वरूप प्रतिरक्षा उत्पादन की दिशा में किये गए प्रयत्नों में सिधिलता घाती गई।)

अपनी असन्दिग्ध योग्यता के बावजूद भी मेनन ने न तो 'सशस्त्र सेना की कमियों को दूर कर के उसे पूरी तरह सैन्य-सामग्री से सन्नद्ध करने' के सम्बन्ध में भेजे गई सशस्त्र सेना के चीफों की सिफारिशों पर कोई उपयुक्त कदम उठाया और न ही सेना की तैयारी के विषय में लिखे गए आर्मी चीफ के पत्रों का कोई उत्तर दिया। अपनी सशस्त्र सेना के अक्षत रहने से जो आणकित परिणाम निकल सकते थे, उनके विषय में भी मैंने उन्हें कई बार सचेत किया किन्तु इस सब का कोई फल न निकला।

यद्यपि मेनन नानाविध सैन्य-उपकरणों की गहन जटिलताओं में परिचित थे किन्तु देशी उत्पादन के प्रति उनका आग्रह बहुत प्रबल था। उनके विचार के अनुसार निकट भविष्य में किसी युद्ध की आशंका नहीं थी, इसलिए वह सैन्य-सामग्री के देशी उत्पादन—सस्ता और श्रेष्ठ मार्ग—पर बल देते थे। उनकी विचारधारा यह थी कि प्रत्येक देश को अपनी सेना के लिए अपेक्षित सामग्री स्वयं उत्पादित करनी चाहिए। दीर्घकालिक नीति की दृष्टि से उनका सोचना यह था कि हमें सैन्य-सामग्री के लिए विदेशों पर निर्भर नहीं करना चाहिए क्योंकि युद्ध-काल में ये देश कभी भी इस अनुबन्ध को छोड़ सकते हैं। उनका कहना था कि एक-न-एक दिन तो हमें अपने यहाँ उत्पादन करना ही होगा, इसलिए क्यों न अभी प्रारम्भ कर दिया जाए?

इस विषय पर मेनन में और सशस्त्र सेना के कई अधिकारियों में (जिनमें मैं

भी था) काफी मतभेद और संघर्ष था। इस बात से तो हम सहमत थे कि हमें अपने घरेलू उत्पादन को प्रोत्साहित करना चाहिए क्योंकि एक तो यह सस्ता था तथा दूसरे इससे आत्म-गौरव बढ़ता था। किन्तु इससे हम सहमत नहीं थे कि जब शत्रु हमारी सीमा पर ललकार रहा हो तो भी हम अपने घरेलू उत्पादन की प्रतीक्षा करते रहें और अपनी तुरन्त की आवश्यकताओं के लिए विदेशों से आयात न करें। हमारा विचार था कि सेना को निहत्थी रखना कोई बुद्धिमत्ता की बात नहीं थी। इसलिए, हम लोग इस पक्ष में थे कि चाहे जितनी वित्तीय उलझनें क्यों न हों, हमें वह सैन्य-सामग्री तुरन्त आयात करनी चाहिए जिसका सांग्रामिक दृष्टि से होना अनिवार्य था और जिसका देशी उत्पादन समय पर नहीं हो सकता था।

मेनन संसद् में प्रति वर्ष यह आश्वासन देते रहे कि देश की प्रतिरक्षा का प्रबन्ध बहुत सुदृढ़ था और हम अपने सीमान्त की रक्षा करने में पूर्णतः समर्थ थे। किन्तु यथार्थ में स्थिति इसके विल्कुल विपरीत थी और सेना उन्हें बार-बार मौखिक एवं लिखित रूप में चेतावनी देती रही थी कि हथियारों एवं अन्य सामग्री के अभाव में वह भारत की पूरी तरह रक्षा करने में असमर्थ थी। वास्तव में हमारी सैनिक तैयारी, राजनयिक कथन एवं राष्ट्रीय व्यवहार, सब समसामयिक होने चाहिए थे।

जनरल थापर इस विषय पर परिस्थिति में बहुत अधिक चिन्तित हो उठे (जैसा होना स्वाभाविक था) और उन्होंने मुझसे कहा कि इस सम्बन्ध में मेनन के रुख को देखते हुए क्या यह उचित नहीं होगा कि स्थिति की गम्भीरता से नेहरू को परिचित कराया जाए। मैंने थापर को परामर्श दिया कि अतीत में तो कभी उन्होंने नेहरू से अनौपचारिक रूप में कोई बात कही नहीं थी और इस समय तो वैसे भी उनके (थापर के) और मेनन के सम्बन्ध आपस में काफी तनावपूर्ण थे, इसलिए यदि उन्होंने प्रतिरक्षा मन्त्री के ऊपर-ही-ऊपर नेहरू से बातचीत की तो उनकी स्थिति काफी उलझनपूर्ण हो सकती थी। साथ ही मैंने यह भी बतलाया कि नेहरू मेनन^{६६} के विरुद्ध कुछ सुनना नहीं चाहते थे। अन्त में, यह जिम्मेदारी मैंने अपने सिर पर ले ली कि इस वस्तुस्थिति का सार मैं नेहरू को बतला दूँगा (क्योंकि महत्त्वपूर्ण सैनिक मामलों पर अनौपचारिक

६६ अभी फरवरी १९६२ के चुनावों में मेनन ने बम्बई-स्थित अपने निर्वाचन-क्षेत्र से काफी जोर-शोर से चुनाव जीता था जिससे उनके अधिकांश आलोचकों की बोलती बन्द हो गई थी। इस चुनाव में मेनन का काफी विरोध हुआ था किन्तु फिर भी उन्हें बहुत अधिक मत मिले थे और इससे नेहरू पर काफी अनुकूल प्रभाव पड़ा था। इस चुनाव के बाद मेनन की स्थिति पहले से काफी दृढ़ हो गई थी और नेहरू ने भी उन्हें कई मामलों में खुली छुट्टी दे दी थी। इस अवधि के बीच मेनन ने कई असाधारण सफलताएँ प्राप्त कीं और कई असाधारण गलतियाँ कीं।

रूप से बर्चा करने की अनुमति मुझे बहुत पहले से नेहरू ने दे रखी थी) । इस सम्बन्ध में जब मैंने नेहरू से बातचीत की तो मैंने उनके सामने दो बातें रखी— प्रथम, प्रतिरक्षा उपकरणों के घरेलू उत्पादन को गति प्रदान करने के लिए राजकीय क्षेत्र के साथ-साथ निजी क्षेत्र का सहयोग भी प्राप्त करना चाहिए तथा द्वितीय, सेना को जिन हथियारों एवं उपकरणों की तुरन्त आवश्यकता थी, उन्हें विदेशों से आयात कर लेना चाहिए (जैसा कि हमने १९६३ में किया) । माप ही मैंने नेहरू को उन पत्रों के विषय में भी बतला दिया जो सेना मुख्यालय ने मेनन के माध्यम से सरकार को लिखे थे और जिनका उम समय तक कोई उत्तर नहीं मिला था ।

किन्तु नेहरू ने भी सेना की आवश्यकताओं पर कोई ध्यान नहीं दिया । इस सम्बन्ध में अपने विचार मेनन ने भी नेहरू को बतला दिए थे जो सेना के विचारों के विपरीत थे । नेहरू मेनन के विचारों से सहमत थे (या मेनन नेहरू के ?) । मेरे विचार में, नेहरू की इस मनःस्थिति के लिए कि वह सेना द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावों एवं माँगों (कि सेना की कमी को पूरा कर के उसे आधुनिक बनाना चाहिए) को सन्देह की दृष्टि से देखते थे, मेनन जिम्मेदार थे ।

यदि नेहरू ने मेनन को कुछ अन्य आदेश (सेना की कमी को पूरा करने या उसे आधुनिक बनाने के लिए) दिये हों तो न तो उनका सेना को कोई पता चला और न उनका मेनन ने कभी पालन किया ।

अपने कुछ राजदूतों की रिपोर्टों से, अपने परराष्ट्र कार्यालय के मूल्यांकन से तथा अपने कुछ राजनीतिक एवं दूसरे विश्वासपात्रों की सन्नाह से नेहरू ने यह निष्कर्ष निकाला था कि चीनी सूचमुच इतने शक्तिशाली नहीं थे जितना कि उनको बतलाया जाता था, अनाज की कमी, नदियों में बाढ़ों एवं अलोकप्रिय तानाशाही शासन के कारण चीन में अव्यवस्था फैली हुई थी; तिब्बत में विद्रोह हो रहे थे; चीनियों (सैनिकों एवं गैर-सैनिकों) का होसला पस्त हो चुका था और यदि हमने थोड़ा साहस से काम लिया तो वे हमारी सीमा से भाग जाएंगे । वास्तव में यह सम्पूर्ण निष्कर्ष मथार्थ के बिल्कुल विपरीत था । नेहरू को विश्वास था कि चीनी अपनी आन्तरिक उपल-पुषल में इतने व्यस्त थे कि उनके पास किसी दूसरी ओर ध्यान देने का समय ही नहीं था । नेहरू का ही नहीं अपितु उनके मन्त्रि-मण्डल के कुछ सदस्यों का भी यही विचार था कि चीन में युद्ध होने की कोई आशंका नहीं थी और सैनिक हार्ड कमान ने जो धातक फैलाया हुआ था, वह सेना का एक भ्रम था । दूसरे दृष्टी में, इस विषय पर सैनिक व्यर्थ में शोर मचा रहे थे और फिज़ूलखर्ची से भरी माँगें सरकार के सामने रख रहे थे । अतः, सरकार ने सेना की माँगों की ओर अनासक्त^{१६}

१६. काफी वर्षों तक हमारे यहाँ खूब स्तर पर 'आत्म-सन्तोष' की प्रवृत्ति का साम्राज्य रहा है । ३ नवम्बर १९६२ के 'इकोनोमिस्ट' में एफ० एस० टकर ने

भाव दर्शाया। उन्होंने यह कभी अनुभव नहीं किया कि हमारी आवश्यकताएँ सचमुच जरूरी थीं और उनके पूरी न होने पर हमें कठिनाई का सामना करना पड़ सकता था। मेनन का भी यही विचार था, इसलिए उन्होंने भी कभी सेना की माँगों पर गम्भीरतापूर्ण विचार नहीं किया। वरिष्ठ सिविल सेवकों का लगभग यही विचार था। (किन्तु जब मेनन, मोरारजी देसाई और नेहरू ने सैनिक हाई कमान की सांग्रामिक दृष्टि से महत्वपूर्ण माँगों पर कोई उपयुक्त कदम नहीं उठाया तो उन्हें चाहिए था कि वे इस विषय पर आगे बात चलाते।)

१९६२ के प्रारम्भ में, एक दिन मुझे नेहरू के यहाँ से सन्देश मिला कि उस रात दस बजे मैं उनसे जा कर मिलूँ। नेहरू समय के बहुत पावन्द थे, इसलिए पूरे दस बजे मैं उनके अध्ययन-कक्ष में पहुँच गया। उन्होंने पूछा कि चैस्टर वाउल्स का और मेरा क्या परिचय था। मैंने बताया कि हम दोनों के अच्छे सम्बन्ध थे एवं उन्होंने (वाउल्स ने) मेजर जनरल हरि वधवार को अपने साथ अमरीका ले जा कर उनका (हरि का) इलाज कराया था जिसके लिए मैं उनका बहुत आभार मानता था। नेहरू ने बतलाया कि चैस्टर वाउल्स राष्ट्रपति कैंनेडी के विशेष प्रतिनिधि के रूप में भारत आ रहे थे और उन्होंने मुझसे मिलने की इच्छा प्रकट की थी। इतना कह कर नेहरू ने एक मिनट कुछ सोचा और मुझसे कहा कि मैं इस सम्बन्ध में मेनन से बात कर लूँ। जब अगले दिन मैं मेनन के पास पहुँचा तो उन्होंने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा, 'जनरल आप अमरीका की नागरिकता क्यों नहीं ले लेते, इससे सबको सुविधा हो जाएगी।' (भारत में हज़ारों लोग ऐसे हैं जिनकी किसी-न-किसी देश से सहानुभूति है, किन्तु इस कारण उन्होंने उन देशों की नागरिकता नहीं प्राप्त की।)

इस पर मैंने मेनन को कोई उत्तर नहीं दिया बल्कि उनके चेहरे को घूरता रहा। कुछ क्षण बाद उन्होंने कहा कि चैस्टर वाउल्स का हमारे जनरलों से मिलने का कोई काम नहीं था और मुझसे कहा कि इस आशय का उत्तर मैं वाउल्स को भेज दूँ।

मैंने उत्तर दिया, 'मिलने की इच्छा मैंने नहीं, वाउल्स ने प्रकट की है और वह भी मुझसे प्रत्यक्ष नहीं बल्कि सरकार के माध्यम से, इसलिए सरकार को ही कोई अच्छा-सा वहाना लगा देना चाहिए।' (चैस्टर वाउल्स कोई प्रथम

लिखा, '१९४७ में जब मैं भारत में था तो मैंने लिखा था कि हमारे भारत छोड़ने के वाद, भारत के उत्तर पूर्वी सीमान्त पर चीन के आक्रमण की आशंका थी... और अपनी सीमान्त-प्रतिरक्षा को सुदृढ़ करने के लिए भारत के पास कछ ही वप हैं...'

विदेशी राजनयन या राजनीतिज्ञ नहीं थे जिन्होंने एक भारतीय जनरल से मिलने की इच्छा व्यक्त की थी।)

मेनन ने कहा, 'करने से कहना सरल होता है। चैंस्टर बाउल्स राष्ट्रपति कैंडी के विदेश प्रतिनिधि के रूप में भारत आ रहे हैं और उनकी प्रार्थना को स्वीकार न करना हमारे लिए न तो बुद्धिमत्ता की बात है और न ही सरल है।'

मैंने कहा, 'तब मिस्टर प्रतिरक्षा मंत्री, उन्हें मुझसे मिलने दीजिए।'

मेनन ने गुस्से में कहा, 'तुमसे बात करना भी मुश्किल है।'

मैंने पूछा, 'किन्तु सर, अभी ठक आपने यह तो बताया ही नहीं कि चैंस्टर बाउल्स और मैं आपस में मिल सकते हैं या नहीं।'

इस पर कृपण मेनन का मुँह ताल पड़ गया और उनके मुँह में एक ध्वनि निकली 'हूँ।'

और उसके बाद यह मुलाकात समाप्त हो गई।

कुछ दिन बाद चैंस्टर बाउल्स मुझसे मिले। आते ही उन्होंने एक बात स्पष्ट कर दी कि एक पुराने मित्र के नाते वह मुझसे मिलने चाहे थे। भारत के प्रति चीन की घमकी के सम्बन्ध में बातचीत करते हुए उन्होंने कहा कि मेरे विचार में चीन अपनी घमकी को किस सीमा तक व्यावहारिक रूप दे सकता था। मैंने उत्तर दिया कि पहले तो मैं सोचता था कि हमारी सीमा में चीनी धुमपेठ मात्र एक राजनीतिक दावपेच था और परस्पर वार्ता के द्वारा चीन और भारत के सम्बन्ध फिर पहले जैसे ही जाएंगे किन्तु उनके वाय के व्यवहार को, विशेषतः लद्दाख में, देख कर मुझे यह विश्वास हो गया कि हमारी सीमा के कुछ भाग पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए चीनी कृतसकल्प थे और इसके लिए वे सैनिक दक्षिण का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकिचाएंगे। बाउल्स ने पूछा कि क्या युद्ध होने की भासंका भी थी और यदि थी तो उस स्थिति में हमारा क्या करने का विचार था। मैंने कहा कि चीनी शायद १९६२ के शोप में या सिचिर में उत्पात मचाएंगे और इससे हमारे सामने कई समस्याएँ खड़ी हो जाएंगी। मैंने कहा कि जिस प्रकार अन्य देश किसी शक्तिशाली देश द्वारा आक्रमण की भासंका पता लगने पर अपने मित्र देशों से ऐसा प्रवन्ध कर लेते हैं कि वास्तविक आक्रमण के समय उन्हें पर्याप्त सहायता मिल सके और वे उन आक्रमण को विफल कर सकें, इसी प्रकार मुझे भासा थी कि हमारे देश के उच्च पदासीन लोग भी किसी ऐसे विरोधक (आक्रमण रोकने का प्रवन्ध) का पहलू ही प्रवन्ध कर लेंगे क्योंकि चीनी आक्रमण अब निश्चित-सा था।

७०. भारत ने अमरीका से सैन्य उपकरण माँगे भी और उसे मिले भी किन्तु उस दुर्घटना के बाद, १९६३ में।

इसके बाद हम दोनों ने अपने-अपने देशों के सम्बन्ध में कुछ अन्य बातों की और वाउल्स चले गए। इसके तुरन्त बाद चैस्टर वाउल्स ने मुझे पत्र लिखा कि वह समस्याओं की ओर राष्ट्रपति कैंनेडी का ध्यान आकर्षित करेंगे। किन्तु हमारी सेना को इस आशंकित दुर्घटना का मुकाबला करने के लिए तैयार करने का किसी ने प्रयत्न नहीं किया। १९६३ में चैस्टर वाउल्स ने मुझे लिखा था, 'मार्च १९६२ के प्रारम्भ में हम दोनों के बीच जो बातलाप हुआ था, उसका मुझे स्पष्ट स्मरण है। आपकी यह पूर्व घोषणा बिल्कुल ठीक निकली कि चीनी उस वर्ष ग्रीष्म या शिशिर में आक्रमण करेंगे। यदि हमने, आपके सुझाव के अनुसार, इस स्थिति का सामना करने का पहले ही कोई 'परस्पर प्रबन्ध' कर लिया होता तो १९६२ के अक्टूबर एवं नवम्बर में हुई घटनाओं का रूप कुछ और ही होता।'।

चीफ ऑफ जनरल स्टाफ होने के नाते, सेना के लिए खरीदी जाने वाली नयी सामग्री के सम्बन्ध में, मैं मेनन से कई बार मिला था। जब उन्होंने भारतीय वायु सेना के लिए 'मिग २१ सुपरसॉनिक वायुयान' खरीदने का निर्णय किया तो मैंने उनसे पूछा कि क्या वे वायुयान हमारी सेना की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ थे। इन वायुयानों की खरीदारी में मेरी रुचि इसलिए थी क्योंकि वायु सेना स्थल सेना का दायीं हाथ होती है। मेनन से यह प्रश्न मैंने इसलिए किया था क्योंकि वायु सेना के विशेषज्ञों ने मुझे बतलाया था कि इसी कोटि के वायुयान अन्य देशों में भी थे और हमें मिल भी सकते थे। उदाहरण के लिए, अमरीकी 'एफ/१०४', स्वीडिश 'सॉव ड्रैकन', फ्रांसीसी 'मिरेज ३' तथा ब्रिटिश 'लाइटनिंग' भी इसी स्तर के वायुयान थे। मेनन ने मुझे आश्वासन दिया कि प्रतिरक्षा मन्त्रालय के वैज्ञानिक परामर्शदाता^{७१} ने इस बात का समर्थन किया था कि यह सौदा हमारे लिए काफी लाभकारी सिद्ध होगा। किन्तु इस सम्बन्ध में दूसरे विशेषज्ञों से मैंने कुछ और सुना था। जब मैंने मेनन को वह सब बताया तो उन्होंने कहा कि अन्य देशों की अपेक्षा रूस से यह वायुयान खरीदने में हमें काफी सुविधा रहेगी। (उनके विचार से रूसी काफी सहयोगशील थे—एक तो वे इन वायुयानों का भुगतान हमसे हमारी मुद्रा में ले रहे थे तथा दूसरे, वे भारत के कई अन्य उत्पादनों में भी अपना सहयोग दे रहे थे।) रूस से सैन्य-सामग्री खरीदने पर मुझे कोई आपत्ति नहीं थी, मैं तो केवल इतना आश्वस्त होना चाहता था कि हमारी सेना को विश्व में उपलब्ध वायुयानों में से श्रेष्ठ वायुयान मिल रहे थे या नहीं।

७१. क्या उन वैज्ञानिक परामर्शदाता को आधुनिक सुपरसॉनिक जेट वायुयान की जटिलताओं या क्षमता का पूरा ज्ञान था? इस वायुयान का ठीक मूल्यांकन तो वायु सेना के अनुभवी विशेषज्ञ ही कर सकते थे किन्तु उन्हें इसकी अनुमति ही नहीं दी गई।

भारतीय वायु सेना को 'मिग २१' वायुयानों में सन्नद्ध करने का निर्णय इसलिए किया गया था क्योंकि हमारे एक पड़ोसी देश के पास 'मैक २' गति वाले वायुयान थे और उसकी तुलना में हमारी वायु सेना बहुत निर्बल थी। पहले, अमरीका से एफ/१०४ वायुयान मांगे थे किन्तु अमरीका ने हमें ये वायुयान उतनी सख्या में देने की अनिच्छा-सी प्रकट की जितनी सख्या में हमने मांगे थे। इन बातों को देखते हुए 'मिग २१' खरीदने का निर्णय बहुत उत्तम था। वैसे भी रूस ने हमें नवीनतम 'मिग २१' देने का वचन दिया था जिसमें 'वायु-सेनायु मिसाइल' सहित युद्धास्त्रों का पूरा प्रबन्ध था। रूस ने अपनी सद्भावना के प्रमाण में भारतीय वायु सेना को उसी कोटि के 'मिग २१' दिये भी थे जिन कोटि के उसकी वायु सेना के स्कुएड्रन के पास थे। इसी समय मास्को में भारत और रूस के बीच एक समझौता भी हुआ जिसके अन्तर्गत भारत को यह लाभ प्राप्त दिया गया कि वह 'मिग २१' वायुयान अपने यहाँ बना सकता था। इन उत्पादन-कार्य में रूस ने अपना पूरा-पूरा सहयोग देने का भी वचन दिया। जिस समय भारत और चीन के बीच तनाव अपनी पराकारटा पर था, उस समय अपने एक महत्त्वपूर्ण श्रावध-उत्पादन की परियोजना में रूस का सहयोग प्राप्त करने का निर्णय काफी सोच-विचारी के बाद लिया गया राजनीतिक निर्णय था।

भारत और चीन के सम्बन्धों की कटुता को देखते हुए, भारत के लिए नुपरमॉनिक वायुयान सुलभ कराने में रूस की द्रुतनी रचि लेना, भारत की नीति की अप्रतिम सफलता थी। दूसरी ओर बिना इन तेज रफ्तार वाले वायुयानों के हमारी वायु सेना के पत्र टूटे हुए थे और वह स्थल सेना की महायत्ना करने में स्वयं को अक्षम एवं विवश अनुभव करती थी। उसको इन वायुयानों की अविनाश्य आवश्यकता थी जबकि हमारी सरकार इनके उत्पादन की परि-

या और फिर राजकीय क्षेत्र में जहाँ इन दोनों का अतण्ड साम्राज्य होगा है। परन्तु, 'मिग २१' वायुयानों के उत्पादन में विलम्ब-दर-विलम्ब का होना निश्चित था। इस समय भारत सरकार के लिए तर्कसंगत मार्ग यह था कि वह रूस से बने-बनाये 'मिग २१' खरीद कर अपनी वायु सेना को सन्नद्ध कर लेती और फिर अपने यहाँ उत्पादन करती रहती। यद्यपि ऐसा नहीं किया गया और फिर भी वायु सेना चुप रही, रूसका कारण यह था कि वह 'मिग २१' के बन्दे

०२ भारतीय वायु सेना की सन्तान्य धारणा यह थी कि मिग वायुयान सरकार अपनी इच्छा के विरुद्ध उन पर थोप रही थी। उसका (वायु सेना का) विचार यह

दूसरे वायुयानों को अधिक श्रेष्ठ मानती थी। अनेक महत्त्वपूर्ण ऑफिसर जिनमें वायु सेना के विशेषज्ञ भी थे, 'मिग २१' की ओर से पूरी तरह सन्तुष्ट नहीं थे। उदाहरण के लिए, जब मेनन ने इस सम्बन्ध में प्रतिरक्षा उत्पादन के महानियन्त्रक शंकर के विचार जानने चाहे तो उन्होंने कहा कि भारतीय वायु सेना में 'मिग २१' के आने पर हमें अपनी सम्पूर्ण इलेक्ट्रॉनिक पद्धति को बदल कर उसे रूसी पद्धति के अनुरूप बनाना पड़ेगा जिससे जहाँ अनेक नयी समस्याएँ उत्पन्न हो जाएँगी, वहाँ उस पर लागत भी इतनी आएगी कि जिसका वहन करना हमारे लिए एक समस्या बन जाएगा। इस पर मेनन ने शंकर से कहा कि वह बेकार की बात कर रहे थे। जब एयर मार्शल इंजिनियर से उनके विचार पूछे गए तो उन्होंने भी 'मिग २१' के सम्बन्ध में कुछ सम्भावित उलझनें बतलाईं। इस पर मेनन भुँकला उठे और बोले, 'एयर मार्शल, आपका नाम भले ही इंजिनियर हो किन्तु आप पेशे से इंजिनियर नहीं हैं, इसलिए तकनीकी मामलों पर अपने विचार व्यक्त करने की कोशिश न करा करें।'

मेनन से 'मिग २१' के सम्बन्ध में बातचीत करते हुए मैंने भारतीय वायु सेना की ज्वलन्त समस्याएँ भी उनके सामने रखी थीं। भारतीय वायु सेना के स्कुएड्रनों में बीस से अधिक प्रकार के वायुयान थे और वे भी किसी एक देश का उत्पादन नहीं अपितु पाँच देशों—फ्रांस, ब्रिटेन, अमरीका, रूस एवं कनाडा—की देन थे। साथ ही इन स्कुएड्रनों को चार-पाँच प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह करना पड़ता था। उपकरणों के स्तरीकरण के अभाव की दृष्टि से हमारी वायु सेना विश्व की वायु सेनाओं में सर्वश्रेष्ठ उदाहरण थी। इस गतिहीन विकास के फलस्वरूप 'ग्रहणशीलता' नामक मूल तत्त्व हमारी वायु सेना से लुप्त हो चुका था, स्कुएड्रनों की गतिशीलता के लिए अपेक्षित उपकरण सुलभ न होने के कारण हमारे सांग्रामिक कमाण्डर प्रतिरक्षा करने में असमर्थ थे। वायुकर्मियों (एअरक्रूज़) एवं तकनीकी स्टाफ को कई प्रकार के वायुयानों का प्रशिक्षण लेना पड़ता था जिसे उनकी प्रतिभा एवं कुशलता का किसी एक विशिष्ट दिशा में सदुपयोग नहीं हो पाता था। इन वायुयानों एवं उनके सहायक उपकरणों की उपयोगिता भी कम थी। इन सब चीजों के फलस्वरूप वायु सेना के सांग्रामिक प्रशिक्षण का स्तर भी नीचे गिरता जा रहा था।

सांग्रामिक प्रशिक्षण की दृष्टि से सैनिक वायुयानों को सदा ठीक हालत में होना चाहिए और यह दायित्व होता है वायु सेना के इंजिनियरों का। किन्तु उस समय भारतीय वायु सेना के सुप्रशिक्षित इंजिनियर किसी अन्य कार्य में

कि मिग की तुलना में अमरीकी एफ।१०४ वायुयान सब दृष्टियों से अधिक श्रेष्ठ उसकी रफ्तार भी १,५०० मील प्रति घण्टे से अधिक थी और युद्ध की दृष्टि से वह अधिक समर्थ था।

धन्य थे और इस काम का सरकार को पूरा-पूरा ज्ञान था क्योंकि यह काम रूसी की अनुमति में हो रहा था। कुछ वर्षों पहले एक ब्रिटिश फर्म ने हमें 'शॉन्-र-वैट मध्यम परिवहन वायुयान' बनाने का लार्सेंस देना था और यह नवी परिवोजना भारतीय वायु सेना को खोप दी गई थी। जब भारतीय वायु सेना के पास अपने वायुयानों के अनुरक्षण (मैन्टेनेंस) का ही पूरा प्रबन्ध नहीं था, तब उसे यह नया काम सोचने में न जाने क्या तुक थी। एक प्रमुख अनुरक्षण डिपो के एक सहायक कमाण्डर को यह परिवोजना सौंपी गई। धीरे-धीरे कुछ प्रथम थैली के मासिक परीक्षण, प्रतिदिन सत्यानो एव अनुरक्षण डिपो को अपने संबंधित तकनीकी निरोक्षण एव प्रतिक्षण स्टाफ से हाथ धोना पड़ा। यहाँ तक इस नयी परिवोजना की गफलता का सम्बन्ध है, यहाँ अग्रेज विरोधों की देखभाल में और काफी लम्बी अवधि के बाद लगभग आधा दर्जन परिवहन वायुयानों को जोड़ा-तोड़ा जा सका अर्थात् वे प्रासिक रूप से तैयार हो पाए।

किन्तु इसकी जो कीमत भारतीय वायु सेना को चुकानी पड़ी, उसका सूत्राकन केवल मुझ में नहीं किया जा सकता। इस अवधि में स्कुएड्रनों एवं डिपो में अनुरक्षण का स्तर बहुत गिर गया जो वायु सेना के लिए एक बहुत बड़ा परिचाय सिद्ध हुआ।

जब सेना ने मेरे इस विश्लेषण से सहमत होने से मना कर दिया तो मैंने उनके सामने एक विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया। २५ मई १९६१ को दो वायुयान-चालक कानपुर के वायुयान अनुरक्षण डिपो पहुँचे जहाँ से उन्हें दो नये 'ब्रूथनी' वायुयानों को उड़ा कर अपने झड्डे तक ले जाना था। जब किसी स्कुएड्रन के लिए कोई नया वायुयान मजूर होता है तो उसे पूरी देखभाल के लिए अनुरक्षण डिपो भेज दिया जाता है जहाँ उसका उड़ा कर परीक्षण लिया जाता है एव उसके दोषों को (यदि हो) दूर किया जाता है। जब अनुरक्षण डिपो के उन्वाधिकारी सन्तुष्ट हो जाते हैं तो यह सूचना सम्बन्धित स्कुएड्रन को दे दी जाती है और उसका 'फेरी पाइलट' (कारखाने से वायुयान को उड़ा कर झड्डे तक ले जाने वाला वायुयान-चालक) उसे लेने के लिए पहुँच जाता है। वहाँ पहुँच कर 'फेरी पाइलट' सम्बन्धित यान की हवा में परीक्षा लेता है और सन्तुष्ट होने पर अपने झड्डे की ओर चल पड़ता है। इस अवसर पर जो दो चालक गए थे, उनमें से एक को तीन वायुयानों का पाँच बार परीक्षण करना पड़ा और तब जा कर वह दो यान छूट पाया। इन हवाई परीक्षणों में, एक में तो इंजिन का द्रवप्रवाह रुक गया और ब्रेक फेल हो गए तथा दूसरे में 'कार्बिड वायु-चाप व्यवस्था' (कार्बिड प्रंतराश्चेशन सिस्टम) दूषित था। इन उड़ानों में वह चालक मोत के मुत्त में जाते-जाते बचा। इससे सिद्ध होता है कि वायुयान अनुरक्षण डिपो (कानपुर) में इन यानों की जो मरम्मत हुई थी,

वह सन्तोषजनक नहीं थी और उसके फलस्वरूप दुर्घटना हो सकती थी। हो सकती थी क्या, होते-होते रह गई। और इस असन्तोषजनक स्थिति का कारण यह था कि डिपो के सिद्धहस्त इंजीनियर इस काम के लिए सलभ नहीं थे, वे परिवहन वायुयान के निर्माण के लिए मिले हुए लाइसेंस का सदुपयोग (?) करने का प्रयास कर रहे थे।

इन दुर्घटनाओं को जिनमें मृत्यु नहीं होती या यान को हानि नहीं होती, 'घटना' कहा जाता है। इस अवधि में इस प्रकार की घटनाएँ बहुत बढ़ गई थीं किन्तु उन सब की सूचना नहीं दी जाती थी। यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण कदम था क्योंकि इन चीजों का वायुकर्मियों के मनोबल पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। वायुकर्मियों का मनोबल तो निर्भर करता है उनके वायुयान के विल्कुल ठीक होने पर, यदि वायुयान मजबूत है और उसमें कोई दोष नहीं है तो उसके वायुकर्मियों का मनोबल बहुत ऊँचा रहता है अन्यथा गिर जाता है। इस स्थिति को और खराब किया कुछ जिम्मेदार डिपो कमाण्डरों ने जिन्होंने सरकारी मूक आज्ञा प्राप्त कर के व्यर्थ के निजी उद्यम प्रारम्भ कर दिए। उदाहरण के लिए, उन्होंने युद्धकालीन टूटा-फूटा कचड़ा ले कर उससे हल्का वायुयान बनाने का प्रयत्न प्रारम्भ कर दिया। सरकार ने इन व्यर्थ के कामों के भयंकर परिणामों को सोचने की कोशिश नहीं की और जिसने जो परामर्श दिया, उसे सिर-माथे चढ़ा लिया। बिना परिणाम पर भली-भाँति विचार किये परामर्श देने वालों की हमारे यहाँ कोई कमी नहीं है और यह सोच कर कि यदि उनकी सलाह लाभकारी निकल आई तो उन्हें भी पुरस्कृत किया जाएगा, उच्च पदाधिकारी सरकार को (निरर्थक एवं हानिप्रद) अनेक परामर्श देते रहे।

वायुयानों को सेवा-योग्य बनाने से सम्बन्धित जो दूसरी चीज मैंने मेनन के सामने रखी, वह अधिक बुनियादी थी। ऊँचे-ऊँचे पदों पर नियुक्त अनुरक्षण कर्मचारियों की योग्यता में कमी ही कहिये कि अब तक वे एक ऐसा कामचलाऊ फार्मूला नहीं निकाल पाए थे जिससे फालतू पुर्जों को आवश्यकता के समय ठीक स्थान पर ठीक बिठाया जा सके। व्यवस्था, माँग और वितरण से सम्बन्धित सम्पूर्ण कार्य-पद्धति, अन्य संगठन-विषयक अवधारणाओं की भाँति, रॉयल एयर फोर्स से उधार ली हुई थी जो आधुनिक वायुयान एवं सांश्रामिक तकनीकों के काफी आगे बढ़ जाने के कारण बहुत पिछड़ गई थी। साथ ही कुछ और समस्याएँ भी बढ़ गई थीं जो गठन-सम्बन्धी थीं। सरल शब्दों में इन्हें इस प्रकार कहा जा सकता है—फालतू पुर्जों की माँग को वास्तविक उपभोग के सही अनुपात में जानने का मानक फार्मूले का अभाव, फालतू पुर्जों के अनेक उत्पादक देशों से आने में अनेक व्यर्थ की वाधाओं के कारण अधिक समय का लगना, स्टाफ की अधिकता एवं यन्त्रीकरण का अभाव, पूर्णतः अकुशल संचार व्यवस्था। ये सब उग्र किन्तु अवांछनीय समस्याएँ थीं। भारतीय वायु सेना के युवा ऑफिसरों

एवं सीनियर एन० सी० घोष० की प्रसन्दिग्ध उमंग, निष्ठा एवं कर्तव्यपरा-
गता के साथ-साथ ऊँचे जिम्मेदार पदों पर नियुक्त अधिकारियों में भी साहस,
योग्यता, कल्पना एवं कुशलता की आवश्यकता थी।

जिन सेवा में न तो मैं स्वयं था और न जिसमें मेरा प्रत्यक्ष सम्बन्ध था,
उनके सम्बन्ध में इतने विस्तार से मनन के सामने कुछ तथ्य प्रस्तुत करने के
मेरे पास दो कारण थे—प्रथम, नये वायुयानों की खरीदारी से या पुरानों की
सम्भाल में सेना का और देश की प्रतिरक्षा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध था तथा द्वितीय,
वायु सेना के कुछ सीनियर ऑफिसरों ने (जिनकी सेवा एवं देश के प्रति निष्ठा
प्रसन्दिग्ध थी) मुझसे कहा था कि क्या मैं इन महत्त्वपूर्ण बातों को प्रतिरक्षा
मन्त्री के सामने रख सकता था। उनको आशा थी कि जहाँ वे असफल हो गये
थे, वहाँ शायद मैं सफल हो जाऊँ।

सेवाओं में मुझ पर की दृष्टि से मैंने जो भी परामर्श मनन को दिये चाहे वे
स्वयं मेना ने सम्बन्धित थे या वायु सेना से, मेनन ने उन पर कभी ध्यान नहीं
दिना। मेरे द्वारा नग्न सत्य को सामने रखना चाहे वह देश-हित में ही था, मेनन
को पसन्द नहीं आता था। उनका यह विशुद्ध विश्वास था कि जो कुछ वह कर
रहे थे, उनमें अधिक कुछ करने की कोई आवश्यकता नहीं थी। (हममें से अधि-
कांश लोग अपने अधीनस्थ कर्मचारियों से अपने विषय में कोई सच नहीं जानना
चाहते चाहे उसमें हमारा कितना ही हित क्यों न हो और न ही उनमें जो हमारे
अधीन काम करते हैं, इतना साहस है कि वे हमारे हित को ध्यान में रख कर हमें
हमारी कमियों में परिचित कराएँ। जैसा कि भारवि ने किराताजुनीय में लिखा
है : 'वह कैसा सेवक है जो अपने स्वामी के कल्याण के लिए उसे वह बात नहीं
बताता जो उसे बताई जानी चाहिए ? वह कैसा स्वामी है जो अपने हित की
बात नहीं सुनता ? समृद्धि उस देश में आती है जिसमें स्वामी एवं उनके कर्म-
चारियों में सामञ्जस्य रहता है.....')

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से हमारे अधिकांश नेताओं का यह विश्वास था कि हमने
स्वाधीनता प्रहिंसा के बल पर प्राप्त की थी और इसलिए, जब हम बिना शर्तों
का स्पर्श किये, बेबल प्रहिंसा-मार्ग का अनुसरण कर के दक्षिणशाली प्रपंचों को
भारत ने विदा लेने पर विवश कर सकते थे तो अब संशय सेना पर नम्बा-
चौड़ा खर्चा करने में क्या रुक थी (चाहे वह खर्चा कितना ही प्रतिवार्त्त क्यों न
हो)। यह विश्वास (विचार) उनके मन-मस्तिष्क पर इतनी बुरी तरह छाया
हूँ या कि मेना—स्थल, जल एवं वायु—का महत्त्व उनकी दृष्टि में बिल्कुल
घट गया था और उसकी अधिकांश मार्गों को वे बिनासिता की सामग्री की
वर्ति घनावश्यक मानते थे। १९५८ के बाद भी, जब हमें अपने सोमान्त पर

चीनियों की भीड़ का पता चल गया था और उनकी बमकियों (शरारतों) का ताँता लग गया था तथा हमारे प्रेस ने एवं आचार्य कृपलानी और रामसुभग सिंह जैसे मेधावी राजनीतिज्ञों ने कई चेतावनियाँ भी दीं, हमारी सरकार के कानों पर जूँ न रेंगी और अपने देश की प्रतिरक्षा के प्रति उसका दृष्टिकोण अनासक्तिपूर्ण ही रहा। फलतः, हमारी सशस्त्र सेना उपेक्षित ही रही, रूप एवं आकार में अपर्याप्त रही, भारत की सुरक्षा को चुनौती देने वाले तत्त्वों का मुकाबला करने में निर्वल रही और युद्ध की दृष्टि से तैयार न हो पाई। हमारी सेना के तैयार न होने का मुख्य कारण था—इस ओर हमारी सरकार की अनासक्ति प्रवृत्ति। उन्होंने (सत्तारूढ़ों ने) हमारी सशस्त्र सेना की जिम्मेदारियों के अनुरूप उसे शक्तिशाली बनाने का कोई अपेक्षित प्रयत्न नहीं किया। क्या उन्हें यह मालूम नहीं था कि निर्वल सेना का अर्थ है निर्वल देश जिसकी अखण्डता सदा आक्रान्ता की दया पर निर्भर होती है। उन्हें चाहिए था कि एक ओर तो वे लोगों को राजनीतिक स्थिति का निष्पक्ष मूल्यांकन करने का प्रशिक्षण देते तथा दूसरी ओर, किसी भी सैनिक संकट का सामना करने के लिए अपनी सशस्त्र सेना को सन्नद्ध करते। उन्होंने केवल भाषण देने एवं वक्तव्य प्रसारित करने में ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझी जिससे समस्या तो हल नहीं हो सकती थी। मैं अपनी पूरी जिम्मेदारी को समझते हुए तथा बिना किसी विद्वेष भाव के यह कहता हूँ कि पिछले पृष्ठों में मैंने जो वस्तुस्थिति चित्रांकित की है, उसके लिए तीन व्यक्तियों—नेहरू, कृष्ण मेनन और मोरारजी देसाई—को जिम्मेदार ठहराना चाहिए; नेहरू को इसलिए कि यह सब कुछ उनकी सरदारी (कप्तानी) में हुआ, कृष्ण मेनन को इसलिए कि उन्होंने देश की प्रतिरक्षा से सम्बन्धित विशिष्ट गम्भीर मामलों एवं स्थितियों को संभालने के लिए तेज गति से उपयुक्त कदम नहीं उठाए तथा मोरारजी देसाई को इसलिए कि उन्होंने जरूरी प्रतिरक्षात्मक अपेक्षाओं को पूरा करने के लिए पर्याप्त धन-राशि सुलभ नहीं कराई।

पाँच

अदृष्ट का खेल

मैंने कई वर्षों में कोई छुट्टी नहीं ली थी और उस समय मुझे आराम की बहुत सख्त जरूरत थी। साथ ही, डॉक्टरों ने अनुराधा को जिन कुछ समय पहले मन्निपात हो कर चुका था, जलवायु-परिवर्तन का परामर्श दिया था। इसलिए, मैंने ३ सितम्बर, १९६२ में दो महीने की छुट्टी मांगी। भापर ने तो अपनी सहमति दे दी किन्तु कृष्ण मेनन ने इस पर आपत्ति उठाई और व्यंग्यात्मक टिप्पणी लिखी कि जिन समय चीन एवं पाकिस्तान की घमकियाँ बहुत अधिक बढ़ गई थी, उन समय मुझे छुट्टी लेने की सूझी थी। इस व्यय की उस समय कोई आवश्यकता नहीं थी। उत्तर में मैंने छुट्टी लेने के दोनो उपरिलिखित कारण मेनन को लिख दिये और कहा कि जहाँ तक छुट्टी लेने के समय का

बा सक्ता था। इतना लिखने पर उन्होंने मेरी छुट्टी मंजूर कर दी। मेरे छिपुटी मंजर जनरल जे० एस० विल्लन को मेरी अनुपस्थिति में मेरे स्थान पर कार्यवाही भी० जी० एस० नियुक्त कर दिया गया। जित समय ३ सितम्बर को कश्मीर जाने में लिए मैं दिल्ली से चला, मुझे स्थान में भी यह पता न था कि इससे बाद उस पद पर मैं केवल एक दिन ही और काम कर पाऊँगा तथा नेत्र पर इतनी जल्दी सकट धा जाएगा।

कुछ दिन मैंने सपरिवार गुलभर्ग, पहलगाम, कुकरनाग तथा महरबन में बिताये। इसके अधिक आनन्द मुझे सायद ही किसी छुट्टी में घाया हो। भाषी छुट्टी बिताने के बाद मैंने एक-दो दिन के लिए दिल्ली घाने का कार्यक्रम बनाया और सोचा कि शेष छुट्टी बुलू में बिताऊँगा। फलतः, १ मन्सूबर को हम दिल्ली के लिए वायुयान में बैठ गए।

मेनन और नेहरू तब तक विदेश से लौट आए थे। नेत्र की बिगड़ती स्थिति को देख कर उन्होंने निर्णय किया कि मुझे प्रौरन बुला निसा जाए।

२ तारीख की शाम को थापर ने मुझे फ़ोन पर सूचित किया कि अगले दिन सुबह मुझे काम पर वापस पहुँच जाना था। ३ अक्टूबर की सुबह जब मैं ड्यूटी पर पहुँचा तो मेजर जनरल विल्लन ने मुझे मेरे पीछे घटी घटनाओं से परिचित कराया। बाद में, मैंने अनेक सरकारी सूत्रों से इन घटनाओं की सत्यता एवं क्रमबद्धता को स्थिर किया और इनके महत्त्व को देखते हुए मैं इन्हें यहाँ विस्तार से प्रस्तुत कर रहा हूँ। (नेफ़ा युद्ध के आलोचकों को चाहिए कि वे इन घटनाओं को काफी ध्यान से पढ़ें।)

८ सितम्बर

अपने उपेक्षित सीमान्त पर चीनियों के उपद्रव बढ़ जाने के कारण जून में हमने नेफ़ा में नामकाचू नदी के दक्षिण की ओर ढोला^१ पर अपनी सैनिक चौकी स्थापित की थी। (यह चौकी भारत, भूटान एवं तिब्बत के त्रिसंगम से ज्यादा दूर नहीं थीं।) ढोला थाग ला के दक्षिण में स्थित था। यह स्थान तोवांग के पश्चिम में लगभग साठ मील दूर था। हमारा सड़क मार्ग केवल तोवांग तक था जबकि चीनियों का सड़क मार्ग थाग ला के उत्तर में दस मील से भी कम दूरी पर स्थित ले नामक स्थान तक था।

ढोला के दक्षिणी भूखण्ड की अपेक्षा थाग ला का उत्तरी भूखण्ड अधिक समतल था। इसलिए, हमारे ढोला पहुँचने की तुलना में चीनियों के थाग ला पहुँचने में उन्हें अधिक सुभीता था। थाग ला के निकट ही उनकी काफ़ी सेना जमा थी जबकि हमें अपनी सेना काफी दूर से ढोला ले जानी थी।

६ पंजाब के कमांडिंग ऑफ़िसर, लेफ्टी० कर्नल मिश्रा को तोवांग के पश्चिम में स्थित लुम्पु पर अपराह्न (दोपहर बाद) ४ बजे ढोला की चौकी के कमाण्डर का संदेश मिला कि 'कुछ' चीनियों ने उनकी चौकी को घेर लिया था। चौकी के कमाण्डर को आदेश दिया गया कि वह मोर्चे पर डटे रहें तथा उनकी सहायता के लिए और सेना भेजी जा रही थी।

९ सितम्बर

६ पंजाब ने एक सैन्यदल (गश्ती टुकड़ी, पेट्रोल) को यह देखने के लिए भेजा कि चीनी ढोला के कितने निकट आ गए थे तथा कितनी संख्या में थे। पूर्वी कमान के मुख्यालय ने ७ ब्रिगेड को आदेश दिया कि वह अड़तालीस घण्टों के

१. आर्मी चीफ़ के अधीन तीन आर्मी कमाण्डर थे जो पूर्वी, पश्चिमी एवं दक्षिणी कमानों के इंचार्ज थे। ढोला नेफ़ा में था और नेफ़ा पूर्वी कमान में जिसके इंचार्ज अप्रैल १९६१ से लेफ्टी० जनरल सेन थे। लेफ्टी जनरल उमराव सिंह और मेजर जनरल निरंजन प्रसाद क्रमशः ३३ कोर एवं ४ डिवीजन के कमाण्डर थे तथा दोनों लेफ्टी० जनरल सेन के अधीन थे।

भ्रमर भागे बढ़ने की तैयारी गुरू कर दे और डोला को घेरने वाले चीनियों का मुकाबला करे।

जब ३३ कोर ने पूर्वी कमान के मुख्यालय से पूछा कि क्या इस स्थिति का मुकाबला करने के लिए १/६ गोरखा राइफल्स मिल सकती थी तो उसकी यह प्रार्थना यह कह कर ठुकरा दी गई कि यदि उस दिन इम बटालियन को भेजा गया तो उनके घातिक पर्व के समारोह में विघ्न पड़ेगा।

१० सितम्बर

दिल्ली में प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में एक बैठक हुई जिसका सभापतित्व कृष्ण मेनन ने किया। इस बैठक में थाग ला के दक्षिण में एब डोला के निकटवर्ती क्षेत्र में ८ सितम्बर को हुई चीनी पुसपैठ पर चर्चा हुई। आर्मी चीफ ने बतलाया कि एक इन्फैण्ट्री बटालियन को डोला की चौकी पर पहुँचने का आदेश दे दिया गया था।

११ सितम्बर

उपरिर्चित बटालियन (६ पजाव) ने नामकाचू नदी से (डोला के पास ही) के पुल नं० १^१ से संदेश भेजा कि चीनी पुल नं० २ से नामकाचू नदी पार कर के हमारी ओर आ गए ये और उस समय पुल नं० २ एब पुल नं० ३ के बीच में डोला की ओर बढ़ रहे थे। उसी दिन ७ ब्रिगेड ने ६ पजाव को आदेश दिया कि वह नदी के दक्षिणी ओर से कारपोला २ तथा सागधार नामक पहाड़ियों से दो संग्यदल डोला भेजे।

प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में हुई बैठक में पूर्वी कमान के जी० धो० सी०-एन-भो०, लेपटी० जनरल मेन ने बतलाया कि डोला के निकटवर्ती क्षेत्र में घुम आये चीनियों में (जिनकी सख्या लगभग ६०० थी) टक्कर लेने के लिए एक इन्फैण्ट्री ब्रिगेड (लगभग ३,००० आदमी) की आवश्यकता होगी और इसको डोला पहुँचने में लगभग दस दिन का समय लगेगा। उन्होंने यह सूचना भी दी कि उन्होंने पहले ही एक ब्रिगेड को इस लक्ष्यपूर्ति के लिए आगे बढ़ने का आदेश दे दिया था।

मेना मुख्यालय ने पूर्वी कमान से पूछा कि क्या उसे किसी अतिरिक्त सहायता की आवश्यकता थी। यह मुझे भालूम नहीं कि पूर्वी कमान ने कुछ सहायता माँगी या नहीं बस उस समय उसके पास अनेक चीजों की भयंकर रूप से कमी थी।

२. थाग ला-सांगली क्षेत्र में नामकाचू नदी के ऊपर कई पुल थे। पुल नं० १, २, ३, ४, सट्टो का पुल तथा पुल नं० ५ थे। डोला पुल नं० ३ के निकट था।

१२ सितम्बर

लेफटी० जनरल सेन लेफटी० जनरल उमराव सिंह एवं मेजर जनरल निरंजन प्रसाद से तेज़पुर में मिले और उन्हें बतलाया कि सरकार ने थाग ला पर्वतमाला के दक्षिण में स्थित ढोला भूखण्ड से चीनियों को खदेड़ देने का आदेश दिया था ।

तदनुरूप ४ डिवीजन ने ७ ब्रिगेड को आदेश दिया कि वह ९ पंजाब को लुम्पु में संकेन्द्रित (इकट्ठी, कन्संट्रेट) करे तथा ढोला चौकी को चीनियों के घेरे से मुक्त कराने के लिए तैयार रहे ।

३३ कोर के कमाण्डर लेफटी० जनरल उमराव सिंह तथा ४ डिवीजन के कमाण्डर मेजर जनरल निरंजन प्रसाद ने पूर्वी कमान के जी० ओ० सी० इन-सी० लेफटी० जनरल सेन को सूचना दी कि थाग ला पर्वतमाला के दक्षिण से चीनियों को हटा पाना उनके सैनिकों की सामर्थ्य के बाहर था । ढोला में हमारी तैयारी चीनियों की अपेक्षा नगण्य थी । सहायक सेना भेजने में हमारे सामने दो कठिनाइयाँ थीं—१. सैनिक दस्ते कम थे तथा २. सड़कें सीमित थीं । हमारे सैनिक दस्तों के पास राशन कम था तथा कोई रिज़र्व नहीं था । उस स्थान की भयंकर सर्दी को देखते हुए हमारे सैनिकों के पास कपड़े भी कम थे । हथियार भी हमारे पास कम थे तथा प्रतिरक्षा भण्डार तो कोई था ही नहीं । हमारे पास पर्याप्त गोलियाँ एवं तोपों के गोले भी नहीं थे । (नेफा में कमान सँभालने के एक सप्ताह बाद ११ अक्टूबर को जब ये ही कठिनाइयाँ मैंने नेहरू, मेनन एवं थापर के सामने रखीं तब बहुत देर हो चुकी थी क्योंकि इसके ६ दिन बाद ही चीनियों ने आक्रमण कर दिया था ।)

लेफटी० जनरल उमराव सिंह ने पूर्वी कमान को कहा कि थाग ला के दक्षिण से चीनियों को हटाने का हमारा प्रयत्न मात्र एक उतावलापन था । इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए अपेक्षित साधनों को जुटाने में उन्हें सम्पूर्ण तोवांग को अरक्षित छोड़ना पड़ेगा तथा नागालैण्ड से सैनिक बुलाने पड़ेंगे । उन्होंने यह भी कहा कि तोवांग हमारे लिए काफ़ी महत्वपूर्ण भूखण्ड था और ढोला की अपेक्षा इसका चीनियों के हाथ में पड़ना अधिक भयंकर सिद्ध होगा । (और बाद में हुआ भी यही ।)

१३ सितम्बर

एक बैठक में जनरल थापर ने मेनन को सूचना दी कि उस समय ढोला चौकी के पास (लगभग एक हजार गज़ दूर) केवल पचास-साठ चीनी थे, न कि ६०० जैसा कि दो दिन पहले लेफटी० जनरल सेन ने बतलाया था, इसलिए उन्होंने अभी कमाण्डर को निदेश कर दिया था कि वह सारे ब्रिगेड की प्रतीक्षा किये बिना चीनियों को वहाँ से खदेड़ दें ।

आगे बढ़ने और ढोला चौकी को मुक्त कराने के लिए ६ पत्राव लुम्पु पर स हुई। लेफ्टी० कर्नल मिथा ने ब्रिगेड से पूछा कि यदि ढोला जाते हुए स्टे में उनकी चीनियों से मुठभेड़ हो जाए तो वह क्या करें। इस पर ब्रिगेड उत्तर दिया कि इस सम्बन्ध में सरकार का आदेश यह था कि वह चीनियों को 'समझा-बुझा' (!) कर लौटा दें और गोली केवल आत्मरक्षा के लिए नई जाए और वह भी तब जब चीनियों में और उनमें पचास गज से भी म दूरी रह जाए। यह उस समय की घटना है जब मैं कहीं पास-पास भी हूँ या और इस आदेश से यापर का और मेरा कोई सम्बन्ध नहीं था।

१४ सितम्बर

धार्मी चीफ ने सरकार को स्पष्ट कह दिया कि गंगा की अनेक निर्बलताओं से देखते हुए यदि नेफा में कोई सशस्त्र कदम उठाया गया तो उमकी प्रतिश्रुति इरादा में होगी जिसका सामना करने के लिए भारतीय सेना ममवं नहीं थी। लेफ्टी० जनरल दीलतसिंह ने एक बैठक में जिसमें यापर और मेहन भी थे, बोर दे कर कहा कि यदि चीनियों ने लद्दाख में हम पर आक्रमण किया तो वे हमें मिटा कर रख देंगे (जैसा कि उन्होंने अक्टूबर-नवम्बर १९६२ में सचमुच कर दिया)। सेन ने तो इस बैठक में यहाँ तक कहा कि यदि चीनी अधिकारियों में नेफा में आ गए तो वह उनसे यहाँ भी टक्कर नहीं ले पाएँगे। (यदि हमारे उन एक-दो जनरलों ने जो भूटे साहस-प्रदर्शन के लिए प्रसिद्ध थे, दोनत की कहना और सहन परिणाम

को चिन्ता किन्हीं चीनियों को कम-से-कम एक स्थान पर मुँह की खिन्तानी चाहिए थी (जनमन को अपने पक्ष में करने के लिए ?)।

पूर्वी कमान के मुख्यालय से मिले आदेश के अनुसार ६ पत्राव लुम्पु से ढोला के लिए और में चार बजे चल पड़ी। सारे रास्ते भयंकर वर्षा होती रही। रात होते-होते यह वटालियन १५,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित लुम्पु सा के उस पार वाँस की बनी भोगड़ी तक पहुँच गई।

(८ सितम्बर ने १४ सितम्बर तक ढोला चौकी ने बराबर यह संदेश भिन्ता रहा कि उनके धारों और राधु ने घेरा डाला हुआ था।)

१५ सितम्बर

प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में एक बैठक हुई जिसमें यह निर्णय किया गया कि चीनियों को पान ला के पान ही रोक दिया जाए तथा यदि सम्भव हो तो धारों या और यान ला पर एक चौकी स्थापित कर दी जाए।

प्रातःकाल साढ़े आठ बजे ६ पंजाब पुल नं० २ पर पहुँच गई। वहाँ नदी के दोनों ओर चीनी खड़े थे और हिन्दी में चिल्ला रहे थे, 'तुम चले जाओ, यह जमीन हमारी है, हिन्दी चीनी भाई-भाई।' मिश्रा को आदेश था कि वह केवल आत्मरक्षा के लिए गोली चलाएँ और इधर ये चीनी थे जो गोली तो चला नहीं रहे थे, केवल रास्ता रोके खड़े थे। इसलिए मिश्रा ने एक कम्पनी तो इस पुल पर छोड़ दी और वह स्वयं रास्ता बदल कर ढोला के लिए चल पड़े। चीनियों ने इस सैन्यदल का पीछा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। वह दोपहर में एक बजे ढोला पहुँच गए। उस समय वहाँ नदी के उस ओर लगभग पचास चीनी थे। पुल नं० ३ को उन्होंने तोड़ दिया था जैसा कि सितम्बर को हमारे चीकी कमाण्डर ने सूचित^३ किया था। (चीनी थाग ला के दक्षिण में आ गए थे जो हमारी सीमा के भीतर था।) लेफ्टी० कर्नल मिश्रा ने इस सारी स्थिति से ७ ब्रिगेड को सूचित किया।

सेना मुख्यालय ने पूर्वी कमान को आदेश दिया कि ६ पंजाब ढोला के उत्तर पूर्व में एक हजार गज दूर स्थित चीनियों के मोर्चे को तोड़ दे और उन्हें थाग ला के दक्षिण में ही रोके रखे। ४ डिवीजन ने ३३ कोर को सूचित किया कि चीनियों की संख्या जो १३ सितम्बर को पचास-साठ पता चली थी, उस समय दो कम्पनी हो गई थी और इसलिए एक बटालियन द्वारा उन पर आक्रमण करना सम्भव नहीं था। इस सूचना की एक प्रतिलिपि सेना मुख्यालय को भी भेज दी।

१७ सितम्बर

प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में हुई बैठक में आर्मी कमाण्डर लेफ्टी० जनरल सेन ने कहा कि उन्हें एक ब्रिगेड के संकेन्द्रित करने में अब अधिक समय लगेगा (उनका पहले का दस दिन का अनुमान गलत निकला)। यह निर्णय किया गया कि उस क्षेत्र में प्रतिरक्षात्मक सैन्यदल गश्त करता रहे तथा चीनियों के छोटे-मोटे क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया जाए और थाग ला के दक्षिणी भूखण्ड पर अपना प्रभुत्व बना रहे।

लेफ्टी० कर्नल मिश्रा को सेना मुख्यालय से सीधा आदेश मिला कि उनकी बटालियन को १६ सितम्बर तक थाग ला, याम ला और कारपो ला २ पर अधिकार कर लेना था। मेजर जनरल निरंजन प्रसाद ने ३३ कोर से शिकायत की कि उनकी कमान के अधीन एक बटालियन को दिल्ली से सीधा आदेश देना असंगत था। उधर मिश्रा के सैनिकों को इस ऊँचे क्षेत्र में ६ दिनों से भरपेट भोजन भी नहीं मिला था, उनके पास हथियारों, कुलियों एवं टट्टुओं

३. द्रष्टव्य : ८ सितम्बर के नीचे दी गई टिप्पणी।

ने बहुत सख्त कमी थी। उसी रात मिथा को अपने त्रिगेड से आदेश मिला कि वह दिल्ली से मिले आदेश को अमान्य समझे। युद्ध-स्थल में इस प्रकार के आदेश-प्रत्यादेश काफ़ी उत्तमन में ढाल देते हैं।

15 सितम्बर

इस तारीख के आस-पास प्रतिरक्षा मंत्री, वित्त मंत्री, एवं प्रधान मंत्री भिन्न-भिन्न उद्देश्यों से विदेश चले गए। एक बरिष्ठ सिविल सेवक ने दिल्ली में आयोजित पत्रकार सम्मेलन में कहा कि मेना को यह आदेश दे दिया गया था कि वह चीनियों को नेक्रा से निकाल बाहर करे (बिना यह सोच-विचारे कि मेना के पास ऐसा करने की सामर्थ्य थी भी या नहीं)। क्या उन सिविल सेवक महोदय का कहने का अभिप्राय यह था कि तत्काल विपम स्थिति के लिए सरकार नहीं, सेना जिम्मेदार थी? (सच पूछा जाए तो उन्हें इस गोपनीय विषय पर कोई नावैजैनिक वक्तव्य देना ही नहीं चाहिए था।) इस तारीख तक याग ला के दक्षिण में चीनियों की एक पूरी बटालियन सकेन्द्रित हो चुकी थी।

२० सितम्बर

प्रतिरक्षा मंत्री के कमरे में हुई बैठक में आर्मी चीफ ने सूचना दी कि दूसरी इन्फ़ण्ट्री बटालियन २४ तारीख तक ढोला पहुँच जाएगी और तीसरी बटालियन २६ तक। इस प्रकार २६ सितम्बर तक वहाँ एक त्रिगेड सकेन्द्रित हो जाएगा।

त्रिगेडियर दालवी ढोला गए और उसी दिन प्रातःकाल दस बजे पुल नं० २ पर लौट आए। वहाँ उन्होंने मिथा से विचार-विमर्श किया कि याग ला क्षेत्र पर किस प्रकार अधिकार किया जा सकता था। अन्त में दोनों ने यह निष्कर्ष निकाला कि एक बटालियन से यह कार्य सम्पन्न नहीं किया जा सकता था और वह भी तब जब कि बटालियन के पास न पुरे हथियार थे, न अन्य युद्ध-सामग्री पर्याप्त मात्रा में थी और न ही साध-सामग्री पूरी थी।

उसी दिन रात को १० बज कर ४० मिनट पर एक चीनी प्रहरी ने हमारी ओर एक हथगोला फेंका जिससे हमारे तीन आदमी घायल हो गए। एक घायल ने अपनी छोटी मशीनगन का मुँह शत्रु की ओर कर दिया जिसके उत्तर में उधर से भी गोलियाँ आईं। इस सत्राम में गोलियों की आवाज पहली बार घब सुनाई दी थी। ६ पंजाब ने त्रिगेड के माध्यम से मिले डिबीजन

४. चार सप्ताह बाद नेहरू ने भी ऐसा ही वक्तव्य दिया था। (पृष्ठ ३३३ देखिए)। क्या ये वक्तव्य केवल जनता के लिए थे ?

के आदेशानुसार हिन्दी में चीनियों से कहा कि वे अपने मृतकों के शवों को उठा कर ले जाएँ और इस बीच उन पर कोई प्रहार नहीं किया जाएगा। दिन में चीनियों की ओर ने कोई उत्तर नहीं मिला किन्तु २१-२२ की रात को चीनियों ने चिल्ला कर कहा कि वे अपने शवों को लेने आ रहे थे। ६ पंजाव ने स्वीकृति दे दी। आने ने पहले चीनी चिल्लाये, 'हम आ रहे हैं, गोली मत चलाना।' हमने अपने वचन का पालन किया और गोली नहीं चलाई। इस मुठभेड़ से पहले, १६ सितम्बर से २० सितम्बर तक, चीनी नियमित रूप से हमें कहते रहे, 'हिन्दी चीनी भाई-भाई। यह ज़मीन हमारी है। तुम वापस जाओ।'

२१ तारीख को दालवी ने अपना ब्रिगेड मुख्यालय लुम्पु में स्थापित करने का निर्णय किया जहाँ से दो दिन में ढोला पहुँचा जा सकता था।

२१ सितम्बर

पुल नं० २ पर पड़ी ६ पंजाव बटालियन के लिए लुम्पु से ब्रिगेड ने ४० सैनिक दस्तों के द्वारा ४०-४० पौण्ड राशन भेजा। सामान्यतः इस रास्ते को पूरा करने में डेढ़ दिन लगता है, जबकि ये दस्ते तीन दिन में वहाँ पहुँचे। जब ये पुल नं० २ पर पहुँचे तो इनके पास राशन नाम की कोई चीज़ नहीं थी। या तो ये रास्ते में सारा राशन खा गए या इन्होंने भार उठाने से बचने के लिए उसे रास्ते में कहीं फेंक दिया।

२२ सितम्बर

इस समय मेनन संयुक्त राष्ट्र संघ में थे। कार्यवाही प्रतिरक्षा मन्त्री रघुरमैया के कमरे में बैठक हुई जिसमें ढोला में उठाये जाने वाले कदम के परिणामों पर विचार-विमर्श किया गया। आर्मी चीफ़ ने बतलाया कि प्राप्त समाचारों के अनुसार उस समय चीनियों की सेना की अनुमानित स्थिति इस प्रकार थी—एक कम्पनी सांगली (ढोला के निकट) पर, एक कम्पनी ढोला के उत्तर-पूर्व में तथा एक कम्पनी थाग ला दर्रे के निकट। आर्मी चीफ़ ने कहा कि हमारे इस कदम की प्रतिक्रियास्वरूप चीनी ढोला में अपनी सैनिक-शक्ति बढ़ा देंगे, नेफ़ा में कहीं और हम पर प्रत्याक्रमण कर देंगे या लद्दाख में हम पर आक्रमण कर देंगे। विचार-विमर्श के बाद सरकार ने निर्णय किया कि उस समय ढोला से चीनियों को निकाल बाहर करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं था। इस पर आर्मी चीफ़ ने कहा कि ढोला क्षेत्र से चीनियों को खदेड़ने के लिए उन्हें लिखित आदेश दिया जाए जो उन्हें तुरन्त मिल गया। (लिखित आदेश उन्होंने इसलिए माँगा था कि ढोला से चीनियों को खदेड़ने के कदम के भयंकर परिणामों को देखते हुए भी उन्हें यह प्रतिकूल कदम उठाने को कहा जा रहा था।)

२२ गिनम्बर से २६ सितम्बर

इस अवधि में रक-रक कर गोलियाँ खनती रही। २२ की शाम को चीनियों ने पुत्र नं० २ पर हमारे घासियों पर स्वपानित हथियारों का प्रयोग किया और हमारे तीन घासियों को पायल कर दिया। २६ तारीख को भोर-पूर्व २ बजे हमने घासों तीन इंच छोटी तोपों का पहली बार उपयोग किया। इस पर चीनियों की गोलियाँ रुक गईं। प्रगते दिन हमने चीनियों को चौदह घब बघाएँ एवं कुछ घासियों को ले जाने देगा।

४ डिब्रीजन के कमाण्डर मेजर जनरल निरजन प्रसाद २४ तारीख को लुम्पु पहुँचे। वह २६ तारीख को शोला जाना चाहते थे किन्तु उन्हें आदेश मिला कि वह वहाँ कोर कमाण्डर की प्रतीक्षा करें जो २७ को वहाँ पहुँचने वाले थे। लेफ्टी० जनरल उमरावसिंह ने मेजर जनरल निरजन प्रसाद को सगरा का वह निर्णय फिर (एक बार) बतलाया कि चीनियों को जल्दी-से-जल्दी शोला में गढ़ेड़ देना चाहिए था। जब तेजपुर में कोर एवं डिब्रीजन के कमाण्डरों ने घासों कमाण्डर (लेफ्टी० जनरल सेन) के समक्ष व्यह-रचना सम्बन्धी कुछ बर्तनाशर्तों प्रस्तुत कीं तो उन्होंने उम पर कोई ध्यान न दिया।

२६ तारीख को २ राजपूत की एक कम्पनी पुल नं० १ पर पहुँच गई त्रिगुनी कमान ६ पजाय को दे दी गई। २ राजपूत का शेष भाग और १/६ गोगगा राक्षस सभी लुम्पु में ही थे घासों शोला में दो सोपान (स्टेज) पीछे।

२६ गिनम्बर को एक सैन्यदल नामकाचु नदी के उत्तर में सांगली की ओर भेजा गया त्रिगुने २ घक्खूरर को लौट कर सूचना दी कि पुल नं० ५ के पान नामकाचु नदी के किनारे ओर भी चीनियों का कोई चिह्न नहीं था।

२० नितम्बर

प्रतिरक्षा मंत्री के कमरे में बैठक हुई जिसमें लेफ्टी० जनरल तीन से मिली सूचना के आधार पर घासों चीफ ने बतलाया कि बाग सा क्षेत्र में डोला चौकी पर चीनियों की एक बटालियन थी। उन्होंने यह भी कहा कि हमारी तीन बटालियनों में से पर पहुँच चुकी थी (जबकि अभी दो बटालियनों तो डोला से बहुत पीछे थी।)

५. २९ सितम्बर को ७ त्रिगोड के कमाण्डर (त्रिगोडियर दालवी) ने ४ डिब्रीजन के मुख्यालय के सामने दो बार्से रसी थीं—(अ) वह पाँच नम्बर पुल को धर कर क सांगली तक मोर्चाबन्दी करना चाहते थे और नामकाचु नदी के उत्तर में स्थित मुकतर और सिगजांग पर अधिकार करना चाहते थे तथा (ब) काफ़ी जंघाई पर संकेंद्रित करने से पहले हमें अपने सेनिकों को उस जलवायु का अभ्यस्त बनाना चाहिए।

प्रतिरक्षा मन्त्री ने कहा कि सरकार की नीति यह थी कि इससे पहले कि सर्वियों के कारण दोनों ओर की हलचल कुछ समय के लिए शान्त हो, चीनियों को एक सबक सिखा देना चाहिए था। (क्या यह कड़ा रख मेनन ने इसलिए अपनाया था क्योंकि वह समय-समय पर सार्वजनिक रूप से इस अभिप्राय के वक्तव्य देते रहे थे कि भारत प्रत्येक आक्रमण का मुँह-तोड़ उत्तर देने में समर्थ था या जनता को प्रसन्न करने के लिए यह एक द्विअर्थक राजनीतिक कथन था या यह भूटे साहस का एक प्रदर्शन मात्र था ?)

इस तारीख को लेफ्टी० जनरल उमरावसिंह ने लेफ्टी० जनरल सेन को लिखा :

- (अ) आक्रामक व्यूह-रचना की दृष्टि से सांगधर को केन्द्र माना जाए और वहाँ कम-से-कम ५५० टन हथियार एवं अन्य युद्ध-सामग्री पहुँचा दी जाए।
- (आ) नामकाचू घाटी बड़ी ऊबड़-खावड़ एवं तंग थी जिसमें सघन वन एवं खड़े ढलानों का प्राचुर्य था। यह नदी बहुत बड़ी बाधा थी। व्यूह-रचना के लिए पूरा स्थान नहीं था। इन सब बातों को देखते हुए थाग ला दर्रे पर सीधा आक्रमण करना घातक था।
- (इ) हमारा पथप्रदर्शन सैन्यदल (सफ़रमैना) व्यर्थ सिद्ध हुआ था।
- (ई) इस क्षेत्र (ढोला से बहुत इधर) में उपलब्ध गैर-सैनिक कुलियों की संख्या तीन सौ से पाँच सौ तक थी जबकि हमें बहुत ज्यादा कुलियों की आवश्यकता थी। इसलिए लुम्पु से सांगधर तक युद्ध-सामग्री एवं खाद्य-सामग्री पहुँचाना भूमि मार्ग से सम्भव नहीं था।
- (उ) शवों को एवं घायलों को हटाना एक बहुत बड़ी समस्या होगी।

१ अक्टूबर

७ ब्रिगेड ने ९ पंजाब को आदेश दिया कि वह पुल नं० ४ एवं पुल नं० ५ के बीच में नदी पार करने का उपयुक्त स्थल खोजे। (यह घटना मेरे ४ कोर की कमान सँभालने से तीन दिन पहले की है।) ९ पंजाब के मेजर चौधरी ने, जिन्हें इस काम के लिए भेजा गया था, सूचना दी कि पुल नं० ४ के उस ओर एक भी चीनी नहीं था। उन्होंने यह सूचना भी दी कि पिछले कुछ दिनों से वर्षा न होने के कारण नदी में पानी कम था तथा उसका बहाव भी धीमा था। उनके विचार के अनुसार किसी भी स्थान पर नदी पर लठ्ठों का पुल तुरन्त बनाया जा सकता था क्योंकि नदी के दोनों ओर वृक्षों की कोई कमी नहीं थी।

२ अक्टूबर

प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में हुई बैठक में लेफ्टी० जनरल सेन ने इसकी पुष्टि की कि प्रमुख अधिकारियों एवं पर्वतीय तोपों को छोड़ कर शेष ७ ब्रिगेड बिल्कुल आगे मोर्चे पर पहुँच गया था। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि शायद उनकी ब्यूह-रचना (युद्ध की तैयारी) १० अक्टूबर तक भी पूरी न हो पाए। (पहले उनका विचार था कि वह युद्ध की तैयारी २१ सितम्बर तक पूरी कर लेंगे, फिर कहा कि २६ सितम्बर तक कर लेंगे और अब फरमा रहे थे कि शायद १० अक्टूबर तक भी न हो पाए।) प्रतिरक्षा मन्त्री ने पूछा कि जब हमारी सूचना के अनुसार सागली में कोई चीनी नहीं था, तब हमने अभी तक उस क्षेत्र पर अपना अधिकार क्यों नहीं किया था। उत्तर में लेफ्टी० जनरल सेन ने कहा कि उन्होंने तो कुछ दिन पहले इस आशय का निश्चित आदेश कोर कमाण्डर, लेफ्टी० जनरल उमरावासिंह को दे दिया था किन्तु उन्होंने ऐसा न करने का परामर्श देते हुए दो कारण सुभाये थे—प्रथम, युद्ध की दृष्टि में इस स्थान का कोई विशेष महत्त्व नहीं था तथा द्वितीय, अभी ऐसा कदम उठाने से चीनियों को हमारी योजना का पूर्वाभास (पहले ज्ञान) हो जाएगा। लेफ्टी० जनरल उमरावासिंह ने लेफ्टी० जनरल सेन को लिख कर कहा कि आर्मी कमाण्डर होने के नाते उन्हें (सेन को) यह तो अधिकार था कि वह सेना को किसी भी मोर्चे पर भेजने का आदेश दें किन्तु सेना की सत्या आदि के विषय में निश्चय करने का उन्हें अधिकार नहीं था। (ऐसा सेन ने किया था।) दूसरे शब्दों में लेफ्टी० जनरल उमरावासिंह का कहना था कि लेफ्टी० जनरल सेन उनकी कमान में अनुचित रूप में टांग अड़ा रहे थे। लेफ्टी० जनरल सेन ने यह सारी बात इस बैठक में दुहराई और प्रतिरक्षा मन्त्री की उपस्थिति में कहा कि उन्होंने कोर कमान के परामर्श को ठुकरा कर उसे आदेश दिया था कि वह सागली पर अविलम्ब अधिकार कर ले। (जनरल थापर और लेफ्टी० जनरल सेन ने लेफ्टी० जनरल उमरावासिंह का वहाँ से स्थानान्तरण करने का निर्णय किया क्योंकि उनकी लेफ्टी० जनरल सेन से बन नहीं रही थी।)

उस दिन जनरल थापर लेफ्टी० जनरल सेन के साथ प्रधान मन्त्री नेहरू से मिले। उन्होंने प्रधान मन्त्री को सूचित किया कि चीनियों के विरुद्ध हम पहली बार सेना का उपयोग करने जा रहे थे और यद्यपि हम यह काम सत्कार्य के लिए कर रहे थे किन्तु इसकी प्रतिक्रिया बहुत गम्भीर होगी। नेहरू ने कहा कि उन्हें इस बात का पूरा विश्वास था कि चीनी हमारे विरुद्ध कोई गम्भीर कदम नहीं उठाएंगे और ऐसा विश्वास करने के लिए उनके पास कई ठोस कारण थे। २ अक्टूबर १९६२ तक भी नेहरू का (और कृष्ण मेनन का भी) यही विश्वास था।

३ अक्टूबर

लुट्टी से बीच में बुला लिये जाने पर मैंने ३ अक्टूबर को चीफ ऑफ़ जनरल स्टाफ़ का पद पुनः सँभाल लिया। उस दिन रात में सरकार ने एवं आर्मी चीफ़ जनरल पी० एन० थापर ने एक नयी (४) कोर बनाने का और मुझे उसका कमाण्डर नियुक्त करने का निर्णय किया। मुझे इस निर्णय की सूचना आर्मी चीफ़ ने अपने घर बुला कर रात को नौ बजे दी। उन्होंने मुझे बताया कि यह नयी कोर केवल चीनियों के उपद्रवों का मुकाबला करने के लिए गठित की जा रही थी जबकि लेफ्टी० जनरल उमरावासिंह के अधीन ३३ कोर पाकिस्तानी उपद्रवों का एवं नागालैण्ड का ध्यान रखेगी। मेरे अधीन इस कोर में उस समय केवल ६,००० आदमी अर्थात् दो (५ और ७) ब्रिगेड होंगे और एक तीसरे ब्रिगेड की वाद में आने की सम्भावना थी जबकि सामान्यतः एक कोर में ६ से ले कर १२ ब्रिगेड तक होते हैं। उस समय ये ब्रिगेड ४ डिवीजन में थे। साथ ही एक और डिवीजन गठित कर के मुझे दिया जाने वाला था। शेष कमी वाद में पूरी की जाएगी। कुछ कमी पूरी तो हुई किन्तु बहुत वाद में। नेफ़ा में ३६० मील लम्बी सीमा की ज़िम्मेदारी मुझे सौंप दी गई। (जबकि द्वितीय विश्व युद्ध में एक समय ७०० मील वर्मा सीमा के लिए १४वें आर्मी कमाण्डर फ़्रील्ड मार्शल स्लिम के पास अठारह डिवीजन थे।) थापर ने मुझे आश्वासन दिया कि अपनी लम्बी-चौड़ी सीमा को देखते हुए है तो कठिन किन्तु वह मेरी कोर को यथाशीघ्र गठित करने का प्रयत्न करेंगे। मेहनत और थापर, दोनों ने मुझे कहा कि मेरा काम डोला-थाग ला क्षेत्र की चीनियों से खाली कराना था।

अपनी सामान्य इन्फ़ैण्ट्री सेना के साथ-साथ एक कोर में काफी तोपखाना होना चाहिए, पर्याप्त संख्या में इंजिनियर होने चाहिए तथा परिवहन एवं पूति के पूरे साधन-स्रोत होने चाहिए। इसमें काफी स्टॉफ़ होना चाहिए एवं संचार का पूरा प्रबन्ध होना चाहिए ताकि इसकी समस्त गतिविधियों को समन्वित किया जा सके। ४ कोर का कमाण्डर नियुक्त होते समय मेरे पास इनमें से कोई सुविधा नहीं थी अपितु 'ये सब धीरे-धीरे जुटाई जाने वाली थीं'। व्यवहार में एक कोर तभी कार्य कर सकती है जब ये सब साधन उसके पास हों और ये सब साधन पन्द्रह दिन में नहीं जुटाये जा सकते। सामान्यतः इस काम

६. समाचार-पत्रिका 'दि टाइम' ने १९ अक्टूबर १९६२ को लिखा, '१५ दिन पहले नेहरू ने लेफ्टी० जनरल कोल को चीनी घुसपैठियों के विरुद्ध अपनी सांग्रामिक कार्रवाई को सशक्त बनाने के लिए गठित की गई एक विशेष सैन्यदल का कमाण्डर नियुक्त किया था। सेण्डहस्ट के एक मेधावी स्नातक.....कोल का काम फा में भारतीय सीमान्त को स्वतन्त्र कराना था।'

ने ६ महीने या एक वर्ष का समय लगता है जब जा कर वहीं कोर मुख्यालय
 बने वाणिज्यिक एवं प्रशासनिक कार्यों का पूरा प्रतिक्षण में जाता है। इसके
 बाद जब वैदिक युनिट गुप्त हो जाते हैं तो उन्हें मुक्त से योग्य स्थानों में ६
 महीने के लिए एक वर्ष तक का समय छोड़ लगाया है। (यह बात ध्यातव्य है
 कि १९१५ में हुए भारत-ताक संघर्ष में त्रिग दो लोगों ने भाग लिया था, वे
 दोनों कई बरों पहले गठित हुई थी तथा उन्हें अपनी नागरिक भूमिका का
 भारी प्रतिक्षण दिया गया था।) जबकि मुझे त्रिग कोर को कमान दी गई
 थी, उपरान्त अपनी कर्तव्य धारण नहीं था तथा अभी मुख्यालय की उमका गठन
 करता था। मुझे आज यह भी याद रही थी कि मैं कोर पत्रकार दिग्दर्शन
 कोर मुक्त मुक्त-स्थान में बूढ़ बहू। कोर दम समय जब भारत के सामने सकट
 बूढ़ बने परा था, मैं इन बाधाओं को ले कर कोई धारणा भी नहीं उठाना
 चाहता था। इसलिए मैंने भगवान् का नाम ले कर अपने शीघ्र एवं अपर्याप्त
 धारणों में ही उस विषय एवं भ्रंकर स्थिति का सामाना करने का फैसला
 किया।

पार ने मुझे कहा कि यदि किसी कारणवश मैं इन नयी नियुक्ति को
 स्वीकार नहीं करना चाहता था तो मैं उनमें स्वयं कहूँ कोर उनका सी०
 यो० एम० बना रहूँ। मैंने उन्हें उत्तर दिया कि यह तो मेरे लिए योग्य की
 बात थी कि मुझे मुक्त-भोज में कमान करने का सुप्रसन्न दिया गया था और
 फिर स्थिति की विषमता को देखते हुए मैं मना भी कैसे कर सकता था।
 पार ने मुझे हाथ मिलाया और मेरी सकलता के लिए शुभ कामनाएँ प्रकट
 कीं। उनके बाद उन्होंने मुझे प्रतिरक्षा मन्त्री में नियुक्ति का परामर्श दिया।

रा में मेहनत में मिला तो उन्होंने मुझे आश्वासन दिया कि आगामी
 वर्ष में वह मेरी पूरी-पूरी सहायता करेंगे। तब उन्होंने मुझे प्रधान मन्त्री
 में नियुक्ति का परामर्श दिया। उस रात को लगभग साढ़े दस बजे मैं नेहरू से
 उनके घर पर मिला। उन्होंने मस्तेह मेरा स्वागत किया और पूछा कि नेत्रा
 आज मुझे कैसा लग रहा था। मैंने उत्तर दिया कि यद्यपि दस काम के लिए
 पूरे जाने पर मुझे गौरव का अनुभव हो रहा था किन्तु भय केवल यही था
 कि हम अपनी अनेक निर्दोषताओं के साथ चीनियों से टक्कर लेने जा रहे थे।
 नेहरू ने कहा कि भारत ने तो चीन से मित्रता बनाए रखने में कोई कसर
 छोड़ी नहीं थी और वह तो आपसी मनमूढाव को दाल्निपूर्वक सुलभाना
 चाहता था किन्तु उसके सारे प्रयत्न निष्फल हो गए थे। आगे उन्होंने यह भी
 कहा कि अपने परराष्ट्र मन्त्रालय के कुछ परामर्शदाताओं की इस बात से
 वह सहमत थे कि हम अपनी सीमा में चीनियों की घुसपैठ को बहुत समय से
 ध्यान करने आ रहे थे और अब यह क्षण आ गया था जबकि हमें बिना परि-

गाम की चिन्ता किए कोई सख्त कदम उठाना चाहिए था।^१ उनका विचार था कि चीनी ढोला पर कब्जा करके नेफ्रा पर अपना दावा सिद्ध करना चाहते थे, इसलिए हमें अपनी पूरी शक्ति से उनके इस दावे का खण्डन करना था। उन्हें आशा थी कि चीनी सद्बुद्धि से काम लेंगे और ढोला से हट जाएँगे किन्तु यदि उन्होंने ऐसा नहीं किया तो उनको बक्के मार कर अपनी सीमा से बाहर निकालने के अतिरिक्त हमारे पास कोई और चारा नहीं रहेगा। नेहरू ने कहा कि यदि हम ऐसा कदम उठाने से चूक गए तो जनता का सरकार से विश्वास उठ जाएगा। नेहरू ने तब मेरे प्रति शुभ कामनाएँ प्रकट कीं और कहा कि इससे सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण घटनाओं से मैं उन्हें परिचित कराता रहूँ।

नेहरू और उनकी सरकार तत्कालीन उत्तेजित जनमत से बहुत चिन्तित थे। यदि ऐसी बात न होती तो हमारी सरकार को ढोला से कोई विशेष लगाव नहीं था, पहले भी दर्जनों स्थानों पर चीनियों ने घुसपैठ की थी और ढोला में घुसपैठ कोई नयी या विशेष घटना नहीं थी। परराष्ट्र मन्त्रालय के तथा बाहर के जिन लोगों ने हमारे निर्बल होने पर भी यह कदम उठाने का नेहरू को परामर्श दिया था, उन्हें भी इसके परिणाम की जिम्मेदारी स्वीकार करनी चाहिए।

(यह मैं जानता हूँ कि नेहरू भी उसी शान्ति को बनाए रखने के लिए चीन से मित्रता निवाहने का प्रयत्न कर रहे थे जिसके लिए जनवरी १९६६ में शास्त्री ने ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर किए थे। इसमें भारत और पाक, दोनों को ही कई मामलों पर झुकना पड़ा था। इस विडम्बना को क्या कहा जाए कि शास्त्री को तो शान्ति-दूत की संज्ञा मिली और नेहरू की आलोचना की गई। अन्तर यह है कि कांग्रेस सिण्डिकेट एवं प्रतिपक्ष, दोनों की नेहरू के प्रति कोई सहानुभूति नहीं बची थी जबकि शास्त्री को उनकी व्यवहार-कुशलता एवं उनके विनम्र स्वभाव के कारण उनको सबकी सहानुभूति प्राप्त थी।)

उदाहरण के लिए, जब १९६२ में चीनी नेफ्रा में थाग ला के पास हमारी सीमा में घुस आए थे तो सारे देश ने नेहरू (और मेनन) पर सजग न रहने का आरोप लगाया था। किन्तु जब १९६५ में वे ही चीनी थाग ला पार कर के हमारी सीमा में हाथुंग ला तक पहुँच गए अर्थात् १९६२ की अपेक्षा तीन मील और भीतर तक घुस आए जबकि इस समय हमारी सशस्त्र सेना पहले से कहीं ज्यादा शक्तिशाली थी, तो भी शास्त्री (या चह्वाण) के ऊपर एक उँगली तक नहीं उठी क्योंकि उन्होंने संसद् तथा प्रेस के आलोचक-स्वरों को बड़े व्यवस्थित रूप से सन्तुष्ट कर दिया था।

मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि यदि कुछ राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों ने नेहरू को अधिक नहीं कहा-सुना होता जैसा कि वे १९५९ से करते आ रहे थे और

७. जो कुछ अब नेहरू ने कहा, यह उनके पहले विश्वास के बिल्कुल

का ध्यान रखा होता कि बिना सेना को शक्तिशाली बनाए इस प्रकार का एक उठाने के लिए नेहरू को विवश करना हानिकारक सिद्ध होगा और एक को झकेला छोड़ दिया होता तो भारत और चीन की मुठभेड़ १९६२ में ही, कभी इसके बाद हुई होती। यदि यह मुठभेड़ कुछ वर्षों बाद होती तो भारत की स्थिति कुछ अधिक सबल होती और वह अधिक शक्ति एवं सम्पत्ति से चीनियों का सामना कर पाता। किन्तु जहाँ तक मेरा विचार है, न समय किसी ने यह अनुभव नहीं किया कि उनका आवेश में आ कर इस तरह का कदम उठाना भारत के लिए कितना हानिप्रद सिद्ध होगा।

अर्द्ध रात्रि के लगभग घर लौटा। क्योंकि मुझे अपनी नयी कमान संभालने के लिए अगले दिन प्रातःकाल नैफा जाना था, इसलिए मैंने दोप घण्टों में अपना सामान ठीक करने का निश्चय किया। अभी न तो मुझे इस नयी कमान में कुछ स्टाफ़ मिला था और न ही लेजपुर में कोई प्रतीक्षा कर रहा था, इसलिए मैंने सोचा कि एकदम नयी कोर के ऑफिसरों की अपेक्षा मैं अपने कुछ स्वस्त ऑफिसरों को अपने साथ लेता जाऊँ। (यद्यपि ३३ कोर से मुझे कुछ ऑफिसर उधार मिल सकते थे किन्तु वे मेरे लिए अपरिचित होते।) आर्मी ऑफ़िसरों की अनुमति ले कर और सैनिक सहचारी मेजर जनरल मोती सागर की सहायता लेकर मैंने कुछ ऑफिसर अपने साथ ले जाने के लिए चुन लिये। इन ऑफिसरों की रात के धारह एवं दो के बीच सूचित किया गया कि कुछ घण्टे बाद उन्हें मेरे साथ नैफा जाना था। जब तक मैंने अपनी तैयारी पूरी की, तब तक भोर की तालिमा फँस चुकी थी।

४ प्रसन्नता

जल्दी से मैंने कुछ नाश्ता किया और अपने परिवार तथा मिलने वालों से विदा ले कर मैं पालम से अपने गन्तव्य की ओर चल पड़ा।

दोपहर बाद मैं लेजपुर पहुँचा। लेपटी० जनरल सेन और लेपटी० जनरल उमरावासिंह ने हवाई घड़ों पर मेरा स्वागत किया तथा हम सब कार से अर्बिट हाउस पहुँचे जहाँ हम रात व्यतीत करनी थी। अब तक नैफा की सुरक्षा लेपटी० जनरल उमरावासिंह के कर्तव्यों पर थी। उनके सीमित साधनों को देखते हुए उनके पास जो क्षेत्र था, वह बहुत अधिक था।

५. किन्तु जब इसी प्रकार की घुसपैठ शास्त्री के शासन में हुई तो उन्होंने पालमशाखाओं में वकालत की कि भारत को जल्दी में कोई गलत कदम नहीं उठाना चाहिए। मैं समझता हूँ कि अब वे अधिक गम्भीर मन-स्थिति में थे।

कोर कमाण्डर का पद संभालने पर मेरे पास सेना के नाम पर ४ डिवीजन थी जिसमें भी एक ब्रिगेड कम था। (एक कोर में तीन या चार डिवीजन तक हो सकते हैं जैसा कि १९६५ में भारत-पाक संघर्ष के समय था।) न मेरे पास पर्याप्त तोपखाना था, न वायु सेना की सहायता थी, कुछ टूटे-फूटे टैंकों को छोड़ कर कोई बक्तरवन्द गाड़ी नहीं थी और रक्षा करनी थी मुझे इस विशाल क्षेत्र की जिसकी व्यूह-रचना भी मेरे प्रतिकूल थी। तेजपुर पहुँचते ही मैंने लेफटी० जनरल सेन तथा लेफटी० जनरल उमरावसिंह से इस सम्बन्ध में बातचीत की। मुझे उनसे पता चला कि अभी तक ७ ब्रिगेड ही ढोला क्षेत्र में पहुँच सका था। प्रतिरक्षा मन्त्री के कमरे में लेफटी० जनरल ने कहा था कि २६ सितम्बर तक हमारी तीन बटालियनें आगे मोर्चे पर पहुँच चुकी थीं जबकि वास्तविकता यह थी कि अभी ४ अक्टूबर को भी केवल एक बटालियन तथा कुछ सैनिक ही ढोला पहुँच पाये थे, शेष सेना ढोला से पन्द्रह मील इधर लुम्पु में थी। अभी तक पूरी मोर्चाबन्दी भी नहीं हो पाई थी क्योंकि पूरी संख्या में कुली नहीं मिल पाये थे और इस पर्वतीय प्रदेश में सामान लाने-ले जाने का काम केवल कुलियों द्वारा ही सम्भव था। इसलिए मैंने सीमान्त सड़क संगठन से एक हजार कुली पकड़ लिये और सरकार को इसकी सूचना दे दी। साथ ही मैंने कुछ अन्य आवश्यक कदम भी उठाये जिससे यह विश्वास हुआ कि ६ अक्टूबर तक सारा ७ ब्रिगेड ढोला पहुँच जाएगा। सेना को शीघ्रता-शीघ्र ढोला में संकेन्द्रित करने के मेरे पास निम्नलिखित कारण थे :

(अ) यदि हम अनेक असमानताओं (अपने एवं चीनियों के बीच में) के वाद भी चीनियों को ढोला क्षेत्र से निकाल बाहर करना चाहते थे तो हमारी सेना को उनसे पहले उस क्षेत्र में मोर्चाबन्दी कर लेनी चाहिए।

(आ) यदि हमने इस काम में देर की तो फिर ढोला में वर्ष पड़नी शुरू हो जाएगी और हम वहाँ नहीं पहुँच पाएँगे।

कुछ लोगों ने आरोप लगाया था कि मैं सरकार को सीधी सूचनाएँ भेजता था, यह आरोप निराधार है। मैंने कभी कोई बातचीत सीधे सरकार से नहीं की। मैं अपने सब सन्देश आर्मी कमाण्डर लेफटी० जनरल सेन को भेजता था (और वे ही सन्देश आर्मी चीफ थापर को भेज देता था, जैसा करने का मुझे आदेश दिया गया था)। ४ अक्टूबर को तेजपुर में हुई प्रथम बैठक के बाद मैंने पूर्वी कमान (सेन) और सेना मुख्यालय (थापर) को सूचित किया कि शत्रु हमें सांगवर-ढोला क्षेत्र में अटकाये रखना चाहता था ताकि वह तोवांग पर कब्जा कर ले (और कुछ दिनों बाद हुआ भी यही)।

अभी तक त्रिगेडियर के पर से ऊपर का कोई सीनियर ऑफिसर जैसे-जैसे
 त्यों के पार ऊबड़-नाबड़ प्रदेश के मध्य स्थित सांगघर-डोला-नामकाबू क्षेत्र
 नहीं गया था। इसलिए, तेजपुर पहुँचते ही ४ अक्टूबर की शाम को मैंने
 उना किया कि अगले दिन सुबह मैं स्वयं जा कर इस भूतण्ड का निरीक्षण
 ही भोर पता लगाऊँ कि वहाँ अपने सैनिकों को किन परिस्थितियों का
 भना करना पड़ता है। (मेरी कोर का अभी गठन चल रहा था और इस
 या में मुझे केवल एक सप्ताह लगना था।)

जब मैं ब्यूट रचना सम्बन्धी एवं अपनी साप्राथमिक सेना के सकेन्द्रीकरण
 सम्बन्धित घादेश दे कर मुक्त हुआ तो बाधी रात बीत चुकी थी। कुछ
 अंटे नींद ले कर मैं भोर की प्रथम किरण के साथ डोला की ओर चल पड़ा।

१ अक्टूबर

जब मैं तेजपुर हवाई घड़टे से भूटान-तीमा पर स्थित दारंग के लिए चला
 तो प्रातःकाल के ६ बजे थे। लेफ्टी० जनरल सेन और लेफ्टी० जनरल
 उमरावसिंह मुझे हवाई घड़टे पर विदा करने आये। लेफ्टी० कर्नल संजीव राव
 मेरे साथ थे। क्योंकि अभी मेरी कोर को वहाँ इकट्ठी होने में कुछ समय
 लगना था, इसलिए मैंने त्रिगेडियर के० के० सिंह, मेजर मल्होत्रा तथा अपने
 स्टाफ के एक-दो अन्य व्यक्तियों कहा कि अगले दिन वे सब भी मेरे पीछे-
 पीछे डोला पहुँच जाएँ ताकि जिस भूतण्ड में उन्हें शत्रु से मोर्चा लेना था, उसका
 उन्हें यथासंभवा परिचय मिल जाए। ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन के कमाण्डर, मेजर
 जनरल निरजन प्रसाद को मैंने पहले ही कठ दिया था कि वह मुझे डिमिन्याग
 पर मिलें तथा वहाँ से मेरे साथ डोला चलें। (अपने पीछे मैंने अपने मुख्यालय
 में प्रभाजन के त्रिगेडियर-इन्-चार्ज, त्रिगेडियर के० डी० पचनन्दा को छोड़
 दिया था ताकि वह हमारी अनुपस्थिति में युद्ध-रचना सम्बन्धी समस्त प्रवन्ध
 पूरा कर सकें।)

दारंग हवाई पट्टी पर मैंने वायुयान छोड़ कर हेलीकॉप्टर ले लिया। वहाँ
 वायुयान में पेंड्रोस आदियुगीन तरीके से डाला जाता था, इसलिए मेरे कार्यक्रम
 में कुछ घण्टे का विलम्ब पड़ गया। अन्ततः, हम उस दिन अपराह्न में
 डिमिन्याग पहुँच गए। यह छोटा-सा गाँव ६,००० फुट की ऊँचाई पर है तथा
 विश्वमाने होते हुए लहासा से भारत आने वाले पुराने व्यापारी मार्ग पर पड़ता
 है। वहाँ मुझे एक अपना जामून मिला। उसने मुझे डोला में चीनियों की
 सम्भावित संख्या बतलायी जिससे मैंने यह निष्कर्ष निकाला कि उनकी तुलना
 में हमारी सेना बिल्कुल अपर्याप्त थी। इसलिए मैंने पूर्वी कमान एवं सेना
 मुख्यालय को वहाँ से निम्नलिखित रिपोर्ट भेजी :

(घ) चीनियों ने पहले ही थांग ला में एक ब्रिगेड सकेन्द्रित कर लिया था।

- (आ) चीनियों के पास तोपखाने एवं भारी तोपों के साथ-साथ प्रतिक्षेप-हीन बन्दूकों (जिन बन्दूकों से धक्का न लगे, रिकायललस गन्ज) भी थीं।
- (इ) (अपनी कमजोर एवं उनकी सशक्त स्थिति को देखते हुए) सम्भव था कि शत्रु हमारी सेना को पछाड़ दे।
- (ई) जब तक हम अपनी कमी को जल्दी से पूरा नहीं करते, विशाल राष्ट्रीय हानि होने की आशंका थी। (बिना चीनियों की तुलनात्मक शक्ति का पता लगाये हमने आगे बढ़ने की भूल तो कर दी थी और अब अपनी कमी को शीघ्रता से पूरा न करना एक भयंकर भूल होगी।)
- (उ) इसलिए, सावधानी की दृष्टि से मेरी सलाह यह है कि आक्रामक हवाई सहायता तैयार रहे तथा जिस समय भी मैं यह सहायता माँगूँ, यह मुझे कम-से-कम समय में सुलभ हो जाए। (यद्यपि यह था तो खतरनाक, क्योंकि शत्रु के लिए इससे हवाई हमले का मार्ग खुलता था किन्तु फिर भी मैंने अपनी ओर से तैयार रहना श्रेयस्कर समझा।)

(१९६५ में भारत-पाक संघर्ष के मध्य तो सेना को विशाल आक्रामक हवाई सहायता पहले ही दे दी गई थी किन्तु १९६२ में अभी हम इस पर सोच-विचार कर रहे थे।)

दोपहर में मौसम खराब हो गया और मेरा हेलीकॉप्टर सिरखिम न जा सका, इसलिए मैंने लुम्पु उतरने का विचार किया क्योंकि उधर मौसम ठीक था। वहाँ ७ ब्रिगेड, २ राजपूत तथा १/९ गोरखा कुलियों की प्रतीक्षा में खड़े पड़े थे, उन्हें मैंने आदेश दिया कि वे अपना सामान स्वयं उठा कर अगले दिन ढोला के लिए रवाना हो जाएँ। मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि मैं उनका सामान अति शीघ्र उनके पास भिजवा दूँगा।

यदि ये वटालियन तुरन्त आगे नहीं बढ़तीं तो शत्रु तो उन क्षेत्रों में अपनी सेना संकेन्द्रित कर ही लेता, साथ ही बर्फ पड़ने से रास्ते के सब दरें बन्द हो जाते और हमें अपना सांक्रामिक कार्यक्रम ६ महीने के लिए स्थगित करना पड़ता। अगले दिन जब मेजर जनरल निरंजन प्रसाद से मेरी भेंट हुई तो मैंने उन्हें अपने इस कदम के बारे में सूचना दे दी।

वह रात मैंने खिन्जमाने से सात मील दूर जिमिन्यांग में उस जासूस के साथ एक भोंपड़ी में गुजारी।

अनूबर

मेजर जनरल निरंजन प्रसाद, लेफ्टी० कर्नल राय घोष में प्रगल्भ दिन सुबह लोकोमोटिव में ६,००० फुट की ऊँचाई पर स्थित तिरक्षिप्त पहुँचे। उसके बाद हमने दो घण्टे तक ऊबड़-खाबड़ चढ़ाई पार की और १०,५०० फुट की ऊँचाई पर 'दलदल' नामक स्थान पर पहुँचे जहाँ घाघा भील के लगभग हमें दलदल में घनना पड़ा। लगभग घटारह-मठारह इंच पैर दलदल में घुम जाते थे। इसके बाद हाथुंग ला की तलहटी में लड़ी एक छोट-सी भोंपड़ी मिली जहाँ से लगभग तीन घण्टे नीचे ऊपर की ओर चढ़ना पड़ा और किसी प्रकार हीफते हुए हम १५,००० फुट ऊँची इसकी छोटी पर पहुँचे। वहाँ ऊँची-ऊँची बल्लियों पर बौड़ पताकाएँ—दुष्ट आत्माओं को दूर रखने की प्रतीक—फहरा रही थी। (हमारा दुर्भाग्य ! हमारी ओर बढ़ने वाली दुष्ट आत्माओं को ये भी न रोक सकीं।) नीची उतराई और पत्थरों से भरे नालों को पार कर के हम रात के आठे आठ बजे नामकाबु नदी के पुल नं० १ (लगभग १०,००० फुट की ऊँचाई पर) पर पहुँचे। इस पुल की रक्षा के लिए २ राजपूत की एक कम्पनी तैनात थी। वहाँ से एक रास्ता खिन्बमाने को जाता था जिसमें बीच में से एक और गस्ता घाग ला की ओर मुड़ जाता था।

उस रात मुझे निरंजन प्रसाद ने बतलाया कि अगस्त १९६२ के शुरू में (दोला में चीनियों की घुसपैठ में एक महीना पहले) उन्होंने ३३ कोर को मुझ पर दिया था कि घाग ला टीले पर अपना अधिकार कर लिया जाए किन्तु पूर्वी कमान के मुख्यालय (लेफ्टी जनरल सेन) ने ऐसा करने की अनुमति नहीं दी। निरंजन प्रसाद का कहना यह था कि यदि उनकी सलाह के अनुसार तब घाग ला पर अधिकार कर लिया जाता तो चीनी सितम्बर में कभी दोला पर पैरा नहीं टान पाते। उन्होंने कहा कि केवल दो दिन पहले ही तोवाग में सेन ने उनसे कहा था, 'मैंने तुम्हारे कोर कमाण्डर (उमरावसिंह) की छुट्टी कर दी है और अब तुम्हें नया कोर कमाण्डर (कोल) मिलेगा। यदि अब भी ७ ब्रिगेड आगे नहीं बढ़ा तो जानते हो ना कि तुम्हारे साथ क्या होगा?' निरंजन प्रसाद को यह जान कर बड़ा आश्चर्य हुआ कि दिल्ली में लेफ्टी० जनरल सेन ने ७ ब्रिगेड के दोला पहुँचने का अनुमानित समय पहले २६ सितम्बर, फिर ५ अक्तूबर तथा बाद में १० अक्तूबर बतलाया था जबकि निरंजन प्रसाद ने उन्हें व्यावहारिक कठिनाइयों के विषय में पूरा विवरण प्रस्तुत कर दिया था।

पुन नं० १ पर हमें लेफ्टी० कर्नल मिश्रा ने वहाँ की निकटवर्ती भौगोलिक स्थिति का परिचय दिया और सामने दिखलाई पड़ने वाले ऊँचे घाग ला टीले पर चीनियों द्वारा की गई मोर्चाबन्दी समझाई तथा चीनियों की जिस कार्य-पद्धति का उन्हें पिछले कुछ दिनों में परिचय मिला था, वह बतलाई। उन्होंने हमें सूचना दी कि वहाँ चीनियों की संख्या भी लगभग एक ब्रिगेड के बराबर थी।

७ अक्टूबर

नाशता करने के बाद मैं पुल नं० २ की ओर बढ़ा जहाँ ६ पंजाब पड़ी हुई थी। इस बटालियन के समस्त सैनिकों एवं ऑफिसरों के होसले बढ़े हुए थे तथा उन्होंने अपना मोर्चा काफ़ी कुशलता से सँभाला हुआ था। ऊबर-खावड़ रास्ता पार करने के बाद हम ढोला—जिसका दूसरा नाम से डोंग है—पहुँच गए जहाँ मुझे कुछ पहले ७ इन्फैंट्री ब्रिगेड के ब्रिगेडियर जॉन परपोत्तम दाल्वी भी पहुँच गये थे। ६ पंजाब के ऑफिसर कर्माण्डग, लेफ्टी० कर्नल मिश्रा मेरे साथ ही गये थे। २ राजपूत के ओ० सी०, लेफ्टी० कर्नल रिख तथा १/६ गोरखा के ओ० सी०, लेफ्टी० कर्नल आहलुवालिया से भी मेरी भेंट हुई।

यहाँ से मैंने पूर्वी कमान एवं सेना मुख्यालय को जो सूचना भेजी, उसका सार यह था :

- (अ) यहाँ की स्थिति को 'काफ़ी ऊँचाई पर जंगल युद्ध-कौशल' कहा जा सकता था।
- (आ) हमने पुल नं० ५ पर विना किसी विरोध के अधिकार कर लिया था और अपनी एक पलटन वहाँ तैनात कर दी थी।
- (इ) हमने सांगली को भी विना किसी विरोध के अपने अधिकार में कर लिया था।

कुछ घण्टे 'साँप-सीढ़ी' जैसी चढ़ाई चढ़ के मैं दिन के २ बजे ढोला चौकी-पुल नं० ३ से ३०० गज की दूरी पर—पहुँच गया। यह चौकी १२,००० फुट की ऊँचाई पर है और यहाँ से १५०० गज की दूरी पर शत्रु ने अपनी मुख्य मोर्चाबन्दी कर रखी थी। कुछ निकटवर्ती पर्वतों की चोटियों पर ताज़ी पड़ी बर्फ़ चमक रही थी।

वहाँ पहुँचने पर मेरी पहली प्रतिक्रिया यह हुई कि वह स्थान अनेक दृष्टियों से सांग्रामिक कार्य (प्रतिरक्षा या आक्रमण) के लिए अनुपयुक्त था और इसका चुनाव चाहे लेफ्टी० जनरल सेन ने किया हो या ब्रिगेडियर दाल्वी ने, कोई समझदारी का काम नहीं किया था। इस प्रतिक्रिया के निम्नलिखित कारण थे :

- (१) इस स्थान तक पहुँचने का मार्ग बड़ा जटिल था और आवश्यकता के समय सेना या सामग्री का पहुँचाना एक समस्या ही थी।
- (२) शत्रु के मोर्चे की तुलना में हमारा मोर्चा लाभकारी नहीं था, इससे तो गोलावारी के समय हमें ही अधिक हानि होने की आशंका थी।
- (३) स्थान के ऊबड़-खावड़ होने के कारण हमारे सैनिकों की गतिशीलता कम हो जाती थी।

(४) सामने ही नेत्र प्रवाह वाली नदी थी जो हमारे सामने बढ़ने में एक बहुत बड़ी बाधा थी।

रिड लेपटी० जनरल सेन को सरकार ने यह आदेश भिजा भी था कि वह डोरा में मोर्चा जमाएँ और उसके निकटवर्ती क्षेत्र में चीनियों को बाहर निकाल दें तब भी उन्हें उच्चाधिकारियों के सामने उस स्थान की भौगोलिक स्थिति, वहाँ ब्यूह-रचना करने में उपस्थित होने वाली कठिनाइयाँ तथा अन्य समस्याओं को रखना चाहिए था तथा किसी दूसरे अधिक अनुकूल एवं उपयुक्त स्थान पर मोर्चा जमा कर चीनियों को निकालने का प्रयत्न करना चाहिए था।

सन् ने पाग ला की बगल में ही बड़े प्रभावशाली ढग से ब्यूह-रचना की थी, उसके सैनिक एवं उसकी युद्ध-सामग्री बिल्कुल हमारे सामने थी और सरलता से दिखलाई दे रही थी। दूसरी ओर, हमारी सेना के पास न पूरी युद्ध-सामग्री थी, न पूरे हथियार थे और न पूरी खाद्य-सामग्री। जिन स्थान को मोर्चाबन्दी के लिए भेरे पहुँचने में पहले दूसरे लोगों ने चुना था, वह बहुत नीचा था एवं जल में फँसने के सामान था। ऊँचाई पर जमे हुए चीनी हमारी प्रत्येक गति-विधि एवं हमारे प्रत्येक सामान को बड़ी सरलता में देख रहे थे।

बाद में, मैंने पूर्वी कमान के मुख्यालय एवं सेना मुख्यालय को सूचना दी:

- (अ) हमारे सैनिकों के लिए वायुयानों में जो रसद, गोला-बारूद एवं मर्दाने के कपड़े गिराए जाते थे, उनमें से अधिकांश चीजें ऐसे स्थानों पर पड़ी थीं जहाँ पहुँचना बड़ा कठिन था।
- (आ) २ राजपुल एवं १/६ गोरगा के पास केवल तीन दिन का राशन बचा था तथा प्रत्येक सैनिक के पास केवल पचास-पचास चक्कर (राउण्ड) की गोलियाँ थीं। हमारी छोटी तोपें एवं गोला-बारूद सभी लुम्बु और डोना के रास्ते में थे।
- (इ) सड़ों के कपड़ों की इतनी कमी थी कि इन दो बटालियनों के सैनिक पर्वों की बटियों में १५,००० फुट की ऊँचाई पर रातें बिता रहे थे। बेचारों के पास थोढ़ने के लिए केवल एक-एक कम्बल था। (हमारे पास बूटों^{१०} की भी कमी थी।)

१. लेपटी० जनरल सेन को हथियार, राशन एवं ऊनी कपड़े शीघ्र पहुँचाने का अविलम्ब प्रबन्ध करना चाहिए था। वह चाहते तो यह सामान अपने अधीन डिपो से भी पहुँचा सकते थे।

१०. बूटों की कमी इसलिए रही क्योंकि मेनन ने इनके उत्पादन का काम निजी उद्योग को नहीं सौंपा।

- (ई) एक ओर तो गैर-सैनिक कुलियों की कमी थी तथा दूसरी ओर हवाई रसद बड़ी अपर्याप्त थी। इन दोनों कारणों से हमारी मोर्चा-बन्दी का काम बड़ा धीमा चल रहा था।
- (उ) जो कुली मैंने सीमान्त सड़क संगठन से लिये थे, उनके आने में अभी कुछ समय लगना था क्योंकि उनको २०० मील के क्षेत्र से इकट्ठा करना था।
- (ऊ) रसद पहुँचाने के लिए हमें अधिक वायुयान मिलने चाहिए।
- (ए) (अनेक कठिनाइयों के बावजूद भी) चीनियों को अपनी सीमा से बाहर निकालने का मैं प्रत्येक सम्भव प्रयत्न कर रहा था।
- (ऐ) इसकी भी सम्भावना थी कि प्रारम्भ में हम जिस मोर्चे पर अधिकार कर लें, बाद में चीनी हमसे उसे छीन लें।

७-८ अक्टूबर की रात हमने ढोला में विताई तथा आगामी दिनों में सामने आने वाली अनेक सम्भावित सांग्रामिक समस्याओं पर देर रात तक विचार-विमर्श करते रहे।

८ अक्टूबर

रात करवटें बदलते वीती। सुबह उठकर मैं पुल नं० ४^{११} की ओर चल पड़ा। यह स्थान १२,५०० फुट की ऊँचाई पर था तथा यहाँ से लगभग आधा मील दूर था। यह रास्ता मैंने तीस मिनट में तय किया। यहाँ मैंने इन्फैंट्री बटालियनों, ब्रिगेड एवं डिवीजन के कमांडिंग ऑफिसर के साथ बैठ कर विचार-विमर्श किया और इस जटिल परिस्थिति में सफलता प्राप्त करने की योजना बनाने का प्रयत्न किया।

अभी यह विचार-विमर्श चल ही रहा था कि चीनियों ने हम पर स्व-चालित राइफल से घड़ाका किया—या तो हमें आतंकित करने के लिए या इसलिए कि हम कोई उतावला कदम उठा बैठें। हमने तुरन्त अपना बचाव किया और उनके अगले कदम की प्रतीक्षा की। जब इसके बाद कुछ नहीं हुआ तो मैंने फिर सबको इकट्ठा कर लिया और हम फिर विचार-विमर्श में व्यस्त हो गए।

७ इन्फैंट्री ब्रिगेड के कमाण्डर ब्रिगेडियर दाल्वी ने २८ सितम्बर १९६२ को ४ इन्फैंट्री डिवीजन को एक सुझाव दिया था कि शत्रु सांगली पर अपना मोर्चा स्थापित कर के ढोला के बाईं ओर से आक्रमण कर सकता था, इसलिए

११. जहाँ ७ ब्रिगेड का मुख्यालय अवस्थित था। २ राजपूत और १/९ गोरखा पुल नं० ३ और पुल नं० ४ के बीच में तैनात थीं।

हमें सबसे पहले सांगली पर अधिकार कर लेना चाहिए था। जब पूर्वी कमान ने ३३ कोर को धावेस दिया कि वह ७ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड को ढोला क्षेत्र में हकेडिन कर दे तो (लेफ्टी० जनरल सेन से दबाव पड़ने पर) ६ सितम्बर को ३३ कोर ने यह दायित्व ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन को सौंप दिया और यह कह दिया कि यह काम ५ अक्टूबर १९६२ तक अवस्य पूरा हो जाना चाहिए।

निम्नलिखित कारणों से मैंने ब्रिगेडियर दालवी की उस योजना को, जो उन्होंने मेरे धाने से पहले प्रस्तुत किया था, स्वीकार कर लिया कि नामकाचू नदी के उत्तर में स्थित सैंग-जोग क्षेत्र की घोर (जो अपनी सीमा में था) घाठ तारीख को एक कम्पनी भेज कर (यदि वहाँ कोई विरोध न हो) उसे अपने अधिकार में कर लिया जाय :

- (अ) हमारे सैनिक मेरे धाने से पहले भी नदी के उत्तर की घोर जा चुके थे जब उन्होंने सांगली पर अधिकार किया था।
- (आ) यदि हमने सैंग-जोग पर अधिकार न किया तो चीनी कर लेंगे और तब लट्ठे के पुल पर जो हमारा मोर्चा था, उसके लिए वे परेशानी बन जाएँगे।
- (इ) ७ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड के कमाण्डर ने २८ सितम्बर को (मेरे कमान संभालने से ६ दिन पहले) यह सुभाव दिया था कि उनके सैनिक नदी पार कर के सैंग-जोग पर अधिकार कर सकते थे। (यह प्रचार गलत किया गया था कि यह सुभाव मेरा था।) यदि मैं इस कदम को रोकना भी चाहता तो यह सम्भव नहीं था क्योंकि ब्रिगेड कमाण्डर के धावेस पर एक कम्पनी ८ तारीख को सैंग-जोग की घोर रवाना हो चुकी थी।

बाद में, मैंने पूर्वी कमान मुख्यालय एवं सेना मुख्यालय को रिपोर्ट भेजी, उसमें निम्न बातें थी :

- (१) सैंग-जोग को बिना किसी विरोध के अधिकार में कर लिया गया। ऐसा प्रतीत होता था जैसे कि चीनियों का जोर थाग ला और युम्तो ला (१४,००० फुट की ऊँचाई पर) के बीच लगभग ३,५०० गज लम्बे क्षेत्र में था जहाँ मे वे ढोला एवं पुल नं० ४ पर हमारी सेना पर भारी पड़ रहे थे।
- (२) मनु ने इस क्षेत्र में काफ़ी गहरी खाइयाँ खोद ली थीं तथा अपने मुख्य मोर्चों के प्रतिरिक्त कुछ फ़ालतू मोर्चे भी बना रखे थे। इस क्षेत्र में पहुँचने के हमारे दोनों सम्भावित मार्गों—बाईं घोर से सैंग-जोग-कारपो ला के मार्ग तथा दाईं घोर से पुल नं० १—

खिञ्जमाने मार्ग पर शत्रु ने मोर्चे जमा रखे थे ।

(३) राशन की कमी के कारण मैंने राव आदमियों को कम खाने का आदेश दिया था ।

इस दिन दशहरा था !

६ श्रवतूघर

सेना मुख्यालय ने सचित किया कि उसे विश्वस्त सूत्रों से पता चला था कि सोना-जोंग के पास ३०० छोटी-बड़ी तोपें हमारी ओर बढ़ती दिखाई दी थीं और उसका विचार था कि स्यात् चीनी तोवांग पर घावा बोलें । मैंने उत्तर दिया कि मेरे पास तो साधन पहले ही बहुत कम थे और इसकी ओर की रक्षा करना ही मेरे लिए कठिन हो रहा था, इसलिए मुझे आशा थी कि सेना मुख्यालय ने इस नये खतरे का मुकाबला करने के लिए उचित कदम उठा लिया होगा ।

पुल नं० ४ के निकटवर्ती क्षेत्र में घूम-फिर कर मैंने उस क्षेत्र से परिचय प्राप्त किया । त्रिगेडियर दाल्वी ने मेरे इस कदम की काफी प्रशंसा की । उन्होंने कहा कि मैं पहला जनरल ऑफिसर था जो क्षेत्र में गया था और इससे अपने सैनिकों का मनोबल बहुत बढ़ गया था ।

अपने मोर्चे का कुछ देर निरीक्षण करने के बाद मुझे वाघ्य हो कर त्रिगेडियर दाल्वी से कहना पड़ा कि एक ओर तो नदी पार चीनियों का मोर्चा कितना सुदृढ़ था और एक हमारा मोर्चा था जो हमारे ही प्रतिकूल था । लेफ्टी० कर्नल डी० एस० राव एवं अन्य लोगों ने मुझे यह कहते सुना था । न तो दाल्वी के मोर्चों के लिए वह स्थल उपयुक्त था और न उसके बंकर एवं सुरक्षा-स्थल इतने मजबूत थे कि शत्रु की तोपों की मार को कुछ समय सहन कर लेते । ९ पंजाब को छोड़ कर शेष लोगों को इस भूखण्ड का भी विशेष ज्ञान नहीं था । इन कमियों की ओर मेरा संकेत करना दाल्वी को बड़ा अप्रिय लगा । सीनियर कमाण्डर होने के नाते, अपने अधीनस्थ ऑफिसरों को उनकी त्रुटियों के प्रति सचेत करना मेरा कर्तव्य था और सांग्रामिक क्षेत्र में भी विशेष रूप से । मेरी मान्यता यह है कि कमान केवल दर्शक नहीं है । सीनियर ऑफिसर केवल कठपुतली या डाकघर नहीं होते । संकट-काल में दिये गए आदेशों को ऑफिस-फ़ाइल के समान समय नहीं लेना चाहिए । वहाँ प्रत्येक पल महत्त्वपूर्ण होता है । (१९६५ के भारत-पाक संघर्ष के बीच अनेक अधीन ऑफिसरों को उनकी भूलों के फलस्वरूप उनके उच्च ऑफिसरों ने युद्ध-स्थल से हटा दिया था ।)

उस दिन दोपहर बाद मैंने ७ त्रिगेड के सब ऑफिसरों एवं जे० सी० ग्रेस० को एकत्र कर के उन्हें इस काम का महत्त्व समझाया और ऐसा कर सकने की

उनकी सामर्थ्य में अपना विश्वास प्रकट किया।

घाम को मुझे भार्मी चीफ का सन्देश मिला कि सरकार को एव उनको मुझ पर पूर्ण विश्वास था।

पूर्वी कमान एवं मेना मुख्यालय में मैंने प्रार्थना की कि वायुयानों से रसद भेजने के काम में थोड़ी शीघ्रता बरती जाए, ताकि हमारी साप्ताहिक तैयारी ठीक से चल सके।

सारे दिन की थकान के बाद, निरंजन प्रसाद और मैं अपने बंकर में पहुँचे। पूर्वी कमान के मुख्यालय के लिए मैं एक आवश्यक सन्देश लेफ्टी० कर्नल राव को लिखवा रहा था कि ब्रिगेडियर के० के० सिंह एवं मेजर तिलक महोश्या भी सारा दिन निकटवर्ती मोर्चों का निरीक्षण कर के पुल नं० ४ पर पहुँच गए। हम सबने थोड़ी देर आराम करने का निश्चय किया और लेट गए। अभी हमारी पलकें ठीक से मुँदी भी नहीं थी कि हमारे बंकर के पास एक भयकर बिस्फोट हुआ। हमें उत्तेजित करने के लिए जिससे हम कोई उतावला कदम उठा बैठे, चीनियों ने यह दूसरा हथगोला हम पर फेंका था। निरंजन प्रसाद ने कहा कि मेरे जैसे सीनियर ऑफिसर को इतना आगे मोर्चे पर नहीं होना चाहिए। सयोग से या जानबूझ कर अब तक चीनियों ने दो बार मेरे पासपास हथगोले फेंके थे। उन्होंने परामर्श दिया कि मैं तुरन्त उस क्षेत्र को छोड़ दूँ। मैंने उत्तर दिया कि मेरे उस समय चले जाने से सैनिकों के मनोबल को आघात लगेगा और मैं एक दिन रुक कर अगले दिन चला जाऊँगा।

१० अक्तूबर

संसार के इन भाग में सूर्य देवता के दशन बहुत जल्दी होते हैं। अभी साढ़े चार बजे थे, मेरा नौकर मेरे नहाने के लिए पानी गर्म कर रहा था और मैं एक पेड़ से इर्षण टाटकाये शेष करने का प्रयास कर रहा था। इतने में नदी के उस पार से गोलियों की आवाज आई। निरंजन प्रसाद बंकर में निकल कर आने और मुझे पूछने लगे कि गोलियों की आवाज कौसी थी। थोड़ी देर बाद मालूम हुआ कि चीनियों ने सेंग-जोग के पास गश्त लगाती हुई ६ पत्राय की सैन्य-टुकड़ी पर गोली चला दी थी। मैंने जल्दी से अपनी सैब पूरी की तथा निरंजन प्रसाद और मैं पुल नं० ४ के साथ नीचे को बढ़े। २ राजपूत सट्टे के पुल की ओर भगी जा रही थी क्योंकि उसको पहले दिन घाटेस मिना था कि वह सट्टे के पुल पर एवं मेन-जोग पर अपने मोर्चे तथा है। हमारी दृष्टि में उस समय स्थिति बड़ी चिन्ताजनक थी। डिमेट के परिष्कार सैनिकों एवं घोड़ियों को पिछले कुछ दिनों से कम राशन पर गुजारा करना पड़ा था। हमारे सैनिकों के पास हथियार, गोला-बारूद, बूट एव नर्सों के कपड़े काटो कम थे। गर्मियों की बर्दियों में इस ऊँचाई पर रहने के कारण कई को निमो-

निया हो गया था। हमारी रसाद भी हमारे वायुयानों ने ऐसे स्थलों पर गिरा दी थी जहाँ पहुँचना सम्भव न था।

पुल नं० १, २ तथा ३ पर हमारे पास एक भी मध्यम मशीन गन नहीं थी। पुल नं० ४ पर दो (और बाद में चार) मध्यम मशीन गनें थीं किन्तु गोलियों इतनी भी नहीं थीं कि उन्हें आधे घण्टे भी सामान्य गति से चलाया जा सकता। राइफल की गोलियाँ इतनी कम थीं कि एक राइफल को केवल पचास चक्करों के वास्ते ही गोलियाँ मिल सकती थीं, हल्की मशीन गन की गोलियाँ भी कम थीं और एक हल्की मशीन गन को ५०० चक्करों के वास्ते गोलियाँ सुलभ थीं, तीन इंची छोटी तोपें दो पुल नं० २ पर थीं तथा दो पुल नं० ४ पर तथा सांगधर पर दो सावुत एवं दो टूटी हुई ७५ मि० मी० गनें थीं।

सैंग-जोंग के मोर्चे पर हमारे केवल ५० सैनिक थे। उन पर ५०० व्यक्तियों की चीनी बटालियन ने पूरे युद्धास्त्रों के साथ आक्रमण कर दिया। दोनों ओर से गोलियों की वर्षा होने लगी। हमारे सैनिकों ने बड़ी वीरता से चीनियों की बढ़ती हुई भीड़ को पीछे धकेल दिया। ६ पंजाब के एक भाग ने त्सैंग-जोंग के विल्कुल ऊपर कारपो ला २ पर मोर्चा जमा रखा था जिसका चीनियों को पता नहीं था। जब वहाँ से गोलियों की बाढ़ आई तो चीनी भौंचक्के रह गए। इस दोहरी मार से चीनियों की काफ़ी क्षति हुई। हमारे कम्पनी कमाण्डर, मेजर चौधरी का बाजू घायल हो गया किन्तु उन्होंने उसकी कोई चिन्ता न की तथा युद्ध-स्थल में डटे रहे। बाद में उन्होंने अपने कर्माण्डग ऑफ़िसर, लेफ्टी० कर्नल मिश्रा से कहा कि वह पुल नं० ४ से मशीन गनों एवं छोटी तोपों से उनकी सहायता करें। मिश्रा ने त्रिगेडियर दाल्वी से कहा तो उन्होंने उत्तर दिया कि वह स्वयं भी पुल नं० ४ से सारा युद्ध देख रहे थे तथा उनके विचार के अनुसार मशीनगनों अथवा छोटी तोपों की कोई भी सहायता व्यर्थ थी क्योंकि एक तो युद्ध-स्थल इन दोनों चीजों की मार के बाहर था तथा दूसरे इंट का जवाब पत्थर से मिलने की आशंका थी। (यह मामला मेरे सामने कभी नहीं आया और न ही सामान्य रूप से इसे आना चाहिए था और न ही इस सम्बन्ध में मैंने कोई आदेश दिया था जैसा कि कुछ लोगों का कहना है।)

मैं आगे खड़ा हुआ मेजर मल्होत्रा से कुछ कह रहा था कि २ राजपूत के कर्माण्डग ऑफ़िसर एवं उस मोर्चे के इंचार्ज लेफ्टी० कर्नल रिख ने चिल्ला कर कहा, 'सर, आप पीछे सुरक्षित स्थान में चले जाइए।' जबकि स्वयं वह अरक्षित खड़े हुए थे। सैंग-जोंग में हो रहे युद्ध का भयंकर शोर हमें स्पष्ट सुनाई पड़ रहा था क्योंकि सैंग-जोंग और हमारे बीच में वस नदी ही तो थी। हमारे आदमी विभिन्न मोर्चों की ओर दौड़ रहे थे।

उसी प्रातःकाल, थोड़ी देर बाद, चीनियों ने पुनर्गठित हो कर छोटी तोपों के साथ सैंग-जोंग के हमारे मोर्चों पर तीन घोर से घावा बोल दिया। थोड़ी देर बाद, लड़ाई धामने-सामने होने लगी। कुछ घण्टे बाद ब्रिगेड कमाण्डर ने कम्पनी को आदेश दिया कि वह नदी के दक्षिण की ओर पीछे हट जाए। हमारे आदमी पुल नं० ५ की ओर पीछे हटे (क्योंकि सड़कों के पुल पर सतरा दा) और उन्होंने पैदल ही नदी को पार किया। हमारे ६ आदमी मरे, ११ घायल हुए तथा ५ का पता नहीं चला। पीकिंग रेडियो के अनुसार चीनियों के मृतकों, घायलों एवं लापताओं की संख्या लगभग १०० थी।

चीनियों से धामने-सामने की हमारी यह प्रथम लड़ाई थी। अतीत में केवल छोटी-मोटी मुठभेड़ें हुई थीं। इससे यह स्पष्ट है कि यह युद्ध भारत में नहीं, अपितु चीन में छेड़ा था।^{११} हमने तो केवल नामकाचू नदी के उत्तर में स्थित सैंग-जोंग पर अधिकार किया था जो हमारी अपनी सीमा में था। यह मैं यह ज़रूर कहूँगा कि यदि उस क्षेत्र में हमें किसी स्थान पर अपनी चौकी स्थापित करनी थी और हमारे पास उसके लिए साधन थे तो हमें वह चौकी बोया पर स्थापित न कर के यांग ला पर करनी चाहिए थी जबकि ढोला के उत्तर से ले कर यांग ला के दक्षिण तक सारा भूखण्ड हमारी सीमा के भीतर था। (इस प्रकार का सुभाव बहुत पहले—जुलाई १९६२ में—३३ कोर ने पूर्वी कमान को दिया था जो सेन ने ठुकरा दिया था।)

उम दिन के प्रातःकालीन युद्ध में मैंने अपनी आँखों से चीनियों के श्रेष्ठ हथियारों एवं उनकी विशाल संख्या को देख लिया था और यह भी समझ लिया था कि ढोला में अधिक समय तक टिके रहना हमारी मामर्थ्य के बाहर भी था। मेरे डिवीजन कमाण्डर ने मुझे परामर्श दिया कि मैं दिल्ली जा कर मेना मुख्यालय एवं सरकार को सारी स्थिति का बोध कराऊँ और उन्हें परामर्श दूँ कि वे हमें इस बात का आदेश न दें कि हम इन परिस्थितियों में चीनियों को वहाँ से बाहर निकालने का प्रयत्न करें तथा साथ ही हमें अपना मोर्चा भी किसी अन्य स्थल पर जमाने के लिए अनुमति दें। ब्रिगेड कमाण्डर का भी यही परामर्श था। अपने डिवीजनल कमाण्डर एवं ब्रिगेड कमाण्डर से मैं पूरी तरह सहमत था। निरजन प्रसाद को मैंने आदेश दिया कि जब तक मैं दिल्ली से लौट कर न आऊँ, वह अपने मोर्चों पर डटे रहें।

पूर्वी कमान एवं सेना मुख्यालय को मैंने इन नयी स्थिति की सूचना दी और कहा कि चीनियों ने पहली बार सैंग-जोंग क्षेत्र में हम पर विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया था। यह ठीक था कि इस बार चीनियों को अधिक क्षति हुई थी किन्तु यह स्थिति को जीतने का मानस्य नहीं था।

मेरा अनुमान था कि अब तक चीनियों ने हमारे ७ ब्रिगेड के विरुद्ध पूरा डिवीजन तैनात कर दिया था। पिछले दो दिनों में मैंने स्वयं दो चीनी बटालियनों को थाग ला की ओर से पुल नं० ३ एवं पुल नं० ४ की ओर आते देखा था। तोवांग क्षेत्र में चीनियों के भावी आक्रमण की आशंका व्यक्त करते हुए मैंने सुभाव दिया कि मैं दिल्ली आ कर आर्मी चीफ एवं सरकार के सामने आँखों-देखी वस्तु-स्थिति प्रस्तुत करूँ।

अब मैं अपनी कमियों एवं स्थिति की भयंकरता को खूब समझ गया था। युद्ध के मोर्चे के लिए हमने गलत स्थल चुना¹³ था एवं अपने समस्त प्रयत्नों के बावजूद भी मैं ७ ब्रिगेड को पूरी तरह सन्नद्ध नहीं कर पाया था। इन सब बातों को देखते हुए मेरा विचार था कि हमें अपनी स्थिति का पुनः अध्ययन करना चाहिए।

सेना मुख्यालय ने मेरा सुभाव स्वीकार कर के मुझे दिल्ली पहुँचने का आदेश दिया।

सैंग-जोंग एक बटालियन या एक ब्रिगेड की लड़ाई थी। यद्यपि ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन के जी० ओ० सी० और मैं ७ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड के मुख्यालय के पास थे किन्तु हमने उनकी युद्ध पद्धति में किसी प्रकार का हस्तक्षेप न किया। सैंग-जोंग मोर्चे पर और सेना भेजना हमारी शक्ति के बाहर था क्योंकि हम पहले ही हर मोर्चे पर कमजोर थे। इस स्थान पर हमने इस आशा में मोर्चा लगा लिया था कि अतीत की भाँति इस बार भी हमारे इस कदम का कोई विरोध नहीं होगा।

सैंग-जोंग पर युद्धरत अपने सैनिकों की हम पुल नं० ४ से मध्यम मशीन गनों से इसलिए सहायता नहीं कर पाए कि एक तो वह गनों की पहुँच के बाहर था तथा दूसरे, हमारे पास पर्याप्त गोला बारूद नहीं था। अपनी विविध कमियों के कारण ४ डिवीजन एवं ७ ब्रिगेड के कमाण्डर तथा मैं इस पक्ष में नहीं थे कि युद्ध का क्षेत्र विस्तृत किया जाए।

मैं तथा मेरे स्टाफ़ के सदस्य ढोला से वापस हाथुंग ला पहुँचे। तलहटी में बनी भोंपड़ी तक पहुँचते-पहुँचते हमें रात हो गई, इसलिए हम वहीं ठहर गए। यहाँ मेरी छाती में बहुत जोर का दर्द उठा। जैसे-जैसे रात बढ़ी, ठण्ड भी बढ़ी और मुझे साँस लेने में भी कठिनाई होने लगी। छाती का दर्द बढ़ गया और मुझे अपना गला बन्द होता-सा प्रतीत हुआ। मेरे साथियों ने पुल नं० १ से (जो वहाँ से तीन हजार फुट नीचे था) डॉक्टर बुलाया। बेचारे डॉक्टर को रात के दस बजे यह भयंकर चढ़ाई चढ़नी पड़ी और जब वह पहुँचे तो मेरे रोग

१३. मेरे कोर की कमान संभालने के पूर्व दूसरों ने चुना था।

का निदान न कर पाए। उस रात मैं एक क्षण के लिए भी न सो सका। सर्दी ही बयानकता बढ़ती चली गयी।

११ फरवरी

मेरी स्थिति बढ़ी द्विघातपूर्ण थी। यदि मैं उस भोंपड़ी में रहता तो शीत एव रोग की भयानकता से मृत्यु का प्राप्त बन जाता और यदि घागे बढ़ता तो भी स्थिति कोई मुझकर नहीं थी। अन्ततः मैंने घागे बढ़ने का निश्चय किया और चलने के लिए चार बजे तैयार हो गया।

दृष्टिगत्ता की चोटी तक मुझे उठा कर ले जाया गया जहाँ कुछ सात ले कर मैंने सिरस्त्रिम तक के लिए दौड़ लगा दी। दलदल घादि पार करता सिरस्त्रिम पहुँचा ताकि ह्यूटी मे किसी प्रकार की बाधा न पड़े। वहाँ हेल्मीकॉप्टर मेरी प्रतीक्षा कर रहा था जिससे मैं तेजपुर पहुँचा। यद्यपि मुझे कपकपी छूट रही थी किन्तु मैंने गर्म पानी से स्नान किया और साफ कपड़े पहने। कई दिन से न नहाने एवं वही कपड़े पहने रहने के कारण मन कुछ भारी था। दिल्ली के चलने से पहले मैंने परमामीटर लगाया तो पता चला कि मुझे १०२° बुझार था। किन्तु मैंने किसी को यह बात नहीं बतलाई क्योंकि मुझे भय था कि कहीं मुझे अस्पताल मे भर्ती न कर दिया जाए। मैं यथाशक्ति इस बाधा को ऐसे ही टाल देना चाहता था।

रात को आठ बजे मैं पालम पहुँचा। हवाई अड्डे पर मुझे सदेस मिला कि पोरी देर बाद प्रधान मन्त्री के यहाँ एक बैठक होने वाली थी और मुझे उसमे उपस्थित होना था।

इस गोष्ठी के अध्यक्ष नेहरू थे। कृष्ण मेनन, स्थल सेना एव वायु सेना के चीफ, मन्त्रि-मण्डल सचिव, परराष्ट्र सचिव एवं प्रतिरक्षा सचिव भी उपस्थित थे। टोना मे जो कुछ मैंने देखा था, वह उन सबको बतला दिया। अपने कमियो तथा चीनियो के श्रेष्ठ युद्धास्त्रों के विषय में भी कहा। अपने मोर्चे लिए के हमने जो स्थल चुना था, उसकी अनकूलता के सम्बन्ध में मैंने कहा कि वह स्थान एक कटोरे के समान छोटा था तथा उसके प्राप्तपास चीनियो ने ऊँचे स्थलों पर अपने मोर्चे जमा रखे थे। वास्तव मे, हमारी स्थिति वहाँ जाल मे फँसे पक्षी के समान थी। अन्त मे, मैंने निम्नलिखित बातें उन सब के सामने रखीं :

- (घ) यदि हम उस स्थिति मे चीनियों पर आक्रमण करने थे, तो हमें पीछे हटना पड़ेगा। इसलिए हमें डोला को खानी कर के किसी अन्य स्थल पर मोर्चा लगाना चाहिए जो झूह-रचना की दृष्टि से अधिक उपयुक्त हो। उस नये मोर्चे से हमें चीनियों से टक्कर लेनी चाहिए थी।

- (इ) हाथुंग ला (नामकाचू के दक्षिण में) को हाथ में रखना था ।
 (ई) सांगली का मोर्चा ४ डिवीजन के जी० ओ० सी० की इच्छा पर था ।

कुछ दिन पहले ये आदेश मैंने मौखिक दिये थे किन्तु अब लिख कर भेज दिए ।

१४, १५ तथा १६ अक्टूबर

मैंने योजना बनाई कि एक वार फिर मैं १८ तारीख को तोवांग और ढोला के अगले मोर्चों पर जाऊँ । वहाँ जाने के पहले मैंने व्यूह-रचना-विषयक एवं सांग्रामिक विवरणों को सूत्रबद्ध करना शुरू किया । पूर्वी कमान एवं सेना मुख्यालय को मैंने सूचना दी कि वायुयानों की कमी के कारण हमारी कठिनाई अधिक बढ़ी हुई थी । मैंने सुझाव दिया कि अपने सीमित साधनों के कारण वायु सेना विवश थी, इसलिए या तो उसे और 'मार्क ४ डकोटा' या कैरेवू वायुयान सुलभ कराए जाएँ या जो गैर-सैनिक संस्था अब तक नेफ्रा की हमारी चौकियों को रसद पहुँचा रही थी, सरकार उसे और उपयुक्त यान सुलभ कराए । सांगली चौकी को अपने अधिकार में रखने में जो-जो कठिनाइयाँ सामने थीं, वे सब उनको बतलाई । मैंने यह आशंका भी प्रकट की कि सेंग-जोंग में हुई १० अक्टूबर की लड़ाई के बाद शत्रु ने वहाँ एक बटालियन तैनात कर दी थी और वह किसी भी समय सांगली पर कब्जा कर सकता था । इसलिए मैंने सिफारिश की कि हम भूठी शान के बदले विवेक से काम लें और सांगली पर पड़ी अपनी कम्पनी को पीछे हटने का आदेश दें ।

१७ अक्टूबर

प्रतिरक्षा मन्त्री, आर्मी चीफ़ और आर्मी कमाण्डर सुवह-ही-सुवह तेज़पुर पवारे । आर्मी चीफ़, आर्मी कमाण्डर तथा मेरे स्टाफ़ के कुछ सदस्यों के सामने कृष्ण मेनन ने इस बात पर जोर दिया कि राजनीतिक दृष्टि से सांगली को अपने अधिकार में रखना बहुत महत्त्वपूर्ण था क्योंकि यह भारत, भूटान एवं तिब्बत के त्रिसंगम के पास था । मैंने उत्तर दिया कि इस स्थान का राजनीतिक महत्त्व कितना भी क्यों न हो, सैनिक दृष्टि से यह तब तक असम्भव था जब तक कि वह मुझे अधिक आदमी और युद्ध-सामग्री न दें । थापर एवं सेन की उपस्थिति में मैंने इस दायित्व को स्वीकार करने पर उपस्थित होने वाली बाधाओं का सविस्तार वर्णन किया किन्तु मेनन कुछ सुनने को तैयार नहीं थे । इसलिए, मुझे अपने अर्थापित साधनों से ही सांगली की रक्षा का प्रयत्न करना पड़ा ।

इन लोगों के दिल्ली लौट जाने के बाद मेरी तबीयत काफी गिर गई ।

स्वामीय चिकित्साधिकारी ने काफ़ी दवाइयाँ दी किन्तु मेरी हालत गिरती चली गई। मेरी छाती में बहुत भयंकर पीड़ा थी, सांस ठीक से नहीं आ रहा था और बोलने में बहुत कठिनाई होती थी। जब मेरी स्थिति बहुत बिगड़ गई तो मेरे मना करने के बाद भी त्रिनेडियर पचनन्दा और लेपटी० कर्नल राव ने टेनोफ़ोन पर यह समाचार दिल्ली-स्थित सेना मुख्यालय में सैनिक ब्यूह-कौशल के निदेशक, त्रिनेडियर पाण्डित को दे दिया। पालित ने यह समाचार थापर को दिया और थापर ने कृष्ण मेनन को। उस रात पचनन्दा और राव मेरे विस्तरे के पाम ही बैठे रहे।

१८ अक्तूबर

चिकित्सा विशेषज्ञ कर्नल एच० बी० लाल प्रातःकाल तेज़पुर पहुँच गए। लेपटी० कर्नल राव, त्रिनेडियर पचनन्दा तथा कुछ अन्य आदमियों के सामने उन्होंने कहा कि प्रतिरक्षा मन्त्री एव आर्मी चीफ़ ने उन्हें विशेष वायुयान द्वारा तेज़पुर भेजा था कि वहाँ पहुँच कर वह मेरा इलाज करें। मेरे रोग का निरीक्षण करने के बाद उन्होंने कहा कि उनके विचार में उपयुक्त निदान एव चिकित्सा के लिए मुझे अबिलम्ब दिल्ली जाना होगा। लाल से जिन्हें मैं वर्षों से जानता था, मैंने तर्क किया कि वहाँ की विषम सांभ्रामिक स्थिति को देखते हुए मैं दिल्ली नहीं जाना चाहता था। लाल ने कहा कि यदि मेरी स्थिति चिन्ताजनक न होती तो वह कभी दिल्ली जा कर निदान एव चिकित्सा के लिए मुझसे न कहते। साथ ही उन्होंने आश्वासन दिया कि कुछ ही दिनों में निरोग कर के वह मुझे तेज़पुर वापस भेज देंगे। उन्होंने कहा कि थापर एव मेनन ने भी दिल्ली ला कर मेरे रोग का निदान करने एव उसकी चिकित्सा करने के लिए विशेष रूप से कह दिया था। उन्होंने यह भी तर्क दिया कि तेज़पुर की आर्द्र जल-वायु में मेरी स्थिति और चिन्ताजनक हो जाएगी। अनिच्छा से मैं उनके साथ दिल्ली के लिए चल पड़ा। किन्तु चलने से पहले मैंने आर्मी कमाण्डर लेपटी० जनरल सेन को सारी स्थिति बतला कर पूछा कि क्या मैं कर्नल लाल के परामर्श के अनुसार चिकित्सार्थ दिल्ली चला जाऊँ। सेन ने मुझे जाने की अनुमति दे दी। फ़ोन पर यह वार्ता मेरे बी० जी० एस० त्रिनेडियर के० के० सिंह के सामने हुई थी। इस तथ्य पर मैं इसलिए जोर दे रहा हूँ कि क्योंकि कुछ लोगो ने बाद में ईर्ष्याविश यह प्रचार किया था कि मैं बिना आर्मी कमाण्डर की अनुमति लिये, केवल प्रतिरक्षा मन्त्री कृष्ण मेनन के कहने से दिल्ली चला आया था। उस रात दिल्ली पहुँच कर मैं सीधे घर गया और अगले दिन सुबह निदान एव चिकित्सा के लिए सैनिक अस्पताल गया।

१६ अक्टूबर

सशस्त्र रोना के मुख्य चिकित्सक त्रिगेडियर (अब मेजर जनरल) इन्दर सिंह ने काफ़ी ध्यान से मेरा निरीक्षण किया। मेरे एक्स-रे लिये गए, विद्युत्-हृल्लेख (इलेक्ट्रो-कार्डियोग्राम) बनाये गए तथा मेरे रक्त का परीक्षण किया गया। मेरे हृदय-स्पन्दन की दर १०६ थी तथा मेरा रक्तचाप (ब्लड-प्रेसर) १६०/१२० था। निदान किया गया कि सागर-तल से अधिक ऊँचाई पर काफ़ी समय तक रहने एवं अधिक परिश्रम के कारण मुझे जलोदर (हृताकार बढ़ गया था तथा दोनों फेफड़ों में जल भर गया था) हो गया था। पिछले पन्द्रह दिन की मेरी गतिविधि पूछ कर इन्दर सिंह ने कहा कि जब १० तारीख की शाम को हायुंग ला में इस रोग का प्रथम आक्रमण हुआ था तो मुझे कुछ समय पूर्ण विश्राम करना चाहिए था लेकिन मैं उसके बाद लगातार भागदौड़ करता रहा था। उनके विचार से मेरा अभी तक जीवित रहना एक चमत्कार था। उन्होंने मुझे पूर्ण विश्राम का आदेश दिया। मेरी चिन्ताजनक स्थिति को देख कर उन्होंने मेरे कमरे के बाहर एक सन्तरी को खड़ा कर दिया ताकि मुझसे कोई न मिल सके और मैं पूरा आराम कर सकूँ। किन्तु भाग्य की विडम्बना देखिए कि लोगों ने इसको दूसरा ही रूप दे दिया और सन्तरी की उपस्थिति की दूसरी ही व्याख्या कर दी।

वाद में मुझे पता लगा (जब बीमारी से उठ कर मैं २६ अक्टूबर को तेज़पुर पहुँचा) कि १५-१६ अक्टूबर के बीच चीनियों को थाग ला के पास जोर-शोर से तैयारी करते देखा गया था। एक ओर तो हमारी कुछ बन्दूकें सांगधर पर वायुयान से गिराये जाते समय बेकार हो गई थीं जबकि दूसरी ओर चीनी अपने युद्धास्त्रों को पशुओं पर लाद कर थाग ला होते हुए पुल नं० ३ एवं पुल नं० ४ के सामने आ डटे थे। हायुंग ला और थाग ला की ऊँचाई समान ही थी लेकिन हमने कभी पशुओं द्वारा अपने आग्नेयास्त्रों को इस मार्ग से ले जाने की नहीं सोची। हमारे विशेषज्ञों ने कह दिया था कि पशु इस जगह भार ले कर नहीं चल सकते थे और हमने उनकी बात को वेद-वाक्य मान लिया था, उसकी सत्यता या असत्यता का पता लगाने का कभी प्रयास नहीं किया। (ये सब घटनाएँ मेरे मंच पर आने से पहले की हैं और जब मैं पहुँचा, तब इतना समय ही नहीं था कि यह प्रयोग कर के देखा जाता।) थाग ला के उत्तर में स्थित ले^{१५} तक चीनियों ने परिवहन-योग्य सड़क बना ली थी। हमारे मोर्चों पर अधिकार करने के बाद उन्हें यह तथ्य

१५. १९ तारीख को हमारे सैनिकों ने थाग ला क्षेत्र में एक जीप देखी थी जिसका अर्थ यह था कि आक्रमण (२० तारीख) से पूर्व चीनी सेना का कोई उच्चाधिकारी स्थल पर निरीक्षण करने आया था।

पता लगा होगा कि तोवांग में जिमिन्वांग (लगभग ३५ मील दूर), जिमिन्वांग
 के पुल नं० १ (लगभग १५ मील दूर) तथा पुल नं० १ से पुल नं० ५ (लगभग
 ७ मील दूर), सभी मोर्चे प्राप्त करने में पहाड़ी रास्तों से सम्बन्धित थे। (हमारी
 निकटतम सड़क अपने मोर्चे से साठ मील दूर तोवांग तक थी जबकि चीनियों
 की सड़क यांग ला से केवल दस मील दूर थी।)

यह हमारी नीति थी (घोर तदनुसार हमें सर्वोच्च सैनिक स्तर पर इस
 प्रकार के प्रादेश थे) कि हम अपने सीमान्त में सड़कों का निर्माण न करें।
 इस नीति का पालन करने के कारण हमें अपने सीमान्त में इधर-उधर जाने
 के लिए कुलियों का मुँह देना पड़ता था (जो पर्याप्त सख्या में मिलते नहीं
 थे) या स्वयं अपना सामान छोड़ कर ले जाना पड़ता था।

या जो कि हमें पाँच वर्ष पहले शुरू कर देना चाहिए था, जैसा कि चीनियों ने
 किया था। (सीमान्त सड़क संगठन का जन्म १९६० में हुआ था।) सड़क-
 निर्माण के लिए वित्तीय मजूरी देते समय लम्बी-चौड़ी बैटके होती एव अनेक
 प्रशासनिक विघ्न पड़ते घोर तब कही महीनो के बाद वह काम हो पाता जो
 सरकार को अविश्वस्य कर देना चाहिए था। हम बहुत देर में प्रागे घोर उमकें
 बाद भी घौमी गति से प्रागे बढ़े। चीनियों ने १९ दिना में अपनी तैयारियाँ
 गाद १९५५ में (तिब्बत पर अधिकार करने के बाद में) शुरू कर दी थी।

१७ तारीख को चीनियों ने सागली के नामने स्विन दम दम ला पर
 एक बटालियन ले कर अधिकार कर लिया। यह बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था जहाँ
 ने प्राग ला पर पहुँचा जा सकता था। १८ तारीख को उन्होंने दम दम ला से
 एक संवदल पुल नं० ५ की घोर भेजा। हमारे प्रादमियों ने उन पर गोली

चलाई घोर एक चीनी मारा गया। उसको दफनाते समय पता लगा कि वह
 कोई सैनिक न हो कर एक राजनीतिक कमिस्मर (मरकारी विभाग का अध्यक्ष
 या नोकरनेवा मन्त्री) था। १९ तारीख को अपराह्न में ५ बजे सागथर-स्विन
 हमारी चौकी ने सूचना दी कि लगभग २,००० चीनी प्राग ला में सागली की
 घोर बढ़ रहे थे। पुल नं० ४ एव लट्टे के पुल से भी २ राजपूत ने यही सूचना
 दी। विगेडियर दाल्बी ने सोचा कि चीनियों का प्रागला लक्ष्य त्वागली था।
 क्योंकि यहाँ वर्ष पड़नी शुरू हो गई थी, इसलिए दाल्बी ने मेजर जनरल
 निरंजन प्रसाद में कहा कि उनके त्रिगेड को २५ अक्टूबर तक मुम्पु लोट जाने
 की अनुमति दी जाए। निरंजन प्रसाद ने दाल्बी का यह सुझाव लेपटी० जनरल
 घेन के सामने रखा।

मेरी वह रात बड़ी बेचैनी में बीती। साँस लेने में मुझे बहुत कठिनाई हो
 रही थी घोर हृदय एवं छाती में मेरे सख्त दर्द था।

२० अशतघर

उस दिन मेरी प्रांल बहुत जल्दी मूल गई। रोग बहुत बढ़ा हुआ था। अभी तो भी नहीं बजे थे कि फ़ोन पर त्रिगेडियर के० के० सिंह ने तेजपुर से सूचना दी कि उस दिन अलख सवेरे चीनियों ने ढोला क्षेत्र में हमारे ७ त्रिगेड के मोर्चों पर आक्रमण कर दिया था। उस समय आमने-सामने लड़ाई चल रही थी और युद्ध का कोई स्पष्ट विवरण नहीं मिल पाया था। उन्होंने कहा कि वे दिन में फिर रिपोर्ट देंगे। यहाँ में भयंकर रोग से ग्रस्त और असहाय अवस्था में पड़ा था और वहाँ मेरे आदमी शत्रु से युद्ध-क्षेत्र में जूझ रहे थे।

बाद में मुझे पता चला था कि उस दिन सवेरे ४ बजे सांगली से सूचना मिली थी कि वहाँ चीनियों ने गोली चलानी शुरू कर दी थी। लगभग साढ़े चार बजे पुल नं० ४ के सामने चीनियों की तोपों के पास दो लाल सुखें रोश-नियाँ छूटीं। शायद यह चीनी आक्रमण^{१६} का संकेत था। पुल नं० ३ एवं ४ तथा सांगधर की ओर अनेक छोटी-बड़ी चीनी तोपें गरज उठीं और प्रथम किरण के साथ चीनियों ने पुल नं० ३, ४ एवं लट्ठों के पुल के बीच कई स्थानों से नामकाचू नदी पार कर ली।

एक दिन पहले जिस चीनी रेजीमेंट को सांगली की ओर जाते देखा था, अब वह सांगधर पर चढ़ने लगी। लगभग साढ़े आठ बजे वे लोग हमारे मोर्चे के विल्कुल नीचे पहुँच गए। अनेक आधुनिक आग्नेयास्त्रों से सन्नद्ध चीनियों की विशाल-संख्यक सेना ने पुल नं० ३ और ४ पर लगे हमारे मोर्चों पर धावा बोल दिया। थोड़ी देर के संघर्ष के बाद उन्होंने हमारे इन मोर्चों (जहाँ २ राजपूत तथा १/६ गोरखा थे) पर अधिकार कर लिया।

सात बजे तक त्रिगेडियर दालवी का त्रिगेड मुख्यालय भी जो उन्होंने कुछ दिन पहले पुल नं० २ एवं ३ के बीच स्थापित किया था, शत्रु के हाथों में पड़ गया। मुझे एक प्रत्यक्षदर्शी (चश्मदीद गवाह) ने बतलाया कि यह मोर्चा ठीक से लगाया नहीं गया था। पैराशूटों को भाड़ियों के चारों ओर लपेट कर बर्षा से बचत की गई थी। न कोई खाई खोदी गई थी और न कोई अय प्रतिरक्षात्मक मोर्चा तैयार किया गया था।

पीछे से हमारा सम्पर्क कई स्थानों पर पहले ही काट दिया गया था। त्रिगेड का वायरलैस प्रातःकाल ६ बजे से बन्द था। लगभग ८ बजे आसाम राइफ़ल्स के दो सैनिक पुल नं० २ पर पहुँचे और उन्होंने ६ पंजाब को सूचना

१६. शत्रु दिन में या रात में किसी भी समय आक्रमण कर सकता है। यह बात कई तत्त्वों पर निर्भर करती है। किन्तु सामान्यतः आक्रमण या तो भोर में होता है या दिनमुँदे धुँधलके में जब दूसरा पक्ष या तो उठ कर अपनी तैयारी में जुटा होता है या दिन भर की थकान के बाद विश्राम की सोच रहा होता है।

दो कि पुल नं० ३ एवं ४ शत्रु के हाथ में जा चुके थे और विज्रमाने भी शत्रु के अधिकार में था।

६ पंजाब का प्रहरी सैन्यदल (गस्ती टुकड़ी) जो पुल नं० २ से पुल नं० ३ की ओर गई थी, लगभग ६ बजे लौट आई। उसने सूचना दी कि हमारे त्रिगेड मुख्यालय का कोई पता नहीं था और वह सम्पूर्ण क्षेत्र चीनियों से भरा हुआ था।

सागधर की लड़ाई

चीनियों ने हमारे मोर्चे पर प्रातःकाल ५ बजे गोलाबारी शुरू की। हमारी तोपों ने भी जवाब दिया किन्तु हमारे पास बारूद बहुत कम था। इसके तुरन्त बाद चीनियों ने धावा बोल दिया। सत्या और शस्त्र, दोनों ही दृष्टियों से प्रसन्न हमारी गोरखा कम्पनी ने, जो हमारे तोपखाने की रक्षा कर रही थी, फामने-सामने की लड़ाई में शत्रु को छठी का दूध याद करा दिया किन्तु युद्ध में निर्वन को विजय नहीं मिला करती। इसी बीच ४ टिवीजन ने हेलीकॉप्टर से एक वायरलैस सेंट और एक सिगनल ऑफिसर सागधर भेजा। हेलीकॉप्टर ने वहाँ उतर कर अपने चारों ओर चीनियों को पाया। अनुमान है कि हेलीकॉप्टर के चालक पलास्ट लेफ्टी० सहगल को चीनियों ने गोली मार दी और हेलीकॉप्टर को अपने अधिकार में कर लिया। सागधर पर ग्यारह बजे से पहले ही शत्रु का अधिकार हो गया था।

यहाँ से शत्रु कारपो ला १ के मार्ग से लुम्पु की ओर बढ़ा जहाँ वह २१ तारीख को अपराह्न (दोपहर बाद) में पहुँच गया। उसी दिन वह पुल नं० १ से ४ तक सब पुलों पर अधिकार कर के हाथुंग ला और विज्रमाने पहुँच गया। २२ तारीख को शत्रु लुम्पु और विज्रमाने से क्षति होता हुआ तोबाग की ओर बढ़ा।

सागधर पर शत्रु का अधिकार हो जाने के बाद, सागली पर डटी हमारी कम्पनी निकटवर्ती भूटान में तापी गोग जोग की ओर पीछे हट गई। अब लुम्पु से मेजर जनरल निरंजन प्रसाद त्रिगेड के यूनिटों का सञ्चालन कर रहे थे क्योंकि त्रिगेड कमाण्डर शत्रु के हाथों में पड़ गया था। निरंजन प्रसाद ने ६ पंजाब को धादेस दिया कि वह हाथुंग ला पर अधिकार कर ले तथा ४ ब्रेनाटियर को धादेस दिया कि वह पुल नं० १ पर डटी रहे तथा शाम को हाथुंग ला की ओर हट आए। २१ तारीख की सुबह हाथुंग ला भी शत्रु के हाथों में चला गया। ६ पंजाब लुम्पु के लिए पीछे हटी और युमला पार के तापी गोग जोग की ओर चली गई। ब्रेनाटियर, गोरखा और राजपूत ने भी उसी मार्ग का अनुसरण किया। मार्ग में उन्हें काफ़ी कठिनाइयाँ भेलनी पड़ी—१६,००० से १७,००० फुट की ऊँचाइयाँ पार करनी पड़ीं और वह भी कड़कती सर्दों में,

बिना पर्याप्त वस्त्रों के और भूले पेट । मार्ग में रोगों ने भी आक्रमण किया । त्रिगेड का अधिकांश भाग ७ नवम्बर तक दारंग पहुँच गया था ।

२२ अक्टूबर

लेफ्टी० जनरल सेन तोवांग पहुँचे । उनके पहुँचने के कुछ देर बाद ही चीनियों ने तोवांग और जांग पर एक डिवीजन सेना ला कर निम्नलिखित दिशाओं से आक्रमण कर दिया :

- (१) लुम ला-तोवांग
- (२) वुम ला-तोवांग
- (४) खिज्माने-सोमात्सो-तोवांग
- (४) वुम ला-लांदा-जांग

लेफ्टी० जनरल सेन ने तोवांग में पड़ी सेना को जांग के दक्षिण में पीछे हटने का आदेश दिया । उनका विचार था कि शत्रु हमारी सेना को चारों ओर से घेर कर नष्ट कर देगा । उसके बाद वह जल्दी से तोवांग से चल दिए । (२५ तारीख को शत्रु ने तोवांग को बिना किसी विरोध के अपने अधिकार में कर लिया । उस समय मैं दिल्ली में अस्वस्थ पड़ा था ।)

चीनी एवं पाकिस्तानी रेडियो ने शत्रुतावश कहा कि मैं एवं कुछ अन्य कमाण्डर युद्ध-क्षेत्र से भाग गए थे । नियति की क्रूरता देखिए कि कुछ राजनीतिक एवं व्यक्तिगत कारणों से मेरे कुछ देशवासियों ने इस भूठ के प्रचार करने का ठेका अपने सिर ले लिया जैसे कि वे शत्रु के एजेण्ट थे । इस संकट-काल में संगठित मोर्चा बनाने की अपेक्षा जनता एवं प्रेस के कुछ भाग ने इस स्थिति के लिए नेहरू को, मेनन को और मुझे दोषी ठहराया । कुछ ने तो यहाँ तक कहा कि चीनियों पर आक्रमण करने का परामर्श सरकार को मैंने दिया था । इतना तक कहा गया कि ४ कोर के कमाण्डर-पद पर मेरी नियुक्ति होने से सैनिकों का मनोबल गिर गया था । (उस समय तक ४ कोर की कमान सँभाले मुझे तो पन्द्रह दिन ही हुए थे जबकि दूसरों को इस क्षेत्र में कमान सँभाले हुए काफ़ी समय बीत गया था । हज़ारों सैनिकों का मनोबल मेरे कुछ दिन कमान करने से कैसे गिर सकता था !) लोगों की जवान¹⁰ यहीं नहीं

१७. कुछ समय बाद एक समाचार-पत्र ने लिखा कि नेफ़ा के युद्ध का संचालन में रोग-शय्या से कर रहा था । जबकि सचाई यह है कि अपनी दस दिन की बीमारी में मैंने केवल एक आदेश दिल्ली से ४ कोर को भेजा था और वह भी उच्च सैनिक अधिकारियों के कहने पर । वह आदेश त्रिसंगम के निकट स्थित सांगली चौकी के सम्बन्ध में था । पाँच दिन की बीमारी के बाद तो मेरे स्थान पर कार्यवाही के रूप में काम करने के लिए लेफ्टी० जनरल हरवरश सिंह को नियुक्त कर दिया था ।

को कर्तु उन्होंने यह भी कहा कि मैं नजरबन्द था। (इस घगत्य के जन्म-
तामों ने मेरे चरित्र पर तो साटन लगाया ही जो उनको घातकिक इच्छा
थी किन्तु उनके साथ-साथ उन्होंने भारतीयों एव गुड-शेप में जूझ रहे भारतीय
सैनिकों के मनोबल को कम करने में शत्रु के प्रयत्नों में भी सहयोग दिया।
उन्ने श्रेयस्कर यह रहता कि वे स्वयं किमी-न-किमी रूप में गुड-शेप में पहुँचने
की देय सेवा करते।)

२१ से २५ घरतुबर

२१ तारीख के घागपाठ नेहरू और मेनन मुझे देखने मेरे घर पर आए।
मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछनाछ करने के बाद उन्होंने मुझमें मेरी व्यक्तित-
त्व^{१६} क्षमता में पूछा कि चीनियों की घपनी सीमा में निकाल बाहर करने का
का मान था। इस सम्बन्ध में मैंने तीन मुझव दिने : प्रथम, हिमालय के
निष्पवर्ती क्षेत्र में थांमान स्थिति को देखते हुए भारतीय सेना की कमान एवं
नियन्त्रण को पुनर्गठित करना चाहिए; द्वितीय, घपनी सेना की सस्या एवं
धनता को घपनी शक्ति के अनुसार बढ़ाना चाहिए तथा तृतीय, किमी विदेशी
शक्ति या कुछ विदेशी शक्तियों में सैनिक सहायता लेनी चाहिए। अन्तिम सुभाव
मैंने दर्शाए दिया था कि तत्कालीन परिस्थितियों में ऐसा करना अपरिहार्य
था। नेहरू और मेनन को मेरा सुभाव प्रिय नहीं लगा यद्यपि सेना को बढ़ाने
वाली बात उन्होंने स्वीकार कर ली।

कारण तो मुझे मालूम नहीं—गिरती हुई साप्रातिक स्थिति (नोवाग का
पतन) या या घन्य कुछ—किन्तु इतना अवश्य मालूम है कि मेनन और नेहरू
ने, इस सम्बन्ध में पुनर्विचार करना प्रारम्भ कर दिया। २६ तारीख को कुछ
उत्तेजित-से मेनन मेरे पास आए और मुझमें बोले कि जो सुभाव मैंने पहले
दिन दिये थे, उनको मैं यथाशीघ्र लिख कर उन्हे दे दूँ। तब इस सम्बन्ध में
मैंने घपनी रोग-शय्या में ही कुछ विदोषजों से अनेक बातों पर परामर्श किया
और सक्षेप में अपने सुभावों को लिखवा दिया। मन्त्रि-मण्डल के सधिव खेरा
मेरे घर में सुभावों का वह कागज ले गये थे। इसके बाद मैंने उन हथियारों
एव दूगरे सामान की एक सूची तैयार की जो हमें आयात करने थे। सरकार
ने सेना भी बढ़ाई और विदेशों से भी सैनिक सहायता ली किन्तु बाद में। यदि
नेहरू, मेनन और कुछ दूसरे सज्जनों ने सेना की बात मान कर समय रहते
उपयुक्त कदम उठाया होता तो इस युद्ध की कहानी ही कुछ और होती।

[विदेशों से सहायता लेने के लिए नेहरू और मेनन को मेरे परामर्श देने
के बाद, प्रनिरक्षा मन्त्रालय के उत्साही सह-सधिव सर्रीन ने परराष्ट्र मन्त्रालय

१८ इस सकट की घड़ी में कुछ अन्य लोगों से भी उनकी व्यक्तगत क्षमता
में परामर्श लिया गया था।

के सचिव एम० जे० देसाई से जोर दे कर कहा कि इस संकट काल में हमारे प्रधान मन्त्री को सैनिक सहायता के लिए विश्व के समस्त राष्ट्रों से अपील करनी चाहिए। देसाई ने नेहरू से कहा जिन्होंने अन्ततः ऐसी अपील सब देशों से की—पाकिस्तान से भी की। अमरीका, ब्रिटेन, कनाडा, आस्ट्रेलिया एवं कुछ अन्य देशों ने तो हमें सैनिक सहायता देने का वचन दिया जबकि लगभग पचहत्तर प्रतिशत देशों ने हमारा नैतिक समर्थन किया। इससे पहले कि हम विदेशों से प्राप्त सैन्य उपकरणों को अपने सैनिकों को दें और उन्हें उनके चलाने का प्रशिक्षण दें, लड़ाई समाप्त हो गई !]

१९ तारीख एवं २४ तारीख के बीच में थापर मुझसे तीन-चार बार मिले। उन्होंने मुझसे कहा कि रोगमुक्त होने पर मैं अपनी कमान में न जा कर उनका सी. जी. एस. ही बना रहूँ। मैंने उत्तर दिया यदि मैं कमान सँभालने के इतने शीघ्र और वह भी अपनी सेना के पीछे हटने पर, वापस दफ्तर में चला आता हूँ तो इसका कारण चाहे जो भी हो, लोग यह समझेंगे कि या तो मुझसे कमान छीन ली गई थी या मैं स्वयं डर कर कमान छोड़ आया था। इसलिए, मुख्यालय में मेरे कुर्सी सँभालने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था। मैंने थापर से स्पष्ट कहा कि स्थिति कितनी ही प्रतिकूल क्यों न हो, मुझे अपने सैनिकों के पास युद्ध-क्षेत्र में पहुँचना चाहिए और मैं वहीं जाऊँगा। अन्त में थापर सहमत हो गए।

२६ से २९ अक्टूबर

२६ तारीख को मैंने ब्रिगेडियर इन्दरसिंह से कहा कि वह मुझे नेफ़ा वापस जाने दें। उन्होंने उत्तर दिया कि मेरी स्थिति अभी सन्तोपजनक नहीं थी और मुझे कम-से-कम कुछ सप्ताह और रुकना होगा। मैंने उन्हें समझाया कि चिकित्सा की दृष्टि से उनका कथन ठीक था किन्तु मानवीय दृष्टि से नहीं। जब युद्ध-क्षेत्र में देश के भाग्य का निर्णय हो रहा हो और मुझ पर भाँति-भाँति की कीचड़ उछाली जा रही हो, तब मैं अपने नाम पर अपने जीवन को न्योछावर करना श्रेयस्कर समझता था। सुविख्यात चिकित्सक होने के साथ-साथ इन्दरसिंह बहुत सज्जन एवं संवेदनशील थे, इसलिए उन्होंने मेरी बात मान ली और कहा कि २९ तारीख को वह मुझे जाने की अनुमति दे देंगे। साथ ही उन्होंने यह आदेश दिया कि पहाड़ियों पर मुझे कतई नहीं चढ़ना था (जिस आदेश की मुझे तेज़पुर पहुँचने के एक-दो दिन के भीतर ही अवज्ञा करनी पड़ी क्योंकि मेरे सामने और कोई मार्ग नहीं बचा था)। मुझे इससे बड़ी प्रसन्नता हुई कि उन्होंने मेरी प्रार्थना को स्वीकार कर लिया और २८ तारीख को मुझे थोड़ा-सा घूमने-फिरने की अनुमति दी। २९ तारीख को मैं तेज़पुर के लिए वायुयान में बैठ गया।

इसमें इतने गम्भीर रूप से रोगग्रस्त था और इसमें मेरे निन्दक यह प्रचार कर रहे थे कि मैंने बीमारी का बहाना बना रखा था। धन्य हैं वे निन्दक जिन्होंने विद्वा (जीन) पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। उनके अनुसार इतने गम्भीर रूप से बीमार पड़ जाना भी मेरे हाथ में था। मैं तो इतना ही कर चला था कि बिना पूरी तरह रोगमुक्त हुए फिर मैं अपनी झूठी पर पहूँच जाऊँ। सामाजिक कार्यवादियों में सक्रिय भाग लेने में मेरा स्वास्थ्य कभी बाधक नहीं बना। डोला, तोबांग, से ला, बीमारी ला और न वालों में हमारी पराजय का कारण न मेरा रोगग्रस्त होना था और न उसके बाद रोगमुक्त होना। इस पराजय के कारण तो बहुत गहरे थे जिनका कि कुछ लोगों को उस समय भी कुछ-कुछ ज्ञान था किन्तु उन्होंने कुछ कारणों (राजनीतिक और व्यक्तिगत) से उस समय चुप रहना ठीक समझा और मुझे व्याम-प्रहारों का शिकार बनने के लिए छोड़ दिया।

जब मैं तेजपुर-स्थित अपने मुख्यालय में पहुँचा तो निरजन प्रसाद मेरी प्रतीक्षा कर रहे थे। यद्यपि उनको आदेश मिल चुका था कि वह अपनी रिपोर्ट बीबी दिल्ली भेजा करें किन्तु उन्होंने कहा कि एक बार मुझमें मिलने के बाद वह ऐसा करेंगे। वह बहुत उत्तेजित थे। उन्होंने मुझे बताया कि लेपटी० बनरस सेन ने उनके साथ घोर प्रत्याय किया था। उनमें कमान छीन ली गई थी क्योंकि सेन ने उनके विरुद्ध धार्मिक चीफ से शिकायत की थी कि इस सम्प्रदाय में उनमें नेतृत्व की कमी पाई गई थी। (मैं यह कह सकता हूँ कि जब तक निरजन प्रसाद ने मेरे अधीन काम किया था, मुझे उनकी नेतृत्व-शक्ति में कोई कमी नजर नहीं आई।)

तब निरजन प्रसाद ने अपने साथ किये गए प्रत्याय के विरुद्ध एक लिखित धमिवेदन (रिप्रेजेंटेशन) उच्चाधिकारियों को प्रेषित किया जिस पर मैंने उनके धनुष टिप्पणी दी। इसके बाद वह सेना के सर्वोच्च कमाण्डर, भारत के राष्ट्र-पति से मिले। अन्त में उनकी विजय हुई और उन्हें १५ कोर का चीफ ऑफ टाक नियुक्त कर दिया गया।

२६ अक्टूबर

'न्यूयार्क टाइम्स' ने १३ अक्टूबर १९६२ के अपने सम्पादकीय में लिखा था : 'नेफ्रा में विद्येप कोर की कमान लेपटी० जनरल कोन को गौपी गई है जो भारत के दृढ़तम एवं योग्यतम सैनिकों में गिने जाने हैं।' इन पत्रों ने अपने २६ अक्टूबर १९६२ के अंक में पुनः मेरे विषय में लिखा : '.....गार्ग, प्रत्युत्पन्नमति एवं अनयक परिधम के लिए ध्या प्रगिड है। द्वितीय विश्व युद्ध में वर्मा में जापानियों के विरुद्ध तथा १९४८ में कर्नोर में ध्याने युद्ध में सक्रिय भाग लिया है।.....अनेक बार कष्टसाध्य धमियानों में ध्याने करने के

लिए आपने स्वयं को स्वेच्छा से प्रस्तुत कर दिया है। (उदाहरण के लिए) १९५५ में आप हिमाच्छादित रोहतांग दर्रे पर चढ़े ताकि दर्रे के उस पार संकट में फँसे अपने कुछ साथियों को बचा सकें। १९६० में आप नागा पहाड़ियों, नेफा, सिक्किम एवं लद्दाख की दूरस्थ चौकियों पर पैदल चल कर पहुँचे..... लद्दाख में इन सीमान्त-स्थित चौकियों पर जाते समय भयंकर भूभावात ने आपके वायुयान (हेलीकॉप्टर) को इतना प्रबल बक्का दिया कि वह एक विशाल हिमखण्ड से टकराते-टकराते बचा।'।

३० अक्टूबर से ७ नवम्बर

यद्यपि त्रिगेडियर इन्दरसिंह ने पहाड़ियों पर चढ़ने को मना कर दिया था, किन्तु समय की माँग के अनुसार मुझे वालोंग तथा से ला नामक मोर्चों पर वहाँ के दोनों डिवीजनल कमाण्डरों से तत्कालीन सांग्रामिक स्थिति पर विचार-विमर्श करने के लिए जाना पड़ा। अपनी कोर के मुख्यालय में भी मैंने अनेक सांग्रामिक एवं प्रशासकीय सूत्रों को एक साथ जोड़ कर युद्ध-विषयक योजना तैयार की।

न मालूम क्यों कृष्ण मेनन ने भारतीय एवं विदेशी पत्रकारों को नेफा के अगले मोर्चों पर जाने से मना कर दिया था। इनमें से अनेक पत्रकारों ने मुझ पर दबाव डाला लेकिन यदि मैं अनुमति देता था तो वह सरकारी निर्देश के विरुद्ध थी। यह आदेश मेनन के व्यक्तिगत आदेशों में से एक था। किन्तु इधर ये पत्रकार, जो न मालूम कितनी दूरी पार कर के तेज़पुर पहुँचे थे और अपने जीवन की चिन्ता किये बिना अगले मोर्चों पर जा कर युद्ध का आँखों-देखा हाल जनता तक पहुँचाना चाहते थे, बहुत दुखी थे। इसलिए, मैंने मेनन के आदेश की अवज्ञा कर के इनमें से कुछ पत्रकारों को (वाद में) अगले मोर्चों पर भेज दिया। इन पत्रकारों में 'टाइम' के एडवर्ड वेहर^{१६} भी थे। पहले दिन रात को जब वह तेज़पुर में ही थे तो उनके सोने पर उनकी जुरावियों का गाय ने भोजन कर लिया था। हमारे अगले मोर्चों पर हो आने के बाद उन्होंने लिखा : 'सैनिकों या परिवहन के लिए ऐसे परीक्षण-स्थल की योजना शैतान के दिमाग के भी बाहर की चीज़ थी।' द्वितीय विश्व युद्ध के मध्य वेहर भारतीय सेना में तीन वर्ष तक ब्रिटिश ऑफिसर के रूप में काम कर चुके थे।

१९. जब वेहर को यह पता लगा कि मैंने स्वेच्छा से सेना से अवकाश ग्रहण कर लिया है तो उन्होंने मुझे लिखा : 'जो लोग गत वर्ष अक्टूबर-नवम्बर में भारत में थे, उन्हें मालूम है कि उस समय आपके सामने कितनी जटिल समस्याएँ थीं। उस जटिल एवं प्रतिकूल परिस्थिति में जितना आपने किया, उससे अधिक कोई नहीं कर सकता था।' इस समय वेहर फ्रांस में 'सेटरडे ईटिंग' के सहायक सम्पादक थे।

८ नवम्बर

यहाँ मैं यह अवश्य बतला दूँ कि जब मैंने अपनी पहली साप्ताहिक योजनाएँ तैयार की थीं तो मेरे वी० जी० एस०, त्रिगेडियर के० के० सिंह ने मुझे प्रमूख सहयोग दिया था। वाद की संकटपूर्ण स्थितियों में भी वह मेरे लिए अति-स्वतन्त्र मित्र हुए।

पूर्वी कमान और सेना मुख्यालय को मैंने सन्देश भेजा जिम्मे मैंने निम्न-लिखित तीन बातों पर बत दिया :

- (अ) तोवाग क्षेत्र में शत्रु दो डिवीजन सेना इकट्ठी कर रहा था और सम्भावना थी कि वह पूर्व एवं पश्चिम की ओर से हमारे से ला मोर्चे पर आक्रमण कर दे।
- (आ) माचुका पर भी शत्रु काफी जोर-शोर से तैयारी कर रहा था और वहाँ भी यह आशंका थी कि वह उपद्रव खड़ा करे।
- (इ) बालोंग-हयुलियाग पर भी शत्रु एक डिवीजन सेना जमा कर रहा था।

मैंने यह रिपोर्ट भी दी कि ७ नवम्बर को बालोंग पर चौथी बार आक्रमण हुआ था। मैंने इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख किया कि एक-टन की गाड़ियों एवं परिवहन वायुयानों के अभाव में अगले मोर्चों पर अपेक्षित सामग्री पहुँचाने का हमारा काम रुका पड़ा था। जो बात मैंने आर्मी चीफ एवं आर्मी कमाण्डर को ७ नवम्बर को कही थी जब वे तेजपुर आये थे, वह मैंने इस संकेत-सन्देश (सिग्नल) में भी दोहरा दी कि इन क्षेत्रों में शत्रु के बढ़ते हुए उपद्रव को रोकने के लिए मुझे दो अतिरिक्त डिवीजनों एवं सहायक युद्ध-सामग्री की बहुत बड़ी जरूरत थी। लेकिन मिला मुझे केवल एक ब्रिगेड और वह भी १७ नवम्बर तक। (यद्यपि एक डिवीजन और आया किन्तु तब बहुत देर हो चुकी थी।) अपनी जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए न मेरे पास पूरी सेना थी, न एस्त्र थे और न ब्यूह-रचना मेरे अनुकूल थी।

सेना मुख्यालय दो कारणों से मेरी सहायता करने में विवश था। मुझे प्रबलत्व सैन्य-सहायता देने के लिए पंजाब या कश्मीर के पाकिस्तानी मोर्चों से कुछ सेना को हटाना पड़ता था जिसके लिए सरकार ने पापर को अनुमति नहीं दी। दूसरे, सेना मुख्यालय के पास न अतिरिक्त सड़क-परिवहन बचा था और न हवाई-परिवहन। मेरी ओर में पहले दो ब्रिगेड थे और अब दो कमजोर डिवीजन। एक डिवीजन और भी आया लेकिन बहुत बाद, जब मैं ला और बोमदी ला पर शत्रु अधिकार कर चुका था।

८ नवम्बर को अपने २ एवं ४ डिवीजनों के लिए क्रमशः मेरी दैनिक आवश्यकता भी २६० टन हवाई-अनुपस्थान (एयर मेनटेनेन्स) की और एक-

टन वाली १२०० लीरियों की। (मिसामारी से से ला आने-जाने में एक लीरी को चार दिन लगते हैं और मुझे ३०० लीरियाँ रोज भेजनी थीं।) किन्तु मुझे केवल ३०० लीरियाँ मिलीं। हवाई-परिवहन भी केवल ६०-८० टन रसद ही रोज पहुँचा पाय। इसलिए, हमारी तैयारी बहुत कम थी, हमारे पास साहस एवं मनोबल के अतिरिक्त लगभग हर चीज़ बहुत कम थी।

६ से ११ नवम्बर

४ तथा २ डिवीज़नों के कमाण्डरों को, जिनके दोनों के ही नाम पठानिया थे, मैंने क्रमशः ६ तथा ११ नवम्बर को सांग्रामिक निर्देश भेजे (जिनका सार मैंने पहले ही आर्मी कमाण्डर एवं आर्मी चीफ को तेजपुर में बतला दिया था)। इन निर्देशों में मैंने अपने कमाण्डरों को शत्रु की इस आदत से सचेत किया था कि वह हमारे सैनिकों को तो अगले मोर्चों पर अटकाये रखता था तथा स्वयं पीछे से हमला करता था और हमारे पीछे के सम्पर्क-मार्गों को नष्ट कर देता था। ४ डिवीज़न के जी० ओ० सी० को मैंने शत्रु के सम्भावित कदम के विषय में भविष्यवाणी की थी कि तोवांग पर अपना अधिकार कर लेने एवं दम ले लेने के बाद शत्रु अब तोवांग चु नदी के दक्षिण में आगे बढ़ेगा और बोमदी ला को अपना लक्ष्य बनाएगा। मैंने कहा कि मेरे विचार से शत्रु का सम्भावित कदम यह होगा :

- (अ) नूरानग पर हमारे सैनिकों का घेरा डाल कर से ला स्थित हमारे मोर्चे की ओर बढ़ना,
- (आ) सेंज पर हमारा पीछे से सम्पर्क समाप्त कर के से ला पर पीछे से आक्रमण करना,
- (इ) दिरांग जोंग पर अधिकार करना तथा
- (ई) ला-थुंगरी जोंग होते हुए बोमदी ला को हस्तगत करना।

मैंने उन्हें आदेश दिया कि वह अपने सैनिकों के साथ नूरानग मोर्चे पर डटे रहें, तोवांग चु नदी के किनारे अपना प्रभुत्व बनाये रखें और से ला एवं बोमदी ला का पूरा ध्यान रखें। मैंने उन्हें यह आदेश भी दिया कि से ला वाली सड़क पर वह कुछ अपनी गश्ती टुकड़ियों को तैनात कर दें ताकि शत्रु सड़क को किसी प्रकार का नुकसान न पहुँचा सके। मुख्य सड़क के पश्चिम और उत्तर से बोमदी ला के प्रवेश-मार्गों पर सावधान रहें। सैनिकों में आक्रामक भावना को जागृत करने के लिए वह आक्रामक गश्ती टुकड़ियों का गठन करें जो शत्रु के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करें। ऐसा करने से हमारे सैनिकों का मनोबल ऊँचा रहेगा।

११ नवम्बर को २ डिवीजन के जी० सी० प्रो० को मैने जो निर्देश भेजे, उनके मन्त्रिमन्त्री की कि वालों के हमारे मोर्चे पर एक डिवीजन में सम्मिलन करना। इसलिए हमारे लिए यह जरूरी था कि हम उनके अपने वायु-मर्कों के उतरने का स्थान न पता लगने दें। साथ ही मैने यह सूचना भी दी कि मैंने ब्यूह-रचना अनुमति देगी, मैं वालों पर दो ब्रिगेड टुकड़ों कर दूंगा।

एब मैं नेत्रों की कुछ लड़ाइयों का वर्णन करूंगा जो नवम्बर १९६२ में भारत में केमान की अवधि में लड़ी गई थीं। इन लड़ाइयों का अध्ययन करते वनर इन तथ्यों को ध्यान रखना चाहिए—हमारी सेना की अपेक्षा उनके पास बहुत बड़ी सेना थी, यद्यपि हमारी सीमा पर उनकी काफी सेना थी किन्तु तिब्बत में भी उनकी काफी सेना पड़ी हुई थी जबकि हमारे पास न केवल इस क्षेत्र में ही सेना कम थी यद्यपि सारी सीमा पर कम थी, उनका ब्यूह-कोशल हमारे ब्यूह-कोशल से श्रेष्ठ था एब उनके प्रापत्कालीन उपकरण हमारे उपकरणों से उत्तम थे; उनके शस्त्र हमारे शस्त्रों की तुलना में प्राधुनिक एवं अधिक मात्रा में थे; पीछे में उनका सम्पर्क-मार्ग अधिक सुगठित एवं श्रेष्ठ था विशेषतः फलस्वरूप वे अपने अगले मोर्चों पर अपेक्षित सेना और सामग्री सीधे पहुँचा देते थे।

वालों का युद्ध

वालों नेपा के पूर्वी कोने पर तथा भारत, तिब्बत एवं बर्मा के त्रिसंघन के निकट स्थित है। इससे निकटवर्ती सड़क, इसके दक्षिण में १०० मील दूर तक है। सागर-तल से इसकी ऊँचाई ५०००-६००० फुट के बीच है और इसकी निकटवर्ती पहाड़ियाँ १०,००० फुट से १५,००० फुट तक ऊँची हैं। इस मोर्चे पर २ डिवीजन का ११ इन्फैंट्री ब्रिगेड था जिसमें ४ बटाल, ६ कुमायूँ एवं ३/३ गोरखा बटालियन थीं। इसके मुकाबले पर चीनियों के पहले दो और बाद में तीन ब्रिगेड थे। इस मोर्चे पर एक के आक्रमण तो प्रारम्भ से ही हो रहे थे किन्तु हमारे ब्रिगेड ने बड़ी वीरता से उनका मुकाबला किया था। अपनी अनेक कमियों एवं प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद भी हमारे सैनिकों ने उनको भागे नहीं बटने दिया था।

जब मुझे सूचना मिली कि यहाँ लड़ाई छिड़ गई थी तो मैं वहाँ के लिए चल पड़ा। (यद्यपि एक बार, दस दिन पहले भी मैं वहाँ हो आया था।) मार्ग में हयुतियांग का प्रतिरक्षा-प्रबन्ध देखने के लिए रुक गया, इसलिए वालों

२०. २ डिवीजन के अधीन ११ ब्रिगेड था जो वालों में था तथा ५ ब्रिगेड था जो केन्द्रीय क्षेत्र में था जहाँ कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। मेरे काफी प्रयत्न करने पर भी यह डिवीजन अन्त तक भारी हो रही।

पूर्वाह्न में पहुँचा। मेरे साथ ३/३ गोरखा के जी० एस० आ० १, लेफ्टी० कर्नल ए० एम० बोहरा भी थे।

अभी मैं अपने 'ग्राँटर' से नीचे उतरा ही था कि हवाई-पट्टी से २०० गज दूर पर एक विस्फोट हुआ। ११ ब्रिगेड^१ के कमाण्डर, ब्रिगेडियर 'नवीन' रावले ने बताया कि शत्रु ने यह विस्फोट शायद हवाई-पट्टी का पता लगाने के लिए किया था। बाद में पता चला कि वह हमारा ही 'बम का गोला' था जो हमारे वायुयान ने गिराया गया था किन्तु पैराशूट न खुलने के कारण फट गया था। हवाई-पट्टी से मैं ४ सिक्ख के मुख्यालय की ओर बढ़ा जिसके निकट ही लड़ाई चल रही थी। लड़ाई का कोलाहल पहाड़ियों में गूँज रहा था। ४ सिक्ख की एक कम्पनी आगे गश्त पर गई थी जो शत्रु की विशाल बाहिनी से टकरा बैठी। इस मुठभेड़ में हमारे दो जवान मारे गए थे एवं सात घायल हुए थे। मैंने इन शवों और घायलों को स्ट्रेचर पर आते देखा। इन लोगों को छोटे-छोटे छर्रे लगे थे जिससे पीड़ा बहुत भयानक हो रही थी। अस्पताल ले जाये जाने से पहले 'रेजीमेंटिय उपचार शाला' (रेजीमेंटल एड पोस्ट) पर इनका प्रथमोपचार (फ़्रस्ट एड) किया गया। उसके बाद घण्टों उन्हें ऊबड़-खाबड़ भूखण्ड पर ढोया गया। (मैंने उच्च अधिकारियों से कुछ हेलीकॉप्टरों की लिखित माँग की ताकि इन घायलों को शीघ्र अस्पताल पहुँचाया जा सके और उन्हें कम-से-कम पीड़ा सहन करनी पड़े। लौटते हुए ये हेलीकॉप्टर गोला-बारूद एवं खाद्य-सामग्री ला सकते थे।)

अभी सिक्ख कम्पनी शत्रु से लोहा ले ही रही थी कि हमने एक और कम्पनी को आगे बढ़ाया कि वह निकटवर्ती त्रिसंगम पर अपना अधिकार कर ले। भय यह था कि कहीं चीनी त्रिसंगम पर पहुँच गए तो हवाई-पट्टी पर उनका प्रभुत्व हो जाएगा। यद्यपि इस कम्पनी पर शत्रु की काफ़ी गोलियाँ पड़ीं किन्तु इसने अपने लक्ष्य पर पहुँच कर अपना मोर्चा जमा लिया। अभी मैं ४ सिक्ख के मुख्यालय में ही था। अब चीनी हमारे निशाने पर आ गए। एक ओर तो डोंग से हमारी गोलियाँ बरसीं और दूसरी ओर, वालोंग से हमारी बड़ी तोपें गरजीं। इस दोहरी मार से चीनी घबड़ा उठे। इसी समय हमारे ब्रिगेड ने ६ कुमायूँ को आदेश दिया कि वह दो कम्पनियाँ तुरन्त आगे बढ़ा दे ताकि हमारी यह सफलता सामयिक ही न रह जाए। यह माना कि त्रिसंगम तक का मार्ग बड़ा चट्टानी एवं खड़ा था किन्तु यह समय इन सब बातों के सोचने का नहीं था। ६ कुमायूँ ने इस आदेश के पालन करने में कुछ अनावश्यक विलम्ब लगाया और चीनी हम से पहले मोर्चा मार ले गए।

२१. मैं इस ब्रिगेड में दो बार रह चुका था—१९३९ में लेफ्टीनेंट के रूप में तथा १९४८ से १९५२ तक इसके कमाण्डर के रूप में।

बालोग में रात गुजारने के बाद मैं १३ तारीख को घलोंग, लूटिंग घोर चबूका होता हुआ तेजपुर लौट आया। १४ तारीख को चीनियों ने बालोग के हारे एक महत्वपूर्ण मोर्चे पर प्राक्रमण कर दिया घोर इसके कुछ भाग पर परिहार भी कर लिया, फलतः हमारी सेना को प्रसंग तक हटना पडा। घब मुझे बड़ी चिन्ता हुई। यदि मनु इसी प्रकार घागे बढ़ता गया तो बालोंग-स्थित हरावे हवाई-पट्टी पर भी वह अधिकार कर लेगा।

मैंने सोचा कि बालोग की लड़ाई में मैं स्वयं उपस्थित रहूँ। इस समय मेरे पुपे रिप्टी मेजर जनरल डिल्लन भी दिल्ली में आ गए थे। मेरे कहने पर वह भी मेरे साथ चलने को तैयार हो गए। १५ की दोपहर को हम तेजपुर में चले और मौसम खराब हो जाने के कारण रात को तेजूरक गए। १६ नवम्बर की रात में फिर चार पड़े घोर लगभग पांच बजे बालोंग पहुँच गए। लडाई इस समय भी जोरों पर थी। बन्दूकों घोर तोपों हमारे पास ही गरज रही थी। चीनियों ने पूरा डिवाइजन ले कर हम पर प्राक्रमण किया था और हमारे मोर्चों को छिन-बिन्न कर दिया था।

उसी प्रातःकाल, कुछ समय बाद मेजर जनरल डिल्लन दिल्ली को लौट गए। जाने से पहले उन्होंने मुझे भी अपने साथ चलने के लिए कहा किन्तु मैंने उन्हें मना दिया कि इस संकट काल में अपने सैनिकों को अकेला छोड जाना मेरे लिए सम्भव न था। और इस ब्रिगेड की तो एक समय मैंने कमान भी भी थी, इसलिए इसमें तो मुझे वैसे भी लगाव था।

४ सिक्ख के कमाण्डिंग ऑफिसर ने ब्रिगेड मेजर, मेजर अशोक हींडू को सूचित किया कि उन पर चीनियों का दबाव बढ़ता जा रहा था। ११ ब्रिगेड के कमाण्डर ने मेरे सामने उन्हें आदेश भेजा कि वह अपने मोर्चों को बिल्कुल न छोड़े, वही डटे रहें। सहायता के लिए ४ डोगरा को वायुयानों से उतारा जा रहा था। किन्तु इस भूलखण्ड से अपरिचित होने के कारण उन्हें वस्तुस्थिति समझने में देर लग रही थी।

बालोग के हमारे मोर्चों के बीच से एक नदी बह रही थी। इसके दाएँ किनारे एव उसके निकटवर्ती क्षेत्र (डकोटा पहाडी—डोग पठार) में ३/३ गोरखा थी और इसके बाएँ किनारे पर ४ सिक्ख एव ६ कुमायूँ थी। ६ कुमायूँ से मोर्चा संभालने के लिए ४ डोगरा को भेजा गया था। यह सब प्रबन्ध अपनी हवाई-पट्टी की रक्षा के लिए था। मुख्यालय में होने के कारण मैंने ब्रिगेड कमाण्डर तथा मोर्चों पर डटी हुई कम्पनियों एव बटालियनों के कमाण्डिंग ऑफिसरों के मध्य हुई अनेक बातचीतें सुनी। हमारे ब्रिगेड कमाण्डर का तो दुइ विचार था कि हमें पीछे नहीं हटना चाहिए और यही आदेश उन्होंने सब कमाण्डिंग ऑफिसरों को दिया। इसके बाद भी ४ सिक्ख एवं ३/३ गोरखा अपने मोर्चों

से पीछे हटने लगीं । इस पर मेजर हांडू ने सब ऑफिसरों को ललकारा और उन्हें अपने-अपने मोर्चों पर डटे रहने का आदेश दिया । मेजर हांडू ने असन्दिग्ध शब्दों में उन्हें लड़ते रहने के लिए कहा । अनेक जवानों एवं युवा ऑफिसरों ने उनका आदेश माना और वहाँ जूझते रहे । किन्तु दूसरों ने उनके आदेश की अवज्ञा की और पीछे हट गए ।

डिवीजन कमाण्डर और मैं, दोनों देख रहे थे कि ब्रिगेड कमाण्डर ने अपनी ओर से कोई कमी न छोड़ी । किन्तु हम उनका नैतिक समर्थन ही कर सकते थे, और कुछ नहीं । (पिछले कुछ दिनों या सप्ताहों में हमने इस सैन्यदल को, जो सड़क से १५० मील दूर था, सैनिक, छोटी तोपें, बड़ी तोपें एवं ३ इंची तोपें भेजी थीं । युद्ध-विराम के बाद चीनियों ने हमारे काफी हथियार, जो यहाँ थे, हमें लौटा दिये थे !)

प्रातःकाल पाँचे दस बजे मैंने आर्मी चीफ एवं आर्मी कमाण्डर को इस नयी स्थिति से परिचित कराते हुए अतिरिक्त सहायता (सैनिक एवं शस्त्र) माँगी । मैंने उन्हें सूचना दी कि शत्रु लगभग एक डिवीजन ले कर हमारी ओर बढ़ रहा था । इस समय मैं ब्रिगेड मुख्यालय में था और शत्रु को अपनी ओर बढ़ते हुए देख रहा था । थोड़ी देर बाद आर्मी चीफ ने मुझे सहायता देने का आश्वासन दिया और युद्ध में मेरी सफलता के लिए शुभ कामनाएँ व्यक्त कीं ।

लगभग दस बजे, ११ ब्रिगेड के कमाण्डर, ब्रिगेडियर रावले ने २ डिवीजन के कमाण्डर की उपस्थिति में मुझसे कहा कि हमारे अगले क्षेत्र पर शत्रु ने अधिकार कर लिया था तथा बालोंग-स्थित हमारे मोर्चे भी अधिक समय तक नहीं सँभाले जा सकते थे, इसलिए इन परिस्थितियों में उनके लिए मेरा क्या आदेश था । डिवीजनल कमाण्डर की उपस्थिति में एवं उनकी सहमति से मैंने रावले को आदेश दिया कि वह :

- (अ) अपनी योग्यतानुसार वर्तमान मोर्चों को सँभाले रहें,
- (आ) यदि यह सम्भव न हो तो वह नये मोर्चे सँभाल लें और वहाँ अपनी पूरी शक्ति से डटे रहें,
- (इ) यदि ये नये मोर्चे भी न सँभाले जा सकें तो वह इसी प्रकार और नये मोर्चे लगा लें तथा शत्रु के आगे बढ़ने में अधिक-से-अधिक विलम्ब लगाने का प्रयास करें ।

(कुछ समय बाद यह आदेश मैंने लिख कर भी दे दिया तथा इसकी एक प्रति डिवीजनल कमाण्डर को दे दी ।) ब्रिगेडियर रावले ने अपने शस्त्रों एवं सैनिकों के पीछे हटाने में प्राथमिकता-क्रम जानना चाहा । मैंने यह प्राथमिकता-क्रम भी निर्धारित कर दिया । इसी समय ४ गोले हवाई-पट्टी के निकट आ कर गिरे । लगभग ११ बजे, अन्तिम से पहले 'ऑटर' में मैंने बालोंग छोड़ा और इसके तुरन्त बाद ११ ब्रिगेड ने पीछे हटना प्रारम्भ कर दिया ।

म्व ब्रिगेड हनुलियाग की घोर पीछे हट रहा था। स्ने सा पर लड़ाई छिटके वा प्रभो कोई समाचार मुझे अपने मुख्यालय में नहीं मिला था, इसलिए १६-१७ नवम्बर की रात मैंने २ इन्फैंट्री डिवीजन के मुख्यालय पर बितायी। वहाँ मैंने पूर्वी कमान एव सेना मुख्यालय में प्रार्थना की कि तैप्रा में चीनियों को थोप्टा को देगने हुए मुझे प्रतिरिक्त सहायता तुरन्त भेजी जाए। साथ ही मैंने यह गुनाव भी दिया कि चीनियों की तुलना में अपनी नियंत्रण स्थिति में देव कर (एव राष्ट्रीय हित में) हमें विदेशी^{२२} में अधिनम्य सैनिक सहायता मांगनी चाहिए। मैंने यह बात भी स्पष्ट कर दी कि मैं भयभीत हो कर यह गुनाव नहीं दे रहा था अपितु भयंकर यथार्थ को देखते हुए कह रहा था।

नेपा में हमारे आदमियों के पास लाइयां खोदने के पत्राप्त घोडार तक नहीं थे, स्वचल घस्य, गोला-बारूद एवं यायरलैम-सैट एक तो सख्या में कम थे तथा दूसरे दोषपूर्ण थे तथा हेल्मीकॉप्टर इतने भी नहीं थे कि शत्रु को एवं घायलों को अस्पताल में पहुँचाया जा सके। जिस ऊबड़-सावड़ पर्वतीय प्रदेश में स्वयं चलना एक समस्या हो, वहाँ शत्रु एवं घायलों का उठा कर ले जाना प्रतिमानवीय काम था। हमारे काफी आदमी तो इसी काम में लगे हुए थे कि वे भारी-भारी सामान को ऊँचाइयों एवं गड़ी चढ़ाईयों पर पहुँचाएँ।

से ला से मुझे १६ या १७ की सुबह तक कोई अप्रिय समाचार नहीं मिला, इसलिए मैं पीछे हटने हुए ११ ब्रिगेड की घोर से चिन्तित था। कही ऐसा न हो कि शत्रु उसको बीच में घेर ले। इसलिए मैंने वायु सेना से कहा कि वह मुझे एक हेल्मीकॉप्टर द्वारा बालोग के जितना निकट सम्भव हो, उतना निकट से जाए ताकि मैं इस ब्रिगेड को गोज-नावर ले सकूँ। वायु सेना ने धैरायनी दी कि अपने आदमियों को खोजने के लिए हेल्मीकॉप्टर को काफी नीचा उड़ाना पड़ेगा और शत्रु इस पर भूमि से प्रहार कर सकता था।

हनुलियाग पार करने के बाद द्राधी बहुत तेज हो गई जिनमें हेल्मीकॉप्टर का एक बौला भाग बजने लगा। इसकी आवाज ऐसी ही थी जैसी कि मशीन गन से गोलियों के चलने पर चट-चट होती है। इसको गुन कर हमारा एक

२२. यह गुनाव मैंने शत्रु को मौखिक भी दिया था जब वह १७ नवम्बर को मुझसे मिलने तेजपुर आये थे। अगले दिन उन्होंने यह गुनाव गैहक के सामने रख दिया था। मैं समझता हूँ कि तुरन्त ही उन्होंने इस सम्बन्ध में अमरीका के परराष्ट्र विभाग (कॉनेडी?) से बातचीत की थी। किन्तु थार दिन बाद लड़ाई ही एक गई। मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि हमें आवश्यकता से अधिक समय के लिए विदेशी सैनिक सहायता पर निर्भर करना चाहिए अपितु मेरा कहना तो यह है कि राष्ट्रीय संकट के समय मित्र देशों से सैनिक सहायता लेने में हमें नहीं हिचकना चाहिए। (यदि कुछ समय बाद हमने अनेक देशों से सैनिक सहायता नहीं ली होती तो हमें आक्रामक सघर्ष के समय या आज हमारी विपत्ति क्या होती?)

साथी चिल्ला पड़ा, 'शत्रु हम पर गोलियाँ बरसा रहा है।' (किन्तु चालक आगे बढ़ता रहा।) पहले तो हम सबने यही सोचा कि शत्रु हम पर गोलियाँ बरसा रहा था किन्तु बाद में अपनी भूल का पता लग गया। वालोंग से दस मील ऊपर हमने सफ़ेद ऊनी कमीज पहने हुए रावले को नीचे से अपनी ओर संकेत करते हुए देखा। अपने कुछ आदमियों के साथ वह नदी के किनारे एक रास्ते पर खड़े थे। और कहीं जगह न होने के कारण हेलीकॉप्टर को हमने सूखी नदी के बीचोंबीच उतार लिया। रावले एवं उसके आदमियों को ठीक-ठाक देख कर मेरी जान में जान आई। मैंने रावले से कहा कि वह अपने कुछ चुने हुए ऑफिसरों को ले कर मेरे साथ ह्युलियांग जाए और वहाँ नाश्ता कर आए। किन्तु उन्होंने अपनी कर्तव्य-भावना का अनुपम परिचय दिया और कहा कि उगका स्थान उनके आदमियों के बीच में था तथा मुझे कहा कि क्योंकि उन्होंने एक दिन पहले से कुछ नहीं खाया था, इसलिए मैं कुछ खाना उनके पास ऊपर से गिरा दूँ। ह्युलियांग लौट कर मैंने यह काम सब से पहले किया। वहाँ मुझे अपने मुख्यालय से सूचना मिली कि थापर और सेन शीघ्र ही तेजपुर पहुँचने वाले थे, इसलिए मैं तेजपुर लौट आया।

अपनी कोर के अगले मोर्चों पर मेरे बार-बार जाने पर मेरे कुछ आलोचकों ने आपत्ति उठाई है। उनका कहना यह है कि यदि मैं सारा समय अपनी कोर के मुख्यालय में बैठा रहता तो अपनी सांग्रामिक गतिविधियों को ज्यादा अच्छी तरह समन्वित कर सकता था। किन्तु मेरा विचार यह है कि कोई भी कमाण्डर, यदि वह सचमुच कमाण्डर है, सारा समय अपने मुख्यालय में अपनी कुर्सी से चिपका न रह कर, बीच-बीच में कुछ समय के लिए अपने अगले मोर्चों पर जाएगा तथा वहाँ की सांग्रामिक गतिविधि का निरीक्षण करेगा। इससे एक लाभ यह होगा कि अपने सीनियर कमाण्डर को अपने बीच देख कर लड़ते हुए सैनिकों एवं कमाण्डरों का मनोबल ऊँचा होगा और वे अधिक उत्साह से शत्रु से मोर्चा ले सकेंगे। मैंने यही किया था। अब मैं यहाँ जनरल पेटन के शब्दों को उद्धृत करूँगा जिन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध में अपने मुख्यालय से बाहर रहने का कारण देते हुए युद्ध के बाद कहा था :

'तट पर रह कर, नावों को धक्का लगवा कर, जब शत्रु के वायुयान ऊपर से गुज़रे तब किसी सुरक्षित स्थान में न छिप कर, मैंने तट पर तैनात अपने सैनिकों की धबड़ाहट को शांत कर दिया। मैं अपने मुख्यालय से अठारह घण्टे बाहर रहा और विल्कुल भीग गया। कुछ लोगों का कहना है कि आर्मी कमाण्डर को इन चीजों में नहीं पड़ना चाहिए। मेरा विचार यह है कि सीनियर कमाण्डर को अपने अभियान की सिद्धि

के लिए सब कुछ करना चाहिए और प्रत्येक अभियान का अस्ती प्रति-
गत काम है अपने आदमियों का मनोबल ऊँचा बनाये रखना ।'

मैं कोर के मुख्यालय से बहुत कम समय के लिए बाहर जाता था और
सौटने पर सब साप्ताहिक गतिविधियों को समन्वित कर लेता था । उदाहरण
के लिए, एक महत्त्वपूर्ण एवं गम्भीर सूचना मिलने पर मैं अपने एक महत्त्वपूर्ण
मोर्चे वालोंग पर गया किन्तु मे ला पर किसी आक्रमण की सूचना मिलने से
पहले । और इस बीच मैं भी यदि मेरा कोई कमाण्डर या स्टाफ ऑफिसर किसी
विषय में मुझसे निर्देश लेना चाहता तो मैं चाहे कहीं भी होता, वह वायरलेस
द्वारा मुझसे अविलम्ब सम्पर्क स्थापित कर सकता था ।

से ला की लड़ाई

मे ला का मोर्चा अपने हम्नाम दर्रे के चारों ओर, लगभग १४,००० फुट
की ऊँचाई पर था । यह स्थान तोबाग (१०,००० फुट) के दक्षिण में लगभग
पच्चीस मील दूर तथा योमदी ला (८,५०० फुट) के उत्तर में लगभग पचहत्तर
मील दूर था । द्वितीय जॉंग लगभग ६,००० फुट की ऊँचाई पर एक घाटी में
अवस्थित था । मे ला और तोबाग के बीच में अभी सड़क बनाई गई थी ।

जब थापर और मेन ने २४ अक्तूबर को तोबाग को छोड़ कर मे ला पर
मोर्चा जमाने का निर्णय किया था (जिस समय में दिल्ली में बीमार पड़ा हुआ
था) तो उनका सोचना यह था कि मे ला का मोर्चा अत्यंत सिद्ध होगा । उस
समय मेरे त्रिगेजियर जनरल स्टाफ, त्रिगेजियर के० पे० सिंह ने मेरा ही जनरल
मेन को परामर्श दिया था कि मे ला के बदले योमदी ला पर मोर्चा लगाया
जाए क्योंकि से ला की अपेक्षा योमदी ला का सम्पर्क-मार्ग छोटा था तथा हमें
मुद्-सौतन की दृष्टि में और भी कई लाभ थे । किन्तु उनके परामर्श को मैं
ने ठुकरा दिया ।

एक मोर्चे की रक्षा का भार थापर ने ४ दिवोजन के कमाण्डर, मेरज बनारस
ए० एम० पट्टाणिया, एम० बी० मी०, को सौंपा । पट्टाणिया का मुद्-सौतन
बहुत माराहनापूर्ण था । (मेरी बीमारी के समय एक कताह में भी कम समय
के लिए मेरा ही जनरल हारबक्स सिंह को ४ कोर का कान्स्टेबल कमाण्डर
निर्भूक्त किया गया था ।)

४ दिवोजन के मुख्यालय के लिए द्वितीय जॉंग को भूना देना । १५००

२३ इस दिवोजन के दिव—रेड डैंगल—को रोक कर मेला फिर हिन हो
उठा था । मुझे पता था कि यह दिवोजन अपने काले को परामर्श का विरुद्ध
हूँ और मैंने यह कल्पित करी । मुझे यह पता था कि यह कर इस
को रोक हो गया था ।

अधीन ४८, ६२ और ६५, तीन ब्रिगेड थे। ४८ ब्रिगेड को बोमदी ला की रक्षा करनी थी, ६२ ब्रिगेड को से ला^{२४} की तथा ६५ ब्रिगेड को डिरोंग जॉंग की। ३०१ ब्रिगेड को जल्दी-से-जल्दी गठित करना था। ६२ ब्रिगेड के कमाण्डर थे प्रसिद्ध योद्धा ब्रिगेडियर होशियार सिंह जिनका युद्ध-रिकार्ड प्रशंसाओं से भरा हुआ था। से-ला की रक्षा का भार उनको सौंपा गया। परिस्थिति के अनुसार उनको तोपखाना, बारूद तथा अन्य सामग्री सुलभ कराई गई।

चीनी तोवांग वाले अपने सैन्य-दल को सन्नद्ध करने में जुटे रहे। जैसे ही तोवांग और बुम ला के बीच उन्होंने सड़क पूरी कर ली, इस क्षेत्र में उन्होंने अपनी दो डिवीज़नों संकेन्द्रित कर दीं।

जब ७ नवम्बर को मैं ४ इन्फैण्ट्री डिवीज़न के मुख्यालय डिरोंग जॉंग गया था तो पठानिया ने मुझे अपने डिवीज़न की स्थिति काफ़ी सन्तोषजनक बताई थी। कुछ सैनिकों और युद्ध-सामग्री का प्रश्न उन्होंने मेरे सामने रखा था जिसके लिए मैंने सेना मुख्यालय को तुरन्त लिख दिया था (क्योंकि मेरे पास तो न और सैनिक थे तथा न और युद्ध-सामग्री)। मैं से ला भी गया और मैंने वहाँ कई ऑफिसरों से बातचीत की। वे सब भी काफ़ी प्रसन्न चित्त थे।

इस बीच हमारी सैनिक टुकड़ियाँ काफ़ी सजगता से गश्त लगाती रहीं और शत्रु के मोर्चों पर हमारी ओर से गोला-बारी भी होती रही। मेरा विचार यह था कि से ला का मोर्चा बहुत मजबूत था और यदि इस पर शत्रु ने आक्रमण किया तो यह नयी सहायता मिलने तक शत्रु से टक्कर लेने में समर्थ था। यद्यपि इसका पीछे से सम्पर्क-मार्ग काफ़ी लम्बा था किन्तु यहाँ पर शस्त्र और सामग्री इतनी मात्रा में थे कि शत्रु एकदम से नहीं उखाड़ पाएगा।

१७ नवम्बर को चीनियों ने से ला के उत्तर में हमारे एक अगले मोर्चे नूरानाग पर चार बार आक्रमण किया किन्तु उन्हें हर बार पीछे हटना पड़ा। यहाँ मोर्चे पर ४ गढ़वाल बटालियन तैनात थी। गढ़वालियों ने बड़ी वीरता^{२५} का प्रदर्शन किया और चीनियों के चारों आक्रमणों को विफल कर दिया। तब शत्रु ने दर्रे के पूर्व में तैनात १ सिक्ख लाइट इन्फैण्ट्री बटालियन पर आक्रमण किया। किन्तु इस बटालियन ने गढ़वालियों के समान वीरता नहीं दिखाई।

जब मैं १७ नवम्बर को सायंकाल साढ़े सात बजे वालोंग क्षेत्र से लौट कर तेज़पुर-स्थित अपने सांग्रामिक कक्ष (ऑपरेशन्स रूम) में घुसा तो मैंने जनरल थापर, लेफ्टी० जनरल सेन और ब्रिगेडियर पालित को अपनी प्रतीक्षा करते

२४ से ला और बोमदी ला एक-दूसरे से लगभग सतर मील दूर हैं।

२५. यदि ४ डिवीज़न ने भी इतनी ही वीरता दिखाई होती जितनी कि ४ गढ़वाल ने तो से ला की लड़ाई की कहानी कल्पना पर होती।

पल। उनको देग कर मुझे वही प्रगल्भता हुई थीर पानित को देग कर विदेश रूप में जिन्होंने १५ नवम्बर के घाने एक पत्र में घ-व राजो के माध वही मुझे निम्ना था, 'घान मुझे घानी कमान में मे से घोर वही भी कमान करे, मुझे घाने माध रणें।' अंते ही मे २० घानम्बुको मे हाथ मिया कर निव्या, मुझे पत्रा घना कि मे ला को स्थिति काउरी विघम थी। मुमीवरी कभी घनेनी नहीं घार्जी। घापर ने बाताया कि ४ डिबीजन के कमाण्डर, मेजर करर ए० एन० पटानिया ने कुछ देर पहले मुझे टेमीजोन किया था। जब जेत पर घापर घोर टेन बोले तो पटानिया ने बतनाया कि मे ला पर भीनियों का रजाव बढ़ता जा रहा था घोर उन्हें नय था कि घीनी नहीं मे ला घोर त्रिगेड डॉग वा गम्पकं न काट रे, रगतिए उन्हें ६२ त्रिगेड को मे ला मे हटाने की घनुमति दी जाए। घापर घोर मेन, दोनों ने पटानिया को कहा कि इस प्रकार का कोई घादेन मे नहीं देगे घणितु मेजपुर लोट कर मे ही दूंगा।

घारघान घीने घाट बजे मेजर जनरल पटानिया ने घीन पर मुझ मे प्रार्थना की कि मे उनको मे ला मे ६२ त्रिगेड को (१७-१८ नवम्बर की रात को) हटाने की घनुमति दे दूँ क्योंकि उनको नय था कि उस रात इस त्रिगेड का सेगे मे सम्बन्ध काट दिया जाएगा। उन्होंने यह घाघका भी प्रकट की कि घानु उन पर एक डिबीजन मे अधिक मेना से कर घाक्रमण करने वाला था। मेने उन्हें जोर दे कर समभाया कि मे ला का मोर्चा हमारे लिए बहुत महत्त्वपूर्ण था घोर वह घपनी पूरी घक्ति मे यहाँ जमे रहें। माध ही मेने यह भी कहा कि यदि घानु उनका पीछे मे गम्पकं काट भी देता था तो भी उनके पाम इतनी सामग्री थी कि यह एक गताह तक घपना मोर्चा सेभाल सकते थे। इस घोर से भी मेने उन्हें सचेत किया कि मोर्चा छोड़ कर पीछे हटने मे यह घाशंका थी कि घानु उन्हें चारो घोर मे पर ले जबकि मोर्चे पर डटे रह कर ६२ त्रिगेड अधिक सुरक्षित था। उन दिन रात को, जब घापर, मेन घोर मे भोजन कर रहे थे, पटानिया ने घीन पर घपनी प्रार्थना बोहराते हुए कहा कि से ला क्षेत्र की स्थिति प्रतिक्षण गिरती जा रही थी। मेने पटानिया को जरा जोर से (ताकि घामी चीफ घापर भी सुन लें) कहा कि कम-से-कम १७-१८ नवम्बर की रात को वह से ला का मोर्चा सेभाले रहें घोर १८ तारीख की सुबह को मे उन्हें घन्तिम घादेश दूंगा। (मेरा विचार था कि यदि रात को वह मोर्चा सेभाले रहे तो सुबह तक उनकी स्थिति कुछ दुड़ हो जाएगी।) मेरे इस निर्णय मे पटानिया कुछ दुःखी से हुए। घामी चीफ और घामी कमाण्डर से विचार-विमर्श कर के तथा ४ डिबीजन के जी० घो० सी० की प्रार्थना को घ्यान मे रख कर, उस रात मेने निम्नलिखित घादेश पटानिया को भेजा :

(घ) घपने वर्तमान मोर्चे को यथासक्ति सेभाले रहो,

- (आ) यदि स्थिति अधिक विपन्न हो जाए और वर्तमान मोर्चे न संभल सकें, तो कोई भी ठीक मोर्चा खड़ा कर लो,
- (इ) लगभग ४०० शत्रु-सैनिकों ने वोमदी ला-डिरोंग जोंग सड़क काट दी है,
- (ई) वोमदी ला पर तैनात ४८ ब्रिगेड के कमाण्डर को मैंने आदेश दे दिया है (क्योंकि ४ डिवीजन का ४८ ब्रिगेड से सीधा सम्पर्क नहीं था) कि वह अपनी पूरी शक्ति से एवं बहुत फुर्ती से शत्रु पर रात में ही आक्रमण कर दे और सड़क को हर कीमत पर साफ़ रखे,
- (उ) हो सकता है कि शत्रु सेंगे से आपका सम्पर्क काट दे (इसकी चेतावनी मैंने अपने सांभ्रामिक निर्देशों में लगभग दस दिन पहले भी दी थी),
- (ऊ) आपके लिए सर्वोत्तम मार्ग है अपनी पूरी शक्ति से शत्रु से लोहा लेना,
- (ए) १८ की सुबह तक दो अतिरिक्त बटालियनें वोमदी ला पहुँच जाएँगी,
- (ऐ) अपने सम्पर्क-मार्ग (लाइन ऑफ़ कम्युनिकेशन) को निर्वाध रखने के लिए टैंकों तथा अन्य सहायक शस्त्रों का पूरा उपयोग करो।
- (यहाँ मैं एक बात स्पष्ट कर दूँ। १७ एवं १८ को जनरल थापर एवं लेफ्टी० जनरल सेन मेरे पास थे। इस अवधि में जो भी महत्त्वपूर्ण आदेश मैंने दिये, वे मैंने इन दोनों के परामर्श से एवं इनकी पूर्ण सहमति से दिये।)

कई दिन बाद मुझे पता लगा कि पठानिया ने ६२ ब्रिगेड के कमाण्डर, ब्रिगेडियर होशियार सिंह से कहा था कि १७ तारीख को किसी समय पीछे से उनका सम्पर्क काट^{३६} दिया जायगा और डिवीजनल मोर्चा एवं ६५ ब्रिगेड का मोर्चा भी संकट में थे, इसलिए उन्हें (होशियार सिंह को) उस रात पीछे हटाना चाहिए था और डिरोंग जोंग के मोर्चे की सहायता करनी चाहिए थी। डिरोंग जोंग की सहायता के लिए ब्रिगेडियर होशियार सिंह ने पहले ही एक बटालियन भेज दी थी और से ला के मोर्चे को तैयार करने में उन्होंने बहुत परिश्रम किया था, इसलिए वह से ला से नहीं हटना चाहते थे। जब पठानिया ने ज्यादा जोर दिया तो होशियार सिंह ने कहा था कि पीछे हटने के लिए भी उन्हें ४८ घण्टे मिलने चाहिएँ क्योंकि ब्रिगेड का पूरा सामान हटाना होगा।

२६. जब पठानिया ने होशियार सिंह से कहा कि शायद शत्रु उसका पीछे से सम्पर्क उड़ा दे तो होशियार सिंह ने जवाब दिया कि ऐसा कर के शत्रु अपने को भी उड़ा देगा। होशियार सिंह ने तो यहाँ तक कहा था कि वह पीछे के सम्पर्क में बाधा उत्पन्न करने वाले को भी संभाल लेंगे और से ला का मोर्चा भी संभाल लेंगे।

किन्तु पटानिया ने उनकी एक न मुनी धीर उन्हें तुरन्त पीछे हटने का आदेश दिया। विवश हो कर होंसियार सिंह को उसी रात पीछे हटना पडा।

इस त्रिगेड को पीछे हटने के लिए पटानिया का आदेश मेरे निदेशों के सिद्ध था। मैंने कहा था कि उन्हें पर्याप्त रूप से तत्कालीन मोर्चा पर उठे दना था धीर जब मोर्चे संभालने उनकी सक्ति के बाहर हो जाएँ, तभी वह पीछे हटें। सँगे पहुँच कर त्रिगेडियर होंसियार सिंह ने अपने आदेशियों को बड़ी ही विवश स्थिति में पाया, सब का मनोबल गिर चुका था एव सब बड़े धोरे-धोरे थे। उन्होंने स्थिति को संभालने का प्रयत्न किया किन्तु फल कोई न निकला। एक प्रत्याक्रमण में लेफ्टी० कर्नल भट्टाचार्जी सन्तु के हाथों में पड गए। उस रात चीनियों ने एक निकटवर्ती टीले न्युकमाडोंग पर घातमण किया। १८ की मुबह सन्तु ने पुल नं० २ पर गोले बरसाने शुरू कर दिये जबकि हमारा त्रिगेड दम पार आ कर उने उड़ाने जा रहा था।

चीनियों ने मे ला धीर डिरोंग जोंग के बीच में पहुँच कर हमारे लोटने त्रिगेड का रास्ता रोक लिया। सगभग घाघा रास्ता पार करने के बाद हमारे त्रिगेड को सड़क पर चीनी मशीन गनों धीर तोपें आग उगलती मिली। हमारे सैनिकों में अनेक मारे गए एव अनेक जखमी हो गए। दोप सैनिक रात के धँवरे में इधर-उधर भाग लिये। किसी को नही भानुग था कि वास्तव में हो क्या रहा था। आदेशों धीर प्रत्यादेशों की भरमार थी। अनेक सैनिकों ने अपने घर एव वायरलेस सैट फेंक दिए धीर वे निकटवर्ती पहाडियों की धीर भाग गए। उनके पास लाने-पीने को तो कुछ था नही, रास्ते का गन्दा पानी पी कर एव कड़कती सर्दी में रात बिता कर वे भागते गए। उनकी दम दयनीय स्थिति के लिए जिम्मेदार था पटानिया जिसने उनसे बहुत जल्दी में मे ला का मोर्चा छुटाया था।

हमारी इस शोचनीय स्थिति के लिए अग्रय तत्त्वों के साथ-साथ कुछ कमाण्डिंग ऑफिसर भी जिम्मेदार थे। (इसके कुछ प्रससनीय अपवाद भी थे जोंग व गडवाल का कमाण्डिंग ऑफिसर जिसने मद्रितीय नेतृत्व का प्रदर्शन किया तथा व राजपूत के (स्वर्गीय) लेफ्टी० कर्नल अवस्थी जो बड़ी सरलता से पीछे हट सकने से किन्तु नही हटे धीर सँगे एव डिरोंग जोंग के बीच अपने आदेशियों की प्रतीक्षा करते रहे जहाँ सन्तु से मुठभेड़ हो जाने पर वीरगति को प्राप्त हुए।)

१८ नवम्बर को मुबह साठे पाँच बजे मैंने पटानिया को प्रोन किया तो उन्होंने फिर वही पहली रात की रट शुरू कर दी अर्थात् मे ला में त्रिगेड हटाने की अनुमति। जब उन्होंने यह कहा कि सन्तु में भयंकर लडाई (?) करने के बाद ६२ त्रिगेड ने १७ नवम्बर की रात को ही पीछे हटना शुरू कर दिया था मैंने आशाने अनुमति देने के प्रतिरिक्त कोई रास्ता ही नही बना (धीर यह

भी थापर एवं सेन से परामर्श लेने के बाद क्योंकि दोनों अभी मेरे पास ही थे)। यह मुझे बाद में पता चला कि से ला पर कोई भयंकर लड़ाई नहीं हुई थी (प्रतिरिक्त ४ गढ़वाल के साथ हुई लड़ाई के)। से ला तो शत्रु को निर्विरोध मिल गया यद्यपि ४ डिवीजन के पास पाँच इन्फैण्ट्री बटालियनें थीं, आर्टिलरी (तोपनाने) की एक फ़ील्ड रेजीमेंट थी जिसमें केवल एक बँट्टी कम थी तथा एक ब्रिगेड के वर्ग की सामान्य फायर सपोर्ट थी। लगभग एक सप्ताह की रसद भी इसके पास थी।

से ला से पीछे हटने के लिए होशियार सिंह ने पठानिया पर जोर नहीं डाला था अपितु पठानिया ने होशियार सिंह पर जोर डाला था। अपने एक ऑफिसर के परामर्श पर पठानिया से ला जैसे मजबूत मोर्चे को छोड़ कर डिरोंग जोंग के अपने मोर्चे को मजबूत करना चाहता था। ऐसा करने में उनकी अपनी स्थिति डावाँडोल हो गई। (उनका हौसला, से ला, डिरोंग जोंग और वोमदी ला, सब एक साथ से निकल गए।) नेफा में अन्य स्थानों पर तो चीनियों के श्रेष्ठ शस्त्र एवं उनकी विशाल वाहिनी हमारी पराजय का कारण बने किन्तु यहाँ पर पठानिया एवं उनके कुछ साथी कमाण्डर हमारी पराजय के कारण बने।

से ला पर अधिकार करने के तुरन्त बाद शत्रु ने वोमदी ला एवं डिरोंग जोंग पर अधिकार कर लिया और इन दोनों स्थानों का सब जगह से सम्पर्क काट दिया। १८ की सुबह ६५ ब्रिगेड एवं ४ डिवीजन के मुख्यालय को डिरोंग जोंग छोड़ना पड़ा।

४ डिवीजन के जी० सी० ओ० ने डिरोंग जोंग से वोमदी ला जाने वाली सड़क पर पीछे हटना प्रारम्भ किया। किन्तु रास्ते में उन्हें शत्रु (जिसकी शक्ति में निर्धारित नहीं कर पाया हूँ) मिल गया जिससे उन्होंने माँडला मार्ग पकड़ कर 'फुटहिल्स' की ओर हटना शुरू कर दिया। यह निर्णय उनका अपना था। मेरा विचार है कि उनके दल में कुछ चीनी घुस आये थे जिन्होंने हमारे सैनिकों एवं ऑफिसरों की बर्दियाँ^{१७} पहन रखी थीं और जो स्वयं को छिपाने के लिए हिन्दी में आदेश दे रहे थे। हम उनकी सेना में घुस नहीं सकते थे क्योंकि हमारे यहाँ शायद ही कोई चीनीभाषी व्यक्ति था। यह मुझे मालूम नहीं कि डिरोंग जोंग के मोर्चे को या मुख्य सड़क को छोड़ते समय पठानिया ने पीछे रहने वाले सैनिकों को क्या आदेश दिया था। से ला और डिरोंग जोंग बिना किसी विशेष रक्तपात के शत्रु के अधिकार में चले गए।

जिस ४ इन्फैण्ट्री डिवीजन की कमान सँभालने का गौरव किसी समय मुझे प्राप्त हुआ था, उस डिवीजन के लिए यह शुभ वड़ी नहीं थी। १९५६-५९ की

डिवीजन में (जिसे मैं जानता था) और इस डिवीजन में बहुत भिन्नता थी। इसके कुछ ब्रिगेड बिल्कुल नये थे, कुछ बटालियनों बिल्कुल नयी थी। इस समय उस डिवीजन ने जो कदम उठाया था, वह इसकी परम्परा के अनुकूल नहीं था किन्तु उस पर एक कलंक था। (ए० एस० पटानिया से इस डिवीजन की इमान छीन ली गई और सरकार ने उन्हें सेना से बाहर कुछ काम दे दिया।)

बोमदी ला की लड़ाई

बोमदी ला 'फुटहिल्स' एवं रंग ला के बीचोबीच है। इस कठिन मोर्चे की रक्षा का भार ४८ ब्रिगेड को नवम्बर के प्रथम सप्ताह में सौंपा गया और मोर्चा बांधने का उसे कोई सामान नहीं दिया गया। इसकी कमान ब्रिगेडियर गुरबख्शमिह के हाथों में थी। ४ डिवीजन ने इस ब्रिगेड को स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि जहाँ तक सहायता या रसद भेजने का प्रश्न था, प्राथमिकता-पूर्व में इस ब्रिगेड का नम्बर सब से पीछे था। ११ नवम्बर को ४ डिवीजन ने आदेश दिया कि यह ब्रिगेड पोशिग ला की चौकी पर १३ तारीख तक एक कम्पनी तैनात कर दे। क्योंकि इस चौकी के लिए एक पलटन भेजी जा चुकी थी, इसलिए एक पलटन १२ तारीख को तथा एक पलटन १३ को और भेज दी गई। इसके बाद में ४८ ब्रिगेड ने ४ डिवीजन को सूचना दे दी कि १४ तारीख तक पोशिग ला पर ५ गार्ड्स की एक कम्पनी सकेन्द्रित हो जाएगी। बाद में इस मोर्चे पर रात्रु ने एक ब्रिगेड से आनमण किया और अधिकार कर दिया (१६ मोर्चे की लड़ाई के सम्बन्ध में सूचना बहुत बाद में मिली)। इसके बाद चीनी बोमदी ला और त्रिरोंग जोंग की ओर बढ़ने लगे।

१५ नवम्बर को ४ डिवीजन ने ४८ ब्रिगेड को आदेश दिया कि यह एक बटालियन ले कर बेमबोंग पर मोर्चा स्थापित करे तथा पोशिग ला की चौकी को पुनर्दृष्टगत करे। इस काम के लिए ५ गार्ड्स को भेजा गया। ६७ ब्रिगेड को आदेश मिला कि वह ४८ ब्रिगेड की बायीं ओर का ध्यान रहे। ५ गार्ड्स १६ तारीख को बेमबोंग पहुँची। इन बटालियन के कमाण्डर ने बेमबोंग पर अपना मोर्चा लगा कर एक कम्पनी पोशिग ला की ओर रवाना कर दी। इस बीच रात्रु हमारे ओर ओर घामे बढ़ाया था। ४ डिवीजन ने ४८ ब्रिगेड को आदेश दिया कि वह ५ गार्ड्स ने बेमबोंग का मोर्चा सुनाने। ५ गार्ड्स ने ४८ ब्रिगेड को सूचित किया कि रात्रु दनागा भा रहा था और बेमबोंग का मोर्चा संभालना उसके बल में बाहर था, इसलिए ४८ ब्रिगेड ने उन बोमदी ला की ओर पीछे हटने का आदेश दिया। किन्तु चीनियों ने ३१ बटालियन नहीं छोड़े बिना ओर बीच में आ कर उनका रास्ता रोक दिया। इसलिए ५ गार्ड्स बटालियन त्रिरोंग-त्रिरोंग हो गई और बाद में 'फुटहिल्स' में लड़ाई लड़ी। ५ गार्ड्स को त्रिरोंग-त्रिरोंग कर के रात्रु पार करवाया। १७ तारीख को रात्रु के ६ बटालियन

लगभग ४०० चीनियों ने वोमदी ला के उत्तर में ६ किलोमीटर दूर एक स्थान पर वोमदी ला एवं डिरोंग जोंग के सम्पर्क-साधनों को उड़ा दिया। इसके तुरन्त बाद ४८ ब्रिगेड के कमाण्डर ने मुझसे सम्पर्क स्थापित किया और बतलाया कि ४ डिवीजन से उसका सम्पर्क काट दिया गया था। मैंने उनको आदेश दिया कि वह उसी रात शत्रु पर पूरी ताकत से आक्रमण कर दें और ४ डिवीजन से अपना सम्पर्क पुनर्स्थापित करने का प्रयत्न करें। मैंने उन्हें सूचना दी कि मैं उनकी सहायता के लिए दो इन्फैण्ट्री बटालियनों (६/८ गोरखा एवं ३ जे एण्ड के राइफ़ल्स) भेज रहा था जो १८ की सुबह वोमदी ला पहुँच जाएँगी। ब्रिगेड कमाण्डर ने उत्तर दिया कि आक्रमण करने के लिए उन्हें लगभग १६ कम्पनियों की आवश्यकता थी जबकि उनसे पास (वोमदी ला में) केवल ६ कम्पनियाँ थीं और इसलिए यदि मेरे आदेशानुसार वह शत्रु पर आक्रमण करते थे तो वोमदी ला का मोर्चा संकट में पड़ जाएगा। उन्होंने सुझाव दिया कि आक्रमण करने के स्थान पर आक्रामक गश्त अधिक श्रेयस्कर रहेगी। प्रत्युत्तर में मैंने कहा कि वह जैसा उचित समझे, वैसा करें तथा अपने दोनों टैंकों का पूरा सदुपयोग करें एवं डिरोंग जोंग वाली सड़क को शत्रु से मुक्त कर दें। अगले दिन सुबह लगभग ११ बजे जब हमारी दो कम्पनियाँ अपने दो टैंकों एवं दो पहाड़ी तोपों (उस मोर्चे पर कुल चार पहाड़ी तोपें थीं) को ले कर डिरोंग जोंग की सड़क को शत्रु-मुक्त करने के लिए बढ़ीं तो उनके द्वारा खाली किये स्थान पर चीनियों ने अधिकार कर लिया और वहाँ से हमारे तोपखाने एवं प्रशासकाय क्षेत्रों पर गोलियाँ बरसानी शुरू कर दीं।

३ जे एण्ड के इन्फैण्ट्री बटालियन के कमाण्डिंग ऑफिसर और उनके नम्बर दो, एक अग्रिम सैन्यदल के साथ १८ की दोपहर को वोमदी ला पहुँच गए। शेष बटालियन पीछे थी। किन्तु दूसरी बटालियन ६/८ गोरखा चाको पर ही रुक गई जबकि इस संकट के समय उसे अधिक तेज़ी से वोमदी ला पहुँचना चाहिए था। यदि ये दोनों बटालियनों ठीक समय पर वोमदी ला पहुँच गई होतीं तो उस मोर्चे को बचाया जा सकता था।

सिक्ख लाइट इन्फैण्ट्री अपने मोर्चे पर वापस नहीं पहुँची और पीछे हट आई। दूसरे सैन्यदलों ने भी बिना आदेश के पीछे हटना प्रारम्भ कर दिया क्योंकि शत्रु वोमदी ला की ऊँचाई पर आ गया था। जब ब्रिगेड कमाण्डर ने स्थिति को अपने नियन्त्रण से बाहर पाया तो वह अपने कुछ स्टाफ़ के साथ शाम को साढ़े ६ बजे रूपा आ गया। वहाँ उन्होंने ६/८ गोरखा राइफ़ल्स के कमाण्डर से पूछा कि वह वोमदी ला न पहुँच कर रास्ते में क्यों रुक गए थे तो इसका उन्हें कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला। बाद में ब्रिगेडियर गुरवश सिंह को पता चला कि उनके कुछ आदमी वोमदी ला ही रह गए थे, तो वह उसी रात को वोमदी ला पहुँचे (जैसा कि मैंने मुझे बाद में बतलाया)।

वहाँ उन्होंने अपने दो सौ घादमियों को हवाई-पट्टी की रक्षा करते पाया जिन्हें अपने साथ ले कर वह भोर से कुछ पहले रुपा लौट आए ।

संध्या के साढ़े छः बजे मुझे तेजपुर में यह दुःखद सूचना मिली कि उस दिन परपट्ट में बोमदी ला पर शत्रु का अधिकार हो गया था । इस समाचार के मिलने के तीन मिनट के भीतर मैंने तेजपुर छोड़ दिया और रात के नौ बजे मैं 'फुटहिल्स' पहुँच गया । इस सकट काल में मुख्यालय में मेरे बैठे रहने का कोई साम नहीं था ।^{१६}

१६ तारीख की प्रातःकाल जब मैं 'फुटहिल्स' से बोमदी ला की ओर जा रहा था तो सड़क पर मुझे अपने सैनिक एवं शरणार्थी घाते मिले । इसलिए मुझे बहुत धीमे-धीमे आगे बढ़ना पड़ा । मैं बहुत शीघ्र आगे पहुँच जाना चाहता था ताकि स्थिति को संभाल सकूँ । रास्ते में हमने टेलीफोन की लाइन का उपयोग किया और रुपा एवं कोर मुख्यालय की बातचीत सुनी जिसमें पता चला कि हमारी सेना चाको की ओर हट रही थी । इसी लाइन से मैंने भी कई आदेश दिये ।

चाको फुटहिल्स एवं बोमदी ला के बीच में है । दोपहर को मैं वहाँ पहुँच गया । वहाँ मुझे समाचार मिला कि मैं ला एवं बोमदी ला की सहायता करने के लिए ५ डिवीजन 'फुटहिल्स' पहुँच गया था (जबकि मे ला और बोमदी ला, दोनों ही शत्रु के हाथों में पहुँच गए थे) । इस डिवीजन के कमाण्डर, मेजर जनरल वें० के० भण्डारी को मैंने स्थिति में अवगत करा दिया ।

तेगा घाटी में स्थित रुपा को ४८ ब्रिगेड ने उस दिन पूर्वाह्न ११ बजे लाली कर दिया था । अनेक भारतीय एवं विदेशी पत्रकारों को मैंने लौटते हुए देखा । जब इन पत्रकारों में से एक ने मुझे शत्रु की ओर बढ़ते हुए देखा तो उसने वी० वी० सी० को सन्देश भेज दिया जिसके अनुसार उस शाम वी० वी० सी० से प्रसारित हुआ कि मुझे चीनियों ने पकड़ लिया था ।

चाको पहुँच कर ४८ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड ने १६ तारीख को हथियारों की, राशन की एवं खुदाई के औजारों की माँग की जो मैंने तुरन्त पूरी कर दी । उनके पीछे-पीछे मैंने लेफ्टी० कर्नल शाहवेग सिंह को भेजा ताकि वह उन्हें आगे बढ़ाए । शाहवेग सिंह चाको—उकाव का घासला—पहुँचे और उसमें आगे भी बढ़े । इस समय इस सैनिक ऑफिसर ने काफी साहस एवं वीरता का परिचय दिया । उस रात शत्रु ने चाको पर आक्रमण किया और ६/८ गोरखा राइफल्स एवं ३ जे एण्ड के राइफल्स को पराभूत कर दिया ।

कोर मुख्यालय को तेजपुर से हटा कर गोहाटी ले जाने का निर्णय जनरल

२८. इस आपतकाल में मैं अपने सैनिकों के मध्य में पहुँचना चाहता था काल में एक कमाण्डर को करना चाहिए ।

थापर ने, लेफटी० जनरल सेन ने और मैंने परस्पर विचार-विमर्श कर के किया। यह काम २० नवम्बर को दोपहर बाद किया गया। मैंने, त्रिगेडियर के० के० सिंह ने, आसाम के राज्यपाल के परामर्शदाता लूथरा ने तथा एक-दो अन्य ऑफिसरों ने तेजपुर में रुके रहना ही श्रेयस्कर समझा। अफ़वाह फैलाने वालों ने कहा था कि मैं भी उसी दिन गोहाटी चला गया था। यह बिल्कुल झूठ है। मेरे विरुद्ध झूठा प्रचार करने वालों की उस समय कोई कमी नहीं थी।

श्रीमती इन्दिरा गाँधी और कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष डेवर 'कुछ पहले तेजपुर पहुँचे थे। डेवर तो कुछ स्त्रियों के पुनरावास का प्रबन्ध करने एवं अन्य कामों से वहाँ गए थे। जब वालोंग, से ला और वीमदी ला शत्रु के कब्जे में चले गए तो मैंने तेजपुर के डिप्टी कमिश्नर को सारी स्थिति बतला दी। बाद में मुझे मालूम हुआ कि वह सज्जन अपने परिवार को ले कर उस दिन अपराह्न में कलकत्ता भाग गए।

वहाँ के अंग्रेज़ चाय-उत्पादकों के प्रतिनिधियों ने मुझसे सलाह माँगी कि गिरती हुई सांभ्रामिक स्थिति को देखते हुए वे लोग सपरिवार वहीं रुके रहें या किसी सुरक्षित स्थान में चले जाएँ। मैंने उन्हें परामर्श दिया कि अपने परिवार को तो वे सुरक्षित स्थानों में पहुँचा दें किन्तु स्वयं वहीं रुके रहें। उन्होंने ऐसा ही किया। संकटकालीन स्थिति में उनका यह कदम अंग्रेज़ों की परम्परा के अनुकूल था।

१८ से २० नवम्बर

१८ नवम्बर को तेजपुर में थापर ने मुझसे कहा कि लद्दाख और नेफ़ा में अपने सैनिक पराभव के कारण सरकार की काफी आलोचना होगी, इसलिए यदि उनके त्यागपत्र देने से सरकार को कुछ लाभ होने की सम्भावना हो तो वह नेहरू को अपना त्यागपत्र दे देंगे। दिल्ली आते हुए, वायुयान में यही बात उन्होंने त्रिगेडियर पालित से भी कही। पहले तो पालित ने कहा कि इस कदम की कोई आवश्यकता नहीं थी किन्तु दुबारा सोच कर कहा कि उनका (थापर का) यह कदम काफी प्रशंसनीय माना जाएगा यद्यपि नेहरू इस त्यागपत्र को स्वीकार नहीं करेंगे। उस रात दिल्ली पहुँच कर थापर सीधे नेहरू के निवासस्थान पर गए और कहा कि अपनी सेना के पराभव के फलस्वरूप सरकार की काफी आलोचना हो रही थी, इसलिए यदि उनके त्यागपत्र से सरकार को कुछ बचत हो सकती हो तो वह अपना त्यागपत्र देने को तैयार थे। नेहरू ने उत्तर दिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह उन्हें बता देंगे। अगले दिन मन्त्रि-मण्डल के सचिव एस० एस० खेरा थापर के पास पहुँचे और उन्होंने कहा कि नेहरू ने उनके प्रस्ताव को स्वीकार करने का निर्णय किया था। इस पर थापर ने सेवावधि पूर्ण होने के पहले ही निवृत्त किये जाने की लिखित

संसा की जो स्वीकार कर भी गई। राजनीतिक कारणों के लिए भापर को संन दे दी गई।

राष्ट्रपिता की दृष्टि में भापर के बाद नेपटी० जनरल जे० एन० चौधरी का स्थान था, इसलिए पहले उसका विभागों के रूप में भापर ने चौधरी के नाम से विचार किया था। इसको कहते हैं भापर-नियंत्रण। चौधरी नेपटी० जनरल के रूप में अपनी नेवारधि पूरी कर चुके थे और उन्हें मेधा में निवृत्त होने का प्रस्ताव भी मिला गया था। चौधरी को, जो अपनी सैनिक-जीवन समाप्त मान चुके थे, अपना एक घाबो चौक की दुर्भोग मिल गई। यह केवल ईश्वरीय कृपा थी। यह २० नवम्बर की बात है। मरदा यह है कि कुछ दिन पहले चौधरी ने भारत में प्रार्थना की थी कि वह उन्हें मेना मुख्यालय में दिल्ली बुला लें क्योंकि (उनके अनुसार) पूना में घाबो कमाण्डर के रूप में उनका समय नाट ही हो रहा था। जब इस सम्बन्ध में भापर ने अपने 'प्रतिपक्ष स्टाफ घाबिणियों' से सलाह की तो उन्होंने उत्तर दिया कि चौधरी को दिल्ली में कोई महत्वपूर्ण पद देना उचित नहीं रहेगा क्योंकि वह (चौधरी) घाबो के कारण दमवद हो कर काम नहीं कर पाएंगे। इस पर भापर ने चौधरी को दिल्ली से दूर ही रखने का फैसला किया। किन्तु घाबुष्ट तो कुछ और ताना-बाना सुन रहा था।

२० नवम्बर को स्थिति काबो भिन्ताजनक थी। चौधरी समेत किसी को नहीं मान्य था कि चीनी घाबो बड़ों या नहीं घाबया भारतीय मेना को अभी और कितना पीछे हटना पड़ेगा? इस समय चौधरी ने, जिन्हें स्टेट्समैन ने वीरता की प्रतिमूर्ति की संज्ञा दी, असममित मन-स्थिति में जनरल पी० एन० भापर ने पूछा कि अपनी मेना की कमियों (सख्या एव दस्तों में) को देखते हुए, उनके (भापर के) विचार से वह (चौधरी) कितने दिन घाबो चौक रह पाएंगे। भापर ने चौधरी को सान्त्वना देते हुए कहा कि उन्हें स्वयं में नहीं घबडाना चाहिए क्योंकि सफट की पड़ी से लगभग टल चुकी थी और मैदान में चीनी बिना कठोर लोहा लिये घाबो नहीं बढ़ पाएंगे। भापर ने फिर चौधरी का साथ दिया और चीनियों ने मुठ-विराम की एकतरफा घोषणा कर दी तथा जितनी सीमा में वह घाबो बढ़ पाये थे, उससे पीछे हट गए। चौधरी ने एकदम रग पलटा और वह एक 'टफ' (कठोर) घाबो चौफ बन गए। काफ्री लोगों को यह विश्वास दिला दिया गया कि वह (अमत्कार के बल पर) 'निर्वल सेना का कायाकल्प' कर देंगे जो अतीत में 'गुटबन्दिमो एवं कमजोर नेतृत्व' के फलस्वरूप घाबकत हो गई थी। (पिछली बात जरा फुसफुसा कर कही गई थी।) रग बदलने में चौधरी ने गिरगिट को भी मात दे दी तथा परिस्थितियाँ, सदा की भाँति, चौधरी के अनुकूल निबड हुईं। (हमारे एक प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ ने अपने बक्तव्य में जो कहा उसका अर्थ यह था कि जब तक हम चीनियों से अपनी



सारी धरती वापस न ले लेंगे, तब तक वह एक विशिष्ट शहर में प्रवेश नहीं करेंगे। दुर्भाग्यवश, आज चार वर्ष बाद भी हमारी वह धरती चीनियों के अधिकार में है किन्तु यह मुझे पता नहीं कि वह राजनीतिज्ञ महोदय उस विशिष्ट शहर में प्रविष्ट हुए या नहीं।) हमारे नेताओं को यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि गेना के विस्तार में, सन्नद्ध करने में तथा मुयोग्य कमाण्डरों की देखभाल में अच्छे शस्त्रों का प्रशिक्षण देने में काफ़ी समय लगता है। अतीत की अपनी गलती से उन्हें शिक्षा लेनी चाहिए, शान्तिपूर्वक अपनी सैनिक शक्ति बढ़ानी चाहिए और अवसर आने पर अपनी शक्ति का उपयोग करना चाहिए। व्यर्थ में शोर मचाने का कोई लाभ नहीं है बल्कि ऐसा करके हम स्वयं को ही धोखा देते हैं। चीन हो, पाकिस्तान हो अथवा कोई और देश हो, हमारी बात का वह तभी सम्मान करेगा जब हम सचमुच शक्तिशाली होंगे अन्यथा हमारी ओर कोई ध्यान नहीं देगा। माओ त्से तुंग के अनुसार 'शक्ति बन्दूक की नली में है।'

धीरे-धीरे देश को यह विश्वास दिलाया गया कि १९६२ की हमारी सैनिक पराजय के लिए कुछ विशिष्ट सैनिक कमाण्डर जिम्मेदार थे (न कि सरकार जिसने सेना के बार-बार कहने पर उसे युद्ध के लिए तैयार नहीं किया)।

२१ नवम्बर (अ)

से ला, बोमदी ला, रूपा और चाको भी हमारे हाथ से निकल गए। डोला, तोवांग और वालोंग तो पहले ही शत्रु के हाथों में पड़ चुके थे। लद्दाख में भी इसी प्रकार पराजय का मुँह देखना पड़ा। पहले पराजय और फिर युद्ध-विराम, निकट भविष्य में अपनी पराजय के कलंक का कोई अवसर न दिखाई पड़ना, अपने विरुद्ध किये जा रहे झूठे प्रचार और सेना मुख्यालय में शासन-परिवर्तन इतनी चीजें मिल गईं कि इनको सहन करना मेरे वश के बाहर हो गया। स्थिति इतनी असह्य प्रतीत हुई कि सेवावधि के पूरा होने के पहले ही सेना से अवकाश प्राप्त करने का विचार उस रात मेरे मन में आया।

मेरे आलोचकों का कहना था कि नेफ़ा में हमारी पराजय इसलिए हुई क्योंकि मुझे एक सांग्रामिक कोर की कमान करने का पर्याप्त अनुभव नहीं था। यहाँ एक रोचक प्रश्न पैदा होता है कि सीनियर कमाण्डरों के लिए पर्याप्त अनुभव क्या है? मेरे विचार से शान्ति और युद्ध में, स्टाफ़ पर और कमान में विविध क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न स्तरों पर अपने नेतृत्व के गुण और पेशे के सैद्धान्तिक ज्ञान को व्यवहार में लाने के अवसरों का समूह ही यह अनुभव है। द्वितीय विश्व युद्ध के समय अधिकांश भारतीय ऑफ़िसर छोटे-छोटे पदों पर थे, इसलिए वे

नंबर या लेफ्टी० कर्नल के पद^{२६} में ऊपर का सांप्रामिक अनुभव प्राप्त नहीं कर पाये। ऐसे भी कुछ भारतीय ऑफिसर थे जो बिना युद्ध के दर्शन किये ही नेटो० जनरल के पद तक पहुँच गए थे। इस तथ्य को बतलाने का मेरा यह अभिप्राय नहीं है कि मैं अपने सैनिक जीवन के कुछ पक्षों पर अधिक बल देना चाहता हूँ—बशर्तकि मेरा सैनिक जीवन तो जैसा है, वैसा ही रहेगा—अपितु केवल इतना है कि यदि मेरे सम्पूर्ण सैनिक जीवन को देखा जाए तो वह मेरे सनकालीन ऑफिसरों के सैनिक जीवन में किसी भी रूप में कम नहीं था।

४ अक्टूबर १९६२ को जब नेफ्रा में मैंने अपनी कोर की कमान संभाली तो उस समय शर्म केवल दो ब्रिगेड थे जबकि सामान्य रूप में उसमें ६ से ले कर ९ ब्रिगेड तक होने चाहिए थे। पन्द्रह दिन बाद डोला के मोर्चे पर तैनात ब्रिगेड को शत्रु ने नष्ट कर दिया। यदि यह ब्रिगेड अपने पेशे की दृष्टि से अकुशल था या इसने कुछ भूलों की तो उसके लिए इस ब्रिगेड के कमाण्डर, ब्रिगेडियर दालवी से जवाब माँगना चाहिए। यह ब्रिगेड तथा अन्य सैनिक यूनिट जो बाद में मुझे मिले, पहले भी कहीं थे और यदि इनमें कुछ कमियाँ थीं तो उसके लिए इनके पहले कमाण्डरों को जिम्मेदार ठहराना चाहिए। प्रशिक्षण की कमी, जलवायु से अनम्यस्तता तथा युद्ध-सामग्री के अभाव के लिए सम्पूर्ण भारतीय सेना या सरकार को जिम्मेदार मानना चाहिए। हाँ, भारतीय सेना का एक ऑफिसर होने के नाते इस सामूहिक जिम्मेदारी में मैं अपना भी हिस्सा मानता हूँ और उसे स्वीकार करता हूँ। किन्तु इन सब बातों की सम्पूर्ण जिम्मेदारी मुझ पर थोपना बिल्कुल मंगत नहीं है। मेरे पास कोई ऐमा जादू तो था नहीं कि मैं कुछ दिनों या कुछ सप्ताहों में इन यूनिटों की कमियों को दूर कर के इनका वायाकल्प कर देता। हाँ, तकनीकी दृष्टि में आप मुझे जिम्मेदार ठहरा सकते हैं क्योंकि उस समय इनकी कमान मेरे हाथ में थी। और यह भी गत्य है कि अज्ञातकीय या सांप्रामिक दृष्टि से इन यूनिटों के लिए जो भी किया जाना सम्भव था, उसमें मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। अपने अधीन यूनिटों को मैंने कभी सीधा आदेश नहीं दिया अपितु बीच के कमाण्डरों द्वारा दिया। डोला, लोबाग, से ला, बोमदी ला या वानोंग में से कोई भी मोर्चा इसलिए हमारे हाथ में नहीं निकला क्योंकि मैंने कोई गलत आदेश दिया था। उच्चाधिकारियों ने मुझे इन मोर्चों पर डटे रहने का आदेश दिया था और इनके पतन के कारणों पर मेरा कोई अधिकार नहीं था।

२९ मैं ऐसे तीन ऑफिसरों को जानता हूँ जो आज बहुत ऊँचे पदों पर आसीन हैं किन्तु जिन्होंने पिछले बीस वर्षों में गोली की आवाज़ भी नहीं सुनी है और जिन्होंने सांप्रामिक अनुभव भी कभी बहुत छोटे पदों पर प्राप्त किया था किन्तु वे एकदम ऐसा करते हैं कि जैसे युद्ध का उन्हें बहुत अनुभव हो।

और फिर अक्टूबर-नवम्बर १९६२ के नेफा युद्ध में कोई मैं एक ही सीनियर ऑफिसर तो नहीं था। कई मेरे ऊपर थे तथा कई मेरे नीचे थे। उस समय सेना इस प्रकार श्रेणीबद्ध थी—चोटी पर आर्मी चीफ़ और उनके नीचे तीन आर्मी कमाण्डर जिनमें नेफा समेत पूर्वी क्षेत्र के अप्रैल १९६१ से इन्चार्ज थे लेफ्टी० जनरल सेन; लेफ्टी० जनरल सेन के अधीन ३३ और ४, दो कोर थीं जिनमें ३३ कोर तो नागालैण्ड तथा कुछ अन्य क्षेत्र के लिए जिम्मेदार थी तथा ४ कोर नेफा के लिए; ४ कोर मेरे अधीन थी जिसमें दो^{३०} डिवीज़न थे और प्रत्येक डिवीज़न का इन्चार्ज एक मेजर जनरल था जिसके नीचे कई ब्रिगेड थे और प्रत्येक ब्रिगेड के लिए एक ब्रिगेडियर जिम्मेदार था। इस प्रकार मेरे ऊपर-नीचे अनेक सीनियर कमाण्डर थे और नेफा की सुरक्षा का भार इन सब पर तथा मुझ पर सामूहिक रूप से था। उदाहरण के लिए, से ला के महत्वपूर्ण मोर्चे को खोलने के लिए मेजर जनरल ए० एस० पठानिया (मेरे अधीनस्थ कमाण्डरों में से एक) जिम्मेदार थे। फिर मेरे ऊपर आर्मी कमाण्डर लेफ्टी० जनरल सेन थे जिनकी सहमति से मैंने सारे आदेश दिये थे और जिन्होंने मेरे एक आदेश को भी कभी गलत नहीं बतलाया। (मैं तो नेफा के मंच पर वाद में पहुँचा, लेफ्टी० जनरल सेन तो वहाँ लगभग अठारह महीने पहले से थे।) इसलिए नेफा की प्रत्येक घटना के लिए वह भी समान रूप से जिम्मेदार हैं। सैनिक इतिहास में ऐसे कई उदाहरण सुलभ हैं जबकि किसी मोर्चे पर चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो, हार हो जाने के कारण सम्बन्धित आर्मी कमाण्डरों से या उनके ऊपर वाले कमाण्डरों से कमान छीन ली गई है (जैसे कि सेन के क्षेत्र में नेफा की पराजय)।

यहाँ मेरा यह पूछना प्रसंगानुकूल है कि मेरे उन प्रतिरूपों (काउण्टर-पार्ट्स) की जिनके पास लद्दाख की सुरक्षा की जिम्मेदारी थी और जिनके अधीन भी इसी प्रकार की हार हुई थी, यह प्रशंसा क्यों की गई कि उन्होंने 'बड़ी वीरता' से प्रतिरक्षा की थी।

नेफा (और लद्दाख) में जो कुछ हुआ, वह सरकार और उसके अनेक सैनिक एवं गैर-सैनिक कर्मचारियों की भूलों का संयुक्त परिणाम था। इस परिणाम के लिए मैं भी इन सब के साथ जिम्मेदार हूँ किन्तु इससे अधिक मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है। मैं जहाँ तक समझता हूँ, मेरे आलोचकों ने केवल मुझ पर उँगली उठा कर अपनी ईर्ष्या को तुष्ट किया है किन्तु यदि ये आलोचक उसी कसौटी पर कुछ और लोगों को कसते तो मेरे विरुद्ध इनका आरोप हल्का न हो जाता !

३०. मेरी कमान में कुछ और सैनिक यूनिट भी आये किन्तु युद्ध-विराम के एकदम पहले।

११ नवम्बर (ब)

तेजपुर जनसूच्य था। गिरि व अधिकारियों ने जेल में घण्टाधियों को मुक्त कर दिया था। करमी नोटों को जला कर पैकों को बन्द कर दिया गया था।

नानवहादुर मास्त्री^{३१}, 'विजय' पटनायक तथा खानिहा एक घण्टे के लिए तेजपुर घाँव और हवाई-घट्टे पर उन्होंने मुम्बई सरकार की स्थिति पर चर्चा की।

१२ के ते कर २२ नवम्बर तक मुम्बई में खर जनरल ए० ए० पटानिया का धीरे-धीरे समाचार नहीं मिला, इसलिए उनकी सुरक्षा की धोर से मैं बहुत निश्चित था। मुझे कुछ मासूम नहीं था कि वह कुछ में बीर गति को प्राप्त हुए या मरने के उद्देश्य से बना दिया या बिना रात-पौरे नेत्रों के जगनों में भटक कर फिर रहे थे।

उन्हें विक्रान्त की आवश्यकता थी या न मासूम किता घतहाय घबस्था में कहाँ है। एक नई रूढ़ि रक ही गई थी, इसलिए मैंने उन्हें खोजने का विचार किया। उस दिन दोपहर बाद किमी ने सूचना दी कि ४ डिवीजन के कुछ अधिकारियों को तेजपुर के उत्तर-पश्चिम में स्थित कानाटोंग में रखा गया था। मैंने तब तक ही तभी दिल्ली से माये थे। जब उन्होंने मेरे इस अभियान पर चरणों का जवाब दिया तो वह मूर्छा में तैयार हो गए।

बहादुर चालकों की वायु सेना में कोई कमी नहीं है। एक हेलीकॉप्टर में बैठ कर पहले हम कानाटोंग की धोर गए और उगते बाद बीमदी ना-दिरोग रोग की धोर गए। मोलों धूमने का पल कुछ न निकलता। अपने घादियों की धोर में हम काफी नीचे उड़ रहे थे। घनेक तंग क्षत्रों के ऊपर मैं भी गुजरे वहीं मरु-सेना पड़ी थी। बेकार की भागदौड कर के हम वापस छा गए। पटानिया या उसके किसी घादमी के न मिलने पर मुझे काफी निराशा हुई। इसके बाद मानकजी दिल्ली चले गए।

घनी में तेजपुर हवाई-घट्टे पर ही था कि मुझे एक और गुवा चालक (पाइलट) मिले जिसका एक पंर एक-दो दिन पहले उसकी हो गया था किन्तु पटानिया की खोज के लिए वह तुरन्त तैयार हो गए। उनके विचार से उन्हें उस स्थान का ठीक पता था जहाँ हमारे घादमी हो सकते थे। जब हम तेजपुर से चले तो अन्धकार फैलने में केवल घाघा घण्टा सेप था। उस रात चन्द्रमा भी देर में निकलना था। इसलिए यह पहले ही पता था कि हमें बिल्कुल अंधेरे में नौटना पड़ेगा। अंधेरे में हेलीकॉप्टर चलाना कोई सरल काम नहीं है किन्तु यह धीरे एव साहसी चालक (जिसका नाम मुझे स्मरण नहीं था रहा) इसके अधिक भी कुछ करने के लिए तैयार था।

घाघा घण्टे उड़ान भरने के बाद हम भैरापकुण्ड पर उतरे। यह स्थान

३१. केंद्रीय गृह मन्त्री तथा क्रमशः उड़ीसा एव आसाम के मुख्य मन्त्री।

‘फुटहिल्स’ में ऊदलगिरी के उत्तर में लगभग पन्द्रह मील दूर है। यहाँ हमें अपने कुछ आदमी दिखलाई पड़े। भूखे-प्यासे रहने से उनका हुलिया एकदम बदल गया था। कुछ मिनट बाद पठानिया भी वहाँ आ गए। उनको सुरक्षित देख कर मुझे राहत महसूस हुई यद्यपि यह विचार भी तुरन्त मन में आया कि नेफा^{३१} में हमारी एक बड़ी पराजय का शिल्पी मेरे सामने खड़ा था।

उनमें कुछ लोग घायल भी थे। पठानिया तथा एक-दो अन्य आदमियों को मैंने हेलीकॉप्टर में बिठाया और मैं चल पड़ा। कुछ समय तक तो थोड़ा-बहुत प्रकाश रहा किन्तु उसके बाद धुप अँधेरा छा गया। हमारे चालक के कुशल यान-चालन के फलस्वरूप हम पैंतालीस मिनट बाद तेजपुर पहुँच गए।

कुछ देर पहले सरकार पर चारों ओर से दवाव पड़ने के कारण, मेनन ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया था। यदि इतने विरोध के बावजूद भी नेहरू मेनन का पक्ष लेते तो उनका अपना पद खतरे में था। प्रशासकीय दृष्टि से तो मेनन ने काफी अच्छा काम किया किन्तु सांघ्रामिक मामलों में वह अपने ही गलत फैसलों के शिकार हुए। घटनाओं ने भी इस निःसंग भेड़िये के विरुद्ध पड़्यन्त्र रचा।

मेनन के सत्ता से हटते ही, भारत के प्रति की गई उनकी समस्त सेवाओं को भुला दिया गया और केवल उनकी भूलों को याद रखा गया। मानव-स्वभाव की अस्थिरता देखिये कि मेनन के उत्कर्ष-युग में जो लोग उनकी पूजा किया करते थे, मेनन का पतन होते ही उन्होंने उनका (मेनन का) विरोधी बनने में शीघ्रता दिखलाई।

लद्दाख के सम्बन्ध में यहाँ दो शब्द कहना प्रसंगानुकूल रहेगा।

लद्दाख की स्थिति नेफा से भिन्न नहीं थी। वहाँ भी बर्बर चीनियों के सामने हमारी सेना को पीछे हटना पड़ा था। किन्तु मेरे आलोचकों ने ईर्ष्याविश कहा कि लद्दाख में तो शत्रु से डट कर लोहा लिया गया था लेकिन नेफा में हम चुपचाप पीछे हट गए थे। किन्तु देश को सदा अँधेरे में नहीं रखा जा सकता। लद्दाख में भी हमारी पराजय उतनी ही बड़ी थी जितनी कि नेफा में, इसलिए लद्दाख में जो कुछ हुआ, वह कुछ अनुच्छेदों में नीचे वर्णित है।

३२. मेजर जनरल ए० एस० पठानिया को जब यह पता लगा कि मैंने स्वेच्छापूर्वक सेना से निवृत्त होने की प्रार्थना की थी तो उन्होंने ५ दिसम्बर को मुझे एक पत्र लिखा ‘..... आप परिस्थितियों के शिकार बने हैं। किन्तु पराजय के बाद आपने जो काम किया, वह एक महान् व्यक्ति ही कर सकता था..... शायद अप्रत्यक्ष रूप से मैंने आप को निराश किया है..... आप की मानसिक पीड़ा का मैं ठीक-ठीक अनुमान लगा सकता हूँ.....’

२० अक्टूबर को प्रातःकाल को हमारे एक वायुयान-चालक पर जो दौलत बेग झोल्दी क्षेत्र में रसद पहुँचाने जा रहा था, जमीन से चीनियों ने बीस गोलियाँ चलाईं। हमारे वायुयान-चालक ने देखा कि दौलत बेग झोल्दी के निकट घोर कर्रुंकर्रुंम दर्रे के नीचे की हमारी एक चौकी को चीनियों ने चारों ओर से घेर रखा था। उस दिन संध्या तक चीनियों ने इस क्षेत्र में हमारी पाँच चौकियों को अपने अधिकार में कर लिया। इस क्षेत्र की दोप चौकियों को ११४ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड ने—जो धार्मी कमाण्डर लेफ्टी० जनरल दौलतसिंह और और कमाण्डर लेफ्टी० जनरल बिक्रमसिंह के अधीन था—आदेश दिया कि वे दौलत बेग झोल्दी के पीछे जा जाएँ। २३ तारीख तक इन चौकियों के सैनिक निर्धारित स्थान पर पहुँच गए।

२१-२२ अक्टूबर को प्वाइण्ट १८५४० की चौकी, २२ तारीख को गल्वा की चौकी, तथा कुछ मुठभेड़ के बाद मिरिजग की दोनों चौकियाँ हमारे हाथ में निकल गईं। कोगा और चाग-चेन्मो पर भी शत्रु का कब्जा हो गया। अपने ला और चारसे की चौकियों को आदेश मिला कि वे पूराग तक पीछे हट जाएँ।

२४ तारीख को यूला १ शत्रु के हाथ में चला गया। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्तरी लद्दाख प्रदतालीत पण्टो के भन्दर-भन्दर हमारे हाथ से निकल गया।

२७ तारीख को चाग ला गया तथा कुछ मुठभेड़ के बाद जारा ला गया। दमचोक को खानी कर दिया गया तथा नल्ला जकनन एव होट विंग की चौकियों ने सैनिकों को पीछे हटा लिया गया। नेपा-नहाग गुड का प्रथम पक्ष था जिसमें नेपा के डोला एव तोबाग शत्रु को मिले तथा लद्दाख का उत्तरि-पश्चिम क्षेत्र।

चीनी आक्रमण का दूसरा दौर १० नवम्बर को शुरू हुआ। (त्रिग समय नेपा में बालोग, से ला और सोमदी ला पर शत्रु का अधिकार हुआ), उस समय शत्रु लद्दाख में रबग ला, मुकंग पहाड़ी, रसागुर पाटी एव चुमून हार्ड-पहाड़े के निकटवर्ती क्षेत्र पर कब्जे कर रहा था। १६-२० नवम्बर तक चीनियों ने वहाँ तक अधिकार कर लिया जहाँ तक बड़ अपनी सीमा बढ़वाते थे। उनकी इस सीमा में न चुमून गाँव था और न चुमून का हार्ड-पहाड़ा। ये दोनों स्थान एक-दूसरे में चार मील दूर हैं। उत्तरी पश्चिम सीमा में वे स्थान धारं थे—रबग ला पहाड़ी, रबग पर्वतमाला, नुवेर पहाटी, रसागुर पाटी, मुकंग पहाड़ी, सोलामो पहाड़ी, इन पहाड़ों और दुपाट्ट १८३००। जब चीनियों ने इन स्थानों पर अधिकार कर लिया तो उन्होंने उनके बसना रोक दिया। (रबग ला की पहाड़ी न केवल सैनिकों के बसने योग्य स्थान है और ला के शत्रुओं पर पक्षे तथा की उपरान्त कर दिया।) आत्म-रिक्त कि चुमून गाँव पर न चुमून हार्ड-पहाड़े पर शत्रु के बसने का-

मण नहीं किया यद्यपि 'चुसूल की लड़ाई' को बड़ा महत्त्व दिया गया और कहा गया कि वहाँ बड़ा घमासान युद्ध हुआ था और (नेफा की अपेक्षा) हमारी सेना ने काफी डट कर मोर्चा लिया। किन्तु चुसूल पर कभी आक्रमण हुआ ही नहीं। उत्तरी, केन्द्रीय एवं दक्षिणी लद्दाख में स्थित हमारी जो चौकियाँ चीनियों की स्ववोपित सीमा में आईं, उन्होंने उन पर आक्रमण किया और छीन लिया। २०-२१ नवम्बर की रात को चीनियों ने स्वयं ही युद्ध-विराम की घोषणा कर दी। लद्दाख में भी कई छोटी-छोटी और दूरस्थ चौकियाँ थीं जिनमें कुछ ने शत्रु से टक्कर ली और कुछ ने कहीं। नेफा में भी यही हुआ था। से ला पर गढ़वालियों ने एवं वालोंग पर अन्य यूनिट ने शत्रु का डट कर मुकाबला किया था। इस तथ्य को क्यों नहीं दृष्टि में रखा गया। लद्दाख और नेफा, दोनों का परिणाम एक ही निकला अर्थात् दोनों स्थानों पर हमें बहुत जल्दी से पीछे हटना पड़ा।

आप को ध्यान होगा कि जब चीनियों ने लद्दाख का कई हजार वर्ग मील क्षेत्र चुपचाप अपने अधिकार में कर लिया था तो हमारे नेताओं ने जनता को शान्त करने के लिए कहा था कि उस स्थान पर तो 'घास का एक तिनका भी नहीं उगता था।' इससे जनता ने यह समझा कि लद्दाख की अपेक्षा नेफा बहुत महत्त्वपूर्ण था। किन्तु बात ऐसी नहीं है। यदि प्रशासकीय दृष्टि से नेफा महत्त्वपूर्ण था तो सुरक्षा की दृष्टि से लद्दाख महत्त्वपूर्ण था।

यद्यपि लद्दाख में वहाँ के श्रेष्ठ कमाण्डर, त्रिगेडियर (अब मेजर जनरल) रैना ने शत्रु को रोकने के काफी प्रयत्न किये होंगे किन्तु यह सत्य अपनी जगह अटल है कि लद्दाख का भी उतना ही क्षेत्र शत्रु के अधिकार में चला गया था जितना कि नेफा का। छोटी-मीठी भिड़न्तों को छोड़ कर लद्दाख में कोई बड़ी लड़ाई नहीं हुई। हाँ, व्यक्तिगत शौर्य-प्रदर्शन^{३३} के उदाहरण दोनों क्षेत्रों में सुलभ हैं। ६ पंजाब के सैनिक कांशीराम का उदाहरण लीजिए जिन्हें सरकार ने महावीर चक्र प्रदान किया। महावीर चक्र की भापा देखिये :

१० अक्टूबर १९६२ को नेफा की सेंग जोंग चौकी पर लगभग ५०० चीनियों ने आक्रमण किया। शत्रु की ओर से होने वाली भयंकर गोला-वारी की चिन्ता किये बिना सैनिक कांशीराम अपने मोर्चे पर डटे रहे

३३. संकटपूर्ण स्थिति का आदमी स्वेच्छा से वरण क्यों करता है? क्या पदोन्नति के लालच में या शौर्य-प्रदर्शन के फलस्वरूप मिलने वाले पुरस्कार के लिए या अपने अच्छे काम की मान्यता प्राप्त कराने के लिए या परम्परा-पालन या अनुशासन-पालन के लिए या वीरता की भावना से अभिप्रेरित हो कर या व्यक्तिगत निष्ठा और भक्ति के कारण या स्वदेश-प्रेम से अनुप्राणित हो कर? मेरा विचार है कि इन सब चीजों का थोड़ा-थोड़ा अंश मिल कर उसे उत्साहित करता

तथा उन्होंने अपनी लाइट मशीन-गन से शत्रु को काफी जन-शक्ति पहुँचाई। शत्रु की तोप का एक गोला उनकी खाई के बिल्कुल निकट पटा जिसके टुकड़ों से वह सख्त घायल हो गए। शत्रु को पीछे हटाने के बाद सैनिक काशीराम का प्रथमोपचार किया गया। उनके भाव बहुत चिन्ताजनक थे तथा उनसे लगातार खून बह रहा था। उनके कम्पनी कमाण्डर ने उन्हें पीछे भेजना चाहा किन्तु सैनिक काशीराम पीछे जाने को तैयार नहीं हुए और उसी स्थिति में अपने मोर्चे पर जमे रहे।

इस चीकी पर शत्रु ने फिर आक्रमण किया। इस बार का आक्रमण अधिक शक्तिशाली था और शत्रु की तोपें आग उगल रही थी। सैनिक काशीराम ने फिर अपनी मशीन-गन सँभाल ली। शत्रु आगे बढ़ता चला आया और चीकी के बिल्कुल निकट आ गया। एक चीनी ऑफिसर अपने कुछ आदमियों के साथ बिल्कुल गिर पर आ गया और उसने साईं में लेटे भारतीय सैनिकों से समर्पण करने के लिए कहा। सैनिक काशीराम की गोलियाँ समाप्त हो गई थी किन्तु उन्होंने शत्रु पर एक हथगोला दे मारा जिससे चीनी ऑफिसर और उसके तीन अधीनस्थ ऑफिसर मर गए। इसके बाद सैनिक काशीराम ने अपने आदमियों को पीछे हट जाने को कहा। इस बीच कुछ और चीनी ऑफिसर आगे बढ़ आये। उनमें में एक ने सैनिक काशीराम की मशीन-गन छीनने का प्रयत्न किया जबकि दूसरे ने स्वचल राइफल से गोली मार कर उन्हें और घायल कर दिया। इतने अधिक घायल हो जाने के बाद भी उन्होंने अपनी मशीन-गन नहीं छोड़ी और इस दक्षता के साथ चीनियों को धक्का दिया कि वे सब मुँह के बल पर गिर पड़े। इसके बाद सैनिक काशीराम ने शत्रु से वह भरी हुई स्वचल राइफल छीन ली तथा दोनों दस्तों (स्वचल राइफल एवं अपनी लाइट मशीन-गन) को ले कर अपनी पलटन में वापस आ गए। शत्रु का यह प्रथम हथियार था जो ७ इन्फैण्ट्री ब्रिगेड के हाथ लगा। इस भिडन्त में सैनिक काशीराम ने घदम्ब माहल तथा उच्च स्तरीय प्रत्युत्पन्नमति का परिचय दिया।”

यदि नेशा बिना लड़े हो शत्रु को समर्पित कर दिया था तो बीरता-प्रदर्शन की यह घटना तथा एन जैमी कई घनेक जो प्रकार में नहीं था पाई, किंगे पटी ?

तद्दास और नेशा में हुई हमारी जन-शक्ति की निम्नलिखित तानिशा से एक बात स्पष्ट है कि तद्दास की घोषणा नेशा ने पाँच गुना घातकी मारे गए और दस गुना घातकी पायल हुए :

श्रवतूवर-नवम्बर १९६२ में चीनी आक्रमण के समय नेफा और लद्दाख
में हुई जन-क्षति (लगभग)

	मृत	घायल	लापता	योग
नेफा	११५०	५००	१६००	३२५०
लद्दाख	२३०	५०	६०	३४० ✓

उपर्युक्त तालिका के तथ्योद्घाटन के बाद भी यह कहा जाता है कि लद्दाख में लड़ाई अधिक जोरों की हुई। यह कहने का मानदण्ड क्या है?

यह ठीक है कि नेफा में हमारे सैनिक अधिक थे किन्तु चीनी भी तो उसी अनुपात में अधिक थे। दूसरी बात ध्यान रखने योग्य यह है कि लद्दाख में चीनियों से हमारी मुठभेड़ कई वर्षों से होती आ रही थी जिसके फलस्वरूप वहाँ हमने कुछ प्रतिरक्षात्मक मोर्चे स्थापित कर लिये थे तथा हमारे सैनिक भी वहाँ की जलवायु के अभ्यस्त हो गए थे। वहाँ हमारी कमान एवं नियन्त्रण सुदृढ़ थे तथा वहाँ हमने कुछ व्यूह-रचना भी कर ली थी। दूसरी ओर, नेफा में मेकमोहन रेखा के निकट हम पहली बार १९६२ में पहुँचे थे तथा वहाँ कुछ ही चौकियाँ स्थापित कर पाये थे कि चीनियों ने आक्रमण कर दिया। वहाँ हमारे पास न पर्याप्त सैनिक थे, न पूरी कमान थी तथा प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से न अन्य प्रबन्ध हो पाया था। इन तथ्यों से इंकार नहीं किया जा सकता और मेरे विरुद्ध झूठा प्रचार करने वाले मेरे निन्दकों ने इन तथ्यों को जानबूझ कर जनता से छिपाया है। उनका लक्ष्य तो यह प्रचार करना था कि लेफ्टी० जनरल कौल एक अक्षम जनरल था जिसे नेफा जैसी दायित्वपूर्ण कमान मेनन और नेहरू ने सौंप दी थी जिनके पक्षपात के कारण सदा ही गलत आदमियों को ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित किया जाता रहा। (इसी प्रकार का आक्षेप थापर पर भी किया गया था।) उनके कथनानुसार लद्दाख की कमान जिम्मेदार एवं सक्षम जनरलों के हाथ में थी जिन्होंने अपनी योग्यता का पूरा परिचय दिया।

तथ्य यह है कि चीनी सेना ने भारतीय सेना को, लद्दाख और नेफा, दोनों ही स्थानों पर समान रूप से पराजित किया था तथा स्वघोषित सीमा तक पहुँच कर युद्ध-विराम की एकपक्षीय घोषणा कर दी थी।

इस अध्याय में मैंने इन बातों का विश्लेषण किया है कि चीनियों ने हम पर २० अक्तूबर को आक्रमण क्यों किया या आक्रमण ही क्यों किया; उन्होंने एकपक्षीय युद्ध-विराम की घोषणा क्यों की; भारत की पराजय और चीन की विजय के कारण कौन से हैं तथा भारत को भविष्य में क्या करना चाहिए। इन प्रश्नों के सम्भावित उत्तर नीचे दिये हुए हैं।

चीन ने हमारे सम्पूर्ण सीमान्त पर (जो चीन में लगता था) घातमण्डल किया क्योंकि यह स्वयं को विश्व की बड़ी शक्तियों में गिनवाना चाहता था; इस धीरे धमरीका को यह ममभ्राना चाहता था कि यह एशिया की सबसे बड़ी शक्ति है तथा एशिया पर उसका प्रभाव है; पश्चिम पर तथा नेपाल, बर्मा, तंका, कम्बोदिया, सिचिऊम, भूटान आदि एशियाई देशों पर अपनी शक्ति का प्रभाव जमाना चाहता था एवं उन्हें यह धितायनी देना चाहता था कि वे भारत से दूर रहें तथा अपनी सरकार की सफलता एवं अपने आर्थिक विकास का प्रदर्शन करना चाहता था। चीन शक्तियों को भारत की 'तटस्थ नीति' का खोखलापन दिखलाना चाहता था; सैद्धान्तिक, राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में प्रतिद्वन्द्विता का दम भरने वाले भारत को अपमानित कर के उसकी अर्थव्यवस्था एवं उसके मनोबल को पूर-पूर करना चाहता था तथा हमारी लोकतांत्रिक सरकार को अशाह गिड़ करना चाहता था, तिब्बतियों एवं दलाई लामा को यह शिक्षा देना चाहता था कि भारत जैसा अशक्त देश चीन जैसे शक्तिशाली देश से उनकी रक्षा नहीं कर सकता था। और अपने देशवासियों (चीनियों) का ध्यान अपनी आन्तरिक अमफलताओं (जैसे लम्बी उम्र की अमफलता) में हटा कर उन्हें नया नारा 'साम्राज्यवादी भारत से खतरा' प्रदान करना चाहता था।

चीन ने २० अक्टूबर १९६२ को अपने आक्रमण के लिए तैयार इमलिए चुना क्योंकि क्यूबा में तभी (२०-२६ अक्टूबर) भगड़ा हुआ। चीन ने यह सोचा कि जब अमरीका, रूस तथा विश्व के अन्य देश क्यूबा की समस्या में उनसे होंगे, भारत के साथ वह अकेला रह जाएगा। साथ ही अक्टूबर के अन्तिम पक्ष में मानसून हट जाता है और मौसम सुल जाता है और इसलिए नेता (एवं सहाय) में आगे बढ़ने का यह बहुत उपयुक्त समय था।

चीन ने युद्ध-विराम की एकपक्षीय घोषणा कई कारणों से की। (जैसा कि व शोबविज का कथन है : विजेता सदा शान्ति-प्रेमी होता है।) चीन का विचार था कि भारत उसके सामने घुटने टेक कर शान्ति की भिक्षा मागेगा जैसा उसके दुर्भाग्यवश हुआ नहीं; तिब्बत की सुरक्षा की दृष्टि से वह जितने निकटवर्ती सीमान्त पर अपना अधिकार जरूरी समझता था, उनना सीमान्त उसे मिल गया था, यदि विजित क्षेत्र को वह अपने अधिकार में रखता तो सदियों में उसका पोषण करना उसकी शक्ति के बाहर था क्योंकि बर्फ पठने पर उसका पोषण में सम्पूर्ण समाप्त हो जाता तथा उसे यह भी भय था कि यदि यह सर्वप्रथम अधिक चला तो अमरीका और पश्चिमी शक्तियाँ उस पर आक्रमण न कर दें जिनका कि वह अकेले सामना नहीं कर सकता था। रूस तथा अन्य समाजवादी देशों की सलाह लिये बिना उसने भारत पर आक्रमण किया था, इसलिए रूस देशों से सहायता मिलने की उसे आशा नहीं थी। भारत पर उसके आक्रमण

की विश्व ने काफ़ी निन्दा की और विशेष रूप से रूस एवं अमरीका ने, इससे वह काफ़ी घबड़ा गया। साथ ही क्यूबा के संकट के इतने शीघ्र टल जाने की उसे आशा नहीं थी और ख़ुश्चेव एवं कैंनेडी के अचिंत्यपूर्ण समझौते से उसे बहुत दुःख हुआ और इसके लिए उसने ख़ुश्चेव की निन्दा भी की क्योंकि इस समझौते ने उसकी योजनाओं को धूल में मिला दिया। अन्त में, अफ्रीकी-एशियाई देशों के सामने चीन अपना उदार रूप प्रस्तुत करना चाहता था और यह सिद्ध करना चाहता था कि उसका दृष्टिकोण साम्राज्यवादी विल्कुल नहीं था। साथ ही उसने हमको यह भी चेतावनी दे दी कि यदि हमने उसके द्वारा खाली किये भूखण्ड पर अधिकार करने की धृष्टता की तो उसे फिर लौट आने का पूरा-पूरा अधिकार था। अपने लक्ष्य की पूर्ति होने के बाद, अधिक समय तक हमारे सीमान्त में रहने का कोई लाभ न देख चीन वापस लौट गया।

भारत पर चीनी आक्रमण की पश्चिमी देशों में यह प्रतिक्रिया हुई—प्रथम, चीन सम्बन्धी उनका दृष्टिकोण सही निकला न कि भारत का और अच्छा हुआ कि भारत को लगे हाथ एक सवक मिल गया; द्वितीय, अब भारत कल्पना-लोक में विचरण न कर के जीवन की यथार्थताओं को स्वीकार करेगा तथा तृतीय, अब भारत अपनी विदेश नीति को नये सिरे से निर्धारित करेगा। अब उन्होंने आशा की कि भारत और पाक संयुक्त प्रतिरक्षा का कार्यक्रम बनाएँगे। उनके अनुसार भारत के तीनों विश्वास—पीकिंग आक्रमण नहीं करेगा, बिना पश्चिम की सहायता लिये वह अपनी प्रतिरक्षा में समर्थ था तथा चीन के विरुद्ध रूस भारत की सहायता करेगा—धराशायी हो चुके थे।

सीनेटर रसल को आशंका थी कि कहीं अमरीकी शस्त्र अशक्त भारत के हाथों से चीन के पास न पहुँच जाएँ क्योंकि उनके अनुसार भारत अपनी प्रतिरक्षा में अक्षम था। कुछ लोगों को यह शंका थी कि रूस भारत को इतना शक्तिशाली न बना दे कि वह अपने पड़ोसियों के लिए आतंक बन जाए। (अमरीका के श्री हरीमेन जैसे भी विदेशों में हमारे मित्र हैं जो यह मानते हैं कि रूस को मित्र बनाने की हमारी नीति घातक नहीं है।)

१९६२ के भारत-चीन संघर्ष के समाप्त होने पर रूसियों के इस कथन 'चीनी हमारे भाई हैं और भारतीय हमारे मित्र' से उनकी प्रतिक्रिया स्पष्ट है। (यद्यपि आज स्थिति ऐसी नहीं है।)

अक्तूबर-नवम्बर १९६२ की हमारी पराजय के लिए अनेक तत्त्व जिम्मेदार हैं। यद्यपि भारत-चीन की सीमा पर कई वर्षों से मुठभेड़ हो रही थी किन्तु न तो हमने अपनी सेना को सशक्त बनाने का प्रयास किया और न ही चीनियों के युद्ध-कौशल को समझने का प्रयास किया। इस गम्भीर संकट का अमना करने के लिए हमारी सरकार ने कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया।

चीनियों के युद्ध-कौशल के सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा गया है। वास्तव में,

सा युद्ध-कौशल परम्परागत युद्ध-कला के अनुरूप ही है यद्यपि उस पर हिंस्र युद्ध-पद्धति का काफी प्रभाव है। आग्नेयास्त्रों एवं गतिशीलता—निरत युद्ध-कौशल का प्राग—में तथा युद्ध-स्थल के भूखण्ड के सदुपयोग में ज्ञान विद्वान है। नमस्तन मंदानों में वे परम्परागत युद्ध-पद्धति का ही अनुसरण करते हैं। पर्वतीय भूप्रदेशों एवं तंग मोर्चों पर वे काफी संख्या में एवं शत्रु बोर से प्राप्रमण करते हैं ताकि शत्रु के बीच में घुस कर उद्ये घबड़ा दें। वे बवंर पकित में नहीं प्रपितु स्वस्थ युद्ध-कौशल में विद्ववास रखते हैं। यदि हम उनको युद्ध-पद्धति को न समझना चाहे तो दूसरी बात है अन्यथा वे भी परम्परागत युद्ध-पद्धति का ही अनुसरण करते हैं।

यह भी कहा गया कि हमारे श्रगले मोर्चों पर चीनी निहल्ये चड़ गए थे। यह कहना सरासर गलत है। उनके सैनिक मूनिटों के कुली लोग निहल्ये थे और वे हमारे मृतकों के शस्त्रों को उठा लेते थे। शेष सेना पूरी तरह सदास्त्र थी।

नेपा में जिस कोर का मीने कमान किया, उसका गठन बहुत शीघ्रता में किया गया था। उसने पहले अनेक लोगों का यह विचार था कि भारत और चीन में जन्दी सपर्य होने की कोई आशंका नहीं थी। इसलिए जल्दी से तैयार होने का कोई विचार नहीं था। हम तब जागे जब चीनी थाग ला-डोना क्षेत्र में घुस गए। उसके बाद घटनाएँ शतनी शीघ्रता से घटीं कि हमें सँभलने या तैयार होने का अवसर ही नहीं मिला।

पर्वतीय युद्ध की दृष्टि से हमारी सेना बिल्कुल तैयार नहीं थी जबकि चीनी पूरी तरह अभ्यस्त थे। नेपा में तो अधिक सैनिक हमारे पास थे नहीं, शीघ्र भारत के अनेक भागों में उन्हें बुलाया गया। नेपा पहुँचने के लिए उन्हें भी कोई पूर्व सूचना नहीं थी, इसलिए वे भागदौड़ में ही आए। नेपा प्रदेग मागर-उट में काफी ऊँचा है और यहाँ की जनवायु का अभ्यस्त बनने में कुछ समय लगता है जबकि हमारे नये पहुँचे मूनिट न तो इस जलवायु के अभ्यस्त थे और न पर्वतीय युद्ध-पद्धति के। इस भागदौड़ में वे मूनिट इतने थक गए थे कि मानसिक एवं शारीरिक रूप से वहाँ की बृह-रचना को तुरन्त समझने में भी असमर्थ थे। न उनके पास पूरे हथियार थे तथा न अन्य युद्ध-सामग्री (जैसे शरणागत सेंट, गुदार्द के घोजार, सदियों के कपड़े) पर्याप्त थी। अपने कम जानान में वे हमें इनको भी कुछ देना पड़ा। इस सब का सघ-भाव (स्प्रिट दि शोर) पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

फरवरी-नवम्बर १९६२ में भारतीय सेना ने अनेक टिवीडनों एवं प्रिमेड को छोड़ कर नये मूनिट तैयार किए जिनमें उनके मिल कर काम करने पर कुछ प्रभाव पड़ा। उदाहरण के लिए, ५ एवं ११ इन्कंप्टी ब्रिगेड मूलतः ४ इन्कंप्टी टिवीडन के घंग थे, उन्हें वहाँ से हटा कर २ इन्कंप्टी टिवीडन के

अधीन कर दिया गया। फलतः, नये यूनिटों के अंग परस्पर अजनबी-से लगने लगे। यूनिटों के पुनर्गठन का अधिकांश काम मेरे से ऊपर के अधिकारियों के आदेश से किया गया।

हमारी आसूचना व्यवस्था (इंटेलीजेन्स सिस्टम) भी चीनियों की व्यवस्था जैसी अच्छी नहीं थी। उन्होंने सम्पूर्ण भारत में और विशेष रूप से नेफा में अपने एजेण्टों का जाल फैला रखा था। उनके एजेण्ट यहाँ की प्रत्येक सूचना उन्हें पहुँचा रहे थे। स्थानीय जनसंख्या को भी कुछ सीमा तक उन्होंने अपने पक्ष में करने का प्रयास किया था। इनमें से कुछ एजेण्टों ने हमारे आर्मी यूनिटों एवं नेफा प्रशासन में नौकरी कर ली थी। विशिष्ट क्षेत्रों में हमारी सैनिक तैयारी कितनी थी तथा हमारी भावी योजना क्या थी, इसकी चीनियों को अग्रिम सूचना रहती थी जबकि इस दिशा में हमारी प्रगति शून्य थी। नेफा के स्थानीय निवासियों में काफ़ी लोगों ने चीन की सहायता की।

हमारी तुलना में चीनी सैनिक रात में अधिक सरलता से आगे बढ़ सकते थे क्योंकि वे उस ऊबड़-खाबड़ पर्वतीय प्रदेश में चलने के अभ्यस्त थे। वे पक्षियों की बोली में आपस में संकेत देते थे, स्थानीय कवायलियों के देश में घूमते रहते थे, उनके दूभापिये हिन्दी में चिल्लाते रहते थे तथा हमारे मृतक सैनिकों की वर्दी पहन कर उनके सैनिक हमारे यूनिटों में घुस जाते थे। दिन में वह एक दिशा में जाते हुए दिखाई पड़ते थे किन्तु रात में दूसरी दिशा से हम पर आक्रमण करते थे। संख्या में अधिक होने के कारण कई बार हमारे मोर्चों को चारों ओर से घेर लेते थे और हम पर अन्धाधुन्ध गोलियाँ बरसाते थे। हमारे अगले मोर्चों का पीछे से सम्पर्क समाप्त करने के लिए बीच की सड़कों पर स्कावटें पैदा कर देते थे।

हमारी गश्ती टुकड़ियाँ भी प्रभावहीन ही सिद्ध हुईं। हम शत्रु को छद्मवेश में पहचान नहीं पाये। १९६२ की लड़ाई एवं नेफा की लड़ाई में हम एक चीनी को भी बन्दी नहीं बना पाए जबकि चीनियों ने हमारे अनेक आदमियों को बन्दी बनाया। अगले वर्ष अप्रैल मास में उन्होंने हमारे अनेक आदमियों को लौटाया और इस बीच उन पर भाँति-भाँति के अत्याचार ढाये। भूठा प्रचार कर के उन्होंने हमारे ऑफिसरों एवं सैनिकों में भ्रामक धारणाएँ (गलत-फ़हमियाँ) फैलाने का प्रयत्न किया। उदाहरण के लिए, उनमें से कुछ ऑफिसरों की वर्दियाँ पहन कर ज़मीन साफ़ करते एवं दूसरे छोटे काम करते जिससे हमारे सैनिकों के मन में यह भावना पैदा हो कि हमारे ऑफिसर क्यों नहीं इसी प्रकार उनके साथ समानता का व्यवहार करते।

हमें स्वयं को इस युद्ध के लिए वर्षों पहले से तैयार करना चाहिए था। इस प्रकार की तैयारी एक रात में नहीं हुआ करती।

इस युद्ध में चीनियों ने आग्नेयास्त्रों का खूब प्रयोग किया। स्वचल रास्त्रों (टोपलाने की) उनके पास कोई कमी नहीं थी। प्रतिरक्षा के लिए अपेक्षित ख सामग्री भी उनके पास पर्याप्त थी। उनकी तुलना में हमारे पास कुछ भी हीं था। हमारे सैनिक यूनिटों से सम्बन्ध इजिप्तीयर यूनिटों के पास पूरे शौजार में नहीं थे। हमारे अधिकारों वायरलेस सैट एव सवेत उपकरण काफी पुराने में भारी थे। पर्वतीय प्रदेश में इनको ढोना भी एक समस्या था। जब हमारे लिट मोर्चों से पीछे हटते थे तो पीछे से दूनका सम्पर्क ही टूट जाता था। सौते केवल वायरलेस सैटों पर ही निर्भर नहीं थे। परस्पर सकेत देने के लिए वे निम्न-निम्न प्रकार के प्रकाश का, आँस के सकेतों का, पक्षियों की बोलियों का तथा दूसरे सरल उपायों का व्यवहार करते थे।

सड़क के अभाव में तथा अपर्याप्त हवाई सहायता के कारण हमारे अगले मोर्चों को पूरी युद्ध-सामग्री नहीं मिल पाई। इस क्षेत्र में हमारा प्रशासकीय क्लर भी निरबल था जिसे आखिरी मिनट पर सशक्त बनाने का प्रयास किया गया। हमें खाने के लिए भी अधिक प्रकार की चीजें चाहिए थीं जबकि चीनी केवल चावल, नमक एव चाय (फीकी) में गुजारा कर लेते थे। हमारे सैनिकों को भी इनो प्रकार की सादगी बरतनी चाहिए थी। प्रत्येक चीनी सैनिक के पास उसका तीन दिन का राशन बंधा होता था।

नवम्बर १९६२ में हमारे २ एवं ४ डिवीजनो को प्रतिदिन २६० टन एपन की आवश्यकता थी किन्तु परिवहन वायुयानों के अभाव में केवल ६०-६० टन राशन पहुँच पाता था। इस प्रकार, इस युद्ध में हमारी तैयारी बहुत कम थी जबकि शत्रु पूरी तरह तैयार था और आक्रमण में सदा पहल करता था। प्रतिरक्षा सामग्री के अभाव में हमारी ब्यूह-रचना भी ठीक न हो सकी। अपने मोर्चों पर सामान गिराने वाले उपकरण भी दोषपूर्ण थे जैसे कई बार पैराशूट ही नहीं खुलते थे जिनसे फलस्वरूप या तो वह सामग्री नष्ट हो जाती थी या टपर-उपर गिर जाती थी। हमारे पास कुली भी पर्याप्त मात्रा में नहीं थे। लड़ाई छिड़ने पर हमारे अनेक कुली भाग गए। जबकि चीनी सेना ने प्रत्येक सैनिक यूनिट में कुली भी उसी के एक अंग थे। हमारे पास न गर्म कपड़े थे और न नामान ढोने के लिए पशु।

हमारे गर्दों के कपड़े काफी कीमती एवं परिष्कृत रचि के होते हैं जिनकी इस युद्ध में हमारे पास बहुत कमी थी जबकि चीनी सैनिक सस्त्री-भी गद्देदार

३४. हमारी इन्फेण्ट्री बटालियन की अपेक्षा चीनी इन्फेण्ट्री बटालियन के पास अधिक आग्नेयास्त्र थे एवं उसकी गतिशीलता भी अधिक थी। २० तारीख को जब हमारा एक बड़ोटा वायुयान डोला क्षेत्र में रसद डालने गया तो चीनियों ने यहाँ से वायुयान गिराने वाली शीप (एटी-एचएरक्राफ्ट गन) से उसका निशाना लगाया। जबकि हम इस प्रकार के आग्नेयास्त्रों को वहाँ तक नहीं ले जा पाए।

वर्षी पहले हुए थे। युद्ध-क्षेत्र में मृत ग्रथवा घायल सैनिकों के हटाने का हमारे पास ठीक प्रबंध नहीं था। हमारे घायल सैनिक युद्ध-क्षेत्र में ही रह गये जिन्हें बाद में चीनियों ने हथें लोटाया।

चीनियों के पास प्रशासकीय पक्ष में कम एवं लड़ाकू सैनिक अधिक थे। उन्होंने मड़क भी अपने अगले मोर्चों तक बना ली थी, इसलिए जो सामान पधता था, वह सुरक्षित आ जाता था। वे सादा जीवन बिताते थे, तेजी से आगे बढ़ते थे एवं शारीरिक रूप में अधिक मजबूत थे।

हमने सबसे बड़ी भूल यह की कि इस लड़ाई में अपनी वायु सेना की सहायता नहीं ली। हमारा विचार था कि चीनी वायु सेना हमारी वायु सेना से अधिक शक्तिशाली थी और यदि हमने वायु सेना की सहायता ली तो कहीं चीनी भारतीय नगरों पर वमवारी न शुरू कर दें। किन्तु हमने चीनी वायु सेना के आकार एवं उसकी क्षमता^{३५} के सम्बन्ध में ठीक सूचना प्राप्त करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। सच पूछो तो इस सम्बन्ध में हमारे आसूचना विभाग के पास कोई महत्त्वपूर्ण सूचना थी ही नहीं। शत्रु तो अपनी शक्ति को बढ़ा-चढ़ा कर बतलाया ही करता है, हमें स्वयं भी तो इस दिशा में कुछ जानना चाहिए था।

हमारी असाधारण राजनीतिक मूर्खता का इससे बड़ा प्रमाण और क्या चाहिए कि जब तीन वर्ष पहले चीनियों ने नेफा-स्थित लोंग-जू पर घेरा डाल दिया था और हम उनकी वायु सेना को अपनी वायु सेना से अधिक शक्तिशाली मानते थे (और हमें यह भी पता था कि चीनियों ने तिब्बत में भी अपनी वायु सेना इकट्ठी कर ली थी) तो हमने अपनी वायु सेना को सशक्त बनाने का कोई प्रयत्न क्यों नहीं किया। अपनी वायु सेना के कमाण्डरों की बात को सुना नहीं जाता था तथा उनके सुझावों एवं उनकी सांग्रामिक योजनाओं को यह कह कर ठुकरा दिया जाता था कि उनके लिए बहुत ज्यादा अवस्थापनात्मक साधनों की आवश्यकता थी।

यदि चीनियों की हवाई धमकी को १९६२ में ठीक माना गया तो उससे पहले अतिरिक्त लड़ाकू वायुयान क्यों^{३६} नहीं प्राप्त किये गए, अधिक संख्या में

३५. चीनी हवाई अड्डे काफी ऊँचाई पर स्थित थे, इसलिए वमवारी की दृष्टि से वे अधिक भार लेकर नहीं उड़ सकते थे। इसमें भी सन्देह है कि क्या उनके लड़ाकू वायुयान इतनी ऊँचाई पर से आक्रमण के लिए उड़ान भी भर सकते थे क्योंकि इतनी ऊँचाई पर उतरने एवं वहाँ से उड़ान भरने में काफी तकनीकी कठिनाइयाँ सामने आती हैं।

३६. हमारे पास हर प्रकार के वायुयान का अभाव था तथा हवाई-अड्डों की कमी थी। हमारे हवाई-अड्डों पर रेडार तथा अन्य उपकरणों का अभाव था। वायु सेना का यह नियम है कि जिस वायुयान-चालक ने दो महीने की उड़ान नहीं भरी है,

वायुयान-चानकों को क्यों नहीं प्रशिक्षित किया गया, अधिक उपयुक्त हवाई मूठे क्यों नहीं बनाये गए तथा वर्तमान हवाई मूठों को क्यों नहीं सुधारा गया ताकि भारतीय वायु सेना चीन की इस धमकी का मुकाबला कर सकती ? यदि चीन की हवाई धमकी की कोई चिन्ता नहीं थी या उसे कमजोर अथवा बग़ावर का समझा गया तो इस लड़ाई में अपने लड़ाकू वायुयानों के प्रयोग के लिए क्या क्यों किया गया ?

दुर्भाग्यवश, भारतीय वायु सेना ने आत्म-रक्षा में आश्रमिक उद्धान भरने में अनिच्छा-नी दिसनाई जिसने दिल्ली सरकार का भय और बढ़ गया । यदि भारतीय वायु सेना ने यह कदम उठाया होता तो राजनीतिक दृष्टिकोण कुछ और हो सकता था और इसने स्थल-युद्ध पर भी प्रभाव पड़ता । इसने इस रहस्य का भी उद्घाटन हो जाता कि सागर-तल से १२,०००-१५,००० फुट की ऊँचाई पर चीनियों ने हवाई-मूठे किस प्रकार स्थापित किये हुए थे ।

राजनयिक एवं सैनिक, दोनों ही दृष्टियों से युद्ध-क्षेत्र तक सीमित हवाई मूठेवाँ एक महत्त्वपूर्ण और व्यवहारकुशल कदम होता । इससे एक और तो यह सिद्ध हो जाता कि विद्याल पैमाने पर किये गए चीनी आक्रमण को प्रत्येक सम्भव उपाय में विफल करने के लिए हम कृतसंकल्प थे और दूसरी ओर, हमें अपने हवाई प्रतिरक्षा उपकरणों के दोषों का व्यावहारिक ज्ञान हो गया होता जिसको हम बाद में संयुक्त व्यायामों द्वारा सुधार सकते थे ।

श्वेतूवर-नवम्बर १९६२ में हमें चीनियों से नफा की रक्षा किस प्रकार करनी चाहिए थी, इस सम्बन्ध में मुझे दो मत सुनाई पड़े हैं । कुछ लोगों का मत तो यह था कि हम चीनियों को और भीतर आने दें तथा उनके बाद पीछे में उनके सम्पर्क को काट कर उन्हें नष्ट कर दें । दूसरा मत यह था कि हम चीनियों को मैदानों में ले आते और उनके बाद पीछे में उनका सम्पर्क काट कर उन्हें समाप्त कर दें । कहने और करने में बड़ा फर्क होता है । चीनी अपनी सैनिक समस्याओं को जानते हैं । वे इतने भोले नहीं हैं कि हमारे जान में फँस जाते । भान तो कि वे हमारी बात मान कर भागे या भी जाते तो क्या हमारे पास इतने साधन थे कि हम उनके सम्पर्क-मार्ग को काट कर

वह अकेला उद्धान नहीं भर सकता अतित्त उसे प्रशिक्षक की देखरेख में उद्धान भरनी पड़ती है । किन्तु ऐसे अनेक वायुयान जिनमें प्रशिक्षक के साथ उद्धान भरती जा सकती थी, फालतू पूजा के अभाव में निष्क्रिय पड़े हुए थे । दूसरे वायुयान मरम्मत के लिए पड़े हुए थे क्योंकि अनुरक्षण (मैन्टेनेन्स) की पूरी सुविधा नहीं थी । उद्धान भरते समय पहनने के बस्त्रों की तथा अक्सिजीजन मुतच्छदों (मैस्क) की कमी थी । इन कारणों से पूरी उड़ानें नहीं भरती जा सकती थी । उस समय हमारी वायु सेना इस दबनीय स्थिति में थी और १९६५ में भी हमारी स्थिति लगभग ऐसी ही थी ।

उन्हें भूग देते। वास्तविकता यह थी कि सैनिक दृष्टि से हम इसके लिए भी तैयार नहीं थे। इन सब बातों के लिए पहले से तैयारी की आवश्यकता थी जो हमने कभी की नहीं थी। जब सिर पर वन आई थी तो हमने हड़बड़ाहट में कुछ सैनिक यूनिट वहाँ उकटूँ कर लिये थे जैसा कि आपत्काल में हम सदा किया करते हैं। बिना पूरी सैनिक तैयारी के आप एक शक्तिशाली शत्रु को न पर्वतीय प्रदेश में हरा सकते हैं और न मैदान में। और फिर हमारी सरकार तो चीनियों को डोला-थाग ला क्षेत्र से निकालने पर तुली थी, और किसी स्थल पर मोर्चा जमाने का प्रश्न ही नहीं था।

वास्तव में, हमें करना यह चाहिए था कि इन घटनाओं का पूर्वानुमान लगा कर हम अपनी राजनयिक कुशलता से चीनियों को कुछ समय के लिए वहीं रोके रखते और उनसे मोर्चा लेने की भली प्रकार तैयारी करते। १९६२ में थाग ला-डोला क्षेत्र में उनकी घुसपैठ को इसी प्रकार चुपचाप सहन कर लेते जैसे कि १९५९ में लोंग-जू में घुसपैठ के समय सहन किया था। इस बीच अपनी सशस्त्र सेना का विस्तार करते और मित्र देशों से सैनिक सहायता प्राप्त करते (जैसा कि बाद में १९६३ में किया)। साथ ही अपने सैनिकों को पर्वतीय प्रदेश की जलवायु का अभ्यस्त बनाते एवं अन्य प्रशिक्षण देते और अपनी इच्छा के किसी स्थल पर चीनियों को युद्ध के लिए ललकारते।

इस समस्त विश्लेषण का निष्कर्ष यह है कि इस युद्ध के लिए चीनियों ने जहाँ डट कर तैयारी की थी, वहाँ हमने कुछ नहीं किया था। जब भी चीनियों से या अन्य किसी शत्रु से भविष्य में हम मोर्चा लें, हमें उसकी युद्ध-पद्धति का अध्ययन करना चाहिए, गुरिल्ला (छापामार) युद्ध-कौशल का पूरा ज्ञान अर्जित करना चाहिए, मार्ग की बाधाओं को अविलम्ब दूर करने की कला सीखनी चाहिए, कम राशन पर गुजारा करने का अभ्यास करना चाहिए तथा ठीक समय एवं ठीक स्थान पर अपने मोर्चे लगाने चाहिए। हमारे पास सदा शक्तिशाली सशस्त्र सेना होनी चाहिए जिसके पास पर्याप्त मात्रा में हवाई सहायता, बक्तरबन्द गाड़ियाँ, तोपखाना, इंजीनियर, संकेत-उपकरण तथा अन्य युद्ध-सामग्री हो। हमारी सशस्त्र सेना को केवल पर्याप्त शस्त्रों एवं अन्य उपकरणों की ही आवश्यकता नहीं है, अपितु उसके सोचने के ढंग में भी एकदम परिवर्तन करने की आवश्यकता है। हमें इसमें उत्साह की भावना भरनी है ताकि विपम से विपम स्थिति में भी यह शत्रु से मोर्चा लेने के लिए तैयार रहे। साथ ही देशवासियों में भी वह चेतना फूँकनी है कि युद्ध-काल में वे अपनी सशस्त्र सेना का तन, मन, धन से सहयोग दें।

अपने सीमान्त की भावी प्रतिरक्षा की तैयारी करते समय हमें अपने पड़ोसी राज्यों का पूर्णरूपेण अध्ययन करना चाहिए तथा उनके साथ किस प्रकार के सम्बन्ध रखने हैं, इसका स्पष्ट निर्णय पहले ही कर लेना चाहिए। पड़ोसी

एजों के सम्बन्ध में चाणक्य (कौटिल्य) ने प्राज से दो हजार वर्ष पहले लिखा था 'विजिगीतु राज्य के चारो घोर सगे हुए पड़ोसी राज्यों के अधिपति 'अरि शत्रु' कहलाते हैं। एक राज्य में घनग परन्तु उमके पड़ोसी राज्य में जगा हुआ राज्य पहले राज्य (विजिगीतु राज्य) का मित्र होता है.....'

यह इन परिस्थितियों के कारण जो मेरे अधिकार में बाहर थी, नेफा सशु के हाथ में चला गया तो जिन लोगों को मेरा साथ देना चाहिए था, उन्होंने भी मेरे साथ विश्वासघात करना प्रारम्भ कर दिया। शायद ही किमी ने इस तथ्य का अनुभव किया हो कि नेफा में मुझे किन विघ्न-बाधाओं से जूझना पडा था तथा इस विषय एव प्रतिकूल स्थिति को अनुकूल बनाने में मैंने कोई कसर नहीं छोड़ी थी। हार या जीत, यह तो युद्ध में होती ही है। नेफा की पराजय की जिम्मेदारी को सार्वजनिक रूप से बाँटने के लिए कोई तैयार नहीं था। इस पराजय को सारी जिम्मेदारी मुझ पर डाली जा रही थी जबकि नेफा में मुझे आखिरी मिनट पर भेजा गया था और बिना किसी तैयारी के। मेरे आलोचकों ने एक स्तर से मुझ पर घृणा उँढ़ेलनी शुरू कर दी और मुझे 'नेफा के पतन' का मुख्य दिल्पी कहा जाने लगा। सम्पूर्ण जीवन पूरी निष्ठा एव लगन से अपने देश एवं अपनी सेना की सेवा करने के बावजूद इस समय मेरी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा एव मेरे सैनिक सम्मान को विद्वेषपूर्ण निन्दा द्वारा बड़े व्यवस्थित रूप में पदमर्दित एव निष्प्रभ किया गया। मेरे विरुद्ध निन्दा-अभियान^{३७} प्रारम्भ किया गया और यहाँ तक कहा गया कि नेफा-युद्ध के समय मैं बीमारी का बहाना कर के दिल्ली लेटा हुआ था। बिना किसी बात के इतना अपमान, बिना किमी कारण के इतनी निन्दा—इस स्थिति से समझौता करना मेरे लिए असंभव हो गया। मैंने अनुभव किया कि अब वह क्षण आ गया था जब मैं अपने सैनिक-जीवन में विदा ले लूँ। इस मनःस्थिति में ऐसा निर्णय करने जाना मैं पहला सैनिक नहीं था।

देव ने और सशुओं ने मेरे विरुद्ध पड़्यन्ध रचा था। मैं भी साधारण मनुष्य हूँ, इस स्थिति को और अधिक सहन करना मेरी शक्ति के बाहर था। और फिर सेना में रह कर, वहाँ के बन्धनों एव नियमों के कारण मैं स्वयं को

३७ मेरे विरुद्ध फैलाये गए मिथ्या प्रचार के सम्बन्ध में (स्वर्गीय) प्रधान मन्त्री नेहरू ने ८ नवम्बर १९६२ को ससद् में कहा था, 'जनरल कौल, जो नेफा की कमान के सर्वोच्च अधिकारी के विरुद्ध कही गई असाधारण बातें असंगत हैं। मुझे सन्देह है कि अश्रुतिम, साहस, नेतृत्व एव कठोर परिश्रम में कोई व्यक्ति उनसे आगे निकल सकता है।'

निर्दोष सिद्ध नहीं कर सकता था। सैनिक-जीवन से विदा ले कर, एक स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में ही मुझे इसका उपयुक्त अवसर सुलभ हो सकता था। युद्ध-विराम हो चुका था, इसलिए सेना से निवृत्त होने में अब मुझे कोई संकोच नहीं था।

तीन दिन इस मामले पर सोचने-विचारने के बाद मैंने अपने विश्वस्त स्टाँफ़ ऑफिसर त्रिगेडियर आई० डी० वर्मा को, जो एक विश्वसनीय, सक्षम एवं प्रसन्न चित्त व्यक्ति थे, बुला कर 'सेवावधि के पूर्ण होने के पहले ही सेवा-निवृत्त किये जाने की प्रार्थना' शब्दबद्ध करा दी। यह प्रार्थना मैंने इतने सरल शब्दों में लिखवाई कि जिस पर किसी प्रकार की टीका-टिप्पणी नहीं हो सकती थी। मैंने लिखवाया था कि यद्यपि नेफा की पराजय का कारण शत्रु का अधिक शक्ति-सम्पन्न होना था किन्तु क्योंकि यह दुर्घटना उस समय हुई जब नेफा की कमान मेरे हाथ में थी और क्योंकि (विद्वेषपूर्ण भूठे प्रचार के कारण) सेना में मेरे लिए टिकना कठिन हो गया था, इसलिए सेना के हित को देखते हुए तथा सैनिक परम्परा एवं प्रथा का पालन करते हुए मैं अपनी सेवावधि के पूर्ण होने के पहले ही सेवा से निवृत्त होना चाहता था।

अमरीकी सेना के जनरल आदम्स तथा ब्रिटिश सेना के सी० आई० जी० एस० जनरल हल मेरे विचार से, २५ नवम्बर को लेफ्टी० जनरल सेन के साथ मेरे मुख्यालय में पधारे। अपनी तत्कालीन परिस्थिति से दोनों विदेशी जनरलों को परिचित करा कर मैं लेफ्टी० जनरल सेन को एक ओर ले गया और मैंने सेना से स्वेच्छापूर्वक निवृत्त होने की लिखित प्रार्थना उन्हें थमा दी।

इसके तीन दिन बाद जब मैं ४ कोर के मुख्यालय के ऑफिसरों से विदा ले कर तेज़पुर हवाई-अड्डे पहुँचा तो मेरा गला कुछ अवरुद्ध-सा था। इस समय भी मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, इसलिए मेरे साथ एक चिकित्सक^{३८} भी थे।

मेरे कुछ समकालीन ऑफिसरों ने मुझ पर पलायनवादी होने का आरोप लगाया। उन्होंने कहा कि स्थिति का सामना करने के बदले मैं उससे भाग रहा था। कहने में या आरोप लगाने में देर थोड़े ही लगती है। अपने-अपने विचार हैं। मेरे विचार यह हैं कि यदि ऊँचे पद पर आप आसीन रह सकते हैं तो उसे छोड़ना बहुत कठिन होता है। फिर कुछ लोग निन्दा-आरोप को सहन कर सकते हैं तथा कुछ लोग नहीं कर सकते। सब मनुष्य एक ही परिस्थिति में एक-जैसा नहीं सोचते। और फिर केवल तर्क के बल पर ही तो ऐसी समस्याओं का समाधान नहीं निकला करता।

कुछ घण्टे बाद मैं दिल्ली पहुँच गया। पहुँचने पर मेरी पत्नी, मेजर

३८ आर्मी मेडिकल कोर के मेजर खन्ना, जिन्होंने नेफा में मेरे स्वास्थ्य का पूरा-पूरा ध्यान रखा था, मेरे साथ ही दिल्ली लौट रहे थे।

बनल डिल्लन, त्रिमेडियर पचनन्दा तथा कर्नल खन्ना ने मेरा स्वागत किया। सेवा से निवृत्त होने की मेरी प्रार्थना का धन्नो को मेरे आने पर ही पता चला। वने एक आदर्श एवं वीर पत्नी के समान मेरे निर्णय का मुस्करा कर समर्थन किया।

मेरे लौटने का समाचार चारों ओर फैल गया। अनेक लोग—राजनीतिज्ञ, वक्तादस्य, सैनिक एवं सिविल अधिकारी, सम्बन्धी एवं मित्र—मुझमें मिलने आए। सबने मुझ पर जोर डाला कि सेवा-निवृत्त होने की अपनी प्रार्थना में वापस ले लो। इसी विषय के अनेक पत्र मुझे मिले। उदाहरण के लिए, एक वीर साथी मेजर जनरल रायविन्द सिंह गरेवाल ने, जो मेरा मे एक दुर्धर्म सैनिक के रूप में विख्यात थे, मुझे भाव भरे शब्दों में लिखा :

“.....आपके जाने से हम कुछ लोग बड़े परेशान हैं। मैं तो एक छोटा आदमी हूँ और बड़े लोगों तक मेरी कोई पहुँच नहीं है किन्तु आप जैसे सत्यनिष्ठ, दृढ़ निश्चयी, सच्चे मानव एवं न्यायप्रिय व्यक्ति के इस समय मेरा को छोड़ने से सरासरी सेना की बहुत बड़ी क्षति होगी। मैं आप की झूठी प्रशंसा नहीं कर रहा हूँ अपितु यह सत्य है कि आपके जाने से यह सेना बहुत निर्बल हो जाएगी। सभी आप छुट्टी पर हैं, इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि सेना को छोड़ने के अपने निर्णय पर आप पुनर्विचार करें।.....कुछ लोग आप को पसन्द नहीं करते तो हमसे क्या अन्तर पड़ता है। हम जानते हैं कि आप कायर नहीं हैं।”

मेरी पत्नी मेरे इस निर्णय से सहमत थी कि मुझे अपने निश्चय पर अटन रहना चाहिए तथा आपके बड़ाया हुआ कदम किसी भी स्थिति में पीछे नहीं हटाना चाहिए।

समाचार-पत्रों में (बिभी की प्रेरणा से) एक रोचक किन्तु अमशय समाचार था कि 'मुझे मेरी कमान से मुक्त करने के लिए' जनरल चौधरी स्वयं तैयार हुए थे। जबकि वास्तविकता यह थी कि जनरल चौधरी और मेरे उत्तराधिकारी मानेकसाँ मेरे तैयार छोड़ने के बाद बड़ी पहुँच से और न पहुँचने का उनका कोई विचार था। यह समय कि 'सेना से निवृत्त किए जाने की प्रार्थना देने स्वेच्छा से थी थी' कुछ समय बाद प्रकाशित हुआ।

मेरे दिल्ली पहुँचने पर नेहरू ने मुझे मनोवैचारिक रूप से विज्ञान के लिए बुलाया। जब मैं पहुँचा तो वह प्रतिभा की अति बड़े देते हुए थे। मुझे देखा कर बोले, 'बिभी, मैं तुम्हारी आश्चर्यों को समझता हूँ किन्तु तुम्हें पर-प्राप्त नहीं करना चाहिए। आश्चर्य क्यों ?'

‘सर, इसके अनेक कारण हैं जिन पर मैं चर्चा नहीं करना चाहता,’ मैंने उत्तर दिया।

‘तुम कहना क्या चाहते हो?’ नेहरू ने पूछा। ‘सेना छोड़ने की कोई जरूरत नहीं है। मुझे मालूम है कि तुम्हारे विरुद्ध अनेक अन्यायपूर्ण बातें कही गई हैं। किन्तु मैं उन पर विश्वास नहीं करता तथा और भी कई लोग उन पर विश्वास नहीं करते। मैंने कई बार सार्वजनिक रूप से तुम्हारा पक्ष लिया है। तुम्हारे ऐसे काफी मित्र हैं जो तुम्हारी कीमत जानते हैं। एक बार फिर सोचो,’ नेहरू ने सलाह दी।

४ दिसम्बर को मैं सरकारी रूप से जनरल चौधरी से मिला। रस्मी तौर से मेरा अभिवादन करने के बाद, सिगरेट का कश लेते हुए तथा कमरे में चहल-कदमी करते हुए उन्होंने बड़े संरक्षण-भाव से मुझसे कहा, ‘बुरी घड़ी सब पर आती है, विज्जी। यदि तुम सेवा से निवृत्त होने के लिए हठ न करो तो मैं तुम्हें फिर से सेना में लेने के लिए तैयार हूँ।’

चौधरी ने मेरी और रोटी का टुकड़ा फेंका और मेरे उस पर लपकने की प्रतीक्षा करते रहे। इस क्षण मेरी स्मृति में अतीत की कुछ घटनाएँ उभर आईं (जो नीचे दी हुई हैं)।

उदाहरण के लिए, १९५६ में मैंने सुना कि चौधरी को दिल का दौरा पड़ा था। फलतः, एक सहानुभूतिपूर्ण पत्र मैंने उन्हें लिखा। उत्तर में, १२ जनवरी १९६० को मुझे उनका पत्र मिला जिसमें उन्होंने एक लम्बा-चौड़ा भाषण दे कर यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि उन्हें दिल का दौरा कभी नहीं पड़ा। इस पत्र में उन्होंने मुझ पर कई दोषारोपण किये जिसका निम्नलिखित उत्तर मैंने उन्हें भेज दिया :

अपने स्वास्थ्य के ऊपर अपने पत्र में जो एक लम्बा-चौड़ा व्याख्यान आपने दिया है, उससे मुझे बड़ा आश्चर्य हुआ। अनेक बातें आपने अपने मन से जोड़ ली हैं जो मैंने अपने पत्र में कहीं नहीं लिखी थीं।... जीवन के कुछ मूल सिद्धान्तों की ओर भी आपने मेरा ध्यान आकर्षित किया है और लिखा है कि लाभ के अवसर मिलने पर भी आपने अपने सिद्धान्तों को नहीं छोड़ा है। मेरा विचार है कि हम दोनों ही अपने-अपने सैनिक जीवन से पूर्णतः परिचित हैं, इसलिए ‘जीवन में निःस्वार्थ सेवा’ के सम्बन्ध में आप का मुझे प्रवचन देना अनावश्यक ही है। इस जीवन-सिद्धान्त का मैंने न केवल प्रचार किया है अपितु अपने जीवन में भी इसको चरितार्थ किया है जबकि मुझे अच्छी तरह पता है कि कुछ लोगों ने इस पर केवल प्रवचन दिये हैं। आपके पत्र को पढ़ कर मुझे सचमुच खेद हो रहा है कि मैंने आपके स्वास्थ्य की खोज-खबर क्यों

धी धीर विश्वास रखिये कि भविष्य में यह भूल कभी नहीं कहेगा...

एन पत्र का चौधरी ने निम्नलिखित उत्तर दिया जो मुझे १६ जनवरी १९६० को मिला :

मुझे यह जान कर बड़ा दुःख हुआ कि १२ जनवरी १९६० के मेरे पत्र ने आपके मन को क्लेश पहुँचाया। वास्तव में, मैंने यह पत्र इस आशा से लिखा था कि आप मेरी सहायता करेंगे। मैंने यह सोचा था कि इस मामले (के सम्पूर्ण इतिहास) को जानने के कारण धीर धीरे दुःखचित्तक होने के कारण आप मेरे सम्बन्ध में उदासी गईं अफवाहों को बन्द करा सकोगे। अपना जीवन-दर्शन मैंने इसलिए लिख दिया था ताकि आप मेरे विरुद्ध लगाये गए 'महत्वाकांक्षी होने के' आरोप का खण्डन अधिकारपूर्वक कर सकें। उपदेश मैंने आज तक किसी को नहीं दिया, अब क्या दूँगा और वह भी आप जैसे पुराने मित्र को।

मुझे आशा है कि अब आप को मुझसे कोई विकार्यत नहीं होगी।

सन्नेम,

आपका
मुचु चौधरी।

मुझे यह घटना भी स्मरण हो आई जब १९६१ में उन्होंने मुझसे प्रार्थना की थी कि मैं ठीक स्थान पर ठीक व्यक्तियों से उनकी निप्रारिष कर दूँ।

(दृष्टव्य : पृष्ठ २५३)

धीर भी ऐसी घनेक घटनाएँ मेरी स्मृति में उभरीं (जिनका इस पुस्तक में मैंने वर्णन किया है)। वही चौधरी अब प्ररमा रहे थे कि यदि मैं गंगा में स्नाना खादूँ तो वह मुझे फिर से स्थान दे देंगे। एक गहरी साँस ले कर एन अपनी उत्तंजित मन-स्थिति पर नियन्त्रण रख कर, मैंने बड़े सपट स्वर में कहा, "मुझे यह जान कर गुस्सी हुई कि आपने 'मेरी चुरी पड़ी' पहचान ली। आप जानते हैं कि मैं अपने निश्चय पर घडिय रहता हूँ। इसलिए खेना ने निश्चय किये जाने की मेरी प्रार्थना अपने स्थान पर घटल है।"

तीन दिन बाद तत्कालीन प्रतिरक्षा मन्त्री खट्टान ने मुझे बुलाया। चौधरी मेरे साथ गए। खट्टान ने पूछा कि क्या मैं अपने निश्चय पर घटल पर घोर घने इसका धारात्मक उत्तर दिया। तब उन्होंने कहा कि वह मेरा प्रार्थना-रथ मेहरू को भेज देंगे।

नेहरू ने मुझे फिर बुलाया। उन्होंने कहा कि उन्होंने तो मुझे बहुत सम-भाना था कि मैं खेना से निश्चय न होंडे किन्तु खट्टान और चौधरी ने उन्हें

सूचित किया था कि मैं अपने निश्चय पर अडिग था। उन्होंने कहा कि चौधरी ने मेरे विरुद्ध आरोपों की एक लम्बी-चौड़ी सूची भेजी थी किन्तु किसी एक आरोप की पुष्टि के लिए भी अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत नहीं की थी।

जब नेहरू ने चौधरी द्वारा मुझ पर लगाये गए आरोपों^{३६} का सार मुझे बतलाया तो मैं हक्का-बक्का रह गया। मेरे मुँह पर कोई आरोप लगाने का साहस चौधरी को नहीं हुआ किन्तु मेरे पीछे आरोपों की एक लम्बी-चौड़ी सूची भेज दी। नेहरू ने आगे कहा कि चौधरी ने मेरे सेवा-काल का रिकार्ड नहीं भेजा था (जैसी कि भेजने की परम्परा है) जिससे इन आरोपों की सत्यता या असत्यता का पता लग जाता। चौधरी ने मेरे सेवा-काल का रिकार्ड शायद इसलिए नहीं भेजा था कि कहीं नेहरू उन प्रशंसात्मक गोपनीय रिपोर्टों को न देख लें जो प्रति वर्ष चौधरी ने ही मेरे विषय में दी थीं और जिनसे उनके वर्तमान आरोपों की असत्यता सिद्ध हो जाती। नेहरू ने दुःखी स्वर में कहा कि नेफा-लद्दाख में अपनी पराजय तथा मेरे प्रति फैलाये गए भूठे प्रचार से वह बहुत क्षुब्ध थे और परिस्थितियों को देखते हुए इस बात को आगे नहीं बढ़ाना चाहते थे। अन्त में उन्होंने कहा कि इन सब बातों पर विचार कर के उन्होंने कुछ देर पहले मेरी फ़ाइल पर हस्ताक्षर कर दिये थे। मैंने उनसे कहा कि मैं उनकी उलझन को पूरी तरह समझता था और उन्हें हस्ताक्षर करने पर किसी प्रकार का पश्चात्ताप नहीं करना चाहिए।

जब तक सरकार ने सेना से निवृत्त होने की मेरी प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया था, तब तक मेरे अनेक मित्रों ने मुझ पर जोर दिया कि मैं अपनी प्रार्थना पर पुनर्विचार कर लूँ। उन्होंने मुझे सेना में रहने के अनेक लाभ गिनाए। अमरीकी राजदूत श्री गैलब्रेथ ने मुझे भोजन पर आमन्त्रित किया और मेरे इस कदम पर दुःख प्रकट किया। अपने राष्ट्रपति राधाकृष्णन् ने जिनका मैं ए० डी० सी० जनरल था, मुझे बुला कर कहा कि मेरे इस कदम से नेहरू को बहुत दुःख हुआ था। 'आपटर नेहरू हूँ?' (अर्थात् नेहरू के बाद कौन?) के लेखक वैलेस हेंगेन ने, जिन्होंने अपनी इस पुस्तक में मुझ पर भी

३९. अतीत की अनेक वार्षिक गोपनीय रिपोर्टों में चौधरी ने मेरी बहुत प्रशंसा की थी जिसका अब लगाये गए आरोपों से कोई ताल-मेल नहीं बैठता था। एक रिपोर्ट में उन्होंने कहा था कि मेरी सचरित्रता असन्दिग्ध थी, देश एवं सेना के प्रति मेरी निष्ठा अप्रतिम थी, उनके दल का मैं अच्छा एवं उपयोगी सदस्य था तथा सजीव कल्पना एवं सत्यनिष्ठा मेरे चारित्रिक गुण थे। उन्होंने यहाँ तक लिखा था कि कमान और स्टाफ के लिए मैं समान रूप से उपयुक्त था। मुझे लिखे अपने अनेक पत्रों में उन्होंने मेरी प्रशंसा में बहुत कुछ लिखा था। इससे बड़ा पाखण्ड और क्या हो सकता है। कहाँ तो चौधरी वर्षों से मेरी प्रशंसा करते नहीं अघा रहे थे और कहाँ अब, मेरी पीठ में छुरा घोंप रहे थे।

एक अध्याय लिखा है, मुझे १० दिसम्बर को लिखा, 'प्रत्येक दृष्टि से मुझे यह अनिवार्य लगता है कि आप अपने उम्र सैनिक जीवन को न छोड़ें जिसमें पिछले तीन वर्षों से लगन एवं निष्ठा में आप लगे हुए हैं। इस समय... तो यह और भी जरूरी है.....नेहरू से फिर परामर्श ली और उन्हें कही कि आप मेरा मे रहने के इच्छुक हैं।.....आपके सेना से निवृत्त होने के बाद आपके निन्दकों को और जवान चलाने का अवसर मिलेगा.....।' अनेक संसत्सदस्यो और अन्य महानुभावों ने यह सलाह दी कि मैं अपना प्रार्थना-पत्र वापस ले लूँ। किन्तु मैं उन लोगों में से नहीं था जो पहले त्यागपत्र दे देने है और फिर किसी के समझाने-बुझाने से वापस ले लेते है।

इसी समय माँस एन्जलस की रेके हारसे एजेंसी का पत्र मिला जिसने मुझे (मेरे अनुभवों में सम्बन्धित) कुछ प्रकाशन-योग्य तथा चलचित्र बनाने योग्य सामग्री माँगी थी। इसके लिए मैंने इन्कार कर दिया।

११ दिसम्बर को जनरल चौधरी ने मुझे फ़ोन पर सूचना दी कि मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली गई थी। अभी मैं केवल पचास वर्ष का था और सेवा-वधि के पूरा होने में अभी कई वर्ष थे कि मेरा सैनिक जीवन समाप्त हो गया। सर ऐडविन फ़र्नोल्ड ने कहा है, 'शैव के घाड़े कौन धा सकता है!' सत्कार के गोरस-धन्धे से मेरा मन उब गया था और मैं उन लोगों से बहुत दूर चला जाना चाहता था जिनके छल-छन्दों के फलस्वरूप मेरा हृदय रो उठा था। मैं उन लोगों से और यदि जरूरत हुई तो इस देश से दूर चले जाने को छटपटा रहा था।

किसी उर्दू के सायर ने कितना ठीक कहा है :

गदिसा-ए-मायाम तेरा चुकिया
हमने हर पहलू से दुनिया देग ली।

यद्यपि मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था और मेरी पुत्री भी रोगग्रस्त थी, मैंने ५ नाई रोड वाला बंगला छोड़ने का निश्चय कर लिया। बंदने में मैंने दूसरे घाबारे के लिए प्रार्थना की और वह मुझे मिल भी गया किन्तु मैंने सोचा कि बार-बार सामान इधर-से-उधर होने की अपेक्षा अच्छा है कि मैं एक बार ही किसी गैर-जरूरी घाबारे में चला जाऊँ।

१८ दिसम्बर १९९२ को मैंने एक पत्र लिख कर नेहरू से विदा ली। एक पत्र का उन्होंने उभी दिन निम्नलिखित उत्तर भेजा :

प्रिय बिरजी,

मुझे दुःख है कि तुम गिरावर हो रहे हो। मैंने तुम्हें बहुत सल्लाह दी किन्तु क्योंकि तुम अपने निश्चय पर दृढ़ हो, इसलिए मैं भी कुछ न

कर सका। जिन घटनाओं के कारण तुम्हें रिटायर होना पड़ा वे काफी दुःखदायी हैं और उनसे हमें भी काफी दुःख^{१०} हुआ है। मुझे विश्वास है कि उन घटनाओं के लिए विशेष रूप से तुम्हीं जिम्मेदार नहीं हो, उनके लिए तो काफी ज्यादा लोग और शायद परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं।

मुझे विश्वास है कि तुम्हारे जैसे कार्यक्षम और देशभक्त व्यक्ति को खाली न बैठ कर देश के लिए कुछ लाभदायक काम करना चाहिए। शायद कुछ समय बाद तुम यह काम खोज सको.....

स्नेह

जवाहरलाल नेहरू।

५ यार्क रोड का वंगला मुझे ११ जनवरी को खाली करता था। एक दिन शाम को नेहरू ने मुझे एवं मेरी पुत्री अनु को मिलने के लिए बुलाया। अनु से (जो अब भी अस्वस्थ थी) उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, 'तुम्हें अपनी एवं अपने पिता की देखभाल करनी चाहिए।' इतना कहते हुए वह भावोद्वेलित हो उठे और अपने पर संयम बनाये रखने के लिए कमरे से बाहर चले गए। १० तारीख को श्रीमती इन्दिरा गाँधी हम लोगों से मिलने ५ यार्क रोड आई। उनका यह कदम अपनत्व का परिचायक था।

११ जनवरी, १९६३ को मैंने ५ यार्क रोड वाला निवास-स्थान छोड़ दिया। इस जगह मैंने जीवन के अनेक सुखपूर्ण वर्ष बिताये थे। जिस समय सारा सामान ट्रकों पर लद चुका और ट्रक चलने वाले थे कि मुझे अपने प्रवेश-द्वार के सामने से बारात गुजरती दिखाई दी। दोनों स्थितियों में कितना विरोध था!

अपना सामान मैंने दिल्ली कैण्ट के एक गोदाम में भर दिया और स्वयं कुछ दिनों के लिए मेजर जनरल भगवती सिंह के यहाँ ठहर गया। इसके बाद मैंने कार ली और जी० टी० रोड पकड़ ली। रास्ते में मथुरा तथा अन्य स्थानों पर रुकता हुआ, कुछ सप्ताह के पर्यटन के बाद दिल्ली लौट आया क्योंकि यहाँ एक सम्बन्धी के विवाह में सम्मिलित होना था। अतिथियों में नेहरू भी थे। मुझसे मिलने पर उन्होंने पूछा कि दिल्ली में मैं रह कहाँ रहा था। मैंने उत्तर दिया कि मेरा अपना मकान तो कोई था नहीं, इसलिए मैं गीता आश्रम (दिल्ली

४०. अगस्त १९६३ में नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि १९६२ में भारत-चीन संघर्ष में हुई पराजय के लिए किसी आर्मी जनरल को दोषी नहीं ठहराया जा सकता था। नेहरू प्रति मास प्रादेशिक मुख्य मन्त्रियों को पत्र लिखा करते थे। अपने २२ दिसम्बर १९६२ के पत्र में उन्होंने लिखा था कि सेवावधि के पूरी होने के पहले ही जनरल थापर और जनरल कौल का स्वेच्छापूर्वक सेना से निवृत्त हो जाना उनकी अच्छाई का परिचायक है।

५६ ईंट में एक धार्मिक संस्था जिसमें अतिथियों के लिए दो कमरे कभी मैंने
बनाये थे और समय का ध्यान देखिए कि आज मैं स्वयं उनमें टहूँगा हुआ था)
ने रखा हुआ था। यह सुन कर नेहरू ने एक दर्दभरी दृष्टि मुझ पर डाली।

कुछ दिन बाद नेहरू ने मुझे बुला कर पूछा कि मैं दुनिया भर की मुसीबतों
को क्यों न्यूतला फिर रहा था और स्वयं को घुला रहा था; मैंने अपनी नौकरी
छोड़ दी, सरकारी बंगला छोड़ दिया और अब अपने एव अपनी लड़की के स्वास्थ्य
की चिन्ता के बिना आश्रम का कष्टपूर्ण जीवन बिता रहा था। उन्होंने यह
शे कहा कि हिमाचल प्रदेश के लेपटी० गवर्नर^{४१} के पद पर मेरी नियुक्ति
होने की सम्भावना थी। लेकिन बाद में मैंने इस विषय में कुछ नहीं सुना।
किसी कारण से यह प्रस्ताव आगे नहीं बढ़ पाया होगा।

वर्षों शुरू हो गई थी। आश्रम का जीवन को सरल नहीं था और विशेषतः जब
कि मेरा तथा मेरी पुत्री का स्वास्थ्य ठीक नहीं था। जिस प्रकार के जीवन का
मैं अभ्यस्त था, यह उसके बिल्कुल विपरीत था। अब न कोई राष्ट्रीय काम मेरे
विषय में था, न मैं किसी पद पर था, न मेरे पास कोई सत्ता थी, न मेरे कपड़ों
पर अब कोई स्टार था, न मेरे मकान पर कोई प्रहरी था, न मेरा कोई निजी
टाइक था, न मेरे पास कोई नौकर था, न महत्त्वपूर्ण उत्सवों के निमन्त्रण पत्र
पाते थे, न मैं किसी संस्था का अध्यक्ष या मुख्य सरक्षक था और न मेरा कोई
प्रशसक था। वर्षों से मैं घड़ी की मूर्ई की तरह काम कर रहा था और अब,
अब मैं बिल्कुल खाली था, समय काटे नहीं कट रहा था। सबसे बड़ा दुःख इस

४१ वर्ष की आयु में मेरे जीवन में एक संकट काल में भिन्न
नव कर रहा था। सिक्खों के धर्म-ग्रन्थ 'गुरुवानी' के अनुसार 'संकट काल में भिन्न
भी दानु हो जाते हैं।' कुछ प्रयत्न करने के बाद धर्मों और मैं एम जीवन के
अभ्यस्त हो गए। यह सोच कर कितना आश्चर्य होता है कि यदि व्यक्ति को
कभी प्रतिकूल परिस्थितियों से समझौता करना पड़ जाए तो वह कर लेता है।

इस समय, जब मेरे दानु मेरी विषम स्थिति पर हतित हो रहे थे, मेरा
सब से बड़ा सहारा थी मेरी पत्नी।^{४२} उन्होंने निराशा या दुःख का कोई सक्षण
प्रकट नहीं किया तथा इस सब को दान्त भाव में स्वीकार किया। वे भी
उन्होंने कभी कुछ जराही नहीं चाहा। उन्होंने सदा ही साधारण जीवन व्यतीत

४१ मेजर जनरल एम० एस० हिम्मत सिंह जी ने भी मुझे बतलाया है कि
इस प्रकार की चर्चा उन्होंने तत्कालीन गृह मन्त्री साह बहादुर खन्ना से कही थी।

४२. इस अवसर पर मेरे सम्पूर्ण परिवार ने मेरा साथ दिया।

किया है, ईश्वर की भक्ति की है तथा निस्स्वार्थ भाव से सब की सेवा की है। पवित्रता की साक्षात् प्रतिमूर्ति मेरी पत्नी मेरी सब से बड़ी सम्पत्ति हैं।

२४ अप्रैल १९६३ को मैंने कार्यवाही सी० जी० एस० को एक पत्र लिखा (जो चौधरी ने भी देखा था) कि नेफा-युद्ध के सम्बन्ध में लेफ्टी० जनरल हैण्डर्सन ब्रुकस जाँच-पड़ताल कर रहे थे और इस प्रक्रम में उन अनेक कमाण्डरों एवं स्टाफ़ ऑफिसरों के वयान लिये गए थे जिन्होंने मेरे अधीन नेफा में काम किया था तथा मेरा विचार था कि मेरा, नेफा के तत्कालीन कोर कमाण्डर का, भी वयान लिया जाएगा। मैंने आगे लिखा कि शायद इस जाँच समिति की रिपोर्ट पर भी संसद् में तथा समाचार-पत्रों में चर्चा होगी जैसा कि अतीत में होता रहा था। क्योंकि इसमें मेरी सैनिक प्रतिष्ठा का सवाल था और क्योंकि मुझे पर पहले ही काफी दोषारोपण किया जा चुका था, इसलिए मेरी प्रार्थना थी कि मुझे भी इस जाँच समिति के सामने वयान देने का अवसर दिया जाए। (यद्यपि इस समिति को कार्य प्रारम्भ किये कई महीने हो गए थे और अब यह अपनी रिपोर्ट को अन्तिम रूप दे रही थी किन्तु मुझे वयान देने की स्वीकृति अब तक नहीं मिली थी।) इस पत्र के उत्तर में चौधरी ने अपने सी० जी० एस० के माध्यम से मुझे सूचित किया कि मैं अगले दिन जालंधर में नेफा जाँच समिति (हैण्डर्सन ब्रुकस के अधीन) के सामने पेश हो कर अपना वयान दे दूँ।

किन्तु जब मैं लेफ्टी० जनरल हैण्डर्सन ब्रुकस के सामने हाज़िर हुआ तो उन्होंने कहा कि उन्हें यह आदेश दिया गया था कि वह मेरा मौखिक वयान न लें। बड़ी विचित्र स्थिति थी। उधर तो चौधरी ने मुझे मौखिक वयान देने के लिए हैण्डर्सन ब्रुकस के पास भेजा था और उधर हैण्डर्सन ब्रुकस का कहना था कि उन्हें इसके विरुद्ध आदेश दिया गया था। इसका प्रत्यक्ष कारण तो एक ही हो सकता था कि हैण्डर्सन ब्रुकस लेफ्टी० जनरल के पद में मुझसे जूनियर थे और इस कारण मेरा मौखिक वयान नहीं ले सकते थे अथवा नेफा-युद्ध का लिखित विवरण मैं पहले ही प्रस्तुत कर चुका था और इसलिए मेरे किसी अन्य वयान की आवश्यकता नहीं थी। यदि असली कारण इन्हीं में से था तो चौधरी ने मुझे हैण्डर्सन ब्रुकस के पास भेजा ही क्यों था? उन्हें चाहिए था कि वह मुझे पहले ही यह बता देते और व्यर्थ में जालंधर तक न दौड़ाते।

नेफा-युद्ध से सम्बन्धित तथ्यों की जाँच हो रही थी और उसके लिए एक जाँच समिति^{४३} नियुक्त की गई थी जिसकी रिपोर्ट पर संसद् में विचार-विमर्श होना था किन्तु वह समिति नेफा-युद्ध के कोर कमाण्डर का मौखिक वयान लेने

४३. एक दिन सांख्यिकों और इतिहासज्ञों के लिए इसका विश्लेषण करना काफी रुचिकर होगा कि इस जाँच समिति के सामने किन-किन गवाहों को बुलाया गया एवं किन-किन गवाहों को भुला दिया गया तथा ऐसा क्यों किया गया।

को तैयार नहीं थी जबकि अधीनस्थ कमाण्डरों तथा स्टाफ ऑफिसरों के बयान लिखे गए थे। इस सम्बन्ध में मैंने नेहरू को भी लिखित सूचना दी थी। (नेफा बीच समिति की रिपोर्ट को प्राप्त तक जनता के सामने क्यों नहीं रखा गया? क्या इस रिपोर्ट में कुछ ऐसे भी सन्दर्भ हैं जिनसे नेफा-परराज्य के लिए सरकार पर भी जिम्मेदारी घाती है?)

तब मैंने हेण्टसन ब्रुन को सलाह दी कि क्योंकि वह मेरी मौखिक साक्षी लेने को तैयार नहीं थे तो क्या मैं उनकी समिति को नेफा-युद्ध की घटनाओं का लिखित विवरण दे दूँ। इस प्रक्रम के विरुद्ध उनके पास कोई आदेश नहीं था इसलिए उन्होंने मेरा यह सुझाव स्वीकार कर लिया। फिर मैंने अपना लिखित बयान उनको दे दिया।

मुझे सेना से १५ मई १९६३ को निवृत्त होना था। एक मप्ताह पहले मैंने सोचा कि जिस सेना से मेरा इतनी लम्बी अवधि तक संसर्ग रहा था, निवृत्त होते समय मुझे उसे विदा की नमस्कार (गुड-बाई) अवश्य करनी चाहिए थी। यह मैं केवल उसके चीफ के माध्यम से ही कर सकता था। इसलिए, जब मैं चौपरी के कमरे में घुसा और मैंने उन्हें सँल्युट दिया तो शिष्टाचार के नाते वह अपनी कुर्सी से उठ कर मेरी ओर बढ़े। जब मैंने उन्हें अपने आने का उद्देश्य बतलाया तो उन्होंने मेरे इस कदम की काफी सराहना की। उन्होंने कहा कि यदि मैं उत्तर दूँ तो वह मुझ से एक प्रश्न पूछना चाहते थे। मैंने उत्तर दिया कि अपने सैनिक जीवन के अन्तिम दिन मैं उन्हें किसी प्रश्न का उत्तर देने नहीं आया था किन्तु यदि वह चाहते ही थे तो मैं प्रयास कर के दूँगा। उन्होंने कहा कि यह तो वह भी जानते थे कि १९६२ में जब सेना से चीनियों का मुकाबला करने को कहा गया था तो वह (सेना) बहुत कमजोर थी और उसके पास पूरी युद्ध-सामग्री नहीं थी किन्तु तब थापर ने या मैंने सरकार से स्पष्ट मना क्यों नहीं कर दिया था? इसका मैंने उन्हें उपयुक्त उत्तर दे दिया।

तेजा ने मेरा प्रथम साक्षात्कार अप्रैल १९६३ में दिल्ली के एक समारोह में हुआ था। इसके पहले मैंने तेजा का नाम तक नहीं सुना था। उन्होंने बतलाया कि एक बार १९६२ में वह मुझ से मिलने मेरे मकान पर गए थे किन्तु मेरे प्रस्वस्थ होने के कारण वह मुझ से नहीं मिल सके थे। तेजा ने मुझे विदेश में नौकरी देने की चाही जिससे सम्बन्धित विस्तृत विवरण उन्होंने निम्नलिखित पत्र में लिख कर भेजा :

मैं भारत की अनेक महत्वपूर्ण औद्योगिक परियोजनाओं में ध्यस्त हूँ जिनमें एक है जयन्ती सिपिंग कम्पनी। इस समय मैं एक १२० मेगावाट

ऊष्मीय विद्युत्केन्द्र (थर्मल पावर स्टेशन), एक ३००,००० टन वार्षिक उत्पादन वाला कच्चे लोहे का संयन्त्र (पिग आइरन प्लाण्ट) तथा एक भारी गढ़ाई संयन्त्र (फोर्जिंग प्लाण्ट) की योजना बना रहा हूँ।

‘इन परियोजनाओं के शुरू करने के लिए प्रारम्भिक भागदौड़ विदेशों में करनी पड़ेगी जहाँ से हमें इंजीनियरिंग की सहायता लेनी है तथा संयन्त्र एवं मशीनरी लेनी है। इस काम के लिए मेधावी एवं प्रशिक्षित प्रशासकों की आवश्यकता है।

यदि आप इन परियोजनाओं और योजनाओं में मेरे सीनियर परामर्शदाता के रूप में मुझे सहयोग तो तो मुझे बहुत प्रसन्नता होगी। इस समय मैं टोकियो में अपना एक कार्यालय खोल रहा हूँ, मेरी इच्छा है कि आप उसका चार्ज संभाल लें।आप जैसा मेधावी एवं अनुभवी व्यक्ति इस दृष्टि से एक बहुत बड़ी निधि है। मुझ से और इन परियोजनाओं से आप जब चाहें तब सम्बन्ध तोड़ सकते हैं, इस दृष्टि से आप पूर्णतः स्वतन्त्र हैं।

‘मैं आप को यह पत्र अनौपचारिक ढंग से इसलिए लिख रहा हूँ क्योंकि हम दोनों मिल कर जो कुछ भी करेंगे, उससे देश का आर्थिक एवं औद्योगिक विकास होगा। इस कार्य से सम्बन्धित आप जो भी कदम उठाएँगे, मैं उसकी सदा सराहना करूँगा।

मौखिक रूप से मैंने यह प्रार्थना आप से कुछ दिन पहले की थी। उसके बाद मैंने यह सारी स्थिति प्रतिरक्षा मन्त्री चह्लान को भी बतला दी है। मैंने उनको इस मामले से परिचित कराना उचित समझा। मेरा विचार है कि वह भी इसके पक्ष में हैं।मुझे आशा है कि २६ अप्रैल १९६३ को मेरे विदेश जाने से पहले ही मुझे आप का उत्तर मिल जाएगा।

तेजा ने मुझे २०,००० डॉलर का वार्षिक वेतन (आय-कर से मुक्त नहीं) देने को लिखा था जो तत्कालीन विनिमय-दर से ८,००० रुपये मासिक बनता था। तेजा के इस प्रस्ताव में न मुझे ऊँचे वेतन^{४४} का आकर्षण था (वैसे भी जिसका अधिकांश भाग आय-कर के रूप में निकल जाना था) और न सुविधा-पूर्ण जीवन का, अपितु एक तो इससे मेरा ‘खाली बैठना’ समाप्त होता था तथा दूसरे इस ऊबभरे वातावरण से दूर भागने का अवसर मिल रहा था। इसलिए, सरकार से अपेक्षित अनुमति प्राप्त कर के मैंने तेजा को अपनी स्वी-

४४. निवृत्त होने से पहले सेना में मुझे ४,००० रुपये मासिक वेतन मिलता था और अन्य कई सुविधाएँ प्राप्त थीं।

इति निग दी। नेत्रा ने मुझे यह काम सों दिया, मुझे तो इगकी बेबन मही
पुष्टमि मानुम है।

बदलि मेंने प्रतिगधा मन्धालय को मूषित कर दिया था कि नेत्रा से मुझे
बो बेतन बिनिया, वह धार-कर मे मुक्त नही होगा, किन्तु फिर भी संगद् मे
एक प्रल का उत्तर देते हुए चादाग ने कह दिया कि मुझे भिगने वाला बेतन
धार-कर सं मुक्त था। भगसे दिन मेंने उनगे उनके कार्यालय मे भेंट की धीर
उनके बसुव्य की प्रमुदता की धीर उनका ध्यान धारकित किया। रिक्ताहं
देखने के बाद उन्होंने अपनी भूत पर दुग् प्रकट किया। इगके बाद उन्होंने
अपने बसुव्य मे अपनी भूत का मूपारा किन्तु जो बान पहले कैम चुकी थी,
वह न मिट गयी।

दूसरे जनरलों या धीनियर भिविल सेबको के निजी दोष मे काफी-काफी
बेतन पर (कई बार मेरे बेतन से भी ज्यादा) काम करने पर कभी किसी ने
धाराति नहीं की किन्तु मेरी बार लोगो ने प्राप्तमान सिर पर उटा लिया।

बिदेश जाने से पहले, जब मैं नेहरू से विदा की नमस्कार करने गया तो उन्होंने
मेरे देश छोड़ने पर काफी दुग् प्रकट किया धीर भावोडित हो कर कहा कि मैं
अधिक समय तक बाहर न रहूँ।

मेरा स्वास्थ्य बहुत गिर गया था। जिस दिन मैं पालम से घसा, मेरा
स्वास्थ्य काफी खराब था। कुछ सैनिक एथ सिविन मिश्र मुझे विदा करने
गए। उनगे बातचीत करते समय मेरी टांगे काँप रही थी धीर मेरा सिर घूम
रहा था। जिस स्वास्थ्य पर कुछ महीने पहले मैं गर्व करता था, इस समय वह
थक चुका था। किसी-न-किसी प्रकार यह समय बीता धीर वायुयान के चलने
की सूचना मिली। भगवान् ही जानता है कि ये क्षण मेंने किस प्रकार गुजारे।
इस समय मेरी मनोदशा कुछ ऐसी विचित्र-सी हो गई थी कि मैं यहाँ मे दूर
नागना चाहता था, स्थान का कोई महत्त्व नहीं था।

टोकियो पहुँचने-पहुँचते मेरी तथियत काफी गिर गई थी। मेरे हाथ-बँर
काँप रहे थे धीर मुझे साँस लेने मे अनुविधा हो रही थी। जापान में पहले
कुछ दिन तो बड़ी कठिनार्ई मे कटे। बार-बार भीतर से कोई कहता था कि मैं
अपने देश मे न घाता तो अच्छा था। जीवन खाली-खाली धीर निरर्देश्य-सा
लगता था।

कुसान चिकित्सकों की देखरेख मे मेरा स्वास्थ्य धीघ्र सुधर गया। कुछ दिन
बाद मैं किमी काम से लन्दन गया जहाँ मास्को-स्थित हमारे राजदूत टी० एन०

कोल (मित्रों में टिक्की के नाम से प्रसिद्ध) ने मुझे मास्को जाने का निमन्त्रण भेजा। प्रेग तो मैं जा ही रहा था, इसलिए मैंने उनका निमन्त्रण स्वीकार कर लिया। प्रेग में, मैं अपने पूर्व परिचित एवं वहाँ के परराष्ट्र उप मन्त्री सिमोविक ने मिला। दस वर्ष पहले जब मैं कोरिया में चीफ ऑफ स्टाफ था तो वह वहाँ तटस्थ राष्ट्र स्वदेशागमन आयोग के चैक सदस्य थे। १९६२ में वह भारत में चैक राजदूत थे, तब भी उनसे मेरी मुलाकात हुई थी। उन्होंने मेरा हृदय से स्वागत किया। मैं तीन दिन प्रेग ठहरा और इन तीन दिनों में मेरा अधिकांश समय उन्हीं के साथ बीता। उन्होंने मुझे सुरम्य चैक राजमार्ग की काफी लम्बी सैर कराई तथा अपने घर निमन्त्रित किया जहाँ उनके परिवार एवं एक अन्य पुराने मित्र विक्लर (इनसे भी कोरिया में परिचय हुआ था) से भेंट करने का सुअवसर मिला। उन्होंने मुझे अपने देश के अन्य मनोरम स्थल दिखलाये।

प्रेग से मास्को जाने के लिए मुझे जिस वायुयान से जाना था, मौसम खराब होने के कारण उसे आने में विलम्ब हो गया। फलतः, मुझे कई घण्टे तक हवाई अड्डे पर रुकना पड़ा। वहाँ एक प्रौढ़ सज्जन जोर-जोर से साम्यवादी देशों का मजाक उड़ा रहे थे। कुछ देर बाद उन्हें एक सिपाही वहाँ से पकड़ ले गया। ईश्वर जाने, फिर उन पर क्या बीती। मास्को हवाई-अड्डे पर टिक्की ने मेरे वायुयान की काफी प्रतीक्षा की और जब उन्हें इसके पहुँचने का कोई निश्चय समय पता न चल सका तो वह थक कर घर चले गए। मैं मास्को रात को दो बजे पहुँचा। यहाँ का हवाई-अड्डा^{४५} रोम, पेरिस या न्यूयार्क के हवाई-अड्डों की भाँति आधुनिक नहीं था। कस्टम-अधिकारी तो बहुत भजे थे किन्तु पासपोर्ट कई जगह देखा गया। इसके बाद मैंने टेक्सी ली और वहाँ से ३० किलोमीटर दूर भारतीय राजदूतावास में प्रातःकाल साढ़े तीन बजे पहुँचा। टिक्की का सचिव मेरी प्रतीक्षा कर रहा था और जैसे ही टिक्की को सूचना मिली, वह स्वयं भी तुरन्त आ गए।

उस दिन ७ नवम्बर था और कड़कती सर्दी पड़ रही थी। प्रातःकाल ६ बजे तक तो टिक्की और मैं बातें करते रहे और इसके बाद हमने अक्टूबर क्रान्ति परेड देखने जाने के लिए तैयारी करनी शुरू की। टिक्की का कहना था कि जब संयोग से उस दिन मैं मास्को में था तब परेड क्यों न देखी जाए। रूसी परराष्ट्र कार्यालय (एम० आई० डी०) से उन्होंने मेरे वास्ते परमिट भी पहले ही ले लिया था। कार केवल रैड स्क्वेअर के सिवाने तक ही जा सकती थी, इसके बाद वैठने के स्थान तक पैदल जाना पड़ता था। सुरक्षा की दृष्टि से जगह-जगह परमिट देखे जा रहे थे। भीतरी वृत्त से पहले एक सुरक्षा गार्ड ने टिक्की का राजनयिक परिचय-पत्र देख कर उन्हें तो जाने दिया किन्तु मुझे

रोक लिया और मेरा पासपोर्ट माँगा। मैंने उसे एम० आई० डी० का परमिट दिखलाया किन्तु वह पासपोर्ट के लिए अड़ गया। मैंने उसे समझाया कि पासपोर्ट लाने के लिए पहले कोई सूचना नहीं दी गई थी और उस समय पासपोर्ट लाना असम्भव था। किन्तु वह सुरक्षा गार्ड भी पक्का हठी था, कहने लगा कि बिना पासपोर्ट देखे वह मुझे भीतर नहीं घुसने देगा। इस विषय स्थिति में पहले तो मुझे काफी विक्षोभ हुआ और मैं अपने राजदूतावास लौटने की सोचने लगा किन्तु फिर मुझे भारतीय सेना के (स्वर्गीय) मेजर जनरल वी० आर० चानोलकर का बताया एक गुर याद आ गया कि सकट घाने पर पूरी रातिले चिल्लाओ और आगे बढ़ जाओ और यदि यह गुर असफल हो जाए तो फिर समझौते की बात करो। इसलिए उस कक्षर लगने वाले सुरक्षा गार्ड पर मैं हिन्दुस्तानी में पूरी ताकत से चिल्ला पड़ा और आगे बढ़ गया। मेरे इतनी जोर से चिल्लाने से वह भातकित हो गया और सोचने लगा कि मेरे पास जरूर कुछ अधिकार होगा तभी मैं इतनी जोर से चिल्ला रहा था। फिर उसने मुझे नहीं रोका और मैं टिककी की बगल में पहुँच गया। हजारों की सख्या में माँच करते हुए पुरुषों, स्त्रियों और बालकों का यह दृश्य अपने में एक चमत्कार लग रहा था।

लगभग एक सप्ताह में मास्को में रका। इस कम समय में वहाँ के महत्वपूर्ण दृश्यो एवं सत्थायो^{१५} को बस एक नजर ही देख सका। कुछ क्षेत्रों में रूस ने सचमुच बहुत प्रगति^{१६} की थी जिसके फलस्वरूप वह काफी विकसितपानी हो गया था। साथ ही इस तथ्य ने भी मेरा ध्यान आकर्षित किया कि राजदूत के रूप में टिककी मास्को में हमारे देश का कितना प्रशसनीय प्रतिनिधित्व कर रहे थे।

मास्को से लौट कर जब मैं टोकियो पहुँचा तो सुना कि राष्ट्रपति कनेडो की पगरीका में हत्या कर दी गई थी तथा जेपटी० जनरल दोनतगिह एब सेना के कुछ अन्य सैनिकर भी अतिर बायुयान-दुपंठना में मृत्यु के प्राय बन गए थे। पगरीका एवं भारत के लिए यह कितना अचिन्तित दिन था।

पार महीने जापान में टहरने के बाद मैंने अपने सानोबारा (बिदा-नमस्कार) कहा। इन अवधि में मुझे अपनेक रोपक स्थितियों^{१७} में निमने एब अपनेक

४६ बोलशोई की सुन्दर प्रमान लेक देती एवं कुकलोनी क्रिस्टलन जल प्रस्तुत कृतुतक्षी का नाम देता।

४७. रूस में भी छोटे-बड़े का भेद है और दूसरी देसों में अधिक है।

४८. एक जपानी कृषिजीवी (जिस में बतलना ही सम्भवा रहेंगे) से भेदा प्रकटा परिचय हो गया था। एक साल के मध्य उन्होंने कण्ड 'क' जपानी करने करने मान को नहीं भूलते और द्वितीय विश्व युद्ध में परिचय में बनना ही सम्भवन किया था, उस तो के कभी नहीं कुछ सको है। उन्हें सम्भवन ही नहीं किया दस था

आकर्षक स्थानों को देखने का अवसर मिला। हवाई द्वीप—पचासवाँ अमरीकी राज्य—(जहाँ ७ दिसम्बर १९४१ को पर्ल हार्बर की घटना घटी थी)—में होनोलूलू की क्षणिक भलक लेते हुए मैं सान फ्रांसिस्को टोकियो से चलने के पहले पहुँच गया। अन्तर्राष्ट्रीय दिनांक-रेखा के पार घड़ी का चमत्कार है यह। अन्ततः, मैं न्यूयार्क पहुँच गया जहाँ कुछ समय बाद मेरी पत्नी एवं मेरी दोनों पुत्रियाँ भी मेरे पास पहुँच गईं। इतने समय के बाद अपने परिवार के बीच होना मुझे बहुत भला लगा।

इसके तुरन्त बाद मैं, अमरीका में अपने राजदूत वी० के० नेहरू एवं उनकी पत्नी फोरी के पास ठहरने के लिए, वाशिंगटन चला गया। (मैंने देखा कि अमरीका में उनका बहुत मान था।) जिस दिन मैं आलिगटन सिमिटरी (कन्निस्तान) गया, उस दिन काफी बर्फ पड़ रही थी और भयंकर सर्दी थी। जब मैं कॅनेडी की कब्र के पास पहुँचा तो वहाँ पुरुषों, महिलाओं एवं बालकों की एक लम्बी लाइन लगी हुई थी जो बहुत धीरे-धीरे आगे खिसक रही थी। उनकी (कॅनेडी की) और उनके दो छोटे बच्चों की कब्रों के पास उनकी (स्थल सेना की, जल सेना की एवं वायु सेना की) टोपियाँ रखी हुई थीं और पास में कुछ फूल पड़े हुए थे।^{४६} जिसने अपने देश की इतनी निष्ठा से सेवा की हो और इतनी कम आयु में वहाँ का राष्ट्रपति हो गया हो, उसकी कब्र पर इतनी शान्ति का होना कितना हृदय-विदारक था। उस समय की अपनी मनःस्थिति का मैं शब्दों में वर्णन नहीं कर पा रहा हूँ।

मई के प्रारम्भ में प्रो० एवं श्रीमती लॉयड ने मुझे निमन्त्रण दिया कि मैं हार्वर्ड विश्वविद्यालय में 'भारत और चीन' पर एक व्याख्यान दूँ। मैंने उनके निमन्त्रण को शिरोधार्य किया और बोस्टन के निकट स्थित इस विश्वविद्यालय में यह व्याख्यान दिया जिसके अन्त में मुझसे अनेक रोचक प्रश्न पूछे गए जिन का मैंने यथाशक्ति उत्तर दिया। इन प्रश्नों में वियतनाम-सम्बन्धी प्रश्न भी थे। इसके बाद मैंने, विश्व के अनेक भागों से आए हुए राजनयज्ञों एवं सेना-अधिकारियों के एक समारोह में व्याख्यान दिया। इस समारोह में किसी ने मुझसे प्रश्न किया कि क्या भारत में सैनिक-शासन की सम्भावना है? उत्तर में मैंने

अपितु उन्हें धन-जन की काफी क्षति पहुँचायी गई थी। अन्त में उन्होंने कहा कि एक दिन जापानी पश्चिम से इसका बदला लेंगे और अवश्य लेंगे।

४९. उस समय मुझे कॅनेडी का एक भाषण स्मरण हो आया जिसमें उन्होंने अपने देशवासियों से कहा था : 'इसलिए मेरे अमरीकी भाइयों, यह मत पूछो कि अमरीका आपके लिए क्या कर सकता है बल्कि यह पूछो कि आप अमरीका के लिए क्या कर सकते हो।'

अन्योक्तों महोदय पर चोट की कि क्या अमरीका जैसे विशाल लोकतन्त्र में इसकी सम्भावना थी ? साथ ही मैंने उन्हें 'सैविन डेज इन मे' (मई में सात दिन) नामक चलचित्र का सन्दर्भ देते हुए कहा कि जिस प्रकार इस चलचित्र में दिखाया गया था कि अमरीका में सैनिक शासन असफल हो गया, उसी प्रकार लोकतन्त्र भारत में इसके सफल होने की कोई सम्भावना नहीं थी ।

हार्वर्ड विश्वविद्यालय में सुसान एवं लॉयड हडोल्फ से, अनेक अन्य मुवि-स्थित प्रोफेसरों से एवं शोधकर्ताओं से मिलने का सुअवसर मिला । इस अवसर पर श्री गेलब्रॉथ से भी भेंट हुई जो १९६२ में दिल्ली में हमारे राजदूत थे । इसके बाद मैं अपने भतीजे विनोद मुवाई के साथ बालघम नदी के उस पार स्थित सौन्दर्यपूर्ण ब्राडीस विश्वविद्यालय भी गया और न्यू इंग्लैण्ड देखा । न्यूयॉर्क स्थित कोलम्बिया विश्वविद्यालय के प्रोफेसर ए० टी० ऐम्ब्री ने मुझे वहाँ व्याख्यान देने के लिए आमन्त्रित किया और मैंने उनके आदेश का भी पालन किया । इस व्याख्यान के बाद इस विश्वविद्यालय के 'मौखिक इतिहास शोध कार्यालय' के निदेशक लुई एम० स्टार ने मुझे निम्नलिखित पत्र लिखा :

.....कोलम्बिया विश्वविद्यालय का यह कार्यालय स्मृति पर आधारित उन घटनाओं में रचि रखता है जो भावी इतिहासज्ञों के लिए लाभकारी सिद्ध हो सकती हो । हमें इस बात का पूरा विश्वास है कि आपकी स्मृति में ऐसी अनेक घटनाएँ हैं, इसलिए हम आप से निवेदन करते हैं कि आप हमारे इस कार्यालय को अपने सम्मरणों में समृद्ध करें ।.....इस पवित्र काम में हमारा सहयोग अनेक (वर्तमान) सुविख्यात व्यक्ति दे रहे हैं और आशा है कि आप भी हमें यह गौरव प्रदान करेंगे ।.....मुझे आशा है कि आप इस काम को अविस्मर्य प्रारम्भ कर के हमें शूतार्थ करेंगे ।

मुझे इस काम में काफी आनन्द आया । कोलम्बिया और हार्वर्ड विश्वविद्यालयों के वे मेरे अनुभव काफी सुन्दर रहे ।

इन गम्भीर अनुभवों के साथ ही एक अन्य रोचक अनुभव गुना दूँ जो एक टैक्सो ड्राइवर की सम्जनता एवं प्रगल्भता का निश्चित उदाहरण है । एक दोपहर को बहुत ज्यादा बर्फ पड़ रही थी और मैं सड़क गल्टी घर के बरतन के सामने ४५वें गधा गार्ड एवेन्यू पर गधा टैक्सो की प्रतीक्षा कर रहा था । कई गान्धी टैक्सो आईं और बिना रुके निकल गईं इसलिए उन्हें रोकने के लिए मैंने काफ़ी हाथ हिलाया । कुछ ने तो 'पाउन्ड्स' (दूरी मूक) का बोर्ड लगा रखा था और कुछ ने जापद उस दिन काफ़ी बजा दिया था कि किसी ने रुकने की सोचो ही नहीं । अचानक बीच बिन्दु तक टण्ड में टिपूने के बाद

मैं तंग आ गया और एक आती हुई टैक्सी का रास्ता रोक कर बीच सड़क पर खड़ा हो गया ।

‘क्या चाहते हो ?’ ड्राइवर चिल्लाया ।

‘दुएँ और यॉर्क जाना चाहता हूँ,’ मैंने उत्तर दिया ।

‘इस तरह ट्रेफिक रोक कर खड़े नहीं हो सकते । सामने से हट जाओ, नहीं तो कुचल दूँगा,’ उसने धमकी दी ।

‘कुचल दो । टैक्सी की इन्तजार करते-करते वर्फ में जम गया हूँ । अब और इन्तजार नहीं होती,’ मैंने कहा ।

‘लेकिन मैं तो घर जा रहा हूँ,’ ड्राइवर ने बतलाया ।

‘इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता कि तुम कहाँ जा रहे हो या मैं कहाँ जा रहा हूँ, मैं इस वर्फ से भागना चाहता हूँ । तुम मुझे अपने घर क्यों नहीं ले चलते ?’, मैंने व्यंग्य कसा ।

कुछ क्षण पहले तो ड्राइवर यमदूत लग रहा था, अब एकदम पिघल गया । मेरी बात से खुश हो कर बोला, ‘जल्दी करो, जहाँ जाना चाहते हो, वहाँ छोड़ दूँगा ।’ अपनी मंजिल पर पहुँच कर मैंने उसे काफ़ी इनाम दिया ।

२७ मई १९६४ को न्यूयॉर्क में नेहरू के निधन का दुःखद समाचार सुना । अनेक स्वदेशवासियों के समान इस समाचार को सून कर मैं भी मुन्न रह गया । मेरी स्मृति में अचानक वह दिन उभर आया जब भारत छोड़ने से पहले मैं उन्हें मिलने गया था और उन्होंने भावोद्धेलित हो कर कहा था कि मैं ज्यादा दिन भारत से बाहर न रहूँ और जल्दी ही लौट आऊँ । मेरा दुर्भाग्य, कि मेरे लौटने के पहले ही नेहरू चल बसे । मैं और मेरा परिवार उस पूरे दिन रोते रहे ।

नेहरू की मृत्यु के बाद मैंने भारत लौटने का निर्णय किया । इस बीच मुझे फिर बुखार रहने लगा और साँस लेने में कठिनाई होने लगी । मेरा विचार था कि मैं जल्दी ठीक हो जाऊँगा किन्तु जब कई सप्ताह तक यह हालत रही तो मुझे न्यूयॉर्क विश्वविद्यालय के अस्पताल में भर्ती करा दिया गया । वहाँ डॉ॰ राल्स्टन ने मेरा उपचार किया । भारत लौटने के समय मैं पूरा स्वस्थ नहीं हो पाया था ।

मैं आठ महीने के लगभग अमरीका में रहा । अमरीकियों का विचार है कि अमरीका विश्व में विशालतम एवं श्रेष्ठतम देश है । अपनी निर्बलताओं को वे छिपाते नहीं, अपितु स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लेते हैं । उदाहरण के लिए, एक बार एक अमरीकी सीनेटर (संसत्सदस्य) ने अमरीका की सीनेट के सम्बन्ध में अपनी डायरी में लिखा था :

अपने अधिकांश सीनेटरों की ईमानदारी एवं सच्चाई में मुझे कतई विश्वास नहीं है। उनमें से अधिकांश छिछोरे हैं, कमजोर दिमाग के हैं और सीनेटर होने के एकदम अयोग्य हैं।कुछ पैसे वाले हैं, जिन्होंने सीनेटरी खरीद ली है। कुछ मन्द बुद्धि हैं, कुछ असहिष्णु हैं तथा कुछ पक्षपाती हैं.....।

अमरीकी परिहास की भावना इस पोस्टर से स्पष्ट है : 'जीने की क्या जरूरत है यदि अच्छी ग्रन्थेप्टि (फ़नरल) में केवल पचास डॉलर खर्च होते हैं।' अमरीकी मित्र बनाने के सदा इच्छुक रहते हैं। वे सख्त परिश्रम करते हैं किन्तु श्रुतियों में मनोविनोद या विश्राम के अतिरिक्त कुछ नहीं करते। उनके जीवन की गति इतनी तेज है कि लगता है जैसे बहुत जल्दी में हो। विचार व्यक्त करने की यहाँ पूरी स्वतन्त्रता है। एक प्रसिद्ध अमरीकी स्तम्भ-लेखक के ये शब्द इसका प्रबल प्रमाण हैं :

सफल ऐम्पेक्टिक राजनीतिज्ञ अरक्षित और भयभीत लोग हैं। अपने निर्वाचन-क्षेत्र के तेज लोगों की राखी कर के, रिश्वत दे के, डरा के, भ्रष्टा दे के या कुछ और धक्कर कर के ये लोग राजनीतिक क्षेत्र में सफल होते हैं। वे यह नहीं देखते कि उनके कर्म लोकप्रिय हैं या नहीं, नामकारी हैं या नहीं अपितु वे तो यह देखते हैं कि इनमें उनके निर्वाचन-क्षेत्र के लोग तुरन्त प्रसन्न होते हैं या नहीं।

फ़्लो और मैं कैंनेडी हवाई-अड्डे में वायुयान में बैठे और ९ अगस्त १९६४ को दिल्ली आ गए। मैं एक वर्ष में कुछ ऊपर विदेश में रहा था। आगमन पर उतरते समय मैं शारीरिक रूप में अस्वस्थ था किन्तु मानसिक रूप में स्वस्थ। विदेश में मुझे अनेक नये लोगों से मिलने का तथा अनेक नये जानों को देखने का अवसर मिला। किन्तु अपना देश अपना ही देश होता है। यद्यपि यहाँ पर फिर वही चेहरे, वही कोलाहल और वही घसन्तीप किन्तु फिर भी यह मेरा देश है जहाँ मैंने जन्म लिया है और जहाँ मुझे प्यारा है।

यहाँ आ कर मैं अविनम्ब अपने पुराने चिकित्सक मेजर जनरल इन्दरसिंह के पास पहुँचा और उन्होंने मेरी चिकित्सा प्रारम्भ कर दी। लगभग ६ सप्ताह बिस्तरे पर रहने के बाद मैं फिर चलने-फिरने योग्य हो गया। इस अवधि में मेरे अनुज बच्चे, चचेरे भाई राजा तथा मित्र राम प्रसाद ने मेरी बड़ी सेवा की। मैं इनका बड़ा कृतज्ञ हूँ। अब अब्दुलर समाप्त होने वाला था।

१९६४ में घटनाएँ काफी तेजी से घटीं। शेख अब्दुल्ला को जेल से छोड़ दिया गया और उनके विरुद्ध लगे कश्मीर-पट्टा के मामले को हटा दिया

गया। प्रसिद्ध देशभक्त जयप्रकाश नारायण एक गैर-सरकारी सद्भावना-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में रावलपिण्डी गए किन्तु उनके कुछ कृतघ्न देश-वासियों ने उन्हें गद्दार की संज्ञा दी।

६ फरवरी १९६५ को पंजाब के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री प्रतापसिंह कैरो की कार को दिल्ली से बीस मील दूर चार नकावपोशों ने धेर लिया और उनको गोली मार दी। १ अप्रैल को शेख अब्दुल्ला अल्जीयरस में चाऊ एन लाई से मिले और उनसे प्रार्थना की कि वह कश्मीरियों को अपने भाग्य-निर्णय करने का अवसर दिलाने में सहायता करें और इसलिए लगभग एक महीने के बाद उन्हें नज़रबन्द कर दिया गया। १६ अप्रैल को शास्त्री को अमरीका जाना था किन्तु देश में अधिक असन्तोष होने के कारण उनकी यह यात्रा सम्भव न हो सकी। २० मई को और इसके कुछ बाद, लेफटी० कमाण्डर एम० एस० कोहली के नेतृत्व में भारतीय पर्वतारोहियों की चार टोलियाँ हिमालय की चोटी पर पहुँचने में सफल हुईं। यह वर्ष सचमुच घटनाओं से भरा हुआ है।

पिछले महीनों में, अनेक विदेशी एवं भारतीय लेखक (जिनमें नेहरू के जीवन-लेखक, सुविख्यात कनाडावासी माईकेले ब्रेखर^{५०} भी थे) मुझसे मिलने आए। ये लोग भारत पर पुस्तकें लिख रहे थे, इस लिए इन्होंने मुझसे अनेक इण्टरव्यू लिए और नेहरू युग के विविध महत्त्वपूर्ण पक्षों (जिनमें हमारे विदेशी सम्बन्ध भी थे) पर अनेक प्रश्न किए।

जुलाई में मैं वी० के० नेहरू को शोक-संवेदना प्रकट करने गया क्योंकि कुछ दिन पहले उनके पिता का निधन हो गया था और वह भारत आये हुए थे। वहाँ मुझे फोन पर समाचार मिला कि मेरी बेटी अनु को रक्त-स्राव हो गया था और मेरी पत्नी उसे लेकर सैनिक अस्पताल गयी थीं। जब मैं अस्पताल पहुँचा तो स्त्री-रोगों के विशेषज्ञ ने धन्नो को और मुझे बतलाया कि अनु का बड़ा ऑपरेशन होगा और बच्चे या माँ के जीवन के विषय में वह कोई गारण्टी नहीं कर सकते थे।

यह सुन कर मैं सोचता रहा कि अभी अनु के^{५१}, धन्नो के तथा मेरे भाग्य क्या-क्या कठिनाइयाँ भेलनी लिखी थीं। चार वर्ष से, जब से उसका विवाह हुआ था, उस पर काफ़ी मुसीबतें आ चुकी थीं। धन्नो और मैं चुपचाप बैठ गए और ईश्वर से अनु के स्वास्थ्य की मंगल कामना करने लगे।

५० ब्रेखर को हमारे एक तत्कालीन मन्त्री महोदय ने परिचय-पत्र भी दिया था।

५१. जिसकी मुसीबत का कोई अन्त नज़र था।

धनु ने काफी साहस एवं सहिष्णुता का परिचय दिया। ऑपरेशन की बात सुन कर वह तनिक विचलित नहीं हुई। भावी सकट अर्थात् गम्भीर ऑपरेशन का ज्ञान होने पर भी वह शान्त एवं गम्भीर भाव में स्ट्रेचर पर लेटी थी। उसके बाद उगे निकटस्थ ऑपरेशन थियेटर में एम्बुलेन्स में ले जाया गया। मैंने उसके लिए सफल ऑपरेशन की कामना की और उसने मेरी ओर मुँह कर अपने धैर्य एवं दृढ़ता का परिचय दिया।

धनु के ऑपरेशन के समय, धन्नो एवं मैं उदास से बरामदे में बैठे रहे। डॉक्टर ने पहले ही बतला दिया था कि ऑपरेशन में लगभग एक घण्टा लगेगा और धनु में खून की कमी होने के कारण उसे खून भी चढ़ाना होगा।

ऑपरेशन के ये साठ मिनट मेरे लिए साठ युग की तरह थे। मैं विवश और चिन्ताकुल, चुपचाप बैठे रहने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था। धनु का चेहरा मेरी नज़रों के सामने घुम रहा था। मुझे लगता था कि काल की गति अवरुद्ध हो गई हो, घड़ी की सुई आगे खिसकती नज़र नहीं आती थी। इस समय मुझे केवल धनु की, अपनी बच्ची की चिन्ता थी, मेरे संसार का मुझे कोई ज्ञान नहीं था। मानव स्वभाव कितना विचित्र है—संकट-काल में मनुष्य भाँति-भाँति की प्रतिक्रियाएँ करता है, सौगन्ध लेता है और मनातियाँ मनाता है किन्तु सकट की घड़ी टल जाने पर सब कुछ भूल कर पूर्ववत् हो जाता है। युगो के बाद डॉक्टर साहब ऑपरेशन थियेटर से निकले और उन्होंने धन्नो को एव मुझे सूचित किया कि ऑपरेशन सफल रहा था और अब धनु पहले से ठीक थी।

(यद्यपि अगले पृष्ठों में वर्णित कई चीजों का मेरे व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्ध नहीं है किन्तु मैं उनको यहाँ इसलिए बता रहा हूँ कि जो कुछ मैंने अब तक कहा है, उस पर उनसे काफी प्रकाश पड़ता है।)

गया। प्रसिद्ध देशभक्त जयप्रकाश नारायण एक गैर-सरकारी सद्भावना-मण्डल के अध्यक्ष के रूप में रावलपिण्डी गए किन्तु उनके कुछ कृतघ्न देश-वासियों ने उन्हें गद्दार की संज्ञा दी।

६ फरवरी १९६५ को पंजाब के भूतपूर्व मुख्य मन्त्री प्रतापसिंह कैरो की कार को दिल्ली से बीस मील दूर चार नकावपोशों ने घेर लिया और उनको गोली मार दी। १ अप्रैल को शेख अब्दुल्ला अल्जीयरस में चाऊ एन लाई से मिले और उनसे प्रार्थना की कि वह कश्मीरियों को अपने भाग्य-निर्णय करने का अवसर दिलाने में सहायता करें और इसलिए लगभग एक महीने के बाद उन्हें नज़रबन्द कर दिया गया। १६ अप्रैल को शास्त्री को अमरीका जाना था किन्तु देश में अधिक असन्तोष होने के कारण उनकी यह यात्रा सम्भव न हो सकी। २० मई को और इसके कुछ बाद, लेफ्टी० कमाण्डर एम० एस० कोहली के नेतृत्व में भारतीय पर्वतारोहियों की चार टोलियाँ हिमालय की चोटी पर पहुँचने में सफल हुई। यह वर्ष सचमुच घटनाओं से भरा हुआ है।

पिछले महीनों में, अनेक विदेशी एवं भारतीय लेखक (जिनमें नेहरू के जीवन-लेखक, सुविख्यात कनाडावासी माईकेले ब्रेखर^{५०} भी थे) मुम्बई मिलने आए। ये लोग भारत पर पुस्तकें लिख रहे थे, इस लिए इन्होंने मुम्बई अनेक इण्टरव्यू लिए और नेहरू युग के विविध महत्त्वपूर्ण पक्षों (जिनमें हमारे विदेशी सम्बन्ध भी थे) पर अनेक प्रश्न किए।

जुलाई में मैं वी० के० नेहरू को शोक-संवेदना प्रकट करने गया क्योंकि कुछ दिन पहले उनके पिता का निधन हो गया था और वह भारत आये हुए थे। वहाँ मुझे फोन पर समाचार मिला कि मेरी बेटी अनु को रक्त-स्त्राव हो गया था और मेरी पत्नी उसे लेकर सैनिक अस्पताल गयी थीं। जब मैं अस्पताल पहुँचा तो स्त्री-रोगों के विशेषज्ञ ने धन्नो को और मुझे बतलाया कि अनु का बड़ा ऑपरेशन होगा और बच्चे या माँ के जीवन के विषय में वह कोई गारण्टी नहीं कर सकते थे।

यह सुन कर मैं सोचता रहा कि अभी अनु के^{५१}, धन्नो के तथा मेरे भाग्य क्या-क्या कठिनाइयाँ भेलनी लिखी थीं। चार वर्ष से, जब से उसका विवाह हुआ था, उस पर काफी मुसीबतें आ चुकी थीं। धन्नो और मैं चुपचाप बैठ गए और ईश्वर से अनु के स्वास्थ्य की मंगल कामना करने लगे।

५० ब्रेखर को हमारे एक तत्कालीन मन्त्री महोदय ने परिचय-पत्र भी दिया था।

५१. जिसकी मुसीबत का कोई अन्त नज़र नहीं आता था।

धनु ने काफी साहस एवं सहिष्णुता का परिचय दिया। ऑपरेशन की बात सुन कर वह तनिक विचलित नहीं हुई। भावी संकट अर्थात् गम्भीर ऑपरेशन का ज्ञान होने पर भी वह दान्त एवं गम्भीर भाव से स्ट्रेचर पर लेटी रही। उसके बाद उसे निकटस्थ ऑपरेशन थियेटर में एम्बुलेन्स में ले जाया था। मैंने उसके लिए सफल ऑपरेशन की कामना की और उसने मेरी ओर मुस्कुरा कर अपने धैर्य एवं दृढ़ता का परिचय दिया।

धनु के ऑपरेशन के समय, धन्नो एवं मैं उदास से बरामदे में बैठे रहे। डॉक्टर ने पहले ही बतला दिया था कि ऑपरेशन में लगभग एक घण्टा लगेगा और धनु में खून की कमी होने के कारण उसे खून भी चढाना होगा।

ऑपरेशन के ये साठ मिनट मेरे लिए साठ युग की तरह थे। मैं विवश और चिन्ताकुल, चुपचाप बैठे रहने के अतिरिक्त और कर भी क्या सकता था। धनु का चेहरा मेरी नज़रों के सामने घूम रहा था। मुझे लगता था कि काल की गति अवरुद्ध हो गई हो, घड़ी की सुई आगे खिसकती नज़र नहीं आती थी। इस समय मुझे केवल धनु की, अपनी बच्ची की चिन्ता थी, ऐस सनार का मुझे कोई ज्ञान नहीं था। मानव स्वभाव कितना विचित्र है—संकट-काल में मनुष्य भाँति-भाँति की प्रतिक्रियाएँ करता है, सौगन्ध लेता है और मनोतियाँ मनाता है किन्तु संकट की घड़ी टल जाने पर सब कुछ भूल कर पूर्ववत् हो जाता है। युगो के बाद डॉक्टर साहब ऑपरेशन थियेटर में निकले और उन्होंने धन्नो को एव मुझे सूचित किया कि ऑपरेशन सफल रहा था और अब धनु पहले से ठीक थी।

(यद्यपि अगले पृष्ठों में बर्णित कई चीजों का मेरे व्यक्तिगत अनुभव से सम्बन्ध नहीं है किन्तु मैं उनको यहाँ इसलिए बता रहा हूँ कि जो कुछ मैंने अब तक कहा है, उस पर उनसे काफी प्रकाश पड़ता है।)

छः

अभी नाटक अधूरा है

नेहरू की मृत्यु के बाद हमारे नेताओं ने जो खूब अपनाया, उसका सीधा अर्थ यह था कि १९६२ के बाद भारत की प्रतिरक्षा बहुत सुदृढ़ हो गई थी और यदि हम पर पाकिस्तान ने या चीन ने अलग-अलग या दोनों ने मिल कर आक्रमण किया तो उनको सुलटने के लिए हम अकेले ही काफी थे। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हमारा प्रतिरक्षा बजट जो १९६२ में ३०० करोड़ रुपये था, १९६५-६६ में ८०० करोड़ रुपये हो गया था और हमारी सेना का आकार भी १९६२ की तुलना में दुगना हो गया था। साथ ही इस बीच हमें विदेशों से सैनिक सहायता भी काफी मिल गई थी। किन्तु इस सुधरी हुई स्थिति के बाद भी, १९६५ में हमारी सेना के सामने बहुत-सी कठिनाइयाँ शेष थीं।

कश्मीर में पाकिस्तानी युद्ध-पद्धति के दो पक्ष स्पष्ट हैं—१. घुसपैठ* तथा २. परम्परागत युद्ध-कौशल। ५ अगस्त को पाकिस्तान के १२ डिवीजन के जी० ओ० सी०, मेजर जनरल हुसेन अख्तर के नेतृत्व में लगभग ५००० घुसपैठियों की 'जिब्राल्टर' सेना ने जम्मू एवं कश्मीर में हमारी सीमा का अतिक्रमण किया। यद्यपि हमारे राजनीतिक एवं सैनिक नेताओं ने यह बात स्वी-

* केवल एक व्यक्ति ऐसा है जिसने पिछले चार वर्षों से हमें हमारी सीमा पर होने वाली पाकिस्तानी घुसपैठ के सम्बन्ध में पूरी-पूरी सूचना दी है। वह हैं भारतीय पुलिस के अश्विनी कुमार। १९६५ के भारत-पाक युद्ध के समय भी उन्होंने काफी प्रशंसनीय कार्य किया था। आकर्षक व्यक्तित्व के अश्विनी कुमार अत्यधिक शिष्ट, साहित्य-प्रेमी, कवि तथा श्रेष्ठ खिलाड़ी हैं। पुलिस में रह कर उन्होंने देश की अद्वितीय सेवा की है। वह दृढ़ निश्चयी हैं तथा मृत्यु से उन्हें कोई भय नहीं है। अपराधियों के लिए उनका नाम ही काफी है। अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के वह काफी प्रिय हैं एवं अपने परिवार के लिए शक्ति-स्तम्भ हैं। उदार-हृदय एवं निःस्वार्थ सेवी अश्विनी कुमार का जीवन वीरता की गाथाओं से भरा पड़ा है। संकट में पड़े मित्रों के लिए वह साक्षात् त्याग एवं सहायता की प्रतिमूर्ति हैं।

प्रारम्भ की कि हम पर इस दिन नियमित आक्रमण किया गया था। इस सेना के पास हल्के आधुनिक एवं स्वचल रास्त्र तथा अच्छे वायरलेस सैट थे। इस सेना की भाँसे बढ़ने की गति भी अच्छी थी। इसका उद्देश्य हमारी सीमा में घुसकर आने के साथ-साथ कश्मीरियों को सिखा-पढा कर भारत के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए तैयार करना था। ये घुसपैठिये अपने साथ फालतू रास्त्र भी लाये थे ताकि कश्मीरियों को प्रशिक्षित किया जा सके। ये लोग रात के समय हम पर गोशियाँ चलाते और फिर जल्दी में पीछे हट जाते। मार्गदर्शक, इन्तों, पाना एवं रहने की जगह आदि सुविधाएँ इन्हें स्थानीय निवासियों से ही मिल गईं। जिब्राल्टर सेना का स्वर्ण दिवस था ६ अगस्त १९६५ जिस दिन १९५३ में मन्डुल्ला को गिरफ्तार किया गया था। पहले हमने कहा कि लगभग १००० घुसपैठिये हमारी सीमा में घुस आये थे। बाद में हमने यह स्वीकार किया कि इनकी संख्या लगभग दो-तीन हजार या इसमें अधिक थी। हम प्रकार इस आक्रमण के महत्त्व को घटा कर बता कर हम स्वयं को धोखा देने लगे। हमने यह भी कहा कि इन घुसपैठियों के पास भोजन और रास्त्रों की कमी थी, स्थानीय निवासियों ने इनका स्वागत न कर के इनके साथ अनुभव व्यरहार किया था जिससे इनका मनोबल काफी गिर गया था एवं हमारी सुरक्षा सेना ने इनको भागने पर विवश कर दिया था। वास्तविकता यह है कि इन घुसपैठियों ने हमारा काफी नुकसान किया यद्यपि ये अपनी आगा के अनुसार हमारे दुर्गों को नहीं उड़ा पाए, जन-संहार नहीं कर पाए तथा हमारी आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक व्यवस्था को भंग नहीं कर पाए और न ही हमारे सम्पत्तियों को विध्वंस कर पाए। न ही ये कश्मीरियों को विद्रोह के लिए तैयार कर पाए। किन्तु यह कहना बिल्कुल गलत है कि इनको अपने उद्देश में सिद्धत्व भी सफलता नहीं मिली। यह ही कितने घातकों की बात है कि हमारे सुरक्षकों एवं हमारी सुरक्षा सेना के होने के बावजूद भी ये घुसपैठिये इतनी बड़ी संख्या में हमारी सीमा में प्रवेश कर गए। जम्मू क्षेत्र की तहसील रिवासी के दुर्ग स्थान पर इन घुसपैठियों ने जो अपना प्रशासन स्थापित कर लिया था, उससे मुक्त होने में हमने काफी समय लगा।

(उत्कालीन मूचना एवं प्रचार मन्त्री धीमती इन्दिरा गाँधी ने घटगत के सन्धिगत सन्धिगत में मुझे प्रोन किया और पूछा कि क्या मैं अपने दिन उनका फिर कहता था। जब अपने दिन मैं उनसे बिना ही उन्होंने मुझे बताया कि कश्मीर के मामले को सम्भलने वाले कुछ लोगों ने साहस ही थी कि घुसपैठियों ने मुक्त के लिए कश्मीर मुझे भेजा था। उन्होंने कहा कि घटगत इस प्रकार का एक-एक कर और अधिक नहीं पावुम नहीं था किन्तु यह मुझे कश्मीर के लिए कहा था जो क्या मैं जाने को इनार था। मैंने स्वीकारा कि उनका दिन १ अक्टूबर को पाकिस्तान ने जम्मू क्षेत्र के आक्रमण कर दिया और

उसके बाद मैंने श्रीमती गाँधी से इस विषय में (मेरे जम्मू-कश्मीर जाने के विषय में) कुछ नहीं सुना।)

१ और ६ सितम्बर के बीच, पाकिस्तानी सेना हमारी सीमा में जोरियाँ तक बढ़ आई। उसकी योजना थी कि वह पहले ही भूपट्टे में चिनाव नदी के किनारे वसे अखनूर पर अधिकार कर ले तथा इसके बाद जम्मू से पुँछ तक का सम्पर्क काट दे और जम्मू पर अधिकार कर के जम्मू-श्रीनगर राजमार्ग पर आगे बढ़े। उसकी इस अपवित्र योजना को मिट्टी में मिलाने का श्रेय है हमारे स्थानीय कोर कमाण्डर लेफ्टी० जनरल कटोच को।

मैंने अपने देश की अनेक संकटों में सेवा की है, इसलिए इस संकट की घड़ी में मैं कैसे चुप बैठ सकता था। अतः ६ सितम्बर १९६५ को मैंने लाल बहादुर शास्त्री को निम्नलिखित पत्र लिखा :

देश पर आए इस संकट के समय मेरी सेवाएँ प्रस्तुत हैं, आप जिस रूप में उपयुक्त समझें, उनका प्रयोग करें.....देश की सेवा के लिए मैं सब कुछ छोड़ कर आने को तैयार हूँ।'

मुझे अपने पत्र का औपचारिक उत्तर उसी दिन मिल गया :

यह पंक्ति आपके ६ सितम्बर १९६५ के पत्र के धन्यवाद के रूप में है। मैं आप की भावना का सम्मान करता हूँ।'

शत्रु का जम्मू एवं कश्मीर से ध्यान हटाने के लिए हमारे सैनिक हाई कमान ने इधर तो ६ और ८ सितम्बर को क्रमशः लाहौर एवं सियालकोट क्षेत्रों में आक्रमण कर दिया और उधर राजस्थान में भी शत्रु को ललकारा।

६ तारीख से आगे के भारत-पाक युद्ध का वर्णन तीन रूपों में किया जा सकता है—

१. युद्ध का विस्तृत विवरण, २. अपने पक्ष का मनोहारी रूप तथा ३. युद्ध पर तथा युद्ध से सम्बन्धित व्यक्तियों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ। सुरक्षा की दृष्टि से प्रथम रूप तो अपनाया नहीं जा सकता तथा दूसरे रूप का अर्थ स्वयं को अन्धकार में रखना, इसलिए मैं तीसरे रूप को ही अपनाता हूँ। युद्ध के सम्बन्ध में तो मैं केवल इतना ही कहूँगा कि हम पाकिस्तान को—अपने से छोटी शक्ति को—हराने में असफल रहे (यद्यपि हरा सकते थे) एवं कुछ स्थितियों में तो भगवान् ने ही हमारी रक्षा की। दूसरी ओर, पाकिस्तान का यह मूल्यांकन गलत था कि हमारी स्थल एवं वायु सेना उसके आक्रमण की चपेट को नहीं सँभाल पाएँगी।

केवल २२ दिन की लड़ाई के बाद भारत ने युद्ध-विराम के समझौते पर

हस्ताक्षर कर दिए। प्रश्न यह है कि जब भारत (अपने कथनानुसार) पाकिस्तान को पछाड़ने वाला था और जबकि शास्त्री ने भी ६ सितम्बर १९६५ को घोषणा की थी कि भारत युद्ध-विरामो के चक्कर में नहीं पड़ेगा तो फिर युद्ध-विगम पर हस्ताक्षर क्यों किये गए। शास्त्री ने राष्ट्रीय सुरक्षा परिषद् में मुख्य मन्त्रियों के समक्ष कहा था, 'कुछ भी क्यों न हो, हम अपने मोर्चे पर दृढ़ रहेंगे।' एक और तो इतनी बड़ी-बड़ी घोषणाएँ और दूसरी ओर प्रथम भ्रष्ट मित्र ही युद्ध-विराम के समझौते पर हस्ताक्षर करना—क्यों? शास्त्री और सरकार को पहले ही सोच लेना चाहिए था कि एक दिन विश्व की बड़ी शक्तियाँ संयुक्त राष्ट्र सभ के माध्यम से अपनी इच्छा हम पर थोपेंगी और नज़ाई बन्द करने के लिए विवश करेंगी और इसलिए, ऐसे लम्बे-चौड़े वक्तव्य नहीं देने चाहिए थे जिनसे बाद में पीछे हटना पडा।

युद्ध-विराम के समझौते पर हस्ताक्षर कब होते हैं? जब दोनों प्रतिद्वन्द्वियों में कोई भी विजय प्राप्त नहीं कर पाता। युद्ध-विराम का अर्थ है अनिर्णीत युद्ध अर्थात् युद्ध का कोई निर्णय न होना। जैसा लिंकन ने कहा है, 'मान लो आप युद्ध शुरू कर देते हैं, किन्तु आप सदा तो युद्धरत रह नहीं सकते; इसलिए जब दोनों पक्षों को काफी हानि हो जाती है और लाभ किसी को नहीं हो पाता तो आप युद्ध रोक देते हैं। उसके बाद फिर वही पुरानी समस्याएँ सामने खड़ी होती हैं।'

हमारे युद्ध-प्रयत्नों का प्रचार भी अधिक यथार्थवादी होना चाहिए था। जब हमारे पत्रकारों ने युद्ध-स्थल में जाने की अनुमति मांगी तो उन्हें यह कह कर मना कर दिया गया कि वहाँ जाना खतरनाक था या हमारी सेना लड़ाई में बहुत अधिक व्यस्त थी और उनकी रक्षा नहीं की जा सकती थी। कितनी असंगत बात थी। द्वितीय विश्व युद्ध में, कोरिया युद्ध या दूसरे युद्धों में दूसरे देशों ने पत्रकारों को युद्ध के अगले मोर्चों पर जाने की अनुमति दी थी। इस प्रथम में अनेक पत्रकारों का जीवन चला गया था और उन्होंने अपने पेटों में उच्च परम्पराओं की स्थापना की थी। मैं अपने देश के अनेक ऐसे वीर पत्रकारों को जानता हूँ जो समाचार की खोज में अपने जीवन की बाजी लगाने को तैयार हैं किन्तु इस युद्ध में किसी पत्रकार को यह भ्रष्ट नहीं दिया गया। फलतः, हमारे पत्रकार युद्ध का आँखों-देखा हाल तो नहीं प्रस्तुत कर सके किन्तु उन्होंने अनेक बाधाओं के बाद भी काफी सच्चा हाल प्रस्तुत किया।

भारत (एवं पाकिस्तान) द्वारा घोषित विज्ञप्तियों का सन्दर्भ देते हुए 'स्टेट्समैन' के सैनिक पर्यवेक्षक ने १७ सितम्बर को लिखा, 'यदि भारत और पाकिस्तान की विज्ञप्तियों में घोषित तथ्यों को जोड़ा जाए तो भारत और पाकिस्तान के नष्ट टुकड़े एवं वायु सेना का जो योग आएगा, वह उनके टुकड़ों एवं वायु सेना की यथावत् सन्ध्या से दुगना बढ़ेगा.....'

१९६५ के भारत-पाक युद्ध के समय अपनी वायु सेना एवं स्थल सेना के जो चीफ़ थे, उनके विषय में यहाँ मेरा कुछ कहना प्रसंगानुकूल है। वायु सेना के चीफ़ थे एयर मार्शल अर्जुनसिंह जो अपने समय के अद्वितीय पाइलट (वायुयान-चालक) एवं कुशल सीनियर स्टाफ़ ऑफ़िसर थे। इस सम्पूर्ण युद्ध में वह छाये रहे और उन्होंने विपम-से-विपम परिस्थिति में भी अपना धैर्य एवं साहस नहीं खोया। युवा पाइलटों ने उनके साहस, पेशे से सम्बन्धित ज्ञान एवं उड़ान-कुशलता से काफी प्रेरणा प्राप्त की और सरकार ने उनके धैर्य एवं प्रत्येक स्थिति को सँभाल लेने के आत्म-विश्वास से काफी शक्ति प्राप्त की।

मेरी इच्छा तो बहुत है कि स्थल सेना के तत्कालीन चीफ़, जनरल चौधरी के विषय में भी यही कुछ कह सकता। यहाँ मैं अपने अनुभव के आधार पर उनके सेवा-काल एवं व्यक्तित्व के कुछ पक्ष प्रस्तुत कर रहा हूँ (जो इस पुस्तक में अन्य स्थलों पर भी दिये हुए हैं)। इन तथ्यों से सेना के अनेक दूसरे लोग भी भली-भाँति परिचित हैं। यदि इस विश्लेषण के फलस्वरूप चौधरी का एक ऐसा रूप सामने आये जो उनके उस रूप के विपरीत हो जो अब तक लोगों के सामने रखा गया है तो इसका कारण यह नहीं है कि इसमें मेरा कुछ स्वार्थ है—क्योंकि हम दोनों ही सेना से निवृत्त हो चुके हैं—अपितु तथ्यों से सब को परिचित कराना मैं अपना धर्म समझता हूँ।

इस देश में, हम में से अधिकांश की प्रवृत्ति यह है कि हम बिना तथ्यों को जाने किसी का तो एकदम खण्डन कर देते हैं और किसी को आकाश में बिठा देते हैं। इसका कारण यह है कि हम बहुत जल्दी विश्वास कर लेते हैं और फलतः धोखा खा जाते हैं। उदाहरण के लिए, चौधरी के सेना से निवृत्त होते समय, 'स्टेट्समैन' ने जिसके चौधरी अनेक वर्षों तक सैनिक संवाददाता रहे थे, लिखा :

जनरल चौधरी भारत के सुविख्यात सैनिकों में से एक हैं। जितनी प्रसिद्धि उनको मिली है, विशेषतः पाकिस्तान से हुए युद्ध के बाद जिसमें उन्होंने अद्वितीय नेतृत्व का परिचय दिया है, वह अनेक लोगों की स्पर्धा का कारण होगी।…….उन्होंने वीरता का अप्रतिम उदाहरण प्रस्तुत किया है…….और राष्ट्र-योद्धा बन गए हैं।

(स्टेट्समैन ने चौधरी^१ के नाम के साथ जनरल तिमैया का नाम लिया और दोनों को समान बतलाने का प्रयास किया। कहाँ वीर, विनम्र एवं आकर्षक

१. १९६१ में एक पत्रकार ने लिखा था : 'जनरल चौधरी……को अपने सेवा-रिकार्ड की वृद्ध चिन्ता है, अब से ले कर (आर्मी चीफ़) सम्भावित नियुक्ति तक वह कोई गलत कदम नहीं उठाना चाहते। राजधानी के जिन उच्चाधिकारियों

जनरल तिमैया और कहीं चौधरी, जैसे कि दोनों में कोई समानता सम्भव हो।)

चौधरी का जो यशस्वी एवं तेजोन्मय रूप प्रस्तुत किया गया है, वह उनके पर्याय रूप से एकदम भिन्न है। सितम्बर युद्ध के कुशल संचालन और उसमें शौर्य-प्रदर्शन के लिए उन्हें काफी श्रेय दिया गया है। किन्तु सेना में एवं सेना से बाहर अनेक लोग इस विषय पर भिन्न मत रखते हैं।

चौधरी का मेवा-रिकाई काफी ठीक है और अपने पेशे का उनका सैद्धान्तिक ज्ञान भी काफी अच्छा है। श्रेष्ठ स्टाफ ऑफिसर एवं कुशल कार्यालय-प्रधिकारी के रूप में अपने सहयोगियों में उनकी काफी प्रतिष्ठा है। किन्तु युद्ध-क्षेत्र में नेतृत्व की असाधारण क्षमता, मुस्कराते हुए खतरनाक स्थितियों में पहुँच जाना आदि जो गुण तिमैया में थे, चौधरी में कभी उनके दखन नहीं हुए यद्यपि पिछले कुछ महीनों में कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में उनकी चर्चा खूब हुई। वह स्व-मताग्रही (अपनी राय पर अड़ने वाला), अपने उच्चाधिकारियों को प्रसन्न करने के उत्सुक एवं बातूनी हैं।

चौधरी अपने युद्ध-अनुभव की प्रायः चर्चा करते थे। भारतवर्ष में, उन्होंने कर्नल, ब्रिगेडियर या मेजर जनरल के रूप में किसी भी लड़ाई में कभी कोई कमान नहीं संभाली। एक बार १९५८ में उन्होंने मुक्त में कहा कि उन्होंने तिमैया समेत सब सौनियर भारतीय ऑफिसरों में ज्यादा लड़ाई देगी थी और फिर पूछा कि क्या मैं उनकी बात में सहमत नहीं था। गन्देह के स्वर में मैंने कहा, 'कहाँ?' वास्तव में, लड़ाई तो उन्होंने देगी थी किन्तु स्टाफ प्राधिकार के रूप में या कभी किसी टुकड़ी की छोड़ी देर के लिए कमान संभाल कर।

इस युद्ध के बीच कुछ लोगों ने कहा कि जनरल जे० एन० पोपरी बिस्व के ६ सुविख्यात टैंक विशेषज्ञों में से एक थे। इस प्रकार उन लोगों ने पोपरी को उन फ्रील्ड मार्शल रोमेल के समकक्ष बिठा दिया जिन्होंने अनेक टैंक-युद्धों में स्याति प्रजित की थी। वास्तविकता यह है कि इस युद्ध में पोपरी ने टैंकों की किसी लड़ाई का संचालन नहीं किया। उनके अधीनस्थ कमाण्डरों ने अपनी योग्यता के बल पर इन लड़ाइयों को लड़ा। टैंकों की लड़ाई का संचालन युद्ध-क्षेत्र में होता है, न कि दिस्ती में बैठ कर। प्रतीत में भी टैंकों के गप में बड़े जिस सैन्यदल की उन्होंने कमान की थी, वह एक टिबीडन था बिने ले कर उन्होंने हथियारहीन एवं अनियमित रजाकारों ने 'हैदराबाद पुलिस एक्टन' में युद्ध किया था। टिबीडन बिस्व युद्ध में एक बहादुरद हरोवीट की कमान के अनिरिकत उन्होंने कभी किसी टैंक बिसेट या अन्य बिसेट की कमान नहीं की।

क शायद मैं उनके (चौधरी के) अविष्य की समझी हूँ, उनके (उत्तर-प्रदेश के) सामने चौधरी 'जो हज़ुर' होने में प्रसन्न होते हैं। करने के-काल के करने के-काल को प्रसन्न नहीं कर सकते।

सम्भव है कि उन्हें टैंक के यन्त्र-विधान, उसकी वनावट या उसके कुछ अन्य पक्षों का काफी ज्ञान हो (जो आरों को भी है), किन्तु जिस बात पर मैं जोर दे रहा हूँ वह यह है कि उन्होंने किसी टैंक-युद्ध में कभी कोई विशेष भाग नहीं लिया। इसलिए, उनके सेवा-रिकार्ड से तो यह बात सिद्ध होती नहीं कि वह विश्व के सुविख्यात टैंक 'विशेषज्ञ' हैं।

इस युद्ध में उन्होंने कई भूल-भरे निर्णय किये। कश्मीर में उन्होंने शुरू में कुछ ऐसे सैनिक कदम उठाए जिनका परिणाम सोचा ही नहीं। इसी प्रकार वाद में उन्होंने इतना विशाल आक्रामक क्षेत्र चुना कि किसी एक स्थान पर सेना को संकेन्द्रित नहीं कर पाए। परिणामः, हमारे आक्रमणों में सिंध में तेजी आई, न लाहौर में और न सियालकोट में। कुछ सैनिक यूनिटों को अगले मोर्चे पर बहुत वाद में भेजा और तब भी न उनमें पूरे सैनिक थे और न उनके पास पूरा सामान था। यदि ये यूनिट ठीक समय पर आगे पहुँच जातीं तो काफी लाभकारी सिद्ध होतीं। उन्होंने सबसे बड़ा तीर यह मारा कि ६-१० सितम्बर को, जब खेम करन में लड़ाई चल रही थी तो अपने एक सीनियर कमाण्डर को यह आदेश दिया कि वह कई मील पीछे हट कर दूसरा मोर्चा सँभाले। इस आदेश के पालन का अर्थ था—हमारे कई महत्त्वपूर्ण स्थानों का शत्रु के अधिकार में चले जाना। (यदि उनके आदेश का पालन हो गया होता तो भारत की स्थिति काफी निराशापूर्ण हो जाती। किन्तु हमें लेफ्टी० जनरल हरवल्लभ सिंह और लेफ्टी० जनरल दिल्लन का कृतज्ञ होना चाहिए कि जिन्होंने साहस का परिचय दिया और इस विपम स्थिति से बचा लिया।) यह निर्णय एक साहसी एवं युद्ध का अनुभव रखने वाले आर्मी चीफ का नहीं हो सकता और न ही ऐसे निर्णय से सेना को प्रोत्साहन मिलता है। यह बात भी ध्यान रखने की है कि भारत-पाक युद्ध में 'पराक्रमी' जनरल चौधरी ने एक लड़ाई के भी निकट जाने का साहस नहीं दिखाया (जबकि अतीत में उनके प्रतिरूप (काउण्टरपाटर्स) लड़ाई के अगले मोर्चों पर जा कर अपने जवानों का मनोबल ऊँचा करते रहे थे)। समाचार-पत्रों में छपे चित्रों में जनरल चौधरी इछोगिल नहर के किनारे पर अपने जवानों के कन्धे से कन्धा भिड़ाये खड़े हैं किन्तु यह चित्र कब लिया गया? युद्ध-विराम की घोषणा के बाद।

युद्ध-विराम के कुछ सप्ताह बाद एक समाचार पढ़ने को मिला कि चौधरी की सेवावधि पूरी हो जाने के बाद सरकार उनका सेवा-काल बढ़ा रही थी। अगले ही दिन सरकार ने इस समाचार का खण्डन कर दिया। इसी प्रकार समाचार-पत्रों में छपा कि आर्मी चीफ को फील्ड मार्शल की पदवी दे कर 'चीफ ऑफ डिफेंस स्टाफ' बना दिया जाए। इन सूचनाओं का जो वाद में भूठी निकलती थीं, स्रोत क्या था? इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण मौजूद हैं जबकि हमारी इस प्रवृत्ति ने साधारण व्यक्तियों को, विना उनकी

स्मरिती की ओर ध्यान दिये हुए, देवता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है।

नवम ५००० वर्ष के अभिविस्तृत मानव इतिहास में लगभग १५,००० युद्ध मिलते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि एक वर्ष में तीन युद्धों की औसत आई। युद्ध मानव का एक अनिवार्य लक्षण है। और हमारे राजनीतिज्ञों को रिचार्ज करने का यह कथन 'शान्ति बुद्धिमानों का स्वप्न है, युद्ध मानव का इतिहास है' स्मरण रखना चाहिए। इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करके वे यह मानते रहे कि निकट भविष्य में हमारा किसी से युद्ध नहीं होगा, कम-से-कम १९६२ के बाद तो उन्हें अपना दृष्टिकोण बदल देना चाहिए था।

जिन लोगों के हाथ में हमारे सैनिक मामले हैं, उन्हें शान्ति की दिशा में रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए किन्तु अपनी सशस्त्र सेना को भी पूरी तरह तन्दुरुस्त रखना चाहिए। सैनिक मामलों की जटिल कार्य-प्रणाली को समझने के लिए युद्ध-कौशल का अनिवार्य ज्ञान प्राप्त करना उन लोगों का प्रथम कर्तव्य है। इस ज्ञान से एक ओर तो उनका आत्मविश्वास बढ़ेगा और दूसरी ओर अपने देश की प्रतिरक्षा से सम्बन्धित सैनिक विशेषज्ञों की विचारधाराओं को समझने में उन्हें सुविधा रहेगी। इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की शोषपूर्ण नीति का पालन देश के प्रति जघन्य अपराध है।

कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे राजनीतिज्ञों को भाषण देने तथा वक्तव्य प्रसारित करने के साथ कुछ ठोस काम भी करना चाहिए। उनके इस प्रकार के कथन 'कि उन्होंने सशस्त्र सेना को पूरी स्वतन्त्रता दे दी है' घिने-घिसाए वाक्य हैं और सशस्त्र सेना एवं जनता में भ्रामक धारणाओं को जन्म देते हैं। मेरा परामर्श यह नहीं है कि वे युद्ध पर मेरे अपना राजनीतिक निश्चय हटा लें अपितु मेरा कहना तो यह है कि देश की प्रतिरक्षा से सम्बन्धित कोई कदम (कार्य या कथन) उठाने के पहले वे सेना हाई कमान (स्थल, जल या वायु— जो भी सम्बन्धित हो) में परामर्श कर लिया करें। उन्हें चाहिए कि वे प्रधान मन्त्री के कुशल निर्देशन में तथा राजनयिक, आर्थिक एवं वित्तीय बातों को ध्यान में रख कर युद्ध की जटिल प्रक्रिया का अध्ययन करें। अपनी सेना को अधिकतम आत्मनिर्भरता एवं शक्ति प्रदान करने के साथ-साथ हमारे राजनीतिज्ञों को सेना में नयी चेतना फूँकने का प्रयास करना चाहिए।

नेपाल, बर्मा, मलाया, रूस एवं अफगानिस्तान के साथ अपने भावी सम्बन्धों के विषय में हमें अभी से स्पष्ट नीति अपनानी चाहिए। इस क्षेत्र में राजनय (डिप्लोमेसी) की भूमिका काफी महत्वपूर्ण है। अपने सीमान्त क्षेत्रों में शान्ति बनाए रखना हमारे ही हित में है।

हमें अपने सागर सीमान्त का भी विशेष ध्यान रखना है। तन्दन एवं

सिंगापुर के बीच भारत सबसे बड़ा देश है। और फिर, इस क्षेत्र का कोई भी देश हमारे व्यापार को अतंकित कर सकता है। इसलिए हमें अपने सागर पर पूरा अधिकार होना चाहिए। १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद हमारा एक विश्वास तो टूट चुका है कि हिमालय अपराजेय है और उधर से कोई आक्रमण नहीं कर सकता।

अपनी प्रतिरक्षात्मक जिम्मेदारियों को पूरा करने के लिए हमारे पास सशक्त एवं आधुनिक 'सशस्त्र सेना' होनी चाहिए, स्वस्थ एवं संतुलित अर्थव्यवस्था होनी चाहिए एवं शक्तिशाली मित्र होने चाहिए।

इसमें कोई संदेह नहीं कि चीन ने हमारी सीमा का कई बार अतिक्रमण किया था किन्तु १९६२ में बिना पूरी तैयारी किए अकेले ही उससे नहीं भिड़ जाना चाहिए था। इसके लिए हमें स्वयं को शक्तिशाली बनाना चाहिए था। तथा अपने मित्र देशों से सैनिक सहायता लेनी चाहिए थी। इस विषय पर चाणक्य ने अपने अमर ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' (रचना-काल—३२१-३०० ईसापूर्व) में लिखा है : 'जब राजा अपने शत्रु से अकेले लोहा लेने की स्थिति में न हो तथा युद्ध अनिवार्य हो जाए तो उसे अपने से नीचे, समान या ऊंचे राजाओं की सहायता ले लेनी चाहिए।' द्वितीय विश्व युद्ध में जर्मनी को हराने के लिए अमरीका एवं इंग्लैण्ड ने भी रूस से गठबन्धन किया था। हमारे राजनीतिज्ञों का यह कहना कि उन पर तो (चीन या पाकिस्तान ने) धोखे में आक्रमण कर दिया गया, बिल्कुल थोथा वहाना है। हम इतने अंधकार में ही क्यों रहें कि कोई हमें धोखा दे सके। २००० वर्ष से भी अधिक पहले चाणक्य ने लिख दिया था कि जो राजा अपने शत्रु के कदम का पहले पता न लगा सके और कहे कि उस पर धोखे में चोट हो गयी, उसे सत्ताच्युत कर देना चाहिए।'

हमारे प्रतिरक्षात्मक प्रयत्नों की (प्रेस में तथा बाहर) स्वस्थ आलोचना होनी चाहिए ताकि हम प्रतिक्षण सजग रहें। अपनी विजयों पर प्रसन्न होने के साथ-साथ हमें अपनी पराजयों पर भी दृष्टि डालते रहना चाहिए। सत्य को सामने रखना अच्छा है क्योंकि इससे हम अन्धकार में न रह कर अपनी त्रुटियों के प्रति जागरूक रहेंगे।

२. १९६२ से भारत में कुछ ऐसे विशेषज्ञ मैदान में आए हैं जिन्होंने न कभी चीनियों के विरुद्ध युद्ध किया है और न कभी चीनी सेना के सम्पर्क में आए हैं, किन्तु उन्होंने जनता को यह विश्वास दिलाने का प्रयत्न किया है कि चीनी सेना इतनी शक्तिशाली नहीं है जितनी कि बताई जाती है और जो ऐसा बताते हैं, वे पराजयवादी हैं। जहाँ तक सैनिक का सम्बन्ध है, भारतीय सैनिक विश्व के किसी देश के सैनिक से कम नहीं है किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अपने सैनिकों को आधुनिक शास्त्रों एवं अन्य युद्ध-सामग्री से सन्नद्ध न करें या अपने शक्तिशाली शत्रु को पराजित करने के लिए मित्र देशों से गठ-बन्धन न करें।

हमारे संकट अभी समाप्त नहीं हुए हैं, इसलिए हमें नारे लगाने में ही व्यस्त नहीं रहना चाहिए। यह ठीक है कि हम अपने प्रयत्नों का सच्चा मूल्यांकन करें और अपनी (यथार्थ) प्रगति पर आनन्दित हो किन्तु अत्यधिक आत्म प्रशंसा हानिकार सिद्ध होती है। हमें यथार्थवादी दृष्टिकोण अपना कर प्रत्येक संकट के लिए तैयार रहना चाहिए। यदि सम्भव हो तो अगली बार जब पाकिस्तान या और कोई शत्रु हमारी सीमा के अतिक्रमण करने का दुसाहस करे तो हमें उनको आक्रमण करने का अवसर न देकर स्वयं पहल करनी चाहिए।

युद्ध में नूझते सैनिक (अर्थात् सेना) का मनोबल चार चीजों से ऊँचा रहता है—१. लड़ाई का उद्देश्य सद् हो, २. अपने राजनीतिक एवं सैनिक नेताओं में उसकी निष्ठा हो, ३. सुप्रशिक्षित हो तथा ४. उसके पास आधुनिक शस्त्रों हों एवं पूरी संख्या में हो तथा ब्यूह-रचना ठीक हो। इन चार चीजों के होने पर सेना सब कुछ कर सकती है। देश के नाम पर अपने राजनीतियों से मेरी यह प्रार्थना है कि वे इन चार चीजों की सेना को जुटाने को गारण्टी करें।

१९६५ के अन्त में, जब मैंने तेजा की नौकरी छोड़ी तो मैं जानता था कि मुझे (तथा मेरी पत्नी को) फिर कठोर जीवन व्यतीत करना होगा। प्रति वर्ष नौकरी छोड़ने का एवं अपने सामान को ढोये-ढोये फिरने का (जैसा कि १९६२ से मेरे साथ हुआ था) मन पर कुछ अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। अब मेरी आय का एक मात्र स्रोत थी मेरी अवकाश-वृत्ति (पेंशन)। मकान मेरा अपना कोई था नहीं। यदि मैं फिर अस्वस्थ पड़ गया तो ठीक इलाज भी नहीं करा पाऊँगा। जीवन की अनेक मुश्किलों ने मुझे बचिबत रहना होगा। आश्रम का जीवन (जहाँ मैं फिर जा रहा था) कोई अच्छा जीवन नहीं था। मेरी पुत्री भी मेरे साथ थी क्योंकि उसके पति भारत-यात्रा युद्ध में लड़ाई पाइलट के रूप में मौत पर थे। किन्तु अब मैं जीवन में समझौता करना सीख गया था और अपना धारा समय इस पुस्तक को पूरा करने में लगाना चाहता था, इसलिए मैंने भावों बाधाओं की चिन्ता नित्ये बिना इस जीवन को अगोकार करने का निर्णय कर लिया। दिगम्बर १९६५ में, मैंने जोर बाग का मकान छोड़ कर अपना बोरिया-बिस्तार गीता आश्रम में पहुँचा दिया (जैसा कि सैनिक जीवन छोड़ने के बाद १९६३ में किया था)। इस स्थान की पावनता ने मेरी श्वापित धारणा को शान्ति प्रदान की।

१९६६ का नव वर्ष मेरे लिए कोई श्वापित धारणा नहीं था। ईश्वर मुझे गिन-गिन कर बढ़ता ने रहा था। मेरी पुस्तक जिने मैंने १९६३ में लिखी

प्रारम्भ किया था, अभी अधूरी पड़ी थी। जीवन पर फिर एकाकीपन छा गया; हाँ, रघवंश, खन्ना, उज्जल एवं ज्ञानी जैसे मित्र बराबर सुव लेते रहे।

११ जनवरी को अलख सवेरे मेरी पत्नी ने मुझे जगा कर सूचना दी कि कुछ घण्टे पहले ताशकंद में लालवहादुर शास्त्री की हत्या एक (हार्ट फेल) जाने से मृत्यु हो गई थी। मैं एकदम हड़बड़ा कर उठा और मैंने अपना वायर-लैस सैट चालू किया। सारा दिन समाचार-बुलेटिन प्रसारित होते रहे और सारा दिन शोक में बीता। शास्त्री का शव उस दिन दोपहर को ढाई बजे पालम पहुँचना था, इसलिए मैं, मेरी पत्नी और मेरी पुत्री कैण्ट के पोलो ग्राउण्ड के निकट सड़क पर भीड़ में हो गए ताकि शास्त्री के अन्तिम दर्शन किये जा सकें। प्रबन्ध पर नियुक्त मेजर वालिया ने हमें पहचान लिया और शिष्टता के साथ अपनी यूनिट के पास ले जा कर खड़ा कर दिया जहाँ से हमने शास्त्री के शव को प्रणाम किया।

शास्त्री की मृत्यु का सारे देश में शोक मनाया गया। यह सरल एवं मेधावी व्यक्ति बहुत कम समय के लिए हमारा प्रधान मन्त्री रहा था किन्तु उसी बीच इस देश में कई महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। ताशकन्द समझौते की, जिस पर उन्होंने अपनी मृत्यु से कुछ पहले हस्ताक्षर किये थे, भारत में मिली-जुली प्रतिक्रिया हुई। शास्त्री जानते थे कि पाकिस्तान १९४८ से ही हमारी सीमा पर अतिक्रमण करता रहा है और किसी समझौते या किसी सन्धि का उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है, इसलिए यदि उन्होंने कोसीजिन का दवाव न मान कर इस समझौते पर (जिसकी अनेक धाराएँ हमारे हित के विरुद्ध हैं) हस्ताक्षर करने से मना कर दिया होता तो रूसी हमारा क्या विगाड़ लेते? अतिरिक्त अप्रसन्नता व्यक्त करने के उनके पास मार्ग भी क्या था जो राजनय के क्षेत्र में सामान्य बात है। सुरक्षा परिषद् भी अपने आप चुप हो जाती। भारत लौट कर शास्त्री अपने देशवासियों को इस समझौते पर हस्ताक्षर न करने का स्पष्टीकरण दे देते कि उन्होंने देशवासियों को दिये अपने वचन का पालन किया था और ताशकन्द में किसी प्रकार के अनुचित दवाव को मानने से इन्कार कर दिया था, इसलिए देशवासियों को इस कदम के परिणाम का सामना करने के लिए तैयार रहना चाहिए था। इसके बाद उन्हें अपने देशवासियों के विचार जान कर तदनु रूप कदम उठाना चाहिए था।

शास्त्री के दुःखद निधन के सम्बन्ध में १७ फ़रवरी १९६६ को लोकसभा में जे० बी० कृपलानी ने कहा था :

मेरे विचार से ताशकन्द में शास्त्री पर इतना दवाव डाला गया कि उसके फलस्वरूप उत्पन्न मानसिक द्वन्द्व में वह अपने देशवासियों को दिया यह वचन भूल गए कि हम (पाकिस्तान से) विना गारण्टी लिये

अपनी सेना पीछे नहीं हटाएँगे। इस मानसिक द्वन्द्व में मुक्त होने के लिए शास्त्री ने समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये। घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने में उन्हें अपने मानसिक द्वन्द्व से धणिक मुक्ति मिली.....किन्तु भावना जिस समय (१० जनवरी को) शास्त्री विस्तर पर लेटे, यह मुक्ति-भावना (राहत) गायब हो गई थी। उन्होंने अनुभव किया कि जो कुछ उन्होंने किया था, वह अपने देनवानियों को दिये गए उनके वचन के अनुरूप नहीं था। इस भावना के आते ही उनकी हतासक्ति रक गई।”

निःसन्देह ताश्कन्द समझौते के कुछ अपने लाभ हैं किन्तु यह हमारी मूल-भूत एवं जटिल समस्या को सुलझाने में असमर्थ रहा। इस जहाँ भारत में मित्रता रखना चाहता है, परों वह पाकिस्तान को भी अमरीका एवं चीन के साथ से हटा कर अपनी ओर करना चाहता है। यदि रूस, अमरीका एवं चीन के लिए भारत महत्वपूर्ण है तो वे पाकिस्तान के (युद्ध की दृष्टि में) को भी समझते हैं। चीन भी इस बात को जानता है। इसलिए, ये सब देश पाकिस्तान पर भी अपना समान (भारत के) प्रभाव रखना चाहते हैं। भारत एवं पाकिस्तान के बीच लड़ाई छिड़ने पर ये देश (चीन को छोड़ कर) दोनों का समझौता कराना चाहेंगे ताकि कहीं इनको न लड़ाई में शामिल होना पड़ जाए। ये चाहते हैं कि भारत एवं पाकिस्तान के भगड़े की जड़—कश्मीर—पर कोई स्थायी समझौता हो जाए। जो बात ये नहीं समझते, वह है पाकिस्तान का स्वभाव अर्थात् किसी-न-किसी बात को ले कर भारत में भगड़ने रहने की प्रवृत्ति। ये देश हमें शान्ति का पाठ पढ़ाने समय यह भूल जाते हैं कि हमने तो पिछले अठारह वर्षों में पाकिस्तान के साथ शान्ति में रहने का भरसक प्रयत्न किया है जबकि पाकिस्तान ने यह सब कभी नहीं अपनाया। इसके विपरीत, पाकिस्तान ने १९४७ में, १९६५ में कच्छ में तथा कुछ समय बाद फिर कश्मीर में हमारी सीमा का अतिप्रमत्त किया और हम पर आक्रमण किया। पाकिस्तान के इस घुमासुद एवं क्रूर व्यवहार में नया घा कर एक दिन हमें भारत के परामर्श के अनुसार कदम उठाना पड़ेगा : 'ए राखा, घालग्य त्याग कर राखु के बिनाश के लिए अपने तेज की प्रदीप्त कर। निरसूह होना एष अपने राखु को प्रेम द्वारा पराजित करना मन्त्रो का धर्म है.....वह मन्त्रो का धर्म नहीं है।' (किरागाजु-नीय)

इसके पहले कि ताश्कन्द समझौते का श्राप समझें, आते या शास्त्री के निधन का गोकुल पूरी तरह उतरे, शास्त्री के उत्तराधिकारी का प्रश्न पता हो गया (जैसा कि नेहरू के निधन के बाद हुआ था)। उत्तराधिकार के प्रश्न पर काफ़ी संपर्क की आवश्यकता थी। उन्मोदक-नीय मंडल में चर्चा के कि तु शास्त्री

जीत का पक्का विश्वास किसी को नहीं था। अन्त में केवल दो उम्मीदवार रह गए—गोरारजी देसाई और श्रीमती इन्दिरा गाँधी—जिनमें श्रीमती गाँधी विजयी घोषित हुई।

अथ इन्दिरा गाँधी को उस भारत की बागडोर मिली, जिसे स्वतन्त्रता के बाद से अब तक बहुत प्रगति कर लेनी चाहिए थी किन्तु यथार्थ में जिसने कोई महत्त्वपूर्ण प्रगति नहीं की थी, यहाँ तक कि बहुचर्चित आर्थिक क्षेत्र में भी नहीं। उदाहरण के लिए, भोजन, वस्त्र एवं आवास की जितनी हमारी क्षमता है, उससे अधिक हमारी जनसंख्या बढ़ती जा रही है। हमारी प्रति व्यक्ति आय में जितनी वृद्धि होती है, यह उमे भी हड़प लेती है। इस समय हमारे ऊपर लगभग ४,५०० करोड़ रुपये का विदेशी ऋण है। अन्तर्राष्ट्रीय सौजन्य में भी आज हमारा वह स्थान नहीं है जो कुछ वर्ष पहले था। इस स्थिति के लिए आंशिक रूप से तो कुछ ऐसी परिस्थितियाँ जिम्मेदार हैं जो हमारे नियन्त्रण के बाहर थीं किन्तु आंशिक रूप से इसके लिए हमारी अपनी निर्वलताएँ—अनासक्ति भाव, अक्षमता, अपनी जिम्मेदारी को पूरी करने में वेइमानी बरतना, अनेक क्षेत्रों में अनुशासनहीनता, अपना पाखण्डपूर्ण व्यवहार, अपने कल्पना-लोक में विचरण करना एवं स्वयं को धोखा देते रहना तथा दूसरों को उपदेश देते रहना—जिम्मेदार हैं।

इन्दिरा गाँधी एवं उनके सहयोगी शायद इस सत्य को जानते हों कि आज हमारे नेताओं में आवश्यकता है साहस की। अर्नेस्ट हेमिंग्वे ने इसी को 'सम्मानपूर्ण विनम्रता' कहा है। इसलिए, यदि हम सुदृढ़, साहसपूर्ण एवं अडिग नेतृत्व तथा सामूहिक दायित्व के प्रति जागरूक हो कर अपनी आन्तरिक व्यवस्था को ठीक नहीं करते तो महत्त्वाकांक्षी लोग हमारे लिए संकट खड़ा कर देंगे। मैं आशा करता हूँ कि श्रीमती गाँधी जहाँ आर्थिक, राजनयिक एवं प्रतिरक्षा के क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करेंगी, वहाँ वर्तमान नेताओं को छिछला^३ (अगम्भीर) आचरण करने से रोकेंगी तथा राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में सहयोग देंगी। केवल तभी भारत शान्ति एवं समृद्धि की दिशा में प्रगति कर सकता है।

३. उदाहरण के लिए, एक ओर तो हम यह टिडोरा पीटते हैं कि पिछले चार वर्षों में हमने प्रतिरक्षा को एकदम दृढ़ बना लिया है और अपने सीमान्त पर होने वाले प्रत्येक अतिक्रमण को रोकने में पूर्णतः समर्थ हैं तथा दूसरी ओर, जब चीनियों ने भूटान की सीमा का (एक रूप में हमारी सीमा का ही) उल्लंघन किया तो हमने चीनियों को एक विरोध-पत्र भेज कर सन्तोष कर लिया (द्रष्टव्य: ४ अक्टूबर १९६६ के समाचार-पत्र)। मैं जिस बात पर जोर दे रहा हूँ, वह यह है कि यदि हम किसी संकट का सामना करने की स्थिति में अभी नहीं हैं तो लम्बी-चौड़ी लड़ाई हारने की अपेक्षा चुपचाप अपनी शक्ति बढ़ानी चाहिए और अवसर पर उसका प्रदर्शन कर के सिद्ध करना चाहिए कि हम कमजोर नहीं हैं।

वर्ष १९६६ में, दिल्ली के एक विवादास्पद पर, जम्मू एवं कश्मीर के भूतपूर्व नरमो बरतो गुणम मोहम्मद ने, गरीबी वर्ष के बाद बेटे दुर्द। राज-
निक सबट एव एसी भीमारी के बाद बरती बरनी एसाय एग रहे थे ।
न्यु उनके नेषों में सब भी पमक भी घोर हान में सब भी बरी सातम घोर
था ।

जम्मू एवं कश्मीर विभाजन के भागीय सभ में मित्रने ने समर बरती में
। की घमून्य मेवा की थी । सबटका में बरती ने बारी वृत्ता में काम
। ना था तथा भारत की एका में उनका घमण्ड विरभाव है । घनीय में,
विमान पली ना राष्ट्र बिरोधी गरीबों के उन्मूलन में उन्होंने घमण्ड दृष्टा
। परिषय दिया है । १९४७-४८ के कश्मीर-मुद्द के समय ना उनके बाद
रती ने घमणीय नेषुव का उदाहरण प्रस्तुत किया है । स्थानीय जनताका को
न्होंने एक घनुसाधित गस्था का रूप प्रदान किया । १९६८ के बाद कश्मीर
: प्रमाण को उन्होंने एक रिपर एव अष्टाधार-मुक्त रूप देने में बारी प्रयत्न
किया है । जम्मू एवं कश्मीर भूगण्ड को ना उधरी राजनीतिक स्थिति को
जने अधिक घमणी तरह साबद ही कोई जानता ही ।

आज हमारे घनेक महत्वपूर्ण राजनीतिज्ञ, मन्त्री एव उच्चाधिकारी बरती
ही निष्ठा करते हैं । किन्तु जब बरती गतागोन से सब इनमें में किमी ने कभी
इनके बिन्दु जवान नहीं गौरी घोर उनके प्रत्येक कदम का समर्थन किया ।
रती के विषय में या उनके कामों के विषय में जिनना सब जानने हैं ये बड़े
योग, इतना सब भी जानने में । एगनिए सब जब ये लोग बरती की निन्दा
करने हैं तो क्या इनकी धारणा इनको कपोटनी नहीं ? हमें अपने परित्र को
इग दोष में मुक्त करने की सला उहरण है ।

घनेन १९६६ में, जम्मू के एक समाचार-पत्र में टपा कि सादिक सरकार ने
केन्द्र को मुभाय दिया था कि मुझे डॉ० कर्णसिंह का उत्तराधिकारी बनाया जाए
घर्षात् जम्मू एवं कश्मीर का राज्यपाल नियुक्त किया जाए । इसमें लोगों की
दिर स्मरण हो गया कि मैं घनी जीवित था ।

घमण्ड १९६६ में मेरा नाम फिर संवाद में आया किन्तु इग बार तेजा के
मामले में । गदन में कुछ प्रतिपक्षी नेताओं ने जयन्ती सिपिंग कम्पनी पर ही
रही घर्षा में मेरे सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कही जो तथ्यों पर आधारित नहीं

४. केवल एक ऊप्रेसी सतत्सदस्य अर्जुन अरोरा ने साहस दिखलाया और
सबद में मेरा जोरदार पक्ष लिया । उन्होंने कहा कि मेरे विरुद्ध काफ़ी सूठा प्रचार
किया गया है और जान बूझ कर मेरा गणन रूप जनमानस पर अकित किया जा
रहा था । और भी कई बातों पर उन्होंने मेरा बचाव किया ।

थीं। इसलिए सितम्बर १९६६ में, मैंने भारत के विविध समाचार-पत्रों के सम्पादकों के पास निम्नलिखित पत्र प्रकाशनार्थ भेजा (और कई ने इसे प्रकाशित भी किया) :

कुछ संसत्सदस्यों ने, समय-समय पर और विशेष रूप से पिछले दो सप्ताहों में जयन्ती शिपिंग कम्पनी पर चल रही चर्चा के मध्य, मेरे सम्बन्ध में कुछ ऐसी बातें कहीं हैं जो तथ्यों पर आधारित नहीं हैं। उनके ये वक्तव्य समाचार-पत्रों में भी छपे हैं। इसलिए अच्छा हो कि ये सज्जन उन्हीं बातों को संसद् के बाहर कहें ताकि उन बातों की सत्यता या असत्यता का न्यायालय में निर्णय हो सके।

आज तक किसी भी संसत्सदस्य ने मेरे सुभाव को मान कर, संसद् से बाहर एक भी शब्द नहीं कहा।

यह मैं पहले ही बता चुका हूँ कि किस प्रकार १९६३ में, मैं तेजा का सीनियर परामर्शदाता नियुक्त हुआ। कुछ लोगों में फुसफुसाहट हुई कि तेजा ने ऐसा नेहरू को प्रसन्न करने के लिए किया था। इस फुसफुसाहट को जन्म इसलिए मिला क्योंकि अनेक लोग सत्ताधारियों से लाभ उठाने के लिए उन्हें प्रसन्न करने के प्रयत्न में लगे रहते हैं। न तो तेजा ने कभी अपने मन की बात मुझे बताई और न मैं उसके मन के विचारों को जानने की विद्या जानता था। जिन्होंने नेहरू के साथ काम किया है या जो नेहरू को जानते हैं, उन्हें यह बात स्पष्ट रूप से पता होगी कि नेहरू कभी किसी की नौकरी का प्रबन्ध नहीं करते थे।

कुछ क्षेत्रों में चर्चा भी हुई कि जब नेफा-युद्ध के सम्बन्ध में जांच हो रही थी और मेरे आचरण या ज़िम्मेदारी की भी जांच हो रही थी, तब मुझे निजी क्षेत्र में ८,००० रुपये मासिक वेतन (आय-कर से मुक्त) पर नौकरी क्यों स्वीकार करने दी गई एवं मुझे विदेश जाने की अनुमति क्यों दी गई। इसके सम्बन्ध में पहला स्पष्टीकरण तो यह है कि मेरे आचरण की कभी जांच नहीं हुई। दूसरे, नेफा जांच समिति की रिपोर्ट पूरी हो गई थी और उससे अधिकारियों को स्पष्ट पता लग गया कि नेफा (और लद्दाख) की पराजय के लिए कोई एक जनरल ज़िम्मेदार नहीं था।

जहाँ तक मेरे वेतन का सम्बन्ध है, यह सर्वस्वीकृत तथ्य है कि निजी क्षेत्र में सरकारी क्षेत्र की अपेक्षा अधिक वेतन मिलता है। जैसा मैं पहले भी बता चुका हूँ कि जितना वेतन मुझे तेजा ने दिया था, उससे अधिक वेतन पर अनेक अवकाश-प्राप्त सरकारी अधिकारी आज भी निजी क्षेत्र में नियुक्त हैं। इस सम्बन्ध में तत्कालीन परिवहन मन्त्री संजीव रेड्डी ने सदन में कहा था कि

जयन्ती सिपिंग कम्पनी की घर्षा के मध्य दुर्भाग्यवत् प्रत्येक निर्दोष व्यक्ति को के नाम लिखे गए थे जिनमें जनरल कौल का नाम भी था। वेतन के सम्बन्ध में उन्होंने कहा था कि सरकारी सेवा से निवृत्त होने समय को अधिकारी ४,००० प्रतिमास वेतन ले रहे थे, बाद में उनमें से कुछ निजी क्षेत्र में १०,००० रुपये प्रति मास वेतन ले रहे थे। उन्होंने यह भी कहा कि जनरल कौल ही केवल एक व्यक्ति नहीं थे जो सेवा-निवृत्त होने पर निजी क्षेत्र में अधिक वेतन पर नियुक्त थे। फिर, मुझे जो वेतन मिलता था, वह आय-कर से मुक्त नहीं था। यह एक बूढ़ा प्रचार है। १९६३ के बाद, मैं एक लाख बीस हजार रुपये आय-कर के रूप में सरकार को दे चुका हूँ जिसकी रसीदें मेरे पास हैं। इसमें कुछ आय-कर तो वेतन लेते समय तेजा के यहाँ कट गया था तथा दोष मैंने सरकार के सजाने में जमा कराया है।

कुछ लोग सोचते थे कि मैं तेजा के यहाँ क्या काम करता था। उसके सम्बन्ध में, मैं यहाँ संक्षेप में बताऊँगा। जून से लेकर नवम्बर १९६३ तक मैं जापान में था। वहाँ से मैं तेजा को यह परामर्श देता था कि वह हैदराबाद के निकट रामागुंडम के थर्मल पावर प्लांट के लिए अपेक्षित मशीनरी जापान की किन क्रमों से खरीदे। वहाँ मैं नागासाकी, कुरे एवं अन्य स्थानों के पोतस्थलों (जलयान बनाने के कारखाने) में भी गया था और लौट कर तेजा को परामर्श दिया था कि वह जयन्ती सिपिंग कम्पनी के लिए जलयान वहाँ बनवा सकते थे या नहीं।

१९६४ में, मैं अमरीका में था। वहाँ मैं मैंने तेजा को उनकी परियोजनाओं में अपेक्षित इंजीनियरिंग सहायता के विषय में परामर्श दिया था। एक बार तेजा ने मुझे फ्लैण्ड बुलाया था और भारत में कागज की मिल खोलने के सम्बन्ध में विचार-विमर्श किया था। उनकी ओर मैं यूरोप और लन्दन भी गया था। वहाँ मुझे इस सम्भावना का पता लगाना था कि क्या जयन्ती सिपिंग कम्पनी के जलपोतों की सेवाओं की वहाँ किसी फर्म को आवश्यकता थी।

१९६४ में जब मैं भारत लौट आया तो तेजा ने रामागुंडम थर्मल परियोजना के विभिन्न पक्षों पर मेरा परामर्श लिया था। इस परियोजना के सम्बन्ध में मैंने उन्हें निम्नलिखित सूत्रों पर परामर्श दिया था :

- (अ) मशीनरी एवं सयन्त्र (प्लांट) का विदेशों से चयन, भारत पहुँचना और तब बन्दरगाहों से रेल-मार्ग द्वारा परियोजना-स्थल पर पहुँचना;
- (आ) तकनीकी एवं गैर तकनीकी मानव-धर्म का सम्बन्ध;
- (इ) भवन-निर्माण के लिए अपेक्षित सामग्री जैसे इस्पात, सीमेंट, ईंटें तथा फर्निचर आदि उपलब्ध करना;

- (ई) कर्मचारियों के लिए आवास एवं सामग्री के लिए भण्डार-घरों का निर्माण;
- (उ) इस परियोजना के लिए अपेक्षित विविध परिवहन-गाड़ियों की सूची तैयार करना;
- (ऊ) परिवहन-गाड़ियों की मरम्मत एवं अनुरक्षण के लिए कारखाना खोलना,
- (ए) रेल-मार्ग की अनेक बाधाओं को पार कर के माल को शीघ्र परि-योजना-स्थल पर पहुँचाना;
- (ऐ) विजली, पानी, सड़कों, नालियों आदि आवश्यक सेवाओं को सुलभ करना;
- (ओ) जन-सम्पर्क, विज्ञापन' जन-कल्याण संगठनों आदि का विनियोजन।

हैदराबाद-स्थित 'रिपब्लिक फ़ोर्ज कम्पनी' के कुछ पक्षों के सम्बन्ध में भी मैंने तेजा को परामर्श दिया था। इसके लिए मैंने कलकत्ते की गढ़ाई कम्पनियों एवं अन्य स्थानों की गढ़ाई कम्पनियों की यात्रा भी की थी। तेजा ने मुझसे कहा कि मैं रिजर्व बैंक, औद्योगिक वित्त निगम तथा जीवन बीमा निगम से मिल कर 'रिपब्लिक फ़ोर्ज कम्पनी' के लिए एक करोड़ रुपये के ऋण का प्रवन्ध करूँ। इस विषय में मैंने यथाशक्ति भागदौड़ की।

वर्ष १९६५ के अन्त में, तेजा की नौकरी मैंने स्वेच्छा से (अपने व्यक्तिगत कारणों से जो इस पुस्तक में दिये हुए हैं) छोड़ दी थी। उस समय मुझे क्या मालूम था कि एक दिन जयन्ती शिपिंग कम्पनी की संसद् में चर्चा होगी। मैं तो तेजा का केवल परामर्शदाता था, उसके संस्थानों से मेरा कोई और अधिक सम्बन्ध नहीं था।

कुछ लोगों ने कहा कि मैंने सुखतांकर समिति के सामने, जो १९६६ में जयन्ती शिपिंग कम्पनी के मामले की जाँच कर रही थी, अपना बयान क्यों नहीं दिया? तथ्य यह है कि इस समिति ने किसी की साक्षी की आवश्यकता अनुभव नहीं की। न ही मुझे जयन्ती शिपिंग कम्पनी के विषय में कुछ पता था।

तेजा, नेहरू, मोरारजी देसाई, एस० के० पाटिल आदि अनेक चोटी के लोगों का विश्वासपात्र था। १९६५ के अन्त तक, मन्त्रि-मण्डल के सचिव, प्रादेशिक मुख्य मन्त्रियों एवं अन्य मन्त्रियों, राजदूतों, सरकार के सचिवों एवं अन्य महत्त्वपूर्ण राजनीतिज्ञों के साथ तेजा के बड़े मधुर सम्बन्ध थे। इनमें से अनेक लोग विदेश में तेजा के अतिथि रह चुके थे और तेजा ने उनका खूब स्वागत किया था।

मेरे विरुद्ध लगाये गए आरोपों के सम्बन्ध में मेरा स्पष्ट उत्तर यह है कि जितने समय मैंने तेजा के यहाँ काम किया, मैंने कभी कोई अवैध काम नहीं

क्या या मेरा किसी ऐसे काम से सम्बन्ध नहीं रहा जो अवैध था । न ही इस बीच मुझे तेजा से या अन्य किसी व्यक्ति से अपने वेतन और वध खर्च के अतिरिक्त कभी कुछ मिला । साथ ही मैं यह भी स्पष्ट कह दूँ कि तेजा ने मुझसे कभी कोई ऐसा काम करने के लिए नहीं कहा जो किसी भी दृष्टि से अनुचित हो ।

मेरे सैनिक जीवन में तथा उससे निवृत्त होने के बाद भी मुझसे अनेक लोगों को ईर्ष्या रही है जिन्होंने भूठा प्रचार कर-कर के मेरे नाम पर तरह-तरह की कीचड़ उछालने का प्रयास किया है । अब पाठक स्वयं इसका निर्णय करें कि सत्य क्या है ?

सात

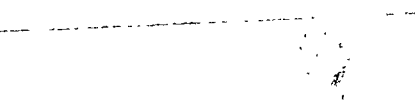
उपसंहार

आज भारत चट्टान के कगार पर खड़ा है किन्तु मुझे आशा है कि इस स्थिति में सुधार होगा। किर्पलिंग ने जो अपने देश के सम्बन्ध में कहा था 'यदि ब्रिटेन जीवित रहता है तो कौन मरता है, (यदि ब्रिटेन मरता है तो कौन जीवित रहता है?), वह हम पर भी लागू होता है। इस बीच, मैं स्वयं को फ्रांसिस कुआर्स के शब्दों में केवल सान्त्वना दे सकता हूँ :

My soul, sit thou a patient looker on;
Judge not the play before the play is done;
Her (Fate's) plot hath many changes; every day
Speaks a new scene; the last act crowns the play.

यहाँ मेरी कहानी समाप्त होती है।

मेरी आत्मा, धैर्यशील प्रेक्षक की भाँति बैठी रहो;
नाटक पूरा होने से पहले; नाटक के सम्बन्ध में कोई निष्कर्ष न निकालो;
उसके (भाग्य के) कथानक में अनेक मोड़ आते हैं, रोज़ एक नया दृश्य
बदलता है.
अन्तिम दृश्य नाटक का सच्चा रूप सामने रखता है।



— ~~XXXXXXXXXXXXXXXXXXXX~~ *

1

लेकिन मिनर 'पाट' छोड़कर 'बेपाट' की बात बतियाने लगा। बोला, "बबुषा ! घब क्या दनाज घोर क्या डागडर, क्या जैद ! टीबी हों या दमा ! घब तो घनाचली की बेला है।"

विद्येन मात, महेंद्रपुर-मोहल्ला दुर्गापूजा के 'हरामा' में जुगल महतो पनवाड़ी ने इसी तरह बेला चीपट किया था। जल्दाद का 'पाट' लेकर उतरा घोर तलवार उठाकर मारते समय रटा हुआ 'पाट' ही भूल गया घोर बेपाट की बात बोलते-बोलते तलवार फेंककर रोने लगा। "मिसर भी रोता है क्या ? नहीं, नाक पोछ रहा है।"

मिसर समझ गया "'राइ' की बाढ़ 'जब देतो राठ की बाढ़, मुँह में भासकर बोली काढ़ !"

रामबिलास की बूढ़ी माँ हाथ में भाड़ू लेकर बाहर घाई—“पौवलागी महाराज !”

“बूढ़ी ने हाथ में भाड़ू लेकर ही पौवलागी की ?

“प्रभु हो ! प्रभु हो ! ! घब तो बिल रामबिलास बबुषा, इज्जत-भावरू के साथ चले जाएँ, यही मना रहा है। इधर से जा रहा था तो मुना कि रात को बिल रामबिलास बबुषा लौटा है तो बड़ी खुशी हुई। “वाह ! गूब उन्नति किये हो। वाह ! !”

घब रामबिलास क्या जवाब दे ! 'बेपाट' की बात !

“हम तो समझे कि भाव बनाया रुग्ने का तकादा करने घाये है। रात में तो घाया ही है। भागा जा रहा है क्या ? खैर, जब घा गए हैं ता लेते जाइए धपना बनाया।”

बूढ़ी ने पूछा, “बहू पूछती है कि पानी गरम हो गया। घब क्या...?”

“हर बात में जिरह ! पानी गरम करने कहा है चा बनाने के लिए।”

मिसर बोला, “बाकी-बकाया का हिसाब-किताब होता रहेगा। जल्दी क्या है ?”

“नहीं !” उठकर आते समय भी बिलसिया ने पौवलागी नहीं की !

रामबिलास धपते नये गूटकेस से चाय-चीनी-प्याली निकालने लगा। बहू बोली, “प्रभी तो मिनर-महाराज मैदा के हलुघा जैसा नरम हो गए।

मैया से पूछो, किस तरह महीने में दो बार आकर भैंस 'कुक्क' करने की बमझी देते थे दोनों—बाप-पुत्र मिलकर।"

"तो उस समय बोली क्यों नहीं? मुंह में क्या था, करेला?"

गामधिलान को याद आई। मिमर की बेचात की बात सुनकर ही वह 'परन' टानकर घर में भागा था—शहर, रूपया कमाने! ... "सावे, राया लेकर 'बिहा-गीना' किया। अग्र बोधी की टांग पर टांग चड़ाकर मोले हो प्रोर भरे रूपये की बात भूल गया? एं? ... में यदि रूपया नहीं देना नां प्रभी 'गुलगुला' कैसे गाने, रोज? तं?"

"...नाला! कान गरम हो जाता है अग्र भी, याद करते।

"धेडा! अग्र क्या थाऊं? प्रभी उन दिन मिमर का बड़ा धेडा दूध लेने आया। दूध बिक गया था, मय। कहांसे देनी? तो धरतन उठाकर अपने नमन जीभ पेट्टर धोवा—'प्रमाना ही उलट गया है। नही तो, प्रभी डोने में भैंस के बड़ने प्रोगन का दूध दूढकर ले गए हैं हमारे गिपाही-रुह राज!"

गामधिलान ही जीभ खन मटे। साव हो फूँहने दूध वह बोया—

"तो उस समय की तो क्यों नहीं? मुंह में क्या था, करेला?"

"...प्रोगन का दूध? गाना, कौन सा देने जाती था!

गामधिलान ने आधी बोरी में लड़ा, "गुटोम में नयी प्रीपता है।

अगर इतर प्ररने। 'अद्वैती-प्रभिता'।

"...प्रोगन का दूध!"

गुलगुला की आवाज कर्णोपर गूँगा न आता है। त्रि मटे।

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

अप्रमाना पर लौटा है, साइरे! मे... अग्र उपरो विप्रभिता

घरवाली को नाम घरकर बुलाता है—‘ए, भुमकी !’

भुमकी—रामविलास की घरवाली—लाल श्रेंगिया पहनकर पानी भरने गई। झोरतो ने उसे घेर लिया। “देखें जरा श्रेंगिजी श्रेंगिया; मेमिन लोग पहनती है...‘वेट ‘उधारे’। अरे, इस वित्ते-भर श्रेंगिया का काम पाँच टका ? चट्टम नहीं है तो खोलती-पहनती हो कसे? ऐसा ही ‘सकिस्त’ रहता है हरदम ? साड़ी भी ले आया होगा ? रात में कब आया ? पहली-पहर रात में ही ?”

भुमकी लजाती-हँसती कहती, “मैं तो डर गयी कि रात में नाल-वाला जूता पहनकर कौन आया रे बाप ! मैंया डरकर ‘कोठाली’ के पीछे छिप गई दम साधकर।” “शहर जाकर आदमी की आवाज तक बदन जाती है। मगर, कारी-भैस ने उसकी बोली को ठीक पहचान लिया। “ऊँय-ऊँय करती रस्सी तुडाकर आंगन में दौड़ आई। मिर से पैर तक चाटने लगी भारे दुलार से। “सो, आते ही उलाहना दे दिया भरद ने—“तुम लोगो से भली है मेरी यह कारी-भैस। “आदमी से बढ़कर।”

“तब इसके बाद ? खाने को भया दिया ‘उत्ती’ रात को ?”

“क्या बताऊँ दिादिया, लाज की बात। संयोग ऐसा देखो कि घर में न एक चुटकी चावल, न चूड़ा झोर न भुजा। मुदा, दही जम गया था तब तक। ‘सो, दही खाते समय भी उलाहना दे दिया—‘कारी नहीं होती तो घर आकर रात में उपास ही करना पड़ता !”

“तब ? इसके बाद ?”

“चोली रात में ही पहनी ?”

“गुल रोगन का तेल भी लाया हागा ?”

“तब ? झोर भी कोई उलाहना दिया ?”

“शहर जाकर आदमी की आवाज ही बदली है या...?”

भुमकी मुँह बनाकर मुसकराई। पनभरनियाँ हँस पड़ी, सभी। सभी की आँखों में भुमकी की लाल श्रेंगिया की लाली तँरने लगी। सच-मुच, श्रेंगिया पहनकर भुमकी का रूप खल गया है !

दोपहर को पानी भरने आई तो भुमकी के दोनों कानों में कुण्डल

लटक रहे थे। ...भुमकी का रूप खुलता ही जाता है।

नहाने के समय औरतों और लड़कियों की भीड़ लग गई। सभी ने भुमकी से 'मुनलैट-सावुन' का भाग माँग-माँगकर देह में लगाया। ... भुमकी अब रोज़ सावुन लगाकर नहाएगी ? तब तो, एक दम मेमिन-बंगालिन की तरह गोरी हो जायगी ? है कि नहीं ?

अबेर में दुकान पर गई—कपाल पर चकमक-विंदी लगाकर। राह में ही, बहरी मौसी की गली में शिवधारी खड़ा था। भुमकी को देखकर सिहर गया—“एह ! अब जीयव कठिन ... अब ? अब मेरा क्या होगा ?”

“धेत्त ! राह चलने हँसी-दिल्लगी मुझे पसन्द नहीं।”

...हँसी-दिल्लगी पसन्द नहीं ? मुँह बनाकर बड़बड़ाती हुई गई ? कहीं घर जाकर कह न दे ! ...सुनते हैं कि शहर से नाम में सिंग लगवाकर आया है। अच्छा, देखना है, कितने दिन तक यह गुमान ? शहर का मलीदा खाया हुआ मरद गाँव में कब तक रहेगा ? ...इतने दिन का सब 'लिया-दिया, किया-धिया'—सब फुस ?

दुकान पर उतने लोगों के बीच भी मोदियाइन ने बात को घुमा-फिराकर भुमकी से कहा, “तनि अपनी सास से होशियार रहना। अकेले में बेटा को फुसलाकर बस में करने के लिए इधर-उधर की बात न लगा दे, तुम्हारे खिलाफ ! रुपया-पैसा न 'हथिया' ले बूढ़ी कहीं !”

भुमकी सदा की भाँति नयी बहुरिया की रीत निभाते हुए घूँघट के अन्दर से ही बोली, “मौसी, कोई कुछ लगावे-बभावे। ऊपर भगवान तो हैं ? टोला समाज, अड़ोस-पंडोस के लोग तो हैं ? यह भँस न होती तो न जाने क्या नतीजा होता ? दो-दो बरस किस तरह खेपा है सो सभी जानते हैं !”

...भुमकी भी बात को घुमा-फिराकर कहना जानती है। सभी समझ गए, इस बात को शिवधारी की बात पर बँठाई गई है। अर्थात्, शिवधारी नहीं होता तो भँस की चरवाही कौन करता ? रात की चरवाही 'ठट्टा' नहीं।

भुमकी बोली, “पिछवाड़े में दो धूर जमीन 'सर्वे' में हुआ है, लेकिन,

जमीन होने से ही तो नहीं होता है, उसको जोतना-फोड़ना जनाना का काम तो नहीं ?...बीग रुपये की गोभी और प्याज-तहमुन दस रुपये का दो साल से हुआ—सो ऐसे ही नहीं।...इस गाँव में कैसे-कैसे 'जमामार लोग' हैं सो किसी से छिपा है। लेने के समय दूध-दही भीटा लगता है और दाम देने के बेर खट्टा ! हाट-बाजार में लोगों को 'दिटिया' कर दूध-दही का दाम बमूलते फिरना तो जनाना जात नहीं कर सकती !"

दुकान से लौटते समय भूमकी बहरी मौसी के प्रागिन में गयी। शिवधारी मुँह लटकाए, सुतली का 'ढेरा' घुमा रहा था। भूमकी तनिक विहँसकर बोली—“मैं तुम पर गुस्साई हूँ। मुबह से सभी लोग प्राये और तुम भैम दूहकर बथान पर से ही न्यो भाग घाए ?...मुबह से तुम्हारे बारे में दस बार पूछ चुका है। नहीं जाओगे तो उसको कैसे मासूम होगा कि तुमने कैसे-कैसे दिन में क्या-क्या किया है। अपने जानते, जितना हो सका, मैंने कहा है।...तुमको डर काहे का लगता है ? साँच वो घाँच क्या ?”

भूमकी ने टोकरी से बीड़ी का एक 'मुट्टा' निकालकर ओसारे पर रख दिया—“यह रही तुम्हारी बीड़ी-मुपाड़ी।... मुँहचोर होकर रहोगे तो वह दो कुछ मुनेगा पतिया लेगा।”

शिवधारी का तन-बदन भनभनता उठा। लगा, जान लौट घाई।... नहीं, उसकी बुद्धि सबमुच धोड़ी मोटी है। भूमकी भोजी का गुस्सा जायज है !

...भूमकी के कान के कुण्डल 'लाल अँगिया' चकमक बिदी...मह-मह महक देह की...जानलेवा हँसी !

शिवधारी की देह तप गई...प्राग लगा गई हो जैसे !

शिवधारी ओसारे पर रखे बीड़ी के मुट्टे से एक बीड़ी निकालकर मुसगाने लगा। उसका दिल अचानक बुझ गया...सब दिन ललचाती ही रही।...कहीं भागी जा रही हूँ ?

...भव तो भेंट-मुलाकात भी चोरी-चोरी ही कर सकता है वह।

शिवधारी बहुत देर तक बीड़ी का धुआँ उड़ाता रहा।

रामविलास के 'मचान' पर सुबह से ही बीड़ी के धुएँ का गुब्बारा उड़ रहा है। रह-रहकर हँसी की लहरें आती हैं। एक-से-एक दिल को गुद-गुदाने वाला किस्सा सुना रहा है, रामविलास—पटनियाँ किस्सा !

.. दो साल पहले, चैत महीने की आधी रात में गाँव छोड़कर चुपचाप भागा था रामविलास—गाँव छोड़कर और मिसर को नौकरी छोड़कर; मिसर का करजा पचाकर।

.. दूसरे दिन उसके मचान के पास और आँगन में ऐसी ही भीड़ लगी थी। उसकी माँ रो-रोकर लोगों को सुना रही थी, गौना के बाद से ही उसके लाड़ले बेटे विलसिया की मति फिर गई। पराए घर की बेटी ने आकर उसके पाले हुए सुभगे को उड़ा दिया।

भुमकी घूँघट के अन्दर से ही बुढ़िया को कोस रही थी और खूँटे पर बँधी भैंस रह-रहकर बहुत करुण सुर में पुकारती जाती थी—ऊँ-येँ-येँ-येँ-येँ-हँ-हँ ! !

बूढ़े मिसर के सिपाही रामसिंघासन सिंघ ने कहा था—हम खूब समझते हैं। लीला पसार रही हैं दोनों ! विलसिया चुपचाप नहीं भागा है। अपनी माँ-बीवी से सलाह करके 'घसका' है, गाँव छोड़कर। भागकर जायगा कहाँ ? .. ई 'भैंसिया' तो मालिक के बथान पर जइवे करी, एक न एक दिन ! "

वह साला आजकल कहाँ है ? .. नौकरी छोड़कर चला गया क्या ? " रामविलास के इस सवाल को सुनकर सभी ने एक ही साथ अचरज प्रकट किया—“ओ-ओ-ओ ! तुमको नहीं मालुम ? ”

पटनियाँ किस्सों के मुकाबले में एक 'गँवैया' धरैया किस्सा सुनाने का मौका मिला है, घोटना को।

“हाँ-हाँ, सुनाओ तुम्ही घोटना। ”

“रामविलास भाय ! तुमने आज जैसी बहादुरी की है उससे बढ़कर मर्दानगी का काम किया, पिछले साल, पछियारी-टोली की मुसम्मात की नयी पुतोहू ने। जानते ही हो, सिंघवा साला कैसा 'घरदुक्का' ! गाँव में कोई नयी बहुरिया आई कि उसकी नींद गई। ”

बिलार की तरह घर में पेटकर, बिना 'छिका' को हिलाए ही दही के ऊपर की मलाई साफ कर देता था। लेकिन सब मलाई निकाला मुसम्मात को पुनोहू ने! ...साले को ऐसा 'कसकसाकर' पकड़ा कि ऊपर नीचे दोनों तरफ की हवा गुम!"

"हूँ?"

"पूछो, सभी से! ...आखिर अररिया-अस्पताल में औपरेसन करके 'बधिया' क्रिया तब जाकर होश हुआ। सुनते हैं, अस्पताल का डाक्टर पूछता था कि कहीं चक्की के दोपाट में पड़ गया था क्या सिधजी? सो, अस्पताल से निकलने के बाद फिर इस गाँव की ओर मुँह नहीं किया, फिर। साला, एकदम बधिया घा-घा-हा-हा ...!"

"इस घोरत को तो सरकारी तगमा मिलना चाहिए। शहर में होती तो अखबार में खबर 'घोट' हो जाती, फोटो के साथ ...!"

"फोटो कैसे घोट होता? ...कसकसाकर पकड़े हुए ही! हू-व-हू?"

पटो की बात पर रामविलास को अपनी तसवीर की बात याद आई। पॉट से लाइसेंस निकालकर दिखलाया। सभी ने वारी-वारी से हाथ में लेकर फोटोंवाला रिक्शा-डलेवरी-लाइसेंस को देखा। ...नहीं, रामविलास मूठ नहीं बहता। लोगों ने मूठमूठ खबर उड़ा दी थी कि 'क्रिस्थान होटल' में बरतन मौजता है। ...लोगों ने नहीं, उस दूबे के बड़े बंटे ने। जनेऊ की कसम मारकर बहता था कि हम अपने 'चसम' से देखा है, उसको।

शिवधारी को देखकर सभी चुप हो गए। ...रामविलास को 'लाट-लाट' का बिस्सा मामूम हुआ है या नहीं? ...मामूम हुआ कि जान से लनम कर देगा। ...बान छिनेगी थोड़ी!

"क्या रे शिवधरिया! मुचह में कहाँ 'लापत्ता' थे?"

"जरा टिमन चला गया था भैया!"

बरूर पड़े का पानी फेंककर पानी भरने निकलते हैं अभी रामविलास भी बहू! ...शिवधारी की बोली सुनकर प्रांगन में कँसे रहे?

बहू पानी लेकर वापस आई और घुँघट के अन्दर से ही बोली—

"पानी सट्टो पौसो बह रही थी तुम्हारे सिद्धवाड़े ने मुसममान-टोली बी

तरह महक क्यों आ रही है ? मुर्गी का ग्रण्डा पकाया जा रहा है कहीं ?”

रामविलास ने जाने क्या समझा। बोला, “कल से यहाँ मुर्गी बनेगा मुर्गा ! देखें कौन साला क्या बोलता है !...साला, यह भी कोई जगह है ? ग्रालू की तरकारी में जरा-सा गरम मसाला डलवा दिया तो सारे गाँव में मुर्गी के ग्रण्डे की महक फैल गई ? बोलो !”

शिवधारी ने कहा, “इस गाँव की बलिहारी है ! बिना परकी चिड़िया उड़ाने वाले बहुत लोग हैं।”

“शहर में सभी अपनी औरत को नाम लेकर बुलाते हैं। मैं अपनी वीवी को हजार नाम लेकर पुकारूँ, किसी साले का क्या ?”

रामविलास ने अपनी बहू को पुकारकर कहा, “ए भुमकी ! शिवधरिया आया है। उसके लिए एक कुलफी चा भेज दो।

आँगन में बहू ने सास से कहा, “माई ! सुनते हैं इस मरद की बोली-बानी !”

कमाऊ पूत की मस्ती देखकर मसाले की गन्ध सूँघकर वूढ़ी प्रसन्न है। कहती है, “बोली बानी क्या सुनूंगी ? आदमी जहाँ रहेगा, चाल वहीं का चलेगा !”

“साला ! हम दिन भर चा पीयें या रात भर दारू पीयें, इससे लोगों का क्या ?...शिवधरिया, टिसन की कलाली में पचास दारू असली मिलता है या पानी मिलाया हुआ ? आज दो बोटल चढ़ेगा।”

शिवधरिया दारू का हाल क्या जाने ! वह गाँजा के बारे में कह सकता है।

“ए भुमकी ! इधर आ !...तू एक हाथ घूँघट क्यों काढ़ती है ?”

भुमकी लजाकर आँगन की ओर भागी।

सब कुछ हुआ। रामविलास ने पटना में बैठकर जो-जो सपने देखे थे, सभी सच हुए।...मिसर का ‘जहरदाँत’ उसने उखाड़कर फेंका। गाँव में इस बात को लेकर रामविलास का जै-जैकार हो रहा है। गाँव के हर घर में उसका नाम दिन में दस बार लिया जा रहा है।...बेटा हो तो ऐसा !... मरद हो तो ऐसा !

उन्चाटन :: १०३

उसका मचान गाँव के मालिक मिसर का चौपाल हो गया है, मानो ।
धव बाभन राजपूत टोले के जवान भी घ्राकर बैठते है । दिन-भर चाय,
बीड़ी, तास और रात में 'अप्रेजी तास' ।

उस दिन मिसर का बड़ा बेटा दिन भर रामबिलास के मचान पर तास
खेलता रहा । साँझ हुई तो रामबिलास ने कहा, "अब यहाँ 'अप्रेजी-तास'
का खेला होगा ।" "खेलियेगा ?" "एक ही घूंट ।"

मिसर का बड़ा बेटा धव रोज साँझ को पाव भर पी जाता है और
दाम पूरे बीतल का देता है ।

गाँव के सभी नौजवान रामबिलास के साथ पटना जाता चाहते है,
इस बार । रामबिलास के मुँह में चटकदार पटनियों किस्सा मुनकर गाँव
कौन रहना चाहेगा, भला ।

"...रजिन्नरनगर ? धव क्या बतावें कि कैसा है ? लगता है कि
नरकारी इजिप्तिमर इन्द्रासन में जाकर फोटो खीच लाया है और हू-ब-हू
बैसा ही सहर बसा दिया ।" सड़क के दोनों ओर रंग-विरंग के फूल ।
ओर हर फूल की भाड़ी में एक लडकी बैठी हुई...गीत गाती हुई !

"एह ! तब तो सचमुच इन्द्रासन की इन्दरसभा...?"

"अजी, जहाँ की जमादारिन...जमादारिन माने पुलिस-जमादार
की बहू नहीं, सड़क पर भाडू देने वाली...पटना की जमादारिन को
देखोगे तो लगेगी किसी बड़े जमीदार की बहू है ।"

"ऐसी छपमूरती ?"

"देखने में काली होने से क्या होता है ? भल्ल चीड़ है, देह की गटन ।
...एक है रजकतिया । हमारे 'रिक्शा-खटाल' के पास ही रहती है । साली,
धुबह-धुबह छापेदार साड़ी पहनकर, कन्धे पर भाडू-डंडा का ढंढा लेकर
इस तरह ऐंठती हुई निकलती है जैसे राज जीतने जा रही है, भाडू देने
नहीं ।"

"एह !"

"भला कौन जवान रहना चाहेगा, इस मनहूस गाँव में ?

"...रामबिलास भैया, इस बार आपके साथ मैं भी जाऊँगा ।" मैं

भी !...में भी !!...में भी !!!...यहो साल-भर हलवाही करते हैं सिर्फ एक तो साठ रुपये में । वहाँ, एक महीना में दो तो ?...रामविलास काका, में भी !...रामविलास पाहुन, मुझे मत भूलिएगा । रिक्शा-डलेवरी नहीं तो किसी होटल में ही रखवा दीजिएगा ।...साला, हम चिन्तिया-बादाम बेचेंगे ।...मामा, आप उस दिन कह रहे थे कि रद्दी कागज-शीशी-बोतल का कारवार भी सूत्र नफावाला होता है ।...

एक शिवघरिया को छोड़कर सभी ने शहर जाने का इरादा पक्का कर लिया है । शिवघरिया ने कभी चर्चा भी नहीं की ।

सब कुछ हुआ लेकिन रामविलास के मन में एक छोटा-सा कांटा कई दिनों से 'खच-खच' कर गड़ जाता है—समय असमय । उस रात भुमकी ने वैसा क्यों कहा ? क्यों ? ...सब ठीक है । मुदा...!

“क्या मुदा ? बोल !”

...भुमकी आँखें मूँदकर हँसती है ।

“आँख क्यों मूँद रखी है ?”

“लालटेन क्यों जलाकर रखे हो ? बुझा दो ।”

रामविलास ने अनचाहे लालटेन की रोशनी मद्धिम कर दी ।

भुमकी बोली, “नहीं, एकदम बुझा दो ।”

...साली ! औरत है या चमगादड़ ?

शिवघारी गाँजा पीता है । बहुत जिद्द करने पर भी उसने किसी दिन दारू का एक घुँट नहीं लिया । चखने के लिए एक बूँद भी नहीं !

सुबह, नींद खुलने के बाद ही रात की बात मन में 'खचखचा' कर गड़ गई—सब कुछ ठीक है । मुदा...!!

अब चार ही दिन रह गए हैं ।...रमाँ-आँ रहा एक दिन अबधि अघारा-आ-आ-आ रम्माँ हो रमाँ-आँ !...रामविलास के मन में आजकल हमेशा एक विदाई गीत—समदाऊन—गूँजता रहता है...मिली लेहु सखिया, दिवस भेल रतिया कि चित भेल जग से उदा-आ-आ-आ-स !!

गाँव के सभी जाने वाले नौजवान कल स्टेशन-हाट से बाल कटवाकर आए हैं ।...रामविलास बोला था कि शहर में केश के फ़ैशन से ही लोग

समझ जाते हैं कि वहाँ का भादमी है।" सभी की देह की बोटी-बोटी में 'उद्याह' है, लेकिन रामविलास के मन में रह-रहकर काँटा मड़ जाना है। "भाज रात में वह भुमकी से फिर पूछेगा।

"भुमकी, अब तो यहाँ चार ही दिन रहना है।"

"हैं ऊँ ऊँ!"

रामविलास बहुत देर तक चुप रहा। तब वह ने पूछा, "फिर कब प्राप्ति?"

"प्राप्त का क्या ठिकाना!"

भाज रामविलास ने दारू नहीं पी है। स्टेशन हाट की पचास-शारू एकदम खाटी होता है, गाँव के खाटी दूध की तरह। "एक ही प्याली में नशा सिर पर मन्त्र से सवार हो जाता है।" भाज मधेजी-ताश नहीं होगा, भाई!

रामविलास की 'निरगुनिषा-बोली' का कोई जवाब नहीं दिया भुमकी ने, लेकिन है जगो हुई ही।

"भुमकी!"

"हैं! भाज तुम दारू क्यों नहीं पीये?"

"भाज सारी रात जगा रहूँगा।"

"सचमुच, सारी रात जगा रहा रामविलास। भोर को जब कौआ-मैना बोलने लगा तो भुमकी ने कहा, "जरा मद्धिम प्रावाच में बोलो!"

अब तीन दिन 'फक्कत'। चौथे दिन साँझ की गाड़ी से—बरीनी पक्षिजर से बीसो जवान रवाना हो जायेंगे, एक शिवधारी को छोड़कर। वही दिन से वह भँस भी दूहने नहीं छाता है। रामविलास खुद दूहता है।

"भुमकी?"

"क्या है?"

"भाज मैंने दारू नहीं, गाँजा पीया है। लगता है आयमान में उड़ रहा हूँ।"

"शिवधारी अब रात में भँस नहीं करावेगा। उसकी बहुरी मौसी आकर कह गई है।"

“मारो साले को गोली ! कल एक भँसवार ठीक कर दूंगा ।”

“भँसवार ? कीन चरावेगा तुम्हारी भँस ?”

“क्यों ?”

“सभी गृहस्थों के हलवाहे-चरवाहों का तुम भगाकर गहर ले जा रहे हो ।”

“किसने कहा कि मैं भगाकर ले जा रहा हूँ ?”

“गाँव के सभी गृहस्थ बोलते हैं !”

“सभी गृहस्थ नहीं । बोलता होगा, तुम्हारा वह शिवधरिया !”

भुमकी चुप रही । रामबिलास ने घुटने से ठोकर मारते हुए कहा,
“क्यों ? ठीक कहता हूँ न ?”

“जो कहो तुम ।”

“मैं जो कहता हूँ, ठीक कहता हूँ ।”

भुमकी ने एक लम्बी साँस ली ।

“ठीक कहता हूँ न ?”

“हैं !”

“चीथे दिन से खूब मौज करना ।”

“मैं मौज करूँ या दुख से मरूँ तुमको क्या ? मौज करेगी रजवतिया-
डोमिनियाँ तुम्हारे साथ ।”

“क्या बोली ?”

भुमकी चुप रही । रामबिलास ने फिर घुटने से एक ठोकर लगाकर
पूछा, “क्या बोली ?”

“मारना है तो जान से मार दो ।”

“साली ! जाने के पहले तुमको और तुम्हारे शिवधरिया को खतम
करके ही...”

रामबिलास के सिर पर कोई भूत सवार है । आज वह दो चिलम
गाँजा पीकर आया है ।

“चिल्लाओ मत, इस तरह ।”

“साली ! पटना का बड़ा-से-बड़ा वालिस्टर हमारी बोली को बन्द

नहीं कर सकता और तुम कहती हो चिल्लाओ मत !”

“तो चिल्लाते रहो ।”

“भाज तो मैंने दारू नहीं पी है । तू उधर मुँह फिराकर क्यों सोपी है ? इधर पलट, तेरी...”

“नहीं ।”

“म् स् मा ली !”

...भाज रामविलास खून कर देगा । चीर-फाड़कर रख देगा भुमकी को ।...क्या समझ लिया है ?...ऐ ?...रिबसा-डलेवरी करने में घादमी जनखा हो जाता है ?... हँ ?...बोल ?... कहती है, सब भूठ है !... मिसर से चौगुने मूद पर करजा लेकर उस निवधरिया ने तुमसे बिहा किया था ?...हँ ?... बोल ! चौप साली !...खाकसम !...क्या समझ लिया है ? शहर में रहने से, दारू पीने से घादमी...चौप साली ! हम सब समझते हैं ।

भुमकी बहुत देर तक रोती रही । रामविलास जब बिछावन छोड़कर उठने लगा तो भुमकी ने उसकी गजी पकड़ ली ।

“क्या है ?”

“तुम पटना मत जाओ ।”

“क्या बरती है ?”

“हाँ, मैं पैर पडती हूँ, मत जाओ ।”

“हूँ !...शहर नहीं जाऊँगा तो काम कैसे चलेगा ?”

“इतने लोगों का काम कैसे चलता है ?”

“उँह !”

“तब मुझे भी साथ लेते पलो ।”

“धीरे निवधरिया ?”

भुमकी रोने लगी फूट-फूटकर । मूरज, बाँस-भर ऊपर उग गया । बूड़ी ने पुनारा—“बटू-ऊऊऊ !”

गाँव के सभी खान एक ही साथ घासमान से घिरे । रामविलास घाब

मिसर के दरवार में कह रहा था कि घर की आधी रोटी भली। ...शहर में क्या है ? जितनी आमदनी होती है उससे चीगुना लहू खर्च होता है। गाँव आखिर गाँव है। ...मिसरजी ने बाकी करजे का एक पाई भी सूद नहीं लिया। शहर में इस तरह कोई सूद छोड़ देता ? ...पटना कहो या दिल्ली, जो मजा अपने गाँव में है, वह इन्द्रासन में भी नहीं।

...सुना है, मिसर का बड़ा बेटा आँटा-धानी का मिल बैठेगा। रामविलास मँनेजरी करेगा उसका !

...सुना है, गाँव के गृहस्थों ने मिलकर चुपचाप रामविलास को 'धूस' दिया है। सभी के हलवाहे-चरवाहे भागे जा रहे थे न !

...सुना है रामविलास पटना में एक डोमिन से फँस गया था, इसलिए अब नहीं जाना चाहता। डोमिन को बच्चा होने वाला है।

और चौथे दिन सभी ने सुना, शिवधारी गाँव छोड़कर भाग गया।

...कल स्टेशन-हाट में दारू पीकर धुत्त था।

उसकी बहरी मौसी कह रही थी कि रामविलास की बहू साँभ ले आकर न जाने क्या फुसुर-फुसुर कह गई और रात में ही शिवधरिया हवा हो गया।

रामविलास ने कहा, "भुमकी, सुना वह शिवधरिया साला भाग गया।"

"दो कोड़ी रुपया मेरा लेकर भागा है।"

"तू पहले ही क्यों न बोली ? मुँह में क्या केला था ?"

"ऐसी नमकहरामी करेगा वह, सो कौन जानता था ?"

"तुम आदमी को नहीं पहचानती ?"

"कभी तो आवेगा मुँहभौसा ! तब पूछूँगी।"

रामविलास ने भुमकी को खींचकर छाती से लगा लिया। बाँहों में उसके सिर को भरकर बोला, "मारो साले को गोली ! वह साला शहर से बचकर कभी वापस नहीं आवेगा ! ...साले को दारू खा जायगा ! देखना !"

भुमकी हठात् उठ बैठी— "भैस क्यों 'डिकर' रही है इस तरह ?"

उच्चाटन :: १०६

रामबिलास ने कहा, "सुबह भैंसा की खोज में जाना होगा। भैंस 'उठ' गई है, लगता है।"

भाज भुमकी फिर नयी बहुरिया की तरह लजाकर मुसकराती है। बिना पीये ही रामबिलास मतवाला हो गया।

"दे ! जरा दारू बखेगी ? ... बस, एक घूँट।"

भुमकी हँसने लगी— "नहीं ! ... नहीं ! ! ... नहीं ! ! मुझे दारू की बास ... उयेक् ... ऊँहूँहूँहूँ ... ! !"

० ० ०

"हां, मेरे बेटे !"

"मैं पढ़कर आया ।"

"हां, मेरे लाल !"

"श्रव मैं रोज स्कूल जाया करूंगा ।"

"हां, मेरे बच्चे !"

"मां, तू मुझे रोज बिस्कुट देनी ?"

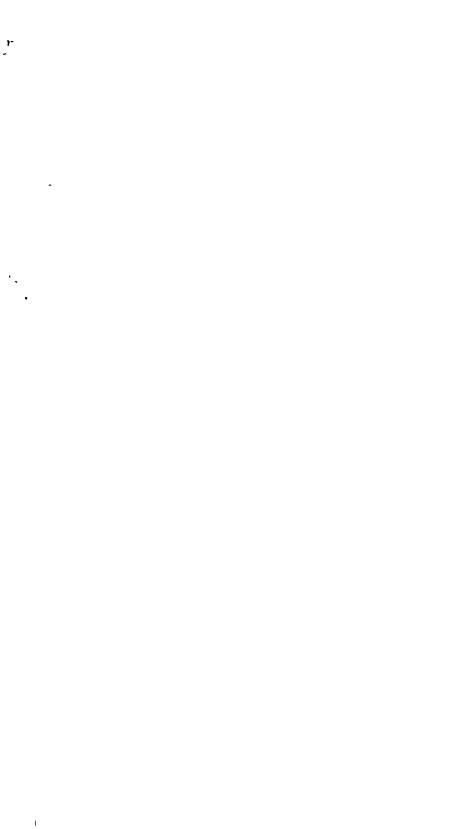
"हां, मेरे लाल !"

"कैला भी ?"

"हां ।"

"श्रव मैं किसी की चीज नहीं उड़ाऊंगा, मां, और किसी से पैसा नहीं मांगूंगा ।"

सौली ने देखा, बच्चे के होंठों पर मुस्कराहट का पंखी बैठा हुआ था । उसने डरकर, कांपकर आकाश की ओर हाथ जोड़े । 'हे भगवान्, मेरे बच्चे के होंठों पर से मुस्कराहट का पंखी कभी न उड़े—हे भगवान्, कभी न उड़े ! ...'



पश्चिमी भाइयों की अपेक्षा वह अधिक विनम्र और श्रोत्रिय-प्रिय है। वह आज भी अपना गेंदनुमा टोप पहनता है और स्वयं पर हँस सकता है।

शुभ मुझे समझ में आया कि अंग्रेजों को 'जॉन बुल' क्यों कहा जाता है और उसका देश कैसे एक सूत्र में आवृत्त है।

सकुशल समुद्र-यात्रा के बाद मैं घर लौट आया। प्रान्णित्यर भेल रक ही रहा था कि मैंने देखा कि माँ मेरी ओर दौड़ी चली आ रही थी। इतने समय के बाद मुझे देख कर माँ का वास्तव्य उमड़ पड़ा और विदेग में मेरे निवास में सम्बन्धित उन्होंने अनेक प्रश्न पूछ डाले। बहुत लम्बी अवधि में विमारे मित्रों के समान हम दोनों मिले। मेरे छोटे भाई (जिनके घरेलू नाम बबू और टामी थे) तथा बहन नानी मुझे देख कर हर्षोन्मत्त हो उठे। मेरी बर्दी की देख-देख कर माँ की आँखें गर्व से भर आयी। उस रात हम दोनों बहुत देर तक आपस में बातें करते रहे।

शुभ मुझे एक वर्ष के लिए अंग्रेज सैनिकों की कमान सँभालनी थी। अंग्रेजों का विचार था कि भारतीयों में किसी भी सैनिक जत्वे की कमान सँभालने योग्य नेतृत्व प्रकृत नहीं थी, फिर अंग्रेज सैनिकों के जत्वे की तो बात ही और थी। उन्हें इसमें भी सन्देह था कि हम कभी योग्य ऑफिसर बन पाएँगे। वे तो यह मानते थे कि हमारा अस्तित्व निम्न श्रेणी का होता है और वायुमान, टैंक या गन की जटिलता एवं युद्ध के पेचीदा मामलों को मजबूत हमारे ब्रूने के बाहर है। उन समय मुझे लॉर्ड ऐलनबरो के वे शब्द स्मरण हो आए जो उन्होंने सन् १८३३ में कहे थे कि भारत में अंग्रेजों का अस्तित्व इस बात पर निर्भर करता है कि भारतीयों को सेना एवं राजनीति में दूर रखा जाए।

जिन अंग्रेजों के अधीन मुझे काम करना था, उनकी यही पृष्ठभूमि थी। मेरी धारणा थी कि यद्यपि व्यक्ति रूप में अंग्रेज बहुत अच्छे हैं किन्तु भारत में उनके राज को जल्दी में जल्दी समाप्त कर के हमें स्वयं अपने देश का शासन सँभालना चाहिए।

जिस समय नवम्बर १९३३ में लाहौर की बड़ेबुड बँरेकम में स्थापित इन्ट ग्रे रेजीमेंट की फस्ट बटालियन में मैं अपना कार्यभार सँभालने पहुँचा तो मेरे मन में इस चुनौती को स्वीकार कर लिया था। उस समय में तेजन्त दक्कित वर्ष का था और नये जीवन के प्रवेश द्वार पर खड़ा था।

सब भारतीय सेना अधिकारियों को भारतीय बटालियन में पहुँचने में पहले एक वर्ष तक ब्रिटिश बटालियन में परीक्षाधीन (प्रॉबेशन) रहना पड़ता था। मेरे कमांडिंग ऑफिसर ले० कर्नल शोनबर्ग, सी० एन० प्रो०, मुगट्टि गरीर के प्रोड्यूसिड थे और अनुमानन एवं सैनिक परम्पराओं के दुई पोपक थे। उन्होंने

४० ○ अनकही कहानी

मेरा ढीला-सा स्वागत किया जैसा कि वह प्रत्येक नवागन्तुक का करते थे।

वटालियन में गतिविधि के चार क्षेत्र थे—चाँदमारी, ड्रिल, खेल और मेस। प्रत्येक क्षेत्र में मुझे काफी संघर्ष करना पड़ा। फलस्वरूप, मैं राइफल का अच्छा निशाना लगाने लगा, ड्रिल का मोर्चा भी मैंने मार लिया, मेस में एक छोटा-सा पद सँभाल लिया और खेलों में भी पीछे न रहा। मैं क्रिकेट में 'फ़स्ट इलेवन' में था और ४४० गज की दौड़ में वटालियन की ओर से दौड़ा।

ब्रिटिश यूनिट एक उत्तम संस्था थी। यह एक बड़े परिवार के समान थी और इसकी अपनी उच्च परम्पराएँ थीं। कमाण्डिंग ऑफिसर यहाँ का मान्य पिता था। उसके शब्द यहाँ कानून की तरह पुजते थे और एक प्रकार से यहाँ का शासक था। उसके निर्णय अमोघ और अचूक होते थे। हम सब के लिए उसका व्यक्तित्व विशाल और महान् था। किन्तु उसके दर्शन बहुत कम होते थे। काम तो उसके सहायक सँभालते थे। अधिकारियों, मेस, और एवं खातों के ठीक रखने की जिम्मेदारी उप-कमाण्डर की थी। तीसरे नम्बर पर एड्युटेंट का पद था और यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। गिप्टान और ड्रिल उसके क्षेत्र में थे। अण्डर ऑफिसर उससे आर्तकित रहते थे। अनुमानन पालन कराने जैसा अप्रिय काम भी उसी के पास था, इसलिए भी स्वयं भी काफी अप्रिय हो गया था। सवाल्टनों की दो कोटियाँ थी—सीनियर और जूनियर—सीनियर सवाल्टन काफी पुराना आफिसर होता था जिसका सेवा-काल नान में पन्द्रह वर्षों तक का होता था। उस समय पदोन्नति के क्रियात्मक मान के रिक्त होने पर ही होती थी, समय-मान से नहीं। इस कारण सीनियर सवाल्टन कभी-कभी इतना खोभ उठता था कि सभी सवाल्टनों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार करने लगता था। भूल हो जाने पर वह उन्हें कड़कती आँसुओं में अभिरिक्त दिखाने का दण्ड देता था और स्वयं किसी युद्ध की छाया में लड़ना भी जानता था। तीन और छः वर्ष की सेवावधि के मध्य तो सैनिकों के प्रथम माना जाता था और तीन वर्ष में पहले तो उसका अस्तित्व ही नहीं रही तब किताब माना था, वह दिखलाई तो पड़ता था किन्तु उसकी बात भी सुनी जाती थी।

एक बार एड्युटेंट ने सवाल्टन स्तर के लोगों के साथ बड़ा अनुचित व्यवहार किया। क्योंकि हमने उसे सबक सिखाने की आज्ञा दी। अपने भाव-भाव की योजना के बाद सीनियर सवाल्टन ने उसे मुर्दे-मुर्दे से मारना शुरू किया। उस युद्ध में दोनों प्रायः बंदी धरती पर बैठ जाते थे, यहाँ से वे वापस आ जाते थे और अनुयायी व सैनिकों के बीच पर प्रतिक्रिया के रूप में बहाना देते थे। वे अपने-आपके बीच एक-दूसरे को मारते थे और उन दोनों के बीच एक ही दिशा में बहाने देते थे। वे अपने-आपके बीच एक-दूसरे को मारते थे और उन दोनों के बीच एक ही दिशा में बहाने देते थे। वे अपने-आपके बीच एक-दूसरे को मारते थे और उन दोनों के बीच एक ही दिशा में बहाने देते थे।

रित योजना के अनुसार सारे सर्वाल्सर्न उसके ऊपर गिर पड़े और अपने सम्मिलित भार से उसे पीम दिया। उसकी टांगो में काफी चोट आई और उसके बाद कई दिनों तक वह चल-फिर नहीं सका। इस 'सम्मिलित प्रयास' के विरुद्ध कोई दण्ड नहीं दिया जा सका। इस घटना के बाद वह काफी डीना पड़ गया और उस बटालियन में क्षेप समय धाराम से बीता।

हमें अनेक अनिश्चित नियमों का पालन करना पड़ता था : परेड के समय से पाँच मिनट पहले पहुँच जाना, अपने में सीनियर आफिसरों, उच्च अधिकारियों की किसी बात का जवाब न देना तथा उनसे किसी प्रकार का तर्क न करना, आवश्यकता पड़ने पर धमकी न देना अपितु दण्ड देना, परेड एवं मेग में रेजीमेण्ट के बंड की विविध धुनों से परिचित होना तथा रेजीमेण्ट के इतिहास एवं उसकी परम्पराओं का बर्पाप्त ज्ञान प्राप्त करना। उगुस्त वस्त्र पहनना तथा बर्पादा का पालन करना अनिवार्य था। जूनियर सर्वाल्सर्नों में यह १.पेशा की जाती थी कि वे नियमित रूप से मेस में भोजन करें तथा मेस के सम्बन्ध में इतना ज्ञान रखें कि आवश्यकता पड़ने पर अपने सीनियर ऑफिसरों की सहायता कर सकें। मेस ही उनका घर था। काफी रात गए तक उन्हें त्रिज येलनी पड़ती थी तथा गराब पी-पी कर समय गुजारना पड़ता था। मेस में जल्दी आना और वहाँ में देर में जाना उनका धर्म था। इस में थूक हो जाने पर घण्टे दिन प्रातःकाल किसी ऑफिसर के सामने उनकी पेशी हो जाती थी और परिणाम कोई सुखद नहीं होता था।

ब्रिटिश बटालियन के विभिन्न मेगों की विभिन्न परम्पराएँ थी। कुछ में तो राजा के स्वास्थ्य की कामना में सड़े हो कर मदिरा पी जाती थी, कुछ में बँट कर तथा कुछ में इसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। नायद इम-निए कि उनकी राज-भक्ति के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती थी। मेग में नलवार बाँध कर केवल बोरसैस्टर ही घासकने थे। उनकी रेजीमेण्ट-सम्बन्धी परम्पराएँ भी कुछ थोड़ी-सी भिन्न थी। उदाहरण के लिए, प्रेनेइयर गार्ड्स को यह अनुमति थी कि वे सगीन बाँध कर पताका पहराने हुए नगाड़े एवं बजाने हुए सन्दन पाहर में मार्च कर सकतें हैं क्योंकि मर्च १९५६ तक संदन में केवल उन्हीं की स्थापना हो पाई थी। रॉयल बॅल्ग पुब्लिटीयर्स के अभिमुख प्रयाण (मार्च पास्ट) के समय उनके प्राये फूलों से मखी मुनहरे मोंपों वाली बकरी चलती है, बकर हिन के (स्पन्दता के लिए धमकीका डारा गड़े गए) मुड में भी २७ जून १७७५ को उन्होंने दन परम्परा का निर्वाह किया था। पताका पहराने चलने की प्रथा का मूल, प्रारम्भिक मानव रों दश प्रथा में मिल जाता है जबकि वह एक बन्नी पर धपना परिवारिक विद्

६. नेसो का धारम्भ धजरहो उताग्शी के धारम्भ में हुआ था।

मेरा हीना-सा स्वागत किया जैसा कि वह प्रत्येक नवागन्तुक का करते थे। बटालियन में गतिविधि के चार क्षेत्र थे—नांदमारी, ड्रिल, खेल और मेस। प्रत्येक क्षेत्र में मुझे काफी संघर्ष करना पड़ा। फलस्वरूप, मैं राइफल का अच्छा निगाना लगाने लगा, ड्रिल का मोर्चा भी मैंने मार लिया, मेस में एक छोटा-सा पद सौभान लिया और नेलों में भी पीछे न रहा। मैं क्रिकेट के 'फस्ट इलेवन' में था और ४४० गज की दौड़ में बटालियन की ओर से दौड़ा।

ब्रिटिश यूनिट एक उत्तम संस्था थी। यह एक बड़े परिवार के समान थी और इसकी अपनी उच्च परम्पराएँ थीं। कमाण्डिंग ऑफिसर यहाँ का माता-पिता था। उसके शब्द यहाँ कानून की तरह पुजते थे और एक प्रकार से यहाँ का शासक था। उसके निर्णय प्रमोच और अचूक होते थे। हम सब के लिए उसका व्यक्तित्व विशाल और महान् था। किन्तु उसके दर्शन बहुत कम होते थे। काम तो उसके सहायक सँभालते थे। अधिकारियों, मेस, एवं खातों के ठीक रखने की जिम्मेदारी उप-कमाण्डर की थी। तीसरे नम्बर पर एड्जुटेंट का पद था और यह अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण था। शिष्टाचार और ड्रिल उसके क्षेत्र में थे। ग्रण्डर ऑफिसर उससे आतंकित रहते थे। अनुशासन पालन कराने जैसा अप्रिय काम भी उसी के पास था, इसलिए वह स्वयं भी काफी अप्रिय हो गया था। सवाल्टर्नों की दो कोटियाँ थी—सीनियर और जूनियर—सीनियर सवाल्टर्न काफी पुराना आफिसर होता था जिसके सेवा-काल सात से पन्द्रह वर्षों तक का होता था। उस समय पदोन्नति के किसी स्थान के रिक्त होने पर ही होती थी, समय-मान से नहीं। इस कारण सीनियर सवाल्टर्न कभी-कभी इतना खीझ उठता था कि सभी सवाल्टर्नों के साथ बड़ा क्रूर व्यवहार करने लगता था। भूल हो जाने पर वह उन्हें कड़कती हथौड़े में अतिरिक्त ड्रिल करने का दण्ड देता था और स्वयं किसी वृक्ष की छाया में खड़ा हो जाता था। तीन और छः वर्ष की सेवावधि के मध्य तो सैनिक नो तरुण माना जाता था और तीन वर्ष से पहले तो उसका अस्तित्व ही नहीं स्वीकार किया जाता था, वह दिखलाई तो पड़ता था किन्तु उसकी बात नहीं सुनी जाती थी।

एक बार एड्जुटेंट ने सवाल्टर्न स्तर के लोगों के साथ बड़ा अनुचित व्यवहार किया। इसलिए हमने उसे सबक सिखाने की ठान ली। अपनी अतिथि-रात्रि को भोजन के बाद सीनियर सवाल्टर्न ने उसे मुर्ग-युद्ध के लिए आमन्त्रित किया। इस युद्ध में दोनों प्रतिद्वन्द्वी धरती पर लेट जाते थे, अपनी टाँगों आपस में फँसा लेते थे और चतुराई व शक्ति के बल पर प्रतिपक्षी की टाँगों को मोड़ने की कोशिश में लगे रहते थे जब तक कि दोनों में से एक पराजय न स्वीकार कर ले। एड्जुटेंट काफी हट्टा-कट्टा था और उसे अपनी विजय का पूरा विश्वास था। अभी संघर्ष प्रारम्भ ही हुआ था कि पूर्व-निर्धार-

रित योजना के अनुसार सारे सवाल्टन उसके ऊपर गिर पड़े और अपने सम्मिलित भार से उसे पीस दिया। उसकी टाँगों में काफी चोट आई और उसके बाद कई दिनों तक वह चल-फिर नहीं सका। इस 'सम्मिलित प्रयाम' के विरुद्ध कोई दण्ड नहीं दिया जा सका। इस घटना के बाद वह काफी ढीला पड़ गया और उम बटासियन में शेष समय आराम से बीता।

हमें अनेक अलिखित नियमों का पालन करना पड़ता था : परेड के समय में पाँच मिनट पहले पहुँच जाना, अपने से सीनियर ऑफिसरों, उच्च अधिकारियों की किसी बात का जवाब न देना तथा उनमें किसी प्रकार का तर्क न करना, आवश्यकता पड़ने पर धमकी न देना अपितु दण्ड देना, परेड एच मेस में रेजीमेंट के बँड की विविध धुनों से परिचित होना तथा रेजीमेंट के इतिहास एवं उसकी परम्पराओं का अर्थात् ज्ञान प्राप्त करना। उपयुक्त वस्त्र पहनना तथा भ्रमादा का पालन करना अनिवार्य था। जूनियर सवाल्टनों में यह शिकायत की जाती थी कि वे नियमित रूप से मेस में भोजन करें तथा मेस के सम्बन्ध में इतना ज्ञान रखें कि आवश्यकता पड़ने पर अपने सीनियर ऑफिसरों की सहायता कर सकें। मेस ही उनका घर था। काफी रात गए तक उन्हें त्रिज नेमनी पढ़ती थी तथा शराब पी-यी कर समय गुजारना पड़ता था। मेस में जल्दी आना और वहाँ से देर में जाना उनका धर्म था। इस में चूक हो जाने पर अगले दिन प्रातःकाल किसी ऑफिसर के सामने उनकी, पेची हो जाती थी और परिणाम कोई सुखद नहीं होता था।

ब्रिटिश बटालियन के विभिन्न भागों की विभिन्न परम्पराएँ थी। कुछ में तो राजा के स्वास्थ्य की कामना में सड़े हो कर मदिरा पी जाती थी, कुछ में बैठ कर तथा कुछ में उसकी आवश्यकता नहीं समझी जाती थी। शायद इसलिए कि उनकी राज-भक्ति के प्रति किसी प्रकार की शंका नहीं की जा सकती थी। मेस में तलवार बांध कर केवल बोरसैस्टर ही आ सकने थे। उनकी रेजीमेंट-सम्बन्धी परम्पराएँ भी कुछ थोड़ी-सी भिन्न थी। उदाहरण के लिए, ब्रेनेडियर गार्ड्स को यह अनुमति थी कि वे सगीन बांध कर पताका पहराते हुए नगाड़े एवं बजाते हुए लन्दन शहर में मार्च कर सकते हैं क्योंकि सन् १६५६ तक लंदन में केवल उन्हीं की स्थापना हो पाई थी। रॉयल बैल्ग पुब्लिसीटर्स के अभिमुख प्रयाण (मार्च पास्ट) के समय उनके प्राये कूनों ने नयी मुनदरे सोपों वाली बकरी चन्ती है, बकर हिल के (स्वतन्त्रता के लिए फररीका द्वारा सड़े गए) मुड में भी २७ जून १७७५ को उन्होंने दस परम्परा का निर्वाह किया था। पतारा पहराते चलने की प्रथा का मूल, प्रारम्भिक मानव की दस प्रथा में मिल जाता है जबकि वह एक बत्ती पर अपना परिवारिक विह्व

६. नेतो का आरम्भ अठारहवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ था।

लटका कर उसे युद्ध भूमि के महत्त्वपूर्ण स्थल पर गाड़ देता था ताकि उसे अपने शिविर का पता रहे और आवश्यकता पड़ने पर उसके पक्ष के लोग वहाँ एकत्र हो सकें। पताकाएँ रेजीमैण्ट के उत्साह और उसके इतिहास की प्रतीक हैं। उन पर रेजीमैण्ट को मिले युद्ध के सम्मान-पदक और बैज लगे होते हैं जो उसकी स्थापना से ले कर आज तक उसके द्वारा प्रदर्शित वीरतापूर्ण कार्यों का स्मरण कराते रहते हैं।

सेना को जगाने के लिए होने वाले विगुल-नाद (रैविले^५) के बाद अंग्रेज 'छोटा हाज़री' लेते थे अर्थात् विस्तरे में पड़े-पड़े चाय पीते, केला खाते या विस्कुट चवाते थे। कुछ समय बाद वे अपना नाश्ता करते थे—नाश्ते की मेज़ के चारों ओर बैठे हुए, समाचार-पत्रों के पीछे छिपे हुए वे गम्भीर एवं मौन अंग्रेज कठपुतली-जैसे लगते थे।

बटालियन में एक 'अर्दली-अफसर' होता था जिसे 'अर्दली कुत्ता' कहते थे। ड्यूटी के दिन उसे बहुत काम करना पड़ता था। इस दिन वह घोड़े पर चढ़ कर क्वार्टर गार्ड भण्डारों व अन्य चीजों (जिसमें शौचालय भी थे) का, भोर से ले कर आधी रात के बाद तक, निरीक्षण करता फिरता था।

घुड़सवारी, घूसेवाजी, पोलो, क्रिकेट तथा हाकी आदि के लिए सैनिकों को प्रोत्साहित किया जाता था। कभी-कभी घोड़ों एवं कुत्तों की दौड़ तथा नाटक एवं सिनेमा देखने की अनुमति भी मिल जाती थी। थोड़ा-बहुत नाच भी चल सकता था। किन्तु इन गतिविधियों से रेजीमैण्ट-सम्बन्धी किसी काम की हानि नहीं होनी चाहिए थी। सब प्रकार के असैनिक मनोविनोद 'सिसी' कहलाते थे और वर्जित थे।

वी० कम्पनी की छठी पलटन की कमान मुझे सौंपी गई। अब मुझसे यह अपेक्षा की जाती थी कि मैं अपनी टुकड़ी की सामर्थ्य उसकी वर्ग-व्यवस्था, उसके प्रत्येक व्यक्ति की योग्यता की पूरी जानकारी रखूँ। मुझसे यह भी आशा की जाती थी कि व्यक्तिगत आचरण और अन्य क्षेत्रों में अपने अधीनस्थ सैनिकों के सम्मुख आदर्श उपस्थित रहूँ। मेरे लिए यह एक उल्लासकारी अनुभव था। इस लक्ष्य की सिद्धि के प्रयत्न में, मैंने स्वयं को सोद्देश्य एवं गौरवान्वित अनुभव किया।

जिन व्यक्तियों की कमान हमारे हाथ में होती थी, हमें प्रत्येक क्षेत्र में उनकी अपेक्षा श्रेष्ठ होना चाहिए था जैसे मार्च करने में अधिक चुस्त, कमान करते समय अच्छे शब्दों का प्रयोग, निशाना लगाने और खेलों में उनसे अधिक

७. रेजीमैण्ट के जीवन के अनेक विगुल-नादों में एक है रैविले। प्राचीन युग में युद्ध-क्षेत्र में सेनापति इन विगुलों से विविध संगीत-नादों द्वारा अपनी सेना को आदेश दिया करते थे।

नुपान होना आवश्यक था। जिस यूनिट की कमान मेरे हाथ में थी, पूंसेवाजी में वह भारत की नैम्पियन यूनिट थी और एक में था जिसे पूंसेवाजी का धर्म भी नहीं मालूम था। यह कोई अच्छी बात नहीं थी, इसलिए माहम बटोर कर एक दिन मैं घाटाड़े में नूद पड़ा ताकि कोई मेरी सामर्थ्य में सन्देह न कर सके। पुरु-गुरु में तो मुझे घटलकॉक (वैडमिंटन की चिड़िया) की तरह उछाल दिया गया किन्तु धीरे-धीरे मैं घाटाड़े में जमने लगा। कई बार नाक टूटी किन्तु मैं कभी निस्साहित नहीं हुआ और जब तक उम बटानियन में रहा, पूंसेवाजी का मेरा अभ्यास निरन्तर चलता रहा।

अधिकार प्रॉफ़िटर साइकिल चलाते थे। किसी-किसी कमाण्डिंग ऑफिसर के पास कार होती थी किन्तु वह भी पुरानी-सी जिगकी कीमत एक हजार रुपये से अधिक नहीं होती थी। एक दिन मैंने मोटर साइकिल खरीदी और मेम में नास्ता करने के लिए, बड़ा प्रसन्न होता हुआ उसी पर गया। गाड़ी का तौर सुन कर कमाण्डिंग ऑफिसर, अघपड़ा समाचार-पत्र हाथ में लिये, मेम में बाहर निकल आया और शोध में ताल-भीना हो कर चीखा, 'किगकी अनुगति में तुमने यह खरीदी है ?'

मैं नहीं समझ पाया कि मैंने किस नियम का उल्लंघन कर दिया था।

'दुबारा इस पर चढ़े हुए नजर नहीं आना, सुना ? यदि चढना ही चाहते हो तो घोडा खरीद लो।'

इसके बाद तर्क के लिए कोई स्थान नहीं था और उन दिनों तो विन्कुरन नहीं था। अनुशासन इसी प्रकार मिखलाया जाता था।

एक दिन कमाण्डिंग ऑफिसर ने मुझ से बत्तख के शिकार पर साथ चलने को कहा। मैंने उनसे स्पष्ट कह दिया कि निर्दोष पशु-पक्षियों की हत्या करना मुझे पसन्द नहीं है जब तक कि वे मानव-जीवन के लिए अभिग्राह्य न बन जाएँ जैसा कि गरभधी शेर या जगली सुघर। कर्नल ने मुझ पर एक धूनापूर्ण दृष्टि डाली और वह शिकार पर अकेला चला गया।

प्रतिष्ठित व्यक्तियों से सम्पर्क बनाये रखना भी हमारे कर्तव्य का एक अंग था। इन व्यक्तियों की सूची बटानियन द्वारा तैयार की जाती थी। इस सूची में वे ब्रिटिश और भारतीय, सैनिक और गैर-सैनिक, डिप्टजन होते थे जिन्हें अधिकारी 'उचित' वर्ग का कोटि के मानते थे।

रेजीमेंट का जीवन प्रातःकालीन चांदमारी या ड्रिल से शुरु होता था। उसके बाद कार्यालय पहुँच कर सैनिकों के आचरण-पत्र, चांदमारी के परिणाम, छुट्टी, कपड़े अपराय तथा सम्मान एवं पुरस्कार आदि अनेक चीजों को देखना पड़ता था। मेम में खाना खाने के साथ-साथ सैनिकों के किटों का निरीक्षण करना होता था तथा खेलों में भाग लेना होता था।

गर्मियों में काफी सावधानी बरतनी पड़ती थी क्योंकि अग्नेजों को उष्ण-

प्रदेशीय रोगों का बहुत भय रहता था। पीने का पानी गर्म करना, सोला टोप पहनना, वरफ आदि के उपयोग से स्वयं को ठण्डा रखना और सोते समय मसहरी का उपयोग करना वे धर्म का एक अंग मानते थे।

अधिकांश शनिवारों को मैं अपने पुराने शिक्षक ब्रजलाल को भोजन के लिए आमन्त्रित कर लेता था। जिस समय मैं सैण्डहस्ट जा रहा था तो अपनी शुभ कामनाओं के रूप में उन्होंने सौ रुपये का एक नोट मेरे हाथ में दूँस दिया था। भारत लौटने पर मैंने कृतज्ञतास्वरूप उनसे अपने योग्य कोई सेवा पूछी तो उन्होंने उत्तर दिया कि अपने शेष जीवन को शराब में धुला देने के अतिरिक्त उनकी कोई इच्छा नहीं थी। जीवन से मोह टूट जाने के कारण उन्होंने यह मार्ग अपनाया था। मैंने उनके शब्दों को यथावत् स्वीकार कर लिया। एक वर्ष तक मैं उस बटालिय में रहा और इस अवधि में हम दोनों बराबर मिलते रहे। इसके बाद मैं उत्तर पश्चिम सीमान्त पर चला गया। इस एक वर्ष की अवधि में वे तो शराब पीते थे और मैं पानी पी-पी कर उनका साथ दिया करता था।

ग्रीष्म ऋतु के आगमन पर बटालियनें पहाड़ी स्थानों पर चली जाया करती थीं। हम कसौली से सात मील दूर डगशाई गए। यहाँ हमें अन्य कामों के साथ-साथ 'खड'-दौड भी लगानी पड़ती थी जिसमें लगभग दो हजार की ऊँचाई पर चढ़ना होता था। ये लम्बी दौड़ें मुझे इतना थका देती थीं कि कई बार तो मेरे मुँह से खून आ जाता था।

जब मैं डगशाई में था तो हकसर कसौली में भारतीय सिविल सेवा में परीक्षाधीन (प्रॉवेशन) था। हम दोनों कॉलेज में सहपाठी रहे थे। उसकी वहन धनराज किशोरी, जो मुझे से दो साल छोटी थी, उन दिनों उसी के पास थी। वह अनेक गुणों से सम्पन्न, एक सुन्दर लड़की थी। हम दोनों में शीघ्र ही घनिष्ठता हो गई और मैं प्रतिक्षण उसके साथ की कामना करने लगा। इसलिए, मैं प्रायः कसौली जाने लगा। डगशाई से कसौली आने-जाने में चौदह मील की यात्रा करनी पड़ती थी। इसके दो मार्ग थे—या तो टैक्सी से आया-जाया जाए या पहाड़ी प्रदेश में पैदल चला जाए। टैक्सी करना तो मेरी सामर्थ्य के बाहर था, इसलिए मैंने दूसरा मार्ग चुना। जाते समय तो दिन होता था और यात्रा सुगमतापूर्वक हो जाती थी किन्तु लौटते समय स्थिति इससे भिन्न होती थी। सामान्यतः वहाँ से चलते-चलते मुझे आधी रात हो जाती थी और फिर घने जंगल के बीच से गुजर कर आना पड़ता था। रात की नीरवता में यह यात्रा एक भयावना अनुभव थी। जब मैंने एक दिन हकसर से पूछा कि क्या मैं उसकी वहन से विवाह कर सकता था तो उसने बतलाया कि कि उसके एक साथी से उसकी सगाई होने की सम्भावना थी। किन्तु कुछ महीने बाद उसने सूचना दी कि उसकी वहन ने काफी सोचने-विचारने के बाद

मुझे वे विवाह करना स्वीकार कर दिया था।

ब्रिटेन में रिटर्न के पद पर मुझे माइं पार गो अपने प्रतिमाग केनन मिनता था। इन धन मे मे मुझे मेम का बिज पुकाना पडता था, ब्रिटिश रेजीमेट के प्रदिशारी को प्रतिष्ठा के अनुष्ण रत्ना-महना पडता था और ईं गो अपने प्रति माग मा को भेजने पडते थे। हम दोनो ही काफी मुश्किल में गुजारा कर पाते थे। मैं बहुत मादा जीवन व्यतीत करना था, उनसे विनाशिता के लिए कोई स्थान नहीं था। बीमार मा की भिकरिया, भाइयों और बहन की निशा तथा दैनिक सबे मिन कर मेरी प्रापिक मामध्न में बहुत ऊपर हो जाते थे। विरग हो कर मुझे एक महाजन मे काफी ऊँची म्यात्र को दर पर काफी मण्या उगार लेना पडा जिमके पुकाने में मुझे कई वर्ष लगे।

इन बटानियन में मेने जीवन को निकट में देगा। भारतीयों को उन दिनों काफी मुनीयों का मानना करना पडता था। परेड उग्रे धुना मे 'भोगड' (रेट-नॉस्ट्रिट प्रोविन्सेटन अंस्टिअर्मन) रहते थे और उनमें दूर-दो-दूर रहते थे। अपने प्रस्त्रिय के लिए हमें प्रत्येक पग पर सपर्य करना पडता था। हम मे मे कुछ अपने मुनी के बज पर तथा कुछ प्राभाकारिता के बज पर प्रागे बड पाते थे।

परेड अपने ही ज्ञाति के लोगों में मिनना-बुलना पसन्द करते थे। उनको प्रच्छा वेउन मिनता था, वे हर पीड विनायत की बनी गरीदन थे, बड़े-बड़े बंगलों में सपरियार रहते थे तथा प्रनेक कम तनस्वाह के मोकर (गानसामा, मगाननी, भिन्नी, मेत्तर, प्राया) रगते थे। इन्नेड में तो गाना भी स्वयं पकाना पडता था और कपड़े भी स्वयं पाने पडते थे किन्तु यहाँ उन्हें कोई काम नहीं करना पडता था।

प्रातःकाल माह्व तो परेड पर धले जाते थे और मंगगाह्व त्रिज या माह-जोंग (एक चीन देगीय मेल) गेनती थी या काफी पीते हुए गणप करती थी। उनको देसादेशी वाद में भारतीय महिलाओं ने भी यह घादन ग्रहण कर ली। वे दोपहर बाद सो जाते तथा शाम को नित्यप्रति कत्रव जाते जहाँ या तो रादाव पीते रहते या तैरा करते। रात के भोजन के बाद गिनेमा धले जाते जहाँ ईंटे-ईंटे मुराटि भरा करते। कुल मिन्या कर उनकी बहुत प्रच्छी कट रही थी किन्तु दिरापिया यह करने थे कि वे तो भारत में रह कर त्याग कर रहे थे। उनका विचार था कि भारतवर्ष एक गर्म देस है जो मक्षियों, मच्छरो, गन्दगी व बीमारियों में भरपूर है और जहाँ रहना एक अभिनाप है।^{१६} साह्व हम लोगों की प्रादतों में बराबर दोष निकालते रहते थे, हमारी निरक्षरता, हमारे जीवन के तीर-नरीकों तथा हमारे पिछड़ेपन का उपहास उड़ाते थे। यह सब कर के वे स्वयं को समनाया करते थे कि वे तो यहाँ सेवा-भाव में प्राये थे। घनेक

८. लेकिन यहाँ जाने के लिए उन्हें निमन्त्रित किसने किया था ?

प्रकार से भारत का खण्डन कर के वे भारत में अंग्रेजी राज के अस्तित्व की न्यायोचितता सिद्ध करते थे और स्वयं को समझाते थे कि इसकी स्थापना तो उन्होंने असभ्य लोगों के कल्याण के लिए की थी। उनका विचार था कि वे जो कुछ कहते थे, वह आप्त वाक्य था और जो कुछ भारतवासी करते थे, वह राजद्रोह था। स्वतन्त्र भारत की चर्चा करने वालों का वे मजाक उड़ाया करते थे। किन्तु जैसा कि वर्क ने बहुत पहले कहा था, “मुझे ऐसा कोई तरीका नहीं मालूम जिससे सब लोगों पर एक साथ अपराध मढ़ा जा सके।”

पैंतीस अधिकारियों तथा सात सौ आदमियों की इस ब्रिटिश बटालियन में, मैं अकेला भारतीय था। अपने साथी अंग्रेज ऑफिसरों से मेरी कई बार गर्मगर्म बहस हो जाती थी क्योंकि वे तो हमारी निरक्षरता, दरिद्रता, धर्मान्धता आदि की बात कह कर अंग्रेजी राज की अनिवार्यता एवं उदारता सिद्ध किया करते थे जबकि मेरा यह कहना था कि हम लोगों की इन निर्बलताओं की जड़ ही विदेशी शासन था और उसको किसी दृष्टि से भी न्यायोचित नहीं कहा जा सकता था तथा स्वायत्त शासन का हमारा मूलभूत अधिकार हमें मिलना चाहिए था। इन बातों के कारण कुछ मेरे देशवासी तथा कुछ अंग्रेज मुझे ‘राजनीतिक प्रवृत्ति’ का व्यक्ति कहा करते थे।

ईस्ट सरे रेजीमण्ट में अपनी परीक्षावधि के समाप्त होने के कुछ पहले मुझे एक भारतीय रेजीमैट का नाम देना था जिसमें मैं आगे काम करना चाहता था। मैंने छठी राजपूताना राइफल्स की पाँचवी बटालियन (नेपियरस) को चुना क्योंकि इसकी परम्पराएँ बहुत शानदार थीं तथा इसने काफी सम्मान अर्जित किया था। राइफल रेजीमैट^६ में काम करना एक विशिष्टता गिनी जाती थी क्योंकि इसकी वर्दी चुस्त होती थी तथा इसमें मेस किट मिलता था, यह तेज चाल से मार्च करती थी, इसका शिष्टाचार प्रसिद्ध था तथा इसका इतिहास बड़ा प्रतिष्ठापूर्ण एवं इतिहास-प्रसिद्ध था। यह मेरा सौभाग्य था कि इस श्रेष्ठ बटालियन ने मुझे स्वीकार कर लिया। यह बटालियन वज्जीरीस्तान के वीहड़ पर्वतों के बीच रजमक स्थान पर तैनात थी।

अंग्रेजों ने भारतीय सैनिकों में यह प्रचार कर रखा था कि भारतीय ऑफिसरों का दृष्टिकोण संकीर्ण होता है और शायद वे उनकी पदोन्नति तथा अन्य कल्याणकारी विषयों में उनके प्रति पक्षपात करें जबकि ‘साहब’ लोग उनके साथ न्यायोचित और निष्पक्ष व्यवहार करते हैं। इसलिए सैनिकों एवं

९. राइफल रेजीमैट सन् १७७५ में प्रारम्भ हुई थी। इसे लाइन की बार्ड और चलने का अधिकार था और यह प्रति मिनट १४० कदम मार्च करती थी।

आँकलमरों ने बड़े आशकित हृदय से हमारा स्वागत किया। उनको विश्वास नहीं होता था कि हम अपने विदेशी प्रतिरूपों (काउण्टर-पार्ट) के बराबर निकलेंगे क्योंकि अभी तक उन्होंने किसी भारतीय को 'साहब' की कुर्सी पर बैठे हुए नहीं देखा था। अपने को इस योग्य सिद्ध करने के लिए हमें काफी परिश्रम और उत्तेजना में काम करना पड़ता था। जैसे-जैसे भारतीयकरण ने प्रगति की, अंग्रेजों की श्रेष्ठता के जादू का लोप होता चला गया। तथा द्वितीय विश्व युद्ध में, जब हमने अपने साहस और वीरत्व का पूरा परिचय दिया तो इस पौराणिक कथा का विल्कुल लोप हो गया।

यद्यपि यह एक भारतीय बटातियन थी किन्तु मैंने मे अपनी भाषा में बातचीत करने, रेडियो पर भारतीय संगीत सुनने या विशेष अवसरों के अतिरिक्त भारतीय कढ़ी खाने को निहत्नाहित किया जाता था। बातचीत सेलों तथा मर-विवादास्पद विषयों तक ही केन्द्रित होती थी। सप्ताह में चार भोजन-रात्रियाँ होती थी, जिनमें मैंने भोजन करना सब के लिए अनिवार्य था और इस बीच रेजीमेंट का पाइप बँड बजता रहता था। हम अपने पैसे से सम्बन्धित बात नहीं कर सकते थे तथा वार्ता के मध्य किसी भी सम्बन्ध में महिलाओं का नाम नहीं ले सकते थे; यदि कभी इस नियम का उल्लंघन हो जाता तो हमें सबको शराब पिलानी पड़ती थी। मुझे स्पष्टतः स्मरण है कि मैं तथा कुछ अन्य भारतीय, जो बहुत अल्पसंख्या में थे, अपने राष्ट्रवादी लक्ष्य के पक्ष में तर्क देते या अपने राष्ट्रीय नेताओं के समर्थन में कुछ कहते तो हमारे अनेक देशवासी, जो बाद में काफी महत्त्वपूर्ण सैनिक पदों पर आतीन हुए, मैंसे मे तथा अन्य स्वानों पर होने वाली इस चर्चा के मध्य, अपने तत्कालीन स्वामियों को प्रसन्न करने एवं सस्ती लोकप्रियता अर्जित करने के लिए, गांधी और नेहरू जैसे राष्ट्रीय नेताओं के ऊपर बड़ी अवाहन्य एव आलोचनात्मक टिप्पणी करते और अंग्रेजी राज एवं अंग्रेज प्रभुओं की प्रशंसा करते थे। मैंकाले के सामने शायद इसी वर्ग के लोग रहे होंगे जब उसने १३० वर्ष पहले कहा था :

“हमें इस प्रकार का वर्ग निर्मित करने के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिए जो हमारे तथा हमारे द्वारा शासित करोड़ी लोगों के बीच दुभाषिये का काम कर सके—ऐसे लोगों का वर्ग जो रक्त और वर्ण से तो भारतीय हो किन्तु रुचि, विचार, भाषा एवं मति से अंग्रेज हो।”

जो लोग इस वर्ग में नहीं थे, जो आदकारिता में विश्वास नहीं करते थे और जो स्वतन्त्रता की भावना द्वारा 'मार्गभ्रष्ट' हो गए थे, उन्हें अंग्रेज